वैदिकधर्म

जनवरी १९७४

६० पैसे

२०३०

बलसाड]

लेकर



श्री स्वामी विवे[illegible]द



वैदिक धर्म

वर्ष ५५ : अंक १ : पौष : २०३०

स्वामी— स्वाध्याय-मंडल, पारडी [जि. बलसाड]

संस्थापक एवं आद्यसंपादक
श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

संपादक
वसंत श्रीपाद सातवलेकर

विषयानुक्रमणिका

' वैदिक धर्म ' वार्षिक मूल्य म. आ. से ६) रु.

वी. पी. से रु. ७.५०, विदेशके लिए रु. ८.००, डाक व्यय अलग रहेगा।

मंत्री— स्वाध्याय-मण्डल, पो.-' स्वाध्याय-मण्डल (पारडी) ' पारडी [जि. बलसाड]

चिर प्रतीक्षित] [छप गया



पण्डित सातवलेकर-जीवन-प्रदीप

मूल लेखक

श्री पु. पां. गोखले

अनुवादक

श्रुतिशील शर्मा

वेदमहर्षि पं. श्री. दा. सातवलेकरके जिस जीवनचरित्रकी प्रतीक्षा बहुत दिनोंसे की जा रही थी, वह अब छपकर तैय्यार हो गया है।

इस ग्रन्थमें उनके जीवनके हर पक्षको प्रस्तुत किया गया है। उपन्यासकी शैलीसे लिखा गया यह ग्रन्थ पठनीय और संग्रहणीय है।

उत्तम कागज, उत्तम छपाई, मुखपृष्ठ पर पण्डितजीका तीनरंगी आकर्षक चित्र, आकर्षक डेमी साइज, पृष्ठ- ३१५, मूल्य- १०)।

प्रतियां बहुत सीमित हैं। आज ही मंगा लें।

इस ग्रन्थ पर १५% कमीशन दिया जायेगा। आज ही अपना ऑर्डर भेजें।

स्वाध्याय मण्डल, पारडी

जि. बलसार

(गुजरात)

वैदिक धर्म

अमृतदाता ईश्वर

दोषो गाय बृहद् गाय द्युमद्धेहि ।
आथर्वण स्तुहि देवं सवितारम् ॥

(अथर्व. ६-१-१)



हे (आथर्वण) अथर्वाके अनुयायी ! (सवितारं देवं) सविता देवकी (स्तुहि) स्तुति कर । (दोषो गाय) रात्रीके समय गा, (बृहत् गाय) बहुत भजन कर, (द्युमत् धेहि) तेजयुक्तको धारणा कर ।

हे योगमार्गमें प्रवृत्त मनुष्य ! तूं सर्वप्रेरक एक ईश्वरकी उपासना कर । रात्रीके समय उसका गुणगान कर, उसका बहुत भजन कर और उसके तेजकी मनमें धारणा कर ।

अनुमानके भेद तीन माने गये हैं— (अ) पूर्ववत् (आ) शेषवत् (इ) सामान्यतो दृष्ट ।

उल्लिखित विवेचन न्याय-दर्शनके अनुसार है जिसे मीमांसक आचार्य भी मानते हैं। जो कुछ न्याय और मीमांसा दर्शनोंमें अनुमानकी परिधिमें पार्थक्य प्रतीत होता है, वह हेत्वाभासको लेकर। मीमांसकोंमें आचार्य कुमारिल और उनके अनुयायी विचारक हेत्वाभास संबद्ध अनुमान प्रक्रिया न्याय-दर्शनसे किंचित् पृथक् रूपेण मानते हैं।

न्याय-शास्त्रमें अनुमानके दो भेद और स्वीकार किये गये हैं—

(१) स्वार्थानुमान और (२) परार्थानुमान

(१) स्वार्थानुमान- अपने ही लिए अनुमान किये जानेपर उसे स्वार्थानुमान कहा जाता है।

(२) परार्थानुमान- जब अनुमानका प्रयोजन कोई दूसरा व्यक्ति होता है तो उसे परार्थानुमान कहते हैं।

पंचावयव वाक्य

यह परार्थानुमान पांच वाक्योंके माध्यमसे अभिव्यक्त किया जाता है। वे हैं— (१) प्रतिज्ञा (२) हेतु (३) उदाहरण (४) उपनय (५) निगमन इन्हें मिलाकर ही पंचावयव वाक्योंका निम्नलिखित प्रकारसे प्रयोग किया जाता है—

(१) मोहन मरणशील है— प्रतिज्ञा

(२) क्योंकि वह मनुष्य है— हेतु

(३) जितने मनुष्य हैं, वे सब मरणशील हैं। जैसे राम, श्याम, करीम, इमर्सन आदि— उदाहरण

(४) मोहन भी ऐसा ही एक मनुष्य है— उपनय

(५) अस्तु, मोहन मरणशील है— निगमन

मीमांसक इन पंचावयव वाक्योंके स्थानपर तीन ही वाक्य स्वीकार करते हैं- (१) प्रतिज्ञा (२) हेतु (३) उदाहरण

(इ) उपमान— मीमांसाके अनुसार उपमान प्रमाणकी स्वतंत्र इयत्ता है। न्यायमें भी यही स्वीकृत किया गया है। फिर भी सैद्धांतिक दृष्टिसे दोनोंमें मतभेद है। मीमांसाके मतसे किसी पूर्व दृष्ट वस्तुके सदृश कोई पदार्थ दृष्टिगोचर होनेपर स्मृत पदार्थके सादृश्यका ज्ञान होनेपर ही उपमान जन्य ज्ञान होता है। यह ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञानसे भिन्न है। अन्य वस्तुके साथ सादृश्यके अनुभवके अभावमें इसे स्मृति भी नहीं कहा जा सकता। व्याप्तिके दूषित होनेसे न तो इसे अनुमान माना जा सकता है और न शब्द ही।

(ई) शब्द— ज्ञात पदोंसे पदार्थका स्मरण होनेपर असन्निकृष्ट वाक्यके अर्थका ज्ञान 'शाब्दी प्रमा' की परिधिमें आता है। वाक्यकी दो कोटियां हैं-

(१) पौरुषेय- इसकी प्रामाणिकता आप्त व्यवहार पर निर्भर रहती है।

(२) अपौरुषेय- इसमें वेद संहिताओंका समावेश किया जाता है।

इसी प्रकार वाक्यकी दो कोटियां और भी हैं—

(१) सिद्धार्थक- जो किसी पदार्थकी सत्ताका प्रदर्शन करते हैं।

(२) विधायक- जो किसी अनुष्ठानके प्रेरक होते हैं। ये विधायक वाक्य भी दो प्रकारके होते हैं- (क) उपदेशक और (ख) अतिदेशक

वेदोंमें दोनों कोटियोंके वाक्य उपलब्ध होते हैं। जैसे- 'सत्यं ज्ञान मनन्त ब्रह्म' - इससे सत्ता या स्थितिकी जानकारी होती है। और- 'स्वर्गकामी यजेत'। इससे विधिका प्रतिपादन हो रहा है। पहिला उदाहरण सिद्धार्थक वाक्यका परिचायक है जब कि दूसरा विधायक वाक्यका।

मीमांसामें वेद-विहित कर्मोंके अनुष्ठानको 'धर्म' माना गया है। वह प्रत्येक वेद-प्रतिपाद्य वस्तुको कर्म-रूपमें ही स्वीकार करता है, मात्र ज्ञान-रूपमें नहीं। इसीलिए मीमांसाको व्यवहारवादी दर्शन स्वीकार किया गया है।

शब्द- तत्वके विवेचनमें पौरुषेय- अपौरुषेयकी चर्चा आजानेसे यह स्पष्ट कर देना अपेक्षित है कि मीमांसाका प्रमुख लक्ष्य धर्मका प्रतिपादन है। धर्मके लिए वेद ही प्रमाण है। यही कारण है कि वेद-प्रामाण्यके प्रदर्शनार्थ मीमांसा-दर्शनमें अत्यत प्रबल युक्तियां प्रस्तुत की गयी हैं जिनसे बौद्धों तथा ऐसे ही अन्य वेद-प्रामाण्य-विरोधी दर्शनोंकी धज्जियां उड गयी हैं।

मीमांसकोंने वेदकी 'अपौरुषेयता' सिद्ध करनेके लिए यह प्रतिपादित किया है कि वाक्य दो प्रकारके होते हैं- (१) पौरुषेय— जिन्हें बनानेवाला कोई न कोई व्यक्ति होता है और (२) अपौरुषेय— जो बिना किसीके बनाये स्वत: स्फूर्त होता है, नित्य होता है। जिन्हें मनुष्य व्यवहारमें लाता है, वे पौरुषेय वाक्य हैं और वेद अपौरुषेय हैं।

इसके बाद मीमांसा-दर्शनमें वेदोंकी अपौरुषेयताकी सिद्धिके लिए जो युक्तियां प्रस्तुत की गयी हैं, उनके विवेचनका न तो यहां अवसर है, और न आवश्यकता ही। समय आनेपर वेदोंकी अपौरुषेयता पर स्वतंत्र रूपेण विवेचन

किया जायगा। परन्तु, इतना ध्यातव्य है कि इस लक्ष्य-सिद्धिके लिए मीमांसाके पास 'शब्द नित्यता वाद' का अमोघ अस्त्र है जो कभी भी व्यर्थ नहीं हो सकता और जिसके सहारे शब्द- संबद्ध जाने कितनी गुत्थियां चुटकी बजाते सुलझायी जा सकती हैं।

(६) अर्थापत्ति— जिस अर्थके अभावमें दृष्ट या श्रुत अर्थकी सिद्धि न हो सके, उसे अर्थापत्ति कहते हैं। इसे यों भी कहा जा सकता है कि अर्थान्तरके बिना किसी अर्थकी अनुपपत्ति देखकर उसकी उपपत्तिके लिए की जानेवाली अर्थान्तरकी कल्पना अर्थापत्ति कहलाती है।

अर्थापत्तिरपिदृष्टः श्रुतोवाऽर्थोऽन्यथा
नोपपद्यते इत्यर्थ कल्पना।[८]

अर्थापत्तिकी दो कोटियाँ होती है- (१) दृष्टार्थापत्ति- किसी दृष्ट वस्तुकी उपपत्तिके लिए अर्थान्तरकी कल्पनासे इस कोटिका पता चलता है।

(२) श्रुतार्थापत्ति- किसी वस्तुकी उपपत्तिके लिए अन्य शब्दकी कल्पना होतेही इस कोटिका निर्धारण हो जाता है। जैसे 'बन्द करो' सुनतेही, झगड़ा, दुकान, पुस्तक या कौतुक पदकी कल्पना हो जाती है।

आधुनिक युगीन जटिल जीवनकी समस्त व्यवहार-प्रक्रियामें अर्थापत्तिका सर्वाधिक प्रयोग होता है। इसकी महत्ता असन्दिग्ध है।

(अ) अनुपलब्धि- उपरि विवेचित पाँचों प्रमाणोंका संबंधभाव- पदार्थोंकी उपलब्धिसे है। अभावकी उपलब्धिके लिए भी तो प्रमाण अपेक्षित होता है। इन्द्रियोंसे अभावका पता लग नहीं सकता। इस प्रकार अनुपलब्धि भी प्रमाणोंकी कोटिमें अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखती है। आचार्य प्रभाकर इसे प्रमाणोंमें नहीं स्वीकार करते।

इन छः प्रमाणोंके माध्यमसे लौकिक और शास्त्रीय प्रमेयोंका अस्तित्व प्रमाणोंसहित सिद्ध करना सुगम हो जाता है।

(क) स्वतः प्रामाण्यवाद- कारण सामग्रीके विकार-रहित होनेपर जो ज्ञान प्राप्त होता है, उसे यथार्थ माना गया है। यह ठीक भी है। मध्याह्नके विमल प्रकाशमें निर्दोष नेत्रोंसे पर्वतपर अवस्थित अरुण उपधान देखनाही यथार्थ ज्ञान है। इसी तथ्यका आधार लेकर मीमांसक यह स्वीकार करते हैं कि- (१) ज्ञानकी सत्यता या प्रामाणिकता बाहरसे न आकर ज्ञानोत्पादिनी सामग्रीके साथ स्वतः स्वयमेव उत्पन्न हो जाती है। (२) ज्ञान उत्पन्न हुआ नहीं कि उसके प्रामाण्यका ज्ञान तुरन्त हो जाता है। उस ज्ञानकी सिद्धिके लिए अन्य प्रमाण खोजना अपेक्षित नहीं।

प्रामाण्यवादकी समस्या सुलझानेमें मीमांसकोंने पर्याप्त श्रम और साधनाका परिचय दिया है। उनके मतसे प्रामाण्य स्वतः और अप्रामाण्य परतः होता है। यह बात दूसरी है कि इस स्वतः प्रामाण्यवादकी स्थितिके विषयमें कुमारिल, प्रभाकर और मुरारि मिश्रमें आंशिक मतभेद है जिसकी चर्चा करना विशेष लाभप्रद नहीं है।

(ख) भ्रम- भ्रमके विषयमें कुमारिल और प्रभाकरके मतोंमें विशेष अन्तर है। प्रभाकरके अनुसार समस्त ज्ञान यथार्थ होते हैं किन्तु शुक्तिमें रजतका और रज्जुमें सर्पका भ्रम हो जाना सभी मानते हैं। इस समस्यापर प्रभाकरका कथन है कि 'यह रजत है' इस तरहकी भ्रांतिकी उपलब्धिमें केवल 'यह' प्रत्यक्ष ज्ञानका विषय है। आंखे 'यह' पदार्थकी सत्ताभर सूचित करके अलग हो जाती है। 'रजत' प्रत्यक्षका विषय नहीं है क्योंकि यहाँ वह पदार्थ है हो नहीं और कहीं देखे गये 'रजत' की याद भर आती है। दोनों अपने-अपने स्थानपर सत्यरूप है किन्तु स्मृतिके दोष होनेसे उपलभ्यमान 'यह' पदार्थ और स्मृत 'रजत' पदार्थके पारस्परिक भेदका ज्ञान न होनेसेही यह भ्रम पैदा होता है। प्रत्यक्ष ज्ञानकीही भाँति इनके विषय 'शुक्ति' और 'रजत' में विवेक ग्रहण न होनेसे भ्रम ज्ञान होता है। शुक्ति तथा रजतका ज्ञान अपने-अपने विषयोंमें यथार्थ है। पर, इस स्थानपर अनुभव होता है चमकका और स्मरण होता है रजतका। इस असन्तुलनके कारणही यह भ्रांति है। इसे 'विवेकका गृह' या 'अख्याति' कहते हैं।

८ शाबर भाष्य; १।१।५

लेखक : प्रा. भद्रसेन

संस्कृतकी प्रगतिमें रुकावट कहां ?

इससे किसीको मतभेद नहीं हो सकता है कि संस्कृत भाषा एक प्राचीन विशाल साहित्य, इतिहास, संस्कृति और विविध विद्याओंकी आधार भूमि होनेसे भारतीयोंकी पवित्र धरोहर है। इतनाही नहीं अपितु भारतीय धर्मोंके धार्मिक ग्रन्थोंकी भाषा तथा आधुनिक भारतीय भाषाओंकी विकास भूमि होनेसे सर्व प्रवेशस्थ भारतीय जन जीवनमें आज भी ओत-प्रोत है। इसका सम्बन्ध और प्रचार-प्रसार भारतके किसी विशेष प्रान्त या वर्गतकही सीमित नहीं, अपितु सारे भारतमें समान रूपसे प्रतिष्ठित होनेके साथ सारे संसारमें फैली हुई है। अतः प्रत्येक मनीषीको इसके गौरव और महत्वको अनुभव करते हुए इसके संवर्धन और संरक्षणके लिए विशेष प्रयत्न करना चाहिए। इसीलिएही भारतीय संविधानमें इसको प्रतिष्ठित स्थान दिया गया है और केन्द्रीय नेता जहां समय-समय पर इसके प्रति विशेष श्रद्धाञ्जलियां प्रस्तुत करते हैं, वहां केन्द्रीय और प्रादेशिक सरकारें धार्मिक संघटन और धनिक जन इसके विकासके लिए विशेष अनुदान देते रहते हैं। इस प्रकार अनेक तरफसे विशेष अनुदान मिलनेपर भी संस्कृतकी आज सन्तोषजनक स्थिति दिखाई नहीं देती। प्रायः संस्कृतज्ञोंमें निराशा ही देखने और सुननेमें आती है। हां, पंजाब सरकारके शिक्षा विभागने संस्कृत अध्ययनको नवम श्रेणीमें बन्द करके इस-पर कुठाराघात किया है।

आज जब कि भारतके हजारों कालेजोंमें दूसरे विषयोंके प्राध्यापकोंके समान वेतनमान प्राप्त करनेवाले सहस्रों संस्कृत प्राध्यापक हैं। स्कूलोंमें एक लाखसे भी अधिक संस्कृत अध्यापक होंगे, जिनको पिछले वर्षोंकी अपेक्षा अब व्यवस्थित वेतन मिलता है। समय-समयपर केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारें अन्योंके साथ संस्कृत विद्वानोंको भी सम्मानित करती रहती हैं। संस्कृत पत्रिकाओंको विशेष सुविधायें तथा अनुदान दिए जाते हैं। धार्मिक संघटन और व्यक्ति या उनके ट्रस्ट अलग सहायता देते हैं। यह सब कुछ होते हुए भी संस्कृत विकासकी सन्तोषजनक स्थिति या प्रगति दिखाई नहीं देती।

यह पूर्ण तथ्य है कि सभी प्रान्तोंमें स्कूलोंके संस्कृत अध्यापकोंका एकसा वेतनमान नहीं है। कहीं २२०) है तो कहीं १७० +७×५= २०५ और कहीं १४०)- या १२५ है तो कहीं इससे भी कम है। एक देशके विभिन्न-विभिन्न प्रान्तोंमें अलग-अलग वेतनमान हैं। यह समाजवाद एवं संविधानकी न्याय, समताका कैसा विचित्र उपहास है? इतनाही नहीं अपितु इसके साथ संस्कृत पाठशालाओंको तो कोठारी आयोगके घेरेमेंही नहीं लिया गया, जैसे कि उनका शिक्षाके क्षेत्रसे कोई सम्बन्धही न हो और वे भारतके नागरिक न हों तथा भारतीय संस्थाओंमें वहांके अध्यापक कार्यही न करते हों? आश्चर्य तो यह है कि कोठारी आयोगने स्कूलों और संस्कृत पाठशालाओंके संस्कृत अध्यापकोंको बिल्कुलही भुला दिया। इसपर भी केन्द्रीय सरकारने कोई ध्यान नहीं दिया तथा प्रादेशिक सरकारोंने अपने-अपने ढंगका रुख अपनाया है। इस विशेष दोषके अतिरिक्त शेष स्थिति सन्तोषजनक होते हुए भी परिणाम तदनुकूल दृष्टिगोचर नहीं होता है। इसको देखकर स्वाभाविक रूपसे मनमें विचार आता है कि कहीं न कहीं तो दालमें काला है, जो स्वाद [परिणाम] में अन्तर है। नीतिकारने ठीकही कहा है- 'उपायं चिन्तयन् प्राज्ञोऽपायमपि चिन्तयेत्' किसी कार्यको सिद्धिके उपायोंको सोचते हुए बुद्धिमान् उसकी सफलताके मार्गमें आनेवाली बाधाओं, रोकावटों, बाधक तत्त्वोंपर भी विचार करे, जिससे 'आगे दौड़-पीछे चौड़' न हो जाए।

इस दृष्टिसे जब हम संस्कृत जगत्‌पर विचार करते हैं, तो पता चलता है कि सरकारी- असरकारी अनुदानको

व्यवस्था या एकरूपता नहीं है। कई बार तो वह बड़ों तकही सीमित होकर रह जाता है और नवागन्तुक घोर परिश्रम करनेपर भी मुंह ताकते या देखतेही रह जाते हैं। इस स्थितिको देखकर एक प्रसंग स्मरण हो उठता है। कई बार बारातकी विदाईके अवसरपर डोलीपर पैसोंकी वर्षा तो खूब होती है, थैलियां खाली होती हुई स्पष्ट दिखाई देती हैं, परन्तु छोटोंको फिर भी कुछ हाथ नहीं लगता, क्योंकि होशियार लोग मिलकर बीचमें चादर तान लेते हैं और ऊपरही ऊपर सारा पैसा ले जाते हैं। वैसेही ये अनुदान बड़ोंतकही सीमित हैं। कभी-कभी 'अन्धा बांटे सीरणियां- अपनों अपनोंको दे' वाली बातही चरितार्थ होती है। इसके परिणाम स्वरूप जिन दिनों कुछ करनेकी शक्ति और चाह होती है, तब सहयोग और उचित प्रोत्साहन के अभावमें कुछ करनेके लिए होताही नहीं, दूसरी तरफ अन्तिम दिनोंमें कार्यका भार और अभिनन्दन दिखाई देते हैं ? जिसको देखकर कहना पड़ता है कि 'सन्दीप्ते भवनेतु कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः' अर्थात् घरमें आग लगनेपर कुआं खोदनेका अब क्या लाभ ?

संस्कृत विकासके अड़चनमें दूसरा कारण है समर्थ संस्कृतज्ञोंमें भावनाका अभाव और निराशाके गीत गानेका स्वभाव। आज हजारोंकी संख्यामें ऐसे संस्कृतज्ञ हैं, जो आर्थिक दृष्टिसे समृद्ध हैं, जिनको दूसरोंके समकक्ष वेतनमान मिलता है। उनमेंसे कितने हैं जो संस्कृतके सम्बन्धमें सोचते हैं ! संघटित होकर कुछ सुनियोजित कार्य करते हैं और किसी संस्कृत पत्रिकाके ग्राहक हैं ? जिनकी उपेक्षा की जा रही है या अन्यायग्रस्त हैं, उनकी बात तो सहन हो सकती है और उनके लिए संघटित रूपसे प्रयास होना ही चाहिए, जिससे वे ठेकेदारोंके चक्रसे निकल सकें। परन्तु दूसरोंमेंसे ऐसे कितने हैं, जो अध्यापन आदि कार्यके अतिरिक्त संस्कृतके विकासके लिए तड़पते हैं ? और यथाशक्ति रचनात्मक कार्य करते हैं ? इस स्थितिको देखकर यही कहना पड़ता है कि "त्यक्त्वा हृदयदौर्बल्यं उत्तिष्ठ परन्तप।" संस्कृतज्ञो ! निराशाकी भावनाको छोड़कर इसके लिए संघटित होकर योजनाबद्ध कार्य करो। जिसके कारण हमें आजीविकाका यह साधन तथा अक्षय ज्ञान मिला है और जो कि भारतीयोंकी पवित्र धरोहर है, उसके विकासके लिए कुछ विशेष प्रयास अवश्य करना चाहिए। हर कार्य योजनाबद्ध प्रयत्नसे ही सिद्ध होता है, न कि केवल चाहनेमात्रसे, क्योंकि "उद्यमेनैव सिद्ध्यन्ति कार्याणि न मनोरथैः" और प्रयत्न भी सही ढंग अपनाने पर ही सफल होता है या बात सिरे चढती है। तभी संस्कृतके महान् नाटककार भासने कहा है- "मार्गारब्धाः सर्वयत्नाः फलन्ति" हर प्रयास, परिश्रम सही ढंग अपनाने पर ही फल लाता है।

बदलती हुई परिस्थितियोंके अनुसार संस्कृतकी प्राच्य परीक्षाओंके परम्परागत पाठ्यक्रममें भी कुछ परिवर्तन होना चाहिए। प्रथम तो सारे भारतमें सभी विश्व विद्यालयोंकी परीक्षामें समानस्तर होना चाहिए जिससे उपाधियोंकी समान मान्यता हो। दूसरा पाठ्यक्रममें आधुनिकतम विषयों विज्ञान, सामान्यज्ञान, इतिहास, भूगोलका सामान्य परिचय सरल सरस गद्यमें संस्कृत माध्यमसे पढाया जाए। अधिकतर वे काव्यग्रन्थ पढाए जाते है, जिनमें समाज और जीवनके सर्वांगीण पक्षको न लेकर प्रायः एकांगी पक्ष दर्शाया गया है।

भारतके सभी प्रान्तोंके स्कूलोंमें संस्कृत अध्यापकोंका समान वेतनमान होना चाहिए। केवल स्थानीय परिस्थितिके अनुरूप महंगाई भत्तेमें ही अन्तर हो। कोठारी आयोगके निर्णयमें संस्कृत अध्यापकोंकी उपेक्षाका शीघ्र सुधार कर समान पद्धति अपनाई जाए। स्कूलोंकी तरह संस्कृत पाठशालाओंको भी एक व्यवस्थामें लाया जाए। उनके भी अध्यापकोंको स्कूल, कालेजकी तरह, वेतनका प्रतिशत सरकार दे। वेतनकी भिन्न-भिन्न पद्धति होनेसे असमानताके कारण निराशा और कार्यके प्रति उपेक्षाकी भावना जागती है तथा खरबूजेको देख खरबूजा रंग बदलनेकी भावना घर करती है। इसके साथ पंजाबके शिक्षा विभागको अपनी हठधर्मिताको छोड़कर नवम कक्षामें भी संस्कृत अध्ययनका पूर्ववत क्रम ही अपनाना चाहिए, जिससे अध्ययन क्रम टूटे नहीं।

आज बड़ोंको ही अधिक सुविधायें देनेके कारण नवागन्तुकों या अप्रसिद्धों, न पहुंचवालोंमें कार्यके प्रति उपेक्षाकी भावना पनप रही है। क्या ही सुन्दर कहा है- "दरिद्रान् भर कौन्तेय मा प्रयच्छेश्वरे धनम्" जरूरत मन्द अप्रसिद्ध, नवागन्तुकोंको सहयोग, प्रोत्साहन देना चाहिए, रजोंको और भरनेका क्या लाभ ? तथा समाजमें अपनत्व और सामाजिक भावना तभी उभर सकती है जब अप्रसि-

द्वोंको भी प्रगतिका अवसर दिया जाए। अतः बडी बडी संस्कृत नामलेवा संस्थाओंकी जाच होनी चाहिए कि वहां किस प्रकार कुछ की उपेक्षा हो रही है।

सबसे चिन्तनीय बात तो यह है कि अब संस्कृतके प्रति वह पहले जैसी श्रद्धा और प्रतिष्ठाकी भावना नहीं रही। संस्कृत केवल धार्मिक भाषाके रूपमें संकुचित होकर रह गई है। आधुनिक भारतीय भाषाओंके विकास और निरबारके मुख्य आधार और प्राचीन, विशाल विविध विषय सम्पन्न साहित्यकी पवित्र धरोहर रूपता संस्कृत भाषाकी विस्मृत हो गई है या धीरे-धीरे हो रही है। आधुनिक भारतीय भाषाओंके विकासमें संस्कृतके महत्वको अनुभव करते हुए इन भाषाओंके बी. ए. एम. ए. के पाठ्यक्रममें पच्चीस प्रतिशत संस्कृतको स्थान दिया जाए, क्योंकि संस्कृत ज्ञानसे ही इनमें दक्षता आ सकती है। विज्ञानके प्रभाव और आधुनिक जीवनकी व्यस्तताके कारण हमें यह समझ लेना चाहिए कि केवल श्रद्धाके कारण अब कोई वस्तु जीवित नहीं रह सकती, जब तक उसका व्यवहारमें कोई उपयोग न हो।

अतः संस्कृतज्ञोंको अपने अन्दर आत्मविश्वास और कर्तव्य भावनाका संचार, अनुदानोंको एकरूपता और पाठ्यक्रमको व्यवस्थित रूप देकर संस्कृतके विकास पंथको सुस्पष्ट बनाना चाहिए।

लेखक : श्री श्रीराम माधव चिंगले

संतशिरोमणि श्री नारायण महाराज रूणीजावाले

शान्ता महान्तो निवसन्ति सन्तो
वसन्तवल्लोकहितं चरन्तः।
तीर्णाः स्वयं भीमभवार्णवं
जनानहेतु नान्यानपि तारयन्तः॥

—विवेकचूडामणि, ३९

अर्थः— दुस्तर संसार सागरसे स्वयं पार होकर शान्त और महान् सन्त सत्पुरुष निःस्वार्थ बुद्धिसे अन्य लोगोंको भी तारते हुए ऋतुराज वसन्तके समान लोकहित करते हुए निवास करते हैं।

भगवत्पूज्यपाद श्री शंकराचार्यने उपर्युक्त श्लोकमें किया हुआ संत सत्पुरुषोंका वर्णन प्रस्तुत निबंधके चरित्र नायक श्री नारायण महाराजको सोलहो आने लागू होता है। संत विशिष्ट स्थलकालके न होकर सर्वकाल तथा सर्व देशके होते हैं। अतएव शीर्षकमें रूणीजावाले' पद इस नामके अन्य संतोसे व्यावृत्ति करनेके लिए दिया गया है। रूणीजा पश्चिम रेलवेके नागदा मथुरा लाइनपर सुवासरा स्टेशनसे करीब छः मीलपर एक छोटासा स्थान है। यह आपकी कर्मभूमि है, जन्मभूमि नहीं। आपका जन्म सिन्धमें मुलतानके आसपास सन् १८७० में एक धन कुबेर परिवारमें हुआ था। यह कुटुंब ब्राह्मणवर्ण तथा वैष्णव संप्रदायका होकर पवित्र आचारविचारसे संपन्नथा, श्रीमदभगवद्गीताके अनुसार योगभ्रष्ट साधक ऐसे ही 'शुचीनां श्रीमतां गेह' में जन्म लेते हैं। हमारे चरित्रनायक पूर्वजन्मार्जित महान् साधन संपत्ति लेकर अवतीर्ण हुए थे। बाल्यकालसे ही आप अनेक मंगल चिह्नों तथा मंगल गुणोंके आकर थे। आपके हाथकी सभी अंगुलियोंपर तथा पैरके तलवोंपर चक्र थे। कहते है कि ऐसा पुरुष या तो राज्यपद प्राप्त करता है या परमार्थमार्गका अत्युच्च पद। आपके भाग्यमें उपाधिग्रस्त विनश्वर राज्यपद न आकर दिव्य, निरुपाधिक शाश्वत मोक्षपद आया था।

आपके बाल्यकालमें ही आपका परिवार बंबई आकर बस गया और बडे पैमानेपर व्यापार उद्यम करने लगा। इसमें धनलाभ भी खूब होने लगा। किन्तु हमारे चरित्रनायकका भौतिक जगत्की विनश्वर बातोंसे आकर्षण न होकर शाश्वत-कल्याणकर आध्यात्मिक बातोंकी ओरही खिचाव था। आपके परिवारमें श्री वल्लभ वैष्णव संप्रदायकी उपासना थी। किन्तु आप प्रकृतितः अंतर्मुख होनेके कारण देवदर्शनादि सदृश बाह्य औपचारिक बातोंमें आपको विशेष अभिरुचि न थी। इस कारण आपके परिवारके बहिर्दृष्टि लोक आपको नास्तिक समझने लगे थे। किन्तु आपका सच्चा आध्यात्मिक अधिकार समझनेवाले कुछ 'हरिके लाल' भी थे। आपके श्रद्धा भक्ति सपन्न, पवित्र कुटम्बमें दो तीन महात्मा कभी कभी आया करते थे। ये अंतर्दृष्टिसे संपन्न 'हरिके लाल' आपका सच्चा स्वरूप पहचाननेके कारण उस कुटुम्बके अन्य बालकोंको छोडकर आपकी ओरही विशेषरूपसे आकर्षित थे। ये आपकी ओरही विशेष ध्यान देते, सुलभ भाषामें आपसे आध्यात्मिक विषयोंपर बातें करते, आपके हाथों ही प्रसादादि ग्रहण करते और आपको आशीर्वाद देकर बिदा होते। यह मानो आपके भावी आध्यात्मिक जीवनका पूर्व चिन्ह ही था।

उक्त सत्संगतिके प्रभावसे आपके सुप्त आध्यात्मिक संस्कार उद्बुद्ध होने लगे। भगवत्तत्वकी ओर आपकी प्रवृत्ति अधिकाधिक रूपसे अभिमुख होने लगी और उतनेही अंशमें सांसारिक बातोंकी ओरसे वैराग्य भाव होने लगा। भौतिक जीवनकी सुखसमृद्धि आपको समाधान न दे सकी। भगवान्बुद्धकी तरह यह विनश्वर सुखसमृद्धिही आपके असंतोषका कारण बन गई। इससे यह सिद्ध होता है कि सच्ची सुख शांति बाह्य बातोंमें न होकर अंतरात्मामें ही है।

अंतरात्माका आध्यात्मिक जागरण उपाधिग्रस्त बाह्य जगत्से अलग होनेके लिये कोई न कोई निमित्त चाहता है। 'अर्थमनर्थं भावय नित्यं' माने धन सदैव अनर्थका कारण होता है; इसके कारण भाई भाईका दुश्मन बनता है, यह बात आपके अनुभवमें आने लगी। इस जरासे अनुभवने आपके हृदयस्थ वैराग्यको पक्का कर दिया और लक्ष्मी जिस नारायणके चरणोंकी दासी है उसकी प्राप्तिके हेतु आप अपना वैभवपूर्ण जीवन तथा कुटुंब परिवार छोडकर निकल पडे। साथमें कच्चे वैराग्यके युक्त आपका एक मित्र भी हो लिया। किन्तु शीघ्रही वह विरक्तिके कष्टप्रद जीवनसे घबरा उठा और वापिस घर चला गया। किन्तु सच्चे वैराग्यसे युक्त हमारे चरित्रनायक 'देहं वा पातयामि कार्यं वा साधयामि' इस निश्चयसे श्री सद्गुरुकी तलाशमें आगे बढते गये। परब्रह्मस्वरूप सद्गुरु कहींदूर नहीं होते। शिष्यकी सच्ची लगनके साथ वे उसके सामने प्रकट हो ही जाते हैं। इस दृष्टिसे भी हमारे चरित्रनायक परम भाग्यशाली हो रहे। उत्कटपूर्व पुण्य परिपाक के फलस्वरूप शीघ्रही आपको भवरोग वैद्य श्री सद्गुरुनाथकी प्राप्ति हो गई। जंगलमें मार्गक्रमण करते समय एक पर्वतकी गुफामें आपको सत्संगकी कुछ आहट लगी। इसे पाकर आपने उस गुफामें प्रवेश किया और देखा कि एक तेजस्वी मूर्ति अपने शिष्योंके साथ बैठी हुई है। यह देखते ही आप हर्ष विभोर हो गए और अनन्य शरणागतिके भावसे उस मूर्तिको दंडप्रणाम किया और अर्जुनके विनम्र शब्दोंमें कहा, 'शिष्यस्तेऽहं शाधिमां त्वांप्रपन्नम्'। अर्थात् मैं शिष्यभावसे आपकी शरणमें आया हूं। आप अपने उपदेशामृतसे मुझे कृतार्थ कीजिये। श्री सद्गुरुनाथने देख लिया कि शिष्य पूर्ण अधिकारी है। उस समय वहां चिलम चल रही थी। आपने अपने अन्य शिष्योंको इस नवागतुक शिष्यको भी चिलम पिलानेकी आज्ञा दी। इस चिलमके निमित्तसे आपने शक्तिपात दीक्षा प्रदान करके अपने इस नये अधिकारी शिष्यको कृतार्थ किया। इसके कारण चिलमकी एक फूंकके साथ ही उसकी तदाकार वृत्ति हो गई। श्री सद्गुरुके दुर्लभ कृपाप्रसादसे वह अद्वैतात्मतत्त्व साक्षात्कारसे संपन्न हुआ; उसकी चिदचिद् ग्रंथिका भेद होकर अज्ञानमूलक समस्त संशयोंका उच्छेद हुआ; मायामूलक भवबंधकी आत्यंतिक निवृत्ति होकर सच्चिदानन्द रूप परमपदकी प्राप्ति हुई; जीवभाव जाकर शिवभाव प्रकट हुआ; साधकावस्था जाकर 'कृतं कृत्यं प्रापणीयं प्राप्तं' रूप सिद्धावस्था प्राप्त हुई और निमिषार्धमें जीवन्मुक्त अवस्थाका अनुभव हुआ। कुछ काल तक हमारे चरित्रनायक समाधिसुखमें निमज्जित रहे।

उक्त अवस्थाकी उत्कटता कम होते ही आपके गुरुदेवने जो नाथसंप्रदायके थे आपको परंपरागत नाथसंप्रदायके योग वैभवसे संपन्न किया और शेष जीवन लोककल्याणमें व्यतीत करनेका आदेश दिया। हमारे चरित्रनायकका यह अनुभव सुप्रसिद्ध महाराष्ट्रसन्त श्री निवृत्तिनाथके ठीक इसी प्रकारके अनुभवका स्मरण दिलाए बिना नहीं रहता।

यहांसे आगे हमारे चरित्रनायकका शेष जीवन श्री सद्गुरुकी आज्ञा पालन करनेमें ही व्यतीत हुआ। लोक कल्याण आपका सहज स्वभाव बनगया। इसका स्वरूप भगवत्पूज्यपाद श्री शंकराचार्यके विवेक चूडामणिके निम्न श्लोकमें उत्तमताके साथ देखनेको मिलता है :—

अयं स्वभावः स्वत एव यत्पर
श्रमापनोदप्रवणं महात्मनाम्।
सुधांशुरेष स्वयमर्क कर्कश
प्रभाभितप्तामवति क्षितिं किल ॥ ४० ॥

अर्थः— महात्माओंकातो यह स्वभाव ही बन जाता है कि वे स्वयं होकर दूसरोंके कष्ट निवारण करनेमें प्रवृत्त होते हैं। (यथा) सूर्यके प्रचंड तापसे तप्त पृथ्वीतलको चन्द्रदेव स्वयं ही शीतल कर देते हैं।

अपने इस लोककल्याणकारी स्वभावको लेकर आप हृदयस्थ श्री नारायणके 'हुकुम' के अनुसार मुक्त संचार करने लगे। जीवभावके परिचायक अहंभावका पूर्णतया लोप होनेके कारण आपकी छोटी मोटी सभी क्रियाएं श्रीनारायणके 'हुकुम' से होने लगीं। जहां आप जाते वहां अपने त्याग वैराग्यशील, भक्तिरसमें सराबोर, तथा ईश्वरसाक्षात्कारसे संपन्न ओतप्रोत अध्यात्ममय प्रत्यक्ष जीवनके द्वारा तथा अपने अमृत तुल्य उपदेशोंके द्वारा जिज्ञासुओंका उद्धार करते और मंदाधिकारियोंको सांसारिक आसक्तिसे छुडाकर भगवत्तत्वकी ओर अभिमुख करते।

एक बार आप घूमते फिरते गिरनार आए। यहां आपको कुछ अतुल ज्ञानयोग संपन्न सिद्धपुरुषोंसे भेंट हुई। इनकी सन्निधिमें व्याघ्रसिंहादि हिंस्रपशु अपनी हिंस्रवृत्ति छोडकर रहते थे। इससे इनकी अहिंसाकी पूर्ण प्रतिष्ठाका परिचय मिलता है। इस विषयमें निम्न पातंजल योगसूत्र प्रमाण है:—

'अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्यागः'।— इन महात्माओंने आपको क्षुधानिवारणके लिए एक कंद खानेको

दिया। इसके सेवनसे अनेक दिनोंतक आपको भूख ही नहीं लगी। इस प्रकार प्राणधर्मोंसे छुटकारा पानेके कारण आपका सारा समय इन महात्माओंके साथ ब्रह्मचिंतनमें तथा भगवद् गुणानुवादमें ही व्यतीत होता था। सभी समानशील तथा अधिकारी पुरुष होनेके कारण सब ब्रह्मरसका आकंठपान करते थे।

उक्तरीत्या सत्समागमका तथा ब्रह्मचिंतनका परमसुखद् आनंद लेकर आप पुनश्च पर्यटनके लिये निकले। घूमते फिरते आप आबूपर्वत पर आए। यहां आपने कुछ समय एकान्तसेवन तथा निष्कंटक ब्रह्मानंदके सेवनमें व्यतीत किया। धीरे धीरे आपका कीर्ति परिमल चारों ओर फैलने लगा तथा शिष्यगण और भक्तजन आपके पास एकत्र होने लगे। इनको आप यथाधिकार परमार्थमार्गमें प्रवण करते। किन्तु सदैव सच्चे जिज्ञासुओंकी और असली भक्तोंकी संख्या सदैव कमही होती है। नकली लोगोंकी संख्या ही अधिक होती है। ऐसे नकली लोगोंकी संख्या बढती देखकर आप वहांसे आगे बढ गए।

घूमते फिरते आप एक नगरमें आए। यहां एकान्त स्थल देखकर एक वृक्षके नीचे आसन जमा दिया। यहांका एक प्रसंग विशेषतः उल्लेखनीय है। सिद्धावस्था प्राप्त होने पर भी आप जैसे महात्मा अपने सत्वसंरक्षणमें कितने तत्पर होते थे इस बातका इससे पता चलता है। यहां एक सज्जन आपके दर्शनार्थ आए और बहुत अनुनय विनय करके भोजनार्थ अपने घर ले गए। भोजनके बाद जब आप जाने लगे तब गृहस्वामिनी आपके दर्शनार्थ आई और पुत्रप्राप्तिके लिये आपसे प्रार्थना की। साथ ही जिस कमरेमें आप बैठे थे उसे भीतरसे बंद कर लिया और देखतेही देखते उसे ताला भी जड दिया। उसका आंतरिक आशय भांपकर आप दूसरे मंजिलके उस कमरेकी खिडकीसे नीचे सडकपर 'नारायण' कह कर कूद गए और जगलकी राह ली!

इस प्रकार घूमते फिरते आप रुणीजा आ पहुंचे, यह सोंधिया नामक लोगोंकी सोंदवाडकी भूमि थी, चोर और डाकुओंकी यहां भरमार थी। साधु महात्माओंको यहां विशेष भाव न था। इसे आपने अपनी आध्यात्मिक शक्तिको एक तरहकी चुनौति समझा और उसका कायापलट करनेका निश्चय किया। यहां एक वृक्षके नीचे आपका निवास था, एक लंगोटी यही वस्त्र था। यदृच्छया जो मिले उसीसे शरीर निर्वाह होता था। सारा समय श्री नारायणके भजन ध्यानमें व्यतीत होता। कभी कभी सांप बीछू भी काटते। किन्तु प्रारब्ध भोग समझकर आप इनका उपद्रव सहन करते। इनका कभी प्रतिकार न करते और न कभी औषधि सेवन करते। 'औषधी जाह्नवी तोयं वैद्यो नारायणो हरिः' इस सिद्धान्तपर आप चलते। भला, कस्तूरीका आमोद कब तक छिपा रह सकता है? आपकी साधुताकी ख्याति सर्वत्र फैलते देर न लगी और रुणीजाको देखतेही देखते तीर्थस्थानका रूप प्राप्त हो गया। इतनाही नहीं, कुछ कालके अनन्तर, वहांके खूनी चोर डाकुओंका भी आपके पारस स्पर्शसे हृदय परिवर्तन हुआ और उनमेंसे अनेक आपने मुखियाके सहित आपसे दीक्षा लेकर साधु बन गए और भगवद् भजनमें लीन हुए।

रुणीजाके इस वास्तव्य कालमेंही आपके मुख्य शिष्य श्री लक्ष्मणसिहजी आपसे मिले। इस समय आप मांडवगढके समीप सरदारपुरमें वकीली करते थे। बाल्यावस्थासेही आप अध्यात्मप्रेमी थे। आप सच्चे गुरुकी तलाशमें थे किन्तु तबतक वह न मिलनेके कारण इस विषयमें आप कुछ निराश से हो चुके थे। आपने अपने मित्रोंके प्रेमाग्रहके कारण श्री नारायण महाराजके दर्शन किये और इसके साथही आपका जीवन आमूलाग्र बदल गया। गुरु शिष्य दोनोंने एक दूसरेकी खूब कसकर परीक्षा ली और दोनों एक दूसरेकी कसोटी पर उतरे। आपके इस नए किन्तु अधिकारी मुख्य शिष्यका जीवन पूरी तरहसे अध्यात्ममय हो गया। श्री नारायणके दर्शनकी इन्हें इतनी लगन लगी कि उसके आगे आप लगभग ढाई साल तक क्षुधा तृषादि प्राणधर्मोंको भी भूल गए। आपकी सच्ची लगन और श्री सद्गुरुका अनुग्रह इसके फलस्वरूप आखिर आपको श्री नारायणके दर्शन हुए और जीवशिवैक्य रूप दुर्लभ तत्त्वबोध प्राप्त होकर आप कृतार्थ हुए।

शिष्यका आध्यात्मिक कल्याण होतेही आपने उससे कहा, 'लछमन! हम लोग तो छूटे। किन्तु दुनियाकी क्या हालत हो रही है।' शिष्यने सहर्ष इस लोकोद्धारके आदेशको स्वीकार किया और शेष जीवन इसी कार्यमें बिताया। आपके इस कार्यका और जीवनका परिचय हम स्वतंत्र लेख द्वारा देंगे।

रुणीजासे श्री नारायण महाराज प्रथम रतलाम गए और वहांसे समीपही मंदसौर गए। जीवनके अंतकालतक आपका निवास यहीं था। यहां आपने अनेकानेक शिष्यों तथा भक्तोंको परमार्थ प्रवण करके उनका उद्धार किया। यहां रहते समय एक बार आप बहुत दिनों तक बीमार हुए। आपकी इस बीमारीमें आपके प्रिय मुख्य शिष्य श्री लक्ष्मण-

सिंहजी और उनके मित्र श्री डॉक्टर सखाराम माधव आगरकरजीने तथा उनकी पत्नीने आपकी हर तरहसे सेवा की और आपको चंगा किया। इस बीमारीमें आपने अपने प्रिय शिष्यको एक चमत्कार कर दिखाया। एक समय एकान्त पाकर आप अपने प्रिय शिष्यके सामने उठ बैठे और दीर्घ काल तक इस प्रकार आध्यात्मिक चर्चा की मानो शरीर पूर्ण स्वस्थ हो। वैसे फिर आपको उठना बैठना भी कठिन था। इसका रहस्य पूछा जानेपर आपने कहा कि प्रारब्ध प्राप्त सभी बातें दुनियाको दिखानेका नाटक है। यह तुम्हारे हमारे लिये नहीं है!

श्री नारायण महाराजकी उपदेशकी पद्धति अपनी विशेषता लिए हुई थी। आप मितभाषी थे। व्यर्थ वादविवाद आपको पसन्द नहीं था। जिज्ञासुओंका अधिकार देखकर आप इने गिने शब्द कहते किन्तु इनके द्वारा शक्तिपात दीक्षाका काम होकर शिष्य कृतार्थ हो जाते। आपके अनुगृहीत लोगोंमें मंद सौर निवासी श्री भैरवशंकरजी शर्मा वकील प्रमुख थे। ये आपकी हर तरहकी सेवामें तत्पर रहते थे। अतएव इन्हें श्री नारायणमहाराजके अनेक सिद्धियोंपर प्रभुत्वका तथा उनके योग वैभवका अनेक बार अनुभव हुआ।

इन पंक्तियोंके लेखकके उद्धारमें आपका महत्वका हाथ है। यह श्री नारायणमहाराजके प्रथम दर्शनके समय एम. ए. का विद्यार्थी था। उसके ज्येष्ठ भ्राता उस समय आपके शिष्य श्री लक्ष्मण सिंहजीका अनुग्रह पाकर परमार्थप्रवण हो चुके थे। श्री नारायणमहाराजने इन पंक्तियोंके लेखकसे पूछा, 'पढकर क्या करोगे?' इसने उत्तर दिया, 'कहीं प्रोफेसर हो जाऊंगा'। इस पर आपने कहा, 'भिक्षुकका भाई होकर ऐसी उलटी बात क्या करता है? जीवनकी कृत कृत्यता नारायणके रास्ते आनेमें है या प्रोफेसरका लौकिक जीवन बितानेमें?' आपके ये शब्द और आपका सत्य संकल्प भला अन्य था कैसे हो सकते थे। अध्ययन समाप्त होते ही इसने आपके अधिकारी शिष्य श्री लक्ष्मण-सिंहजीका अनुग्रह प्राप्त करके स्वयके जीवनको सफल किया है।

प्रारब्धकर्म समाप्त होते ही श्री नारायणमहाराज दि ७-५-५६को पार्थिवदेहका परित्याग करके निजानन्दमें निमग्न हुआ।

यह अवनीतल और विशेषतः पुण्यभू भारत आप जैसे संत महात्माओंके कारण धन्य है।

लेखक : श्री पं० वीरसेन वेदश्रमी

चातुर्मास्य याग

(१) वैश्वदेव पर्व

पूर्व दिवस कृत्य

प्रस्तुत लेखमें ऐष्टिक प्रकारका जो स्वतन्त्र कपात्मक चातुर्मास्य याग है उसीके संबंधमें वर्णन कर रहे हैं। चातुर्मास्य यागोंमें वैश्वदेव पर्व ही प्रथम याग है। इस याग करनेवालेको फाल्गुन शुक्ला चतुर्दशीको अर्थात् एक दिवस पूर्व अन्वारम्भणीयेष्टि या वैश्वानर पार्जन्येष्टि करनी चाहिये। इससे यजमानको वैश्वदेव पर्व करनेकी योग्यता या अधिकारकी प्राप्ति हो जाती है।

अन्वारम्भणीयेष्टि

अन्वारम्भणीयेष्टिमें अग्नाविष्णु देवताके लिये एकादश कपाल पुरोडाश, सरस्वती देवताके लिये चरु और सरस्वान् देवताके लिये द्वादश कपाल पुरोडाश– ये तीन हवि हैं। यदि अन्वारम्भणीयेष्टि न करे तो वैश्वानर पार्जन्येष्टि करनी चाहिये।

वैश्वानर पार्जन्येष्टि

इस इष्टिके देवता वैश्वानर एवं पर्जन्य हैं। वैश्वानर देवताके लिये द्वादश कपाल पुरोडाश और पर्जन्य देवताके लिये चरु हवि द्रव्यका प्रयोग होता है। वैश्वानर देवताके लिये होता 'पृष्टो दिवि पृष्टो अग्निः' (ऋ. १।९८।२) इस मन्त्रसे यजन करता है पुनः होता पर्जन्य देवताके लिये– 'पर्जन्याय प्र गायत' (ऋ. ७।१०२।१) इस मन्त्रका उच्चारण करता है और 'प्रवाता वान्ति पतयन्ति विद्युत' (ऋ. ५।८३।४) से यजन करता है। तदनन्तर स्विष्टकृत् आहुति तथा दोनों हवियोंका प्राशित्र ग्रहण आदि सभी कृत्य पौर्णमासीकी इष्टिके समान होते हैं।

यह वैश्वानर पार्जन्येष्टि यदि पौर्णमासीको की जावेगी तो प्रतिपदाको प्रातः वैश्वदेव पर्वयाग करना चाहिये। व्रत, ऋत्विजोंका वरण, पंचम् संस्कार, आहवनीय तथा दक्षिणाग्नि कुण्डोंमें यथोचितरूपसे अग्न्युद्धरणादि सब कर्म पूर्व दिनमें अपराह्णमें करे।

वैश्वदेव पर्वके आठ याग

वैश्वदेव पर्वमें निम्न आठ याग किये जाते हैं—

(१) अग्निके लिये अष्टाकपाल पुरोडाश याग।

(२) सोमदेवताके लिये चरु द्रव्यसे याग।

(३) सविता देवके लिये अष्टाकपाल या द्वादशकपाल पुरोडाशयाग।

(४) सरस्वतीके लिये चरु याग।

(५) पूषाके लिये पिसे हुए चावलोंके चरुका याग।

(६) स्वतवान् मरुतोंके लिये या केवल मरुतोंके लिये सप्तकपाल पुरोडाश याग।

(७) वैश्वदेवोंके लिये पयस्या अर्थात् फटे दूधके जलीय अंशसे याग।

(८) द्यावापृथिवी देवतोंका एक कपाल पुरोडाशसे याग।

उष्ण अर्थात् तप्त गोदुग्धमें दही डालकर फाड़नेसे पयस्या और आमिक्षा बन जाते हैं। जो जलीय अंश है वही पयस्या या वाजिन कहाती है और घनीभूत भाग आमिक्षा कही जाती है।

इन यागोंकी प्रकृति दर्शपूर्णमास याग है। अतः उसीके समान सब कर्म होंगे– परन्तु जब जब जिस देवताके लिये कर्म होगा वहां उसका नाम ग्रहण करके कार्य करना होगा। अर्थात् पुरोडाशादिका पाक, प्राशित्र भाग आदि सब कर्म दर्शपूर्णमासवत् किये जाते हैं।

उपरोक्त हवियोंको मन्त्रपूर्वक आसादन करे तथा यजिनका उत्करमें आसादन करके सब हवियोंका क्रमसे आलम्भन करे। तत्पश्चात् अग्नि मंथन विधि- " अग्नेर्जनित्र मसि० " (यजु ५।२) मन्त्रसे अध्वर्यु करे और मन्थनको आलम्भन करनेपर होता तीन बार हिं-हिं-हिं करके ' भूर्भुवः स्वरोम् अभित्वा देव० (ऋ० १।२४।३), ' मही द्यौः पृथिवी० ' (ऋ. १।२२।१३) त्वामग्ने पुष्करा०- तमुत्वा दध्यङ् ऋषि, तमुत्वा पाथ्योवृषा० (यह आधी ऋचा मात्र) (ऋ० ६।१६।१३-१५) इन अग्निमन्थनीया ऋचाओंको पढे।

यदि इन अग्निमन्थनीया ऋचाओंके उच्चारण कालमें अग्नि प्रकट न हो तो " रक्षोघ्न सूक्त " (ऋ० १०।११८) के मन्त्रोंका पाठ अग्नि प्रकट होने पर्यन्त करे।

अग्नि प्रकट होनेकी सूचना अध्वर्युसे होताको प्राप्त होने पर होता मन्त्रान्त प्रणव पर रुककर ऋ० ६।१६।१५ " तमुत्वा पाथ्यो वृषा० " इस ऋचाका तृतीयपाद- " धनंजयो रणे रणे३म् " के उच्चारणके साथ " उत ब्रुवन्तु जन्तव० (ऋ० १।७४।३) - " अयं हस्ते न खादिनं. " (ऋ० ६।१६।४०) इन मन्त्रोंको भी बोले। उस समय अध्वर्यु अरणी सहित अग्निको हाथसे उठाकर- " भवतं नः समनसौ० " (यजुः ५।३) मन्त्रसे आहवनीय कुण्डमें स्थापित करे और समिधा उसपर रखकर- " अग्नावग्निश्चरति० " (यजु० ५।४) से घृताहुति देवे।

तदनन्तर अध्वर्यु सामिधेनी कर्मके लिये होताको प्रेष देवे। पंचदश सामिधेनी ऋचायें जो दर्शपूर्णमास यागमें बोली जाती है उनके साथमें- " पृथुपाजा० " तथा- " तं सबाधो यत स्रुचः० " (ऋ० ३।२७।५, ६) इन दोनों ऋचाओंको संयुक्त करके सप्तदश सामिधेनी ऋचा पढे। इस सामान्य कर्मके अनन्तर अष्ट यागोंके देवताओंका आवाहन होता करे। इनमेंसे सोम, विश्वदेव और द्यावा पृथिवी देवोंका नामोच्चारण उपांशु करे तथा शेष देवोंका नामोच्चारण उच्च स्वरसे करे।

नवप्रयाज

वैश्वदेव पर्वमें नवप्रयाज होते हैं। जिनमेंसे चार प्रयाज तो दर्शपूर्णमास प्रकृतिवत् हैं और पांचवेसे नवम प्रयाजके लिये इडः, उषासानक्ता, दैव्या होतारा, तिस्रोदेवी, अग्न्यादि द्यावा पृथिवी आठ देवोंके लिये आज्यसे हवि प्रदान करे। इस प्रयाजसे अवशिष्ट जुहूस्थ आज्यसे पूर्वोक्त अष्ट यागोंकी हवियोंका क्रमसे अभिधारण करे। तत्पश्चात् आज्य भाग होने होनेके अनन्तर प्रधान याग करे।

प्रधान आठ याग

(१) प्रधान यागमें सर्व प्रथम अध्वर्यु, होताको अग्निकी अनुवाक्या ऋचा बोलनेके लिये प्रेष देवे और होता- " अग्निर्मूर्धा दिवः ककुत्पतिः० " (ऋ० ८।४४।१६) यह अनुवाक्या ऋचा पढें और " भुवो यज्ञस्य रजसश्च नेता० " (ऋ० १०।८।६) इस ऋचासे यथाविधि आग्नेय पुरोडाशका होम करे।

(२) पुनः सोमदेवताके लिये अनुवाक्या ऋचा- " सोम यास्ते मयोभुवः० " (ऋ० १।९१।९) यह पढकर यथाविधि- " या ते धामानि दिवि० " (ऋ० १।९१।४) इस ऋचासे चरुकी आहुति देवे।

(३) पुनः सविताके लिये- " हिरण्यपाणिमूतये० " (ऋ० १।२२।५) इस ऋचाको पढकर और " उदीरय कवितमं० " (ऋ० ५।४२।३) इस ऋचासे पुरोडाशकी हवि यथाविधि प्रदान करे।

(४) पुनः सरस्वतीके लिये- ' पावका नः सरस्वती, ' (ऋ. १।३।१०) ऋचासे अनुवाक्या बोलकर- ' पावीरवी कन्या चित्रायुः. ' (ऋ. ६।४९।७) इस ऋचासे चरुकी यथाविधि आहुति देवे।

(५) पुनः पूषा देवताके लिये अनुवाक्या ऋचा- ' पूषन् तव व्रते वयं न ' (ऋ. ६।५४।९) को पढकर ' शुक्रं ते अन्यद्. ' (ऋ. ६।५८।१) इस ऋचासे चरुका याग करे- अर्थात् चरुकी आहुति देवे।

(६) इसी प्रकार मरुतोंके लिये- ' इहेह वः स्वतवसः. ' (ऋ. ७।५९।११) इस ऋचासे अनुवाक्या बोलकर- ' प्र चित्रमर्कं गृणते तुराय. ' (६।६६।९) से पुरोडाशकी आहुति देवे।

(७) पुनः विश्व देवोंके लिये- ' विश्वे देवास आ गत ' (ऋ ६।५२।७) इस मन्त्रसे अनुवाक्या पढकर- ' स्तीर्णे बर्हिषि समिधाने ' (ऋ. ६।५२।१७) इस ऋचासे पयस्याकी आहुति देवे और—

(८) द्यावा पृथिवीके लिये– 'मही द्यौ. पृथिवी च न' (ऋ. १।२२।१३) इस ऋचासे अनुवाक्य पढकर– 'उर्वी पृथ्वी बहुले' (ऋ. १।१८५।७) इस ऋचासे पुरोडाश याग करे।

प्रधान यागके अनन्तरके कर्म

(१) प्रधान यागके अनन्तर चैत्रसे अषाढ पर्यन्त मासोंके लिये– मधु, माधव, शुक्र एवं शुचि नामोंसे घृताहुति पुरोडाशके चारों ओर दी जाती है।

(२) तदनन्तर स्विष्टकृत होम– 'अग्ने यवद्य विशो' (ऋ. ६।१५।१४) इस ऋचासे किया जाता है। तदनन्तर–

(३) नवअनुयाज होते हे। प्रधान यागसे पूर्व जैसे नवप्रयाज होते हैं वैसे ही प्रधान यागके बाद नवअनुयाज भी होते हैं। इसमें चौथे और सातवें अनुयाजोंमें उपभृतसे घी लिया जाता है। नव प्रयाजोंमें भी यही होता है।

प्रथम अनुयाजका समिधके पूर्वार्धमें दर्शपूर्णमास प्रकृति यागोंमें निर्देशानुसार होम होता है। पौर्णमासेष्टिमें जो द्वितीय एवं तृतीय अनुयाज कहे हैं, उनको इसमें अष्टम और नवम् अनुयाज मानना चाहिये। शेष ६ अनुयाज– (१) देवी द्वारः (२) देवी उषासानक्ता (३) देवी-जोष्ट्री (४) देवीउर्जाहुति (५) देवादेव्याहोतारा (६) देवीस्तिस्त्रस्तिस्त्रोदेवी– को जानने चाहिये। इनमेसे द्वितीयसे अष्टमानुयाज पर्यन्त सातों अनुयाजोंका समिधाके मध्य भागपर होम होता है और अन्तिम नवम् अनुयाजका समिधाके पश्चिम भागमें, उपभृतमें शेष समस्त घृतको जुहूमें लेकर होम होता है।

(४) इसके पश्चात् जुहू और उपभृत् इन दोनों स्रुचोंको यथास्थान रख दिया जाता है। पुनः व्यूहन, सूक्त-वाक् और उसके स्थानमें यथोचित सब ऐष्टिक देवताओंका क्रमशः नाम संयुक्त किया जाता है।

(५) तत्पश्चात् प्रस्तर संज्ञक कुशोंका हो, प्रस्तर तृणका अग्निमें क्षेपण, बाह्मालम्भन पूर्वक जल स्पर्श करके वाजिनका याग, विशोंका व्यापारण और शेष वाजिनका भक्षण होता है।

(६) इष्टिके अन्तमें यजमानका वपन अर्थात् क्षौर कर्म होता है और अवभृथ अर्थात् यज्ञान्त स्नान भी होता है।

२

यह वैश्वदेवपर्व अन्य पर्व यज्ञोंकी प्रकृति जाननी चाहिये। अतः अन्य पर्व यज्ञोंमें यही कर्म समझने चाहिये। इसमें ऋत्विज् दर्शपूर्णमासके अनुसार ही होते हैं क्योंकि इन यज्ञोंकी प्रकृति दर्शपौर्णमास इष्टियां ही हैं।

(२) वरुण प्रघासपर्व

चातुर्मास्य यागोंमें यह दूसरा याग है। वैश्वदेव पर्वके अनुष्ठानके अनन्तर चार मास व्यतीत होने पर अषाढी पूर्णिमाको इस वरुण प्रघास यागका अनुष्ठान करना चाहिये।

नवप्रधान याग

वैश्वदेव पर्वके आठ यागोंमेंसे प्रथम याग (१) अग्निके लिये अष्टाकपाल पुरोडाश याग (२) सोमके लिये चरुसे याग (३) सविताके लिये अष्टाकपाल या द्वादश कपाल पुरोडाशसे याग (४) सरस्वतीके लिये चरुसे याग और (५) पूषाके लिये आटेके चरुसे याग– ये समानही हैं।

इनके अतिरिक्त चार याग (१) इन्द्राग्निके लिये द्वादश कपाल पुरोडाश याग (२) वरुणके लिये आमिक्षा (फटे दूधका गाढा भाग) से याग (३) मरुत्के लिये आमिक्षासे याग और (४) प्रजापतिके लिये एक कपाल पुरोडाशसे याग होता है। इस प्रकार ९ याग इस वरुण प्रघास पर्वमें होते हैं।

वैश्वदेव पर्वसे इसकी विशेषता

(१) इस पर्वमें गार्हपत्य एवं दक्षिणाग्नि वेदियोंके अतिरिक्त एक आहवनीय वेदीके स्थान पर उत्तर वेदी और दक्षिण वेदी रूपसे दो और आहवनीय वेदियां होती हैं। एक वेदिके अधिक होनेसे एक ऋत्विज् भी अधिक होता है जिसे प्रतिप्रस्थाता कहा जाता है। शेष ऋत्विज् वैश्वदेव पर्वके समान ही होते हैं।

(२) दक्षिणवेदिमें प्रतिप्रस्थाता सप्तम यागको जो मरुद्देवताके लिये आमिक्षासे होता है उसे वह करता है। शेष आठ याग उत्तर वेदिमें अध्वर्यु द्वारा किये जाते हैं।

(३) इस यागमें जो जो अंगभूत याग प्रयाजादि हैं उनका अनुष्ठान उत्तर और दक्षिण दोनों वेदियोंमें होगा। अध्वर्यु उनको उत्तर वेदिमें समन्त्रक और प्रतिप्रस्थाता दक्षिण वेदिमें अमन्त्रक करता है। दक्षिण वेदिकी अधिकताके

कारण इसके लिये जुहू, उपभृतादि पात्र भी अधिक बनाने होते हैं।

पुरोडाश, चरु आमिक्षाका निर्माण दर्शपौर्णमास एवं वैश्वदेव पर्ववत् विधिपूर्वक करे। प्रजापति देवताके लिये पुरोडाश याग और श्रावणसे कार्तिक पर्यन्त मासोंके नभ, नभस्य, इष एवं ऊर्ज इन चार मास नामोंसे पुरोडाशके चारों ओर घृतकी आहुति देकर पूर्ववत् स्विष्टकृत याग इडा भक्षण अनुयाजादि यथाविधि अनुष्ठान करके अवभृतेष्टि किसी जलस्थानमें जहां यज्ञान्त करना हो वहां वाजिन् (फटे दूधका तरल अंश) से ६ या १० आहुतियां देकर यजमान एवं यजमान पत्नी स्नान करे। यजमानका वपन (क्षौरकर्म) भी पूर्ववत् होता है।

(३) साकमेध पर्व

साकमेधका समय

चातुर्मास्य यागोंमें यह तृतीय याग है। इसका समय कार्तिक पूर्णिमा है। यह दो दिनमें किया जाता है, अतः कार्तिक शुक्ल चतुर्दशी और पूर्णिमा इन दो दिनोंमें सम्पन्न होता है।

साकमेध पर्वमें चार कर्म

इसमें निम्न चार कर्म प्रधान रूपसे होते हैं- (१) अनीकवत्यादि इष्टियां एवं क्रीडनीयेष्टि (२) महाहवि इष्टि (३) पितृयज्ञ और (४) त्र्यम्बकेष्टि। इनका निम्न प्रकार अनुष्ठान होता है।

(१) अनीकवत्यादि तीन इष्टियां

१ प्रथम दिवस अनीकवत्यादि तीन इष्टियां होती हैं। प्रातःकाल प्रथम इष्टि अनीकवान् अग्नि देवताके लिये अष्टाकपाल पुरोडाशसे होती है। इसे ही अनीकवतीष्टि कहते हैं।

२ द्वितीय इष्टि मध्याह्नमें सान्तपन मरुद्देवताके लिये चरुहविर्द्रव्यसे होती है अतः यह सान्तपनेष्टि कहाती है। और—

३ तृतीय इष्टि सायंकाल गृहमेधीयेष्टि, गृहमेधीय मरुद्देवताके लिये क्षीर (दूधमें पके चावल) चरुहविर्द्रव्यसे होती है। गृहमेधीयेष्टिके लिये पायस (क्षीर) बनानेके लिये यजमानके पास जितनी गौवें हों उन सबको दुहकर उसमें पर्याप्त चावल पकाना चाहिये जिससे समस्त गृहजन उसको खा सकें। यह भोजन चतुर्दशीकी रात्रिमें होता है।

इन इष्टियोंमें आधार, प्रयाज, अनुयाज, सामिधेनी आदि अंगभूत यागोंके अनुष्ठानकी आवश्यकता नहीं होती है। केवल आज्यभाग, अवघातादि कर्म तथा स्विष्टकृत याग होते हैं।

क्रीडनीयेष्टि

द्वितीय दिवस पूर्णिमाको उषाके प्रादुर्भावके समय स्नानादिसे निवृत्त होकर यजमान अपने गृहमें स्थित बैलका नाम लेकर बुलावे। उस नामको सुनकर, बैलके प्रतिशब्द करनेपर, पूर्णादर्वीनामक होम अग्नि होत्रसे पूर्व करके क्रीडनीयेष्टि होती है। यह सूर्योदयकालमें की जाती है। क्रीडावान् मरुद्देवताके लिये सप्तकपाल पुरोडाश हविर्द्रव्यसे याग होता है। यहां तक प्रथम कर्म है।

महाहवि नामक इष्टियां

यह भी द्वितीय दिवसका कर्म है। इसमें आठ याग होते हैं—

१ अग्नि देवताके लिये अष्टाकपाल पुरोडाश याग

२ सोम देवताके लिये चरु हविर्द्रव्यसे याग.

३ सविता देवके लिये अष्टाकपाल या द्वादश कपाल पुरोडाशसे याग.

४ सरस्वतीके लिये चरुहविर्द्रव्यसे याग.

५ पूषाके लिये आटेके चरुसे याग.

इस प्रकार पांच याग वैश्वदेव पर्व तुल्य होते हैं और—

६ इन्द्राग्नी देवत्य याग द्वादश कपाल पुरोडाशसे.

७ महेन्द्र देवताके लिये चरुद्रव्यसे याग-और

८ विश्वकर्मा सम्बन्धी एक कपाल पुरोडाशसे याग.

पूर्व और उत्तरके सामान्य कर्म

उपर्युक्त प्रधान ८ यागोंसे पूर्वके सामान्य कर्म अग्नि प्रणयनादि, आधार, आज्य भाग, प्रयाज करने चाहिये और प्रधान यागके बाद उत्तरके सामान्य कर्म स्विष्टकृत याग, इडाभक्षण, अनुयाजादि वैश्वदेव पर्ववत् हो होंगे। वैश्वकर्मंय यागके एक कपाल पुरोडाश यागके समय मार्गशीर्षसे फाल्गुन मास पर्यन्त– सह, सहस्य, तप और तपस्य इन मास नामोंको उच्चारित करके पुरोडाशके चारों ओर घृतकी आहुति देवे। इस प्रकार महाहविः नामक कर्मपूर्ण होता है। ये महाहवि इष्टियां उत्तरवेदिमें होती हैं।

महापितृ यज्ञ

इस महापितृ यज्ञके लिये दक्षिण वेदि भी बनानी पडती है। पूर्वके कृत्य उत्तर वेदिमें होते हैं। यह पित्र्येष्टि या

महापितृ यज्ञ दक्षिणवेदिमें ही किया जाता है। यह वेदि अन्य वेदियोंसे भिन्न होती है। अर्थात् जो वेदियां पहले बताई गई है वे ऊपरसे जितनी लम्बी चौडी होती हैं उतनी ही नीचे भी लम्बी चौडी होती हैं। परन्तु यह वेदि ऊपरसे चौडी और नीचेसे संकुचित होती है। इसमें दक्षिणाग्नि कुण्डसे अग्नि लेकर स्थापित होती है और उसीमें आहवनीय कर्म पितृयज्ञ सम्बन्धी होते हैं। इस पिण्डेष्टि या महा पितृयज्ञमें ३ याग होते हैं—

१ सोम पितृमान् देवताके लिये षट् कपाल पुरोडाशसे याग

२ बर्हिषद् पितरके लिये भुने हुए धानोंसे याग और-

३ अग्निष्वात्त पितरके लिये मन्थसे याग होता है। मृतवत्सा गौके दूधमें भुने जौका चूर्ण मिश्रित करनेको मन्थ कहते हैं।

यवोंसे धान, पुरोडाश एवं मन्थचूर्ण

इन यागोंके लिये यथा विधि यवोंको समन्त्रक ग्रहण कर उन्हें खांडकर, तुषोंसे पृथक् कर धान और मन्थ निमित्त यवोंको पृथक् करके शेष यवोंको पीसकर दक्षिणाग्निके समीप षट् कपालोंके ऊपर पुरोडाश पकावे। पृथक् किये हुए अर्थात् अवशिष्ट यवोंको भूनकर उसमेंसे आधा भाग बर्हिषद पितृयागकी आहुतिके लिये और शेष आधेका चूर्ण करके मन्थ बनाना चाहिये जो कि अग्निष्वात्त पितृयागके लिये होता है। भुने यवोंकी धान संज्ञा है।

सामान्य कर्म

महा पितृ यागमें चार प्रयाज और दो अनुयाज होते हैं जो कि पूर्व इष्टियोंमें सामान्य कर्म है। इसी प्रकार स्विष्टकृत याग भी होता है परन्तु इसमें उसका कव्य वाहन अग्नि देवता है। इसमें यज्ञ शेष भक्षणके स्थानपर उसका केवल आघ्राण ही किया जाता है और उसके तीन पिण्ड बनाकर वेदिके पूर्व, पश्चिम एवं दक्षिण कोणमें रखे जाते हैं।

त्र्यम्बकेष्टि

इसमें रुद्र देवताके लिये सब कृत्य अमन्त्रक करने चाहिये। एक कपाल पर ही चार पुरोडाश पकाकर, तीन पुरोडाशोंका थोडा-थोडा अंश लेकर होम करते है और चौथे पुरोडाशको चूहेके बिलमें फेंक देते हैं। शेष पुरोडाश भागोंको छीकेमें रखकर किसी सूखे ठूंठ पर टाग देते हैं।

लेखक : श्री ओ. एन. अग्रवाल

राम विलाप - एक उद्देश्यपूर्ण प्रक्रिया

यह सत्य है कि विपत्तिके आनेपर महापुरुषोंकी बुद्धि भी चकरा जाती है। यही कारण था कि सोनेके मृगका जन्म असंभव होनेपर भी सीताजीके द्वारा कहे जानेपर मृगयाके लिये भगवान राम उद्यत होकर उसके पीछे पीछे दौडे। भगवान रामने लौकिक स्वरूपका प्रतिपादन प्राय: किया है, यद्यपि अन्तर्यामी होनेके कारण हर घटना उनकी इच्छानुसार ही स्थल पटल पर आती है फिर भी मर्यादा पुरुषोत्तमके रूपमें उन्होंने संसारिक धर्मोंका निरुपण किया है, इसी लिये शंकरजीने उमासे स्पष्ट रूपसे कह दिया था:

‘ उमा एक अखण्ड राम रघुराई,
नरगति भगतकृपाल देखाई । ’

अत: उनका साधरण जनसा कार्य करना स्वाभाविक था और सब माया मोहके वशीभूत हुये रामका मायावी स्वर्ण मृगके पीछे दौडना सर्व था उपयुक्त था। इसीलिये कहा गया है:—

असंभव हेम मृगस्य जन्म
तथापि रामो लुलुभे मृगाय।
प्रायः समापन्न विपत्ति काले,
धियो ऽपि पुंसां मलिनो भवन्ति ॥

और तब इसी कारण रामका सीता हरण हो जानेपर उन्हींके बिछोहमें विलाप करना सर्वथा उपयुक्त था। उन्होंने साधारण जनकी भांति विभिन्न रूपोंमें विलाप किया। उनका विलाप उनके दु.खकी चरम सीमा प्रकट करता है। उनका विलाप मनोवैज्ञानिक तथ्यको लिये उद्देश्यमयी था। यही कारण है कि वे जड चेतनमें कोई अंतर नहीं कर पाते। दूसरा कारण उनके ब्रह्म होनेका है। ब्रह्मको जड और चेतन समान है इसीलिये जो ब्रह्मत्वको प्राप्त होते हैं उन्हें इनमें कोई अंतर प्रतीत नहीं होता। इसीलिये गोस्वामीजीने कहा है कि—

‘ जड चेतन मय ब्रह्म समाना ’

जिसे दूसरे रूपमें गोस्वामीजीने कहा है—

‘ सातवें सम मोहि मय जग देखा ’

जड चेतनका अंतर न कर पाना मानसिक अवस्थापर भी निर्भर होता है। अत्यधिक दुखकी स्थितिमें भी जब मानसिक सन्तुलन समाप्त हो जाता है, उस समय जीव निर्जीवका भेदभाव नहीं हो पाता। ये ही दो कारण थे जिसके फलस्वरूप रामने विलाप करते समय इन जड चेतन लता पुष्प वनके पशु पक्षीयोंसे सीताके विषयमें पूंछताछ करते चलते थे।

पूंछत चलत लता तरु पाती।
तुम देखी सीता मृग नैनी ॥

रामचंद्रजीने विलाप करते हुये जिन जिन वस्तुओंसे उन्होंने पूछा उनका सीताजीसे कोई न कोई संबंध ही था जिसका विश्लेषण ही बडा महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने किसी ऐसी वस्तुसे नहीं पूछा जिनका सीताजीसे संबंध न हो। उन्होंने सर्व प्रथम खग, मृग और भौरोंसे पूछा-

हे खग, मृग, हे मधुकर श्रेणी,
तुम देखी सीता मृग नयनी।

श्रीरामचद्रजीसे जिनसे पूछा थे थे खंजन, सुक, कपोत एवं कोयल थे। कुछ पक्षी सीताजीकी नेत्रोंसे तुलना करते थे अर्थात् सीताजीके नेत्र खंजन पक्षीके समान सुंदर होनेके कारण राम खंजनमें ही सीताके नेत्रोंको देखते थे। तोतेके समान नासिका एवं कपोतके समान सुन्दर गर्दन और कोयलके समान मधूर ध्वनि थी अत: इन पक्षियोंमें ही सीताजीकी प्रतिकृति आसित होनेके कारण इनसे ही उन्होंने सीताके बारेमें खोज बीन की और पूछताछ की। हिरणसे पूछनेका तात्पर्य था कि सीताजीके नेत्र मृगके समान चंचल

थे इसीलिये उनको मृग नैनी भी कहा। मछलीके आकारकी भांति जिनके नेत्रोंकी आकृति थी, भौरोंके समूह समान जिनके भौहे थी, कुंदकलीके तरह जिसके दंत थे, अनारकी भांति जिसके ओठ थे, बिजलीकी भांति स्फूर्तिवाली थीं, कमलके समान सुन्दर पैरोंवाली थी, शरद्कालीन चन्द्रमाकी भांति सुन्दर मुखवाली थी, सर्पिणीकी भांति वेणी युक्त थी, वरुण पाशके समान आभा युक्ता थी, कामदेवके धनुके समान मनोहरी, हंसके समान सुन्दर गतिवाली थी, हाथीके समान मस्तीभरी चालवालीं थीं, सिंहके समान पतली कटि-वाली थी। इन्हीं वस्तुओंसे सीताजीकी साम्यता होनेके कारण श्री रामचंद्रजीने सीताके विषयमें खोज इनसे की। जिसको महान् संत तुलसीदासजीने इस प्रकार बद्ध करते हुये श्री रामके द्वारा विलाप कराया:—

हे खग मृग हे मधुकर श्रेणी,
तुमने देखी सीता मृग नयनी।
खंजन सुक कपोत मृग मीना,
मधुप निकर कोकिला प्रवीना॥
कुंदकली दाडिम दामिनी,
कमल सरद् सखि आदि भगिनी।
वरुन पास मनोज धनु, हंसा,
गजके हरि जिन सुनत प्रशंसा॥

इस प्रकार गोस्वामीजीके द्वारा रामचन्द्रका विलाप उद्देश्यमयी निरूपित किया गया। इसीलिये हिन्दीके महाकवि श्री केशवने भी श्री रामचन्द्रजीके वियोगका वर्णन बड़े ही अनूठे ढंगसे किया है। श्री राम सीताजीके विरहमें सीताजीसे सामंजस्य रखती हुई वस्तुओंको देखकर ही अपने मनको सान्त्वना देनेका वर्णन किया है क्योंकि मूल वस्तुकी अप्राप्तिमें सादृश्य वस्तु ही उसका स्थान ग्रहण कर लेती है। इसीलिये रामचन्द्रजीने सादृश्य वस्तुओंको देखकर ही विरह अवस्थामें अपने जीवनको धैर्य प्रदान किया। केशव कीये पंक्तियाँ मानसकारकी परिकल्पनासे सामजस्य रखती है, जिसमें सीताजीके विभिन्न अंगोंको क्रमशः उनकी गति हंसमें, मुख चन्द्रमामें नेत्र खंजनमें, चरण कमलमें मानकर उनको ही देखते हुये विरहावस्थाके दिनोंको सुखपूर्वक व्यतीत किया।

कहा हंस कलानिधि खंजन कुन्ज,
कछुन दिन केशव देख जिये।
गति आनन लोचन पायनके,
मनमें मनस्वजक मान लिये॥

ॐ ॐ ॐ

" भारतका स्वराज्य "

☆

स्वाधीनताके सत्ताईस साल बाद भी...

जरा देशकी हम हालत तो देखे।
　　क्या हालत बनाई गई देशकी है॥

न हालत सुधारी गई देशकी तो।
　　लानत है हम पर कालिख मुँह पोते॥

न कर्तव्य हमारे कोई देशप्रेमे।
　　न वर्ताव सारा कोई देश हितमें॥

बने देश द्रोही घने स्वार्थ हेतु।
　　मिटा रामराज्य औ' टूटा स्वर्ग सेतु॥

भरे देशके यह खजानें भी लूटे।
　　सितम लोकशाही प्रजामत भी लूटे॥

सहज लोक रक्षक ही भक्षक बने है।
　　सत्ताधिकारी यहाँ जनताको लूंटे॥

न शासक या संस्थाके शासन सुशोभित।
　　न भारत सलामत न स्वाधीनता भी॥

बढी देशमें है बगावत बेकाबू।
　　भरा आँखमें है लालच का जादू॥

न बिगडी बनेगी न बदले अगर हम।
　　जरा देश पर हम तरस दिलसे खाएं॥

ऊठो देश बंधु जरा दिलसे सोचो।
　　सहज राष्ट्र सर्वोदये जी लगाओ॥

इन्सानियत से बढें हम अगर तो।
　　बचा हम सकेंगे जरुर लोकशाही॥

" सुदर्शन " हमारा तिरंगा रहेगा।
　　जयघोष (आवाज) होगा विजय भारतीका॥

—रचना : बलराम परीख, ' सुदर्शन "

ॐ ॐ ॐ

लेखक : श्री शोभनाथ पाठक

वैदिक साहित्यमें छूआछूतका भेदभाव नहीं

वैदिक वाङ्मयकी वरीयता जहाँ ज्ञान व कर्मकाण्डकी अपरिमित थाती संजोये बखानी जाती है वही उसका समन्वयात्मक संबल भी युगको संवारनेमें पूर्णत सक्षम है कुछ लोग बरबस ही वर्णभेदकी शंका करते व छुआछूतका आरोप लगाते हैं जो निराधार है। यदि हम इस विश्वके सर्वाधिक समृद्धिपूर्ण वाङ्मयके अन्तलमें पैठे तो स्पष्ट हो जायेगा कि वैदिक साहित्यमें किसी भी प्रकारके भेदभावका रंचमात्र भी स्थान नही है। इसका द्वार सबके लिए खुला पड़ा है। तब इस ज्ञान सागरमे गोते लगा विश्वबन्धुत्वका शंखनाद करे तो देखिये समष्टि स्त्रोतका उफान मानुत्व राशि पर—

अज्येष्ठासो अकनिष्ठास,
एते सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय ॥
(ऋग्वेद ५।६०।५)

अर्थात् मनुष्योंमें जन्मसिद्ध कोई भेदभाव नहीं है। उनमें कोई बड़ा और कोई छोटा नही है। वे सब आपसमें बराबरके भाई हैं। सबको मिलकर अभ्युदयपूर्वक मोक्षकी प्राप्तिके लिये प्रयास करना चाहिए। भला समाजकी एकसूत्रताका इससे बड़ा उदाहरण क्या हो सकता है जिसमें बिना किसी भेदभावके भ्रातृत्वकी भावनाको उभार प्रगति की ओर उन्मुख किया गया है। यही नहीं वरन छुआछूतका स्पष्ट निषेध अथर्ववेदके इस मन्त्रमें देखिये—

समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः
समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा
नाभिमिवाभितः ॥ (अथर्ववेद ३।३०।६)

अर्थात् हे मनुष्यों तुम्हारे पानी पीनेके स्थान और तुम्हारा अन्नसेवन अथवा खान पान एक साथ हो। मैं तुमको एक ही प्रकारके नियमोंके बन्धनमें जोड़ता हूँ। तुम सब मिलकर इस प्रकार अग्निहोत्र आदि सार्वजनिक तथा सर्वोपकारक यज्ञोंको करो जिस प्रकार नाभिमें अरे दृढ़तासे जुड़े रहते है। यही नही वरन् जरा इस मंत्रमें समन्वयात्मक भावकी सबलताको परखिये—

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥
समानो मन्त्रः समितिः समानी
समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः समानेन
वो हविषा जुहोमि।
समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥
(ऋग्वेद १०।१९१।२-३-४)

अर्थात्- हे मनुष्यों! जैसे सनातनसे विद्यमान दिव्य शक्तियोंसे सम्पन्न सूर्य, चन्द्र वायु, अग्नि आदि देव परस्पर अविरोध भावसे अपने-अपने भावों कार्योंको करते हैं वैसे ही तुम भी समष्टि भावनासे प्रेरित होकर एक साथ कार्योंमें प्रवृत्त होओ, एक मतसे रहो और सद्भाव बरतो। तुम्हारी मंत्रणामें, समितियोंमें, विचारोंमें और चिन्तनमें समानता हो, सद्भावना हो, वैषम्य व दुर्भावना न हो, तुम्हारे अभिप्रायोंमें हृदयोंमें और मनोंमें एक ही भावना रहनी चाहिए, जिससे तुम्हारी सांघिक और सामुदायिक शक्तिका विकास हो सके। क्योंकि—

"राष्ट्राणि वै विशः" (एतरेय ब्राह्मण ८।२६)

अर्थात् जनता ही राष्ट्रको बनाती है इसलिए राष्ट्रकी समस्त जनताको बिना किसी भेदभावके प्रगति पथपर बढ़ते रहना चाहिये। अथर्ववेदमें तो यहां तक कहा गया है कि,

"यांश्च पश्यामि यांश्च न तेषु मा सुमतिं कृधि"
(अथर्व. १७।१।७)

अर्थात्- हे भगवन! हम पर ऐसी कृपा कीजिए, जिससे मनुष्य मात्रके प्रति चाहे मैं उसे जानता हूँ अथवा नहीं,

सद्भावना रख सकूं। विश्वबंधुत्व ही तो वैदिक वाङ्मयका उद्देश्य है यथा—

मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे,
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ॥ (यजु० ३६।१८)

में मनुष्य क्या, सब प्राणियोंको मित्रकी दृष्टिसे देखूं हम सब परस्पर मित्रकी दृष्टिसे देखें। इतना अधिक सामाजिक समन्वय जिस साहित्यकी थाती है उसमें छुआछूतका भेदभाव ढूंढना कहांतक उचित है हां जो ४ वर्णोंका व्यवस्था की गई थी वह कर्मानुसारही थी न कि जन्मानुसार यथा:—

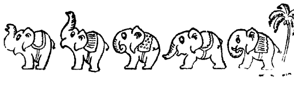
ब्राह्मणः क्षत्रियाश्चैव वैश्याः शुद्रास्तथैव च
एतस्य वंशे संभूता विचित्रा कर्मभिर्द्विजाः ॥
(वायु पुराण)

अर्थात् गृत्समदका पुत्र शुनक, शुनकसे शौनक, इस शौनकके चार लडके कर्मभेदसे ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्ण हुये। यही बात इस रूपमें भी बताई गई है कि एकही वंशसे इन चारों वर्णोंका उद्भव हुआ जो बादमें कर्मानुसार विभक्त हो गये यथा:—

एते ह्यांगिरसः पुत्रा वंशेऽथ भार्गवे।
ब्राह्मणः क्षत्रिया वैश्या शुद्राश्च भरतर्षभः ॥
(हरिवंश पुराण अ० ३१)

अर्थात् भार्गव वंशमें ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य तथा शूद्र चारो वर्ण हुए। कर्म पुराण १०।२ मे बताया गया है कि ऐलके वेदके विद्वानोंमें श्रेष्ठ पुत्र शूद्र हुए अर्थात् वेदज्ञ होनेपर भी उन्होंने आजीविकाके लिये शूद्र वर्ण स्वीकार किया। मत्स्यपुराणमें उल्लेख है कि मनुके पुत्र वामदेवके पुत्र ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र हुए कहनेका या तात्पर्य है कि वैदिक वाङ्मयकी यथार्थताको परखनेमे स्पष्ट होता है कि जो वर्ण व्यवस्था इस समय प्रचलित रही है वह आदि कालसे नही थी वरन विदेशी घुसपैठ और साम्राज्यने भारतीय विखंडनके लिए इन तत्वोंको उभारकर परस्पर भेदभाव पैदा किया जिसे पाश्चात्य इतिहासकारोने भी खूब पनपाया। इसका ही परिणाम रहा कि उस युगका भारत तो विश्व गुरुकी गरिमासे मंडित रहा जबकि पाश्चात्य आवरणमें लिपटकर वह किस अधोगतिको पहुंच गया था जिसका साक्षी इतिहास है।

पर अब हम स्वतंत्रता प्राप्तिके बाद काफी प्रगति कर चुके है समाजवाद की ओर उन्मुख नई पीढी इस वास्तविकताको परख चुकी है कि जाति पातिका भेदभाव हमारे लिए घातक विषपान है जिसकी जड विदेशियोंने रोपा 'फूट डालो और शासन करो' क्या भगवान रामके उस आदर्शको भुलाया जा सकता है। जब उन्होंने भिलनी शबरीके जूठे बेर खाये थे, निषादराजको गले लगाया था बहुतसे उदाहरण है जिससे स्पष्ट होता है कि हमारा सामाजिक आदर्श विना किसी भेदभाव व वर्ण वैमनस्यके था। विदेशी हस्तक्षेपने यह सब गडबड किया था जिसकी यथार्थता अब हम भांप गये है। तभी तो अरन इस प्रजातंत्रमें सभी विना किसी भेदभावके आगे बढ रहे हैं। अभी २ युद्धमें भारतकी ५५ करोड जनता किस प्रकार एक सूत्रमे आबद्ध हो गयी है, विश्वके लिए आदर्श ही है हमारा तो यही आदर्श है कि हम सब एक है जाति पांति छूआछूतका कोई भेदभाव हममे नही है और न रहेगा।



लेखक : श्री वशिष्ठ

‘ अन्न ’ से कालरहित ‘ आत्मन् ’ अभ्यन्तरे एक मार्ग :

मनुष्यकी सतत जीवन-यात्राएं

अन्न अनप्रवर्शी ‘ काल ’ सु संकट सुसाहसी सुभट,
जीवनोंकी एक दीर्घ राजि सुं एक क्लिष्ट प्रगमन,
शताब्दियों सुं यह अकेलता निज कुन्तशीश ।
पार्थिव स्तर की पांशु और पंकके आर पार,
बहुरक्षित सरणियोंपर तथा भयंकर रणघुरोंपर,
भीषण आक्रमणोंमें, क्षत मन्द अपयानोंमें,
या मनोरथके भजित कोटको रख हस्तगत
या विजन गुल्म चौकियोंमें तारतम्यों विरुद्ध युद्धरत,
या अरुणोदयकी मन्थर तुरियों प्रति प्रतीक्षाशील
डेरा डाले निशाकाले पडावके अलावों चहुं ओर,
जिघत्सामें और प्रचुरतामें तथा परितापमें,
संकट सुं और विजयोत्सव सुं तथा पतन सु,
जीवनकी प्रचीयमान गलियों सु व तिसकी खिल रेतियों पर,
मुंड, गंजे, कच्छ कछार ऊपर, रविदीप्त उत्संग पुरस्तात्
संहत सूचि व्यूहोंमें एक भटकते प्रत्यास सहित
तिसके भ्रमणशील सेनामुखकी संकेत शम्याओं द्वारानीत,
मार्गभ्रष्ट देवताकी अक्षौहिणी करती अभियान ।
तदानीं वेलातीत वह हर्ष अकथ्य होता अनुभूत,
तदानीं वह करता स्मरण निज विस्मृत आत्मन्;
जिनसे गिरा वह, पुन: पा लिए उसने वे गगन ।
अन्ते उसके रणघुरेका दुर्दान्त व्यूह
धकेलता ‘ अविद्या ’ के संकट पथ अन्तिम;
‘ निसर्ग ’ की अन्तिम ज्ञात सीमाओंसे आगे बढ़,
दारुण अतिघोर अज्ञातका कर निपुण परीक्षण,
गोचर वस्तुओंके सीमाल्तिगोंके परली पार,
एक लोकोत्तर विचित्र उपरितन वायुं सुं आरोहता वह
यावत् अधिरोह कर जगत्का अब मूक शिखर
शोभा-शृंगों पर भगवानके वह होता अवस्थित ।*

* श्री अरविन्दकृत अंगरेजी महाकाव्य ‘ सावित्री ’ से संकलित व अनूदित । अनु० वशिष्ठ

अन्न = जड़ तत्व, प्रगमन = प्रयाण, अपयानों = पीछे हटना, जिघत्सा = भूख, प्रचीयमान = हरीभरी, खिल = मरु
तदानीं = तब, व्यूह = व्यूह



ॐ

ऋग्वेदका सुबोध-भाष्य

अष्टम - मण्डल ।

[१]

[ऋषिः- १-२ प्रगाथो (घौरः) काण्वः; ३-२९ मेधातिथि-मेध्यातिथी काण्वौ, ३०-३३ प्लायोगिरासङ्गः, ३४ आङ्गिरसी शश्वती ऋषिका। देवता- इन्द्रः, ३०-३४ आसङ्गः। छन्द- १-४ प्रगाथः = (विषमा बृहती, समा सतोबृहती), ५-३२ बृहती, ३३-३४ त्रिष्टुप्।]

१ मा चिदुन्यद् वि शंसत सखायो मा रिषण्यत ।
इन्द्रमित् स्तोता वृषणं सचा सुते मुहुरुक्था च शंसत ॥ १ ॥

२ अवक्रक्षिणं वृषभं यथाजुरं गां न चर्षणीसहम् ।
विद्वेषणं संवननोभयंकरं मंहिष्ठमुभयाविनम् ॥ २ ॥

---

[१]

अर्थ— [१] हे (सखायः) मित्रो ! (अन्यत् चित् मा शंसत) तुम किसी दूसरे देवकी स्तुति मत करो। किसी दूसरे देवकी स्तुति करके (मा रिषण्यत) दुःखी मत होओ। (सुते) सोमरसके निचोडे जानेवाले यज्ञमें (वृषणं इन्द्रं इत्) बलशाली इन्द्रकी ही (सचा स्तोत) एक साथ मिलकर स्तुति करो, (च) और (उक्था) इन्द्रके स्तोत्रोंको (मुहुः शंसत) बार बार बोलो ॥ १ ॥

१ अन्यत् चित् मा शंसत्, मा रिषण्यत- ऐश्वर्यशाली परमात्माको छोडकर और किसी देवकी स्तुति मत करो और दुःखी मत होओ।

[२] (यथा वृषभं अवक्रक्षिणं) बलशाली बैलके समान शत्रुओंके विनाशक (अजुरं) कभी भी क्षीण या वृद्ध न होनेवाले (गां न चर्षणीसहं) गौके समान मनुष्योंका पालन पोषण करनेवाले, (विद्वेषणं) उपासकोंके हृदयोंसे द्वेषको दूर करनेवाले, (संवनना) सबके द्वारा भजनीय (उभयकरं) निग्रह-अनुग्रह दोनों करनेवाले (मंहिष्ठं) अत्यन्त महिमाशाली (उभयाविनं) चर-अचर इन दोनों जगत्की रक्षा करनेवाले इन्द्रकी स्तुति करो ॥ २ ॥

भावार्थ— ऐश्वर्यशाली परमात्माको छोडकर अन्य देवकी उपासना करनेसे मनुष्य संकटमें पडकर दुःखी होता है। वही परमात्मा संकटोंसे उपासकको उबारनेवाला है, अतः हर यज्ञमें उसी एक परमात्माकी स्तुति करनी चाहिए और बार बार स्तुति करनी चाहिए ॥ १ ॥

यह इन्द्र बलशाली बैलके समान शत्रुओंका विनाशक, कभी क्षीण न होनेवाला, गौके समान मनुष्योंका पालनपोषण करनेवाला, भक्तोंके हृदयोंसे द्वेषको दूर करनेवाला, शत्रुओंका निग्रह करके भक्तों पर अनुग्रह करनेवाला, अत्यन्त महिमाशाली तथा चर और अचर दोनों जगत्की रक्षा करनेवाला है। ऐसे ही इन्द्रकी स्तुति करनी चाहिए ॥ २ ॥

३ यच्चिद्धि त्वा जना इमे नाना हवन्त ऊतये ।
अस्माकं ब्रह्मेदमिन्द्र भूतु तेऽहा विश्वा च वर्धनम् ॥ ३ ॥
४ वि तर्तूर्यन्ते मघवन् विपश्चितोऽर्यो विपो जनानाम् ।
उप क्रमस्व पुरुरूपमा भर वाजं नेदिष्ठमूतये ॥ ४ ॥
५ महे चन त्वामद्रिवः परा शुल्काय देयाम् ।
न सहस्राय नायुताय वज्रिवो न शताय शतामघ ॥ ५ ॥
६ वस्याँ इन्द्रासि मे पितुरुत भ्रातुरभुञ्जतः ।
माता च मे छदयथः समा वसो वसुत्वनाय राधसे ॥ ६ ॥

अर्थ— [३] हे (इन्द्र) इन्द्र ! (यत् चित्) यद्यपि (इमे जनाः) ये सभी प्रजायें (ऊतये) अपनी रक्षाके लिए (त्वा नाना हवन्ते) तुझे अनेक प्रकारसे बुलाते हैं, तो भी (अस्माकं ब्रह्म इत्) हमारी स्तुति ही (विश्वा अहा) सब दिन (ते वर्धनं भूतु) तेरी महिमाको बढानेवाली हो ॥ ३ ॥

[४] हे (मघवन्) ऐश्वर्यशाली प्रभो ! (विपश्चितः अर्यः) विद्वान् और आर्य अर्थात् श्रेष्ठ पुरुष, (जनानां विपः) मनुष्योंका विशेष रूपसे पालन करनेवाले तेरे उपासक तेरी कृपा पाकर (तर्तूर्यन्ते) संकटोंसे पार हो जाते हैं। हे इन्द्र ! तू (उप क्रमस्व) हमारे पास आ तथा (ऊतये) हमारी रक्षाके लिए (पुरुरूपं) अनेकों रूपोंवाले (नेदिष्ठं) अत्यन्त समीप रहनेवाले (वाजं) बलको (आ भर) हमें प्रदान कर ॥ ४ ॥

१ विपश्चितः अर्यः जनानां विपः तर्तूर्यन्ते— विद्वान्, श्रेष्ठ और प्रजाओंका पालन करनेवाले भक्त प्रभुकी कृपासे संकटोंसे पार हो जाते हैं।

[५] हे (अद्रिव, शतामघ) वज्रको धारण करनेवाले तथा सैंकडों तरहके ऐश्वर्यवाले प्रभो ! मैं (त्वा) तुझे (महे शुल्काय चन) बहुत बडी संपत्तिके लिए भी (परा दयां) दूसरोंको न दूं । हे (वज्रिव) वज्रधारी इन्द्र ! मैं तुझे (सहस्राय न) हजारके लिए भी न दूं, (अयुताय न) दस हजारके लिए भी न दूं, (शताय न) असंख्य या अपरिमितके लिए भी न दूं ॥ ५ ॥

१ शतामघ-त्वा महे शुल्काय चनन परा देयाम्- हे सैंकडों तरहके ऐश्वर्यवाले प्रभो ! मैं तुम्हें बहुत बडे धनके लिए भी न बेचूं ।

[६] हे (इन्द्र) इन्द्र ! तू (मे पितुः वस्याँ असि) मेरे पिताकी अपेक्षा भी अधिक धनवान् है, (अभुंजतः भ्रातुः उत) धनका उपभोग न करनेवाले अर्थात् कंजूस भाईकी अपेक्षा भी तू अधिक धनवान् है, पर (मे माता च समा) मेरी माता और तू दोनों समान हैं अतः हे (वसो) सबको बसानेवाले प्रभो ! (राधसे वसुत्वनाय) धन और निवासकी प्राप्तिके लिए मुझे (छदयथः) तुम दोनों समर्थ बनाओ ॥ ६ ॥

१ मे माता च समा— माता और प्रभु दोनों समान होते हैं।

भावार्थ— इस प्रभुकी सभी प्रजायें स्तुति करती हैं, पर जब एक सच्चा उपासक हृदयसे इस प्रभुकी उपासना करता है, तभी उस प्रभुकी महिमा बढती है ॥ ३ ॥

विद्वान्, श्रेष्ठ तथा प्रजाओंके रक्षक मनुष्यों पर प्रभुकी कृपा होती है और वे हर तरहके संकटोंसे पार हो जाते हैं। वह प्रभु हमें भी अनेक तरहका बल प्रदान करे, ताकि हम अपनी रक्षा करनेमें समर्थ हों ॥ ४ ॥

प्रभु कोई बेचनेकी वस्तु नहीं है, वह तो भक्तका सर्वस्व होता है। अतः यदि कोई हजार, दसहजार या अपरिमित धन लेकर आए, और उस धनको लेकर प्रभुको खरीदना चाहे, तो भक्त उस धनको ठुकराकर प्रभुको ही अपनाता है। भक्तके लिए प्रभुका मूल्य उस धनकी तुलनामें कहीं अधिक है ॥ ५ ॥

प्रभुका महत्त्व पिता और भाईसे भी बढकर है, पर माताका महत्त्व प्रभुके महत्त्वके समान ही है। माताका महत्त्व इतना अधिक होता है कि वह प्रभुके समान ही होती है। क्योंकि वह प्रभुकी तरह संसारका निर्माण करती है ॥ ६ ॥

७ क्वेयथ क्वेदसि पुरुत्रा चिद्धि ते मनः ।
अलर्षि युध्म खजकृत् पुरंदर प्र गायत्रा अगासिषुः ॥ ७ ॥
८ प्रास्मै गायत्रमर्चत वावातुर्यः पुरंदरः ।
याभिः काण्वस्योप बर्हिरासदं यासद् वज्री भिनत् पुरः ॥ ८ ॥
९ ये ते सन्ति दशग्विनः शतिनो ये सहस्रिणः ।
अश्वासो ये ते वृषणो रघुद्रुवस्तेभिर्नस्तूयमा गहि ॥ ९ ॥
१० आ त्वद्य सबर्दुघां हुवे गायत्रवेपसम् ।
इन्द्रं धेनुं सुदुघामन्यामिषमुरुधारामरंकृतम् ॥ १० ॥

अर्थ— [७] (क्व इयथ) हे इन्द्र ! तू कहां जाता है और (क्व इत् असि) कहां रहता है, यह नहीं जाना जा सकता, (हि) क्योंकि (ते मनः पुरुत्रा चित्) तेरा मन सभी जगह जानेवाला है । हे (युध्म खजकृत् पुरंदर) युद्ध करनेमें कुशल, युद्ध करके शत्रुओंको नगरियोंको तोडनेवाले इन्द्र ! तू हमारे पास (अलर्षि) आ, क्योंकि (गायत्राः) स्तुति गानेमें कुशल हम (प्र अगासिषुः) तेरी स्तुति गाते हैं ॥ ७ ॥

[८] (यः पुरंदरः वावातुः) जो शत्रुओंकी नगरियोंको तोडनेवाला इन्द्र भक्त पर कृपा करता है, (अस्मै) उस इन्द्रके लिए (गायत्रं अर्चत) गायत्री छन्दमें बनी हुई स्तुतिको गाओ । (याभिः) जिन स्तुतियोंसे प्रेरित होकर वह (काण्वस्य) कण्वके पुत्रके (बर्हिः उप आसदं यासत्) यज्ञके आसनके पास जाए, तथा (वज्री पुरः भिनत्) हाथोंमें वज्र धारण करके शत्रुके नगरोंको तोडे ॥ ८ ॥

[९] हे इन्द्र ! (ते) तेरे (ये दशग्विनः सन्ति) जो दस योजन तक जानेवाले (शतिनः) सैकडों योजन भागनेवाले तथा (सहस्रिणः) हजारों योजन जानेवाले घोडे हैं, तथा (ते) तेरे (ये वृषणः अश्वासः) जो बलवान् घोडे हैं तथा (रघुद्रुवः) तेज दौडनेवाले हैं, (तेभिः) उन घोडोंके द्वारा तू (नः तूयं आ गहि) हमारे पास शीघ्रतासे आ ॥ ९ ॥

[१०] (अद्य इन्द्रं आ) आज इन्द्रका सत्कार करनेके लिए (सबर्दुघां) हर तरहकी कामनाओंको दुहनेवाली (गायत्रवेपसं) गायत्री रूपी छन्दसे युक्त शरीरवाली, (सुदुघां) सरलतासे फल देनेवाली (अन्यां) सब गुणोंसे युक्त (इषं) अन्न प्रदान करनेवाली (उरुधारां) अनेको धाराओंवाली तथा (अलंकृतां) अलंकारसे युक्त (धेनुं हुवे) स्तुति रूपी वाणीको बोलता हूं ॥ १० ॥

१ सबर्दुघा सुदुघा अन्या अलंकृता— वाणी कामनाओंको दुहनेवाली, उत्तम फल देनेवाली, गुणोंसे युक्त तथा उत्तम अक्षरोंसे युक्त हो ।

भावार्थ— परमात्मा सर्वव्यापी होनेसे वह कब कहां जाता है और कब कहां रहता है, यह कहना या उसका पता लगाना ही असंभव है क्योंकि वह तो सदा ही सर्वत्र संचार किया करता है । वह तो सबके पास जाता है, पर सब उसकी स्तुति नहीं करते, केवल भक्त ही उसकी स्तुति करते हैं ॥ ७ ॥

वह इन्द्र अपने भक्तों पर कृपा करता है, अतः उसके भक्त भी उसकी स्तुति करते हैं । इसी तरह राजा भी अपने अनुयायियोंकी हर तरहसे रक्षा करे, तभी उसके अनुयायी उस राजाकी प्रशंसा करेंगे ॥ ८ ॥

इन्द्र अर्थात् राजाओंके पास तेजीसे दौडनेवाले तथा एकही समयमें सैकडों मीलका रास्ता तय करनेवाले घोडे होने चाहिए, ताकि वह राज्यमें सर्वत्र संचार कर सके । अध्यात्ममें आत्माके वाहन इन्द्रिय रूपी घोडे इतने बलवान् हों कि कई वर्षों तक कार्यक्षम रह सकें ॥ ९ ॥

सब कामनाओंको देनेवाली, गायत्री छन्दवाली, सरलतासे उत्तम फल देनेवाली, सब गुणोंसे युक्त, अन्न प्रदान करनेवाली तथा उत्तम अक्षरोंसे युक्त वेदवाणीसे स्तुति करने पर इन्द्र-प्रभु प्रसन्न होते हैं ॥ १० ॥

११ यत् तुदत् सूर् एतशं वङ्कू वातस्य पर्णिना ।
वहत् कुत्समार्जुनेयं शतक्रतुः त्सरद् गन्धर्वमस्तृतम् ॥ ११ ॥
१२ य ऋते चिदभिश्रिषः पुरा जत्रुभ्य आतृदः ।
संधाता संधिं मघवा पुरूवसु-रिष्कर्ता विह्रुतं पुनः ॥ १२ ॥
१३ मा भूम निष्ट्या इवे-न्द्र त्वदरणा इव ।
वनानि न प्रजहितान्यद्रिवो दुरोषासो अमन्महि ॥ १३ ॥
१४ अमन्महीदनाशवो ऽनुग्रासश्च वृत्रहन् ।
सकृत् सु ते महता शूर राधसा ऽनु स्तोमं मुदीमहि ॥ १४ ॥

अर्थ— [११] (यत्) जब (सूरः) सूर्यने (वातस्य) वायुके (वंकू पर्णिना) टेढी मेढी गतिवाले पत्तोंसे (एतशं तुदत्) मेघको झकझोरा, तब (शतक्रतुः) सैंकडों उत्तम काम करनेवाले इन्द्र अर्थात् विद्युत् (आर्जुनेयं कुत्सं) अत्यन्त चमकीले प्रकाशको (वहत्) ले गया, और तब वह (अस्तृतं गन्धर्वं) किसीसे भी हिंसित न होनेवाले मेघके पास (त्सरत्) पहुंचा ॥ ११ ॥

आर्जुनेय– अर्जुन = सफेद– अर्जुनसे उत्पन्न आर्जुनेय = चमकीला.
कुत्सः = कु – अन्धकारको त्स = दूर करनेवाला प्रकाश.

[१२] (यः) जिस इन्द्रने (अभिश्रिषः ऋते चित्) पट्टीके बिना भी (जत्रुभ्यः आतृदः पुरा) गर्दनसे खूनकी धारा बहनेसे पूर्व ही (संधिं संधाता) उस घावको संधियोंको जोड दिया, वही (मघवा पुरूवसुः) ऐश्वर्यवान् तथा अनेक तरहके धन अपने पास रखनेवाला इन्द्र (विह्रुतं पुनः इष्कर्ता) घावको फिर सुधार देता है ॥ १२ ॥

[१३] हे (इन्द्र) इन्द्र ! हम (निष्ट्या इव मा भूम) नीच मनुष्योंकी तरह न हों । तथा (त्वत्) तेरी कृपासे (अरणाः इव) आनन्दसे रहित भी न हों (प्रजहितानि वनानि न) शाखा आदिसे रहित ठूंठे वृक्षोंकी तरह हम न हों । हे (अद्रिवः) वज्रधारी इन्द्र ! (दुः ओषासः अमन्महि) दूसरोंके द्वारा न जलाये जाने योग्य घरोंमें रहकर हम तुम्हारी स्तुति करें ॥ १३ ॥

[१४] हे (वृत्रहन्) वृत्रको मारनेवाले इन्द्र ! हम (अनाशवः) शीघ्रता न करते हुए (अनुग्रासः) उग्र न होते हुए (अमन्महि) तेरी स्तुति करें । हे (शूर) शूर इन्द्र ! (ते) तेरे लिए हम (सकृत्) एक बारके लिएही सही, पर (महता राधसा) अत्यधिक धनसे (सु स्तोमं अनु मुदीमहि) उत्तम यज्ञको सम्पन्न करें ॥ १४ ॥

१ अनाशवः अनुग्रासः अमन्महि— शीघ्रता न करते हुए तथा उग्र न होते हुए हम प्रभुकी स्तुति करें ।

भावार्थ— जब सूर्यने वायुकी टेढी मेढी लहरोंको प्रेरित करके मेघको झकझोरा, तब मेघोंके घर्षणसे विद्युत्की उत्पत्ति हुई और उससे चमकीला प्रकाश चारों ओर फैल गया, तब मेघ भी नीचे गिरने लगा ॥ ११ ॥

इन्द्र शल्य क्रिया और घावोंकी चिकित्सामें भी प्रवीण है । वह युद्धमें अपने वीरोंके कहीं घाव लगने पर उस घावमेंसे खून रिस भी नहीं पाता कि टांके आदि लगा कर उस घावको जोड देता है और उसे चिकित्साके द्वारा भर देता है । इस मंत्रसे स्पष्ट होता है कि वैदिककालमें शल्य क्रिया या शल्य चिकित्सा की जाती थी ॥ १२ ॥

हम इन्द्रकी कृपासे कभी भी नीच मनुष्योंकी तरह व्यवहार न करें, तथा कभी भी आनन्द रहित न हो । नीच मनुष्योंकी तरह व्यवहार करनेवाले लोग सदा आनंदसे रहित ही होते हैं । इन्द्र प्रभुकी कृपासे हम शाखा आदिसे रहित ठूंठे पेडकी तरह पुत्रपौत्रादिसे रहित भी न हों । हम अपने पुत्रपौत्रादिकोंके साथ उत्तम और विशाल घरमें रहते हुए प्रभुकी स्तुति किया करें ॥ १३ ॥

प्रभुकी स्तुति करते समय मनुष्य शीघ्रता न करे, और न अपने मनमें क्रोध, द्वेष आदि दुष्ट भावनाओंकोही उत्पन्न होने दे । सदा प्रेमपूर्वकही प्रभुकी स्तुति करे । मनुष्य अपने जीवनमें एक बारही सही, पर बहुत साधन खर्च करके यज्ञ करे और उसे प्रभुको समर्पित कर दे ॥ १४ ॥

१५ यदि स्तोमं मम श्रवं—दुस्माकमिन्द्रमिन्दवः ।
तिरः पवित्रं ससृवांस आशवो मन्दन्तु तुग्र्यावृधः ॥ १५ ॥

१६ आ त्वद्य सधस्तुतिं वावातुः सख्युरा गहि ।
उपस्तुतिर्मघोनां प्र त्वावतु—त्वधा ते वश्मि सुष्टुतिम् ॥ १६ ॥

१७ सोता हि सोममद्रिभि—रेमेनमप्सु धावत ।
गव्या वस्त्रेव वासयन्त इन्नरो निर्धुक्षन् वक्षणाभ्यः ॥ १७ ॥

१८ अध ज्मो अध वा दिवो बृहतो रोचनादधि ।
अया वर्धस्व तन्वा गिरा ममा ऽऽ जाता सुक्रतो पृण ॥ १८ ॥

अर्थ— [१५] (यदि) जब वह इन्द्र (मम स्तोमं श्रवत्) मेरे स्तोत्रको सुने, तथा (अस्माकं) हमारे स्तोत्रको सुने, तब (तिरः पवित्रं ससृवांसः) उत्साह देनेवाले, छलनीमें जानेवाले (आशवः) शीघ्रतासे बहनेवाले तथा (तुग्र्या वृधः) जलसे बढनेवाले (इन्दवः इन्द्रं मन्दन्तु) सोमरस इन्द्रको आनन्दित करें ॥ १५ ॥

[१६] हे इन्द्र ! (वावातुः सख्युः) तेरी सेवा करनेवाले मेरे मित्रकी (सधस्तुतिं) साथ मिलकर की गई स्तुतिको (अद्य) आज सुनकर तू (आ गहि) हमारे पास आ । (मघोनां उप स्तुतिः) दूसरे धनवानोंकी स्तुति भी (त्वा प्र अवतु) तेरे पास पहुंचे । (अध) अब तो मैं (सुस्तुतिं वश्मि) तेरी उत्तम स्तुति करना चाहता हूँ ॥ १६ ॥

[१७] हे ऋत्विजो ! (अद्रिभिः सोमं सोत) पत्थरोंसे कूटकर सोमको निचोडो, (आ) उसके बाद (एनं अप्सु धावत) इस सोमको जलोंमें मिलाओ । (गव्या वस्त्रा इव) जैसे बैलके चमडेसे लोग भूमिको ढकते हैं, उसी तरह मेघोंको (आच्छादयन्तः) व्यापते हुए (नरः) मरुत् गण (वक्षणाभ्यः निर्धुक्षन्) नदियोंके लिए जलकी धाराओंको दुहते हैं ॥ १७ ॥

[१८] हे इन्द्र ! (अध) इस समय तू चाहे (ज्मः) पृथ्वीपर हो, (अध वा) अथवा (दिवः) अंतरिक्षमें हो अथवा (बृहतः रोचनात् अधि) इस विशाल तथा प्रकाशमान द्युलोकसे भी ऊपर हो, तो भी (अया तन्वा गिरा) इस छोटीसी स्तुतिसे भी तू (वर्धस्व) वृद्धिको प्राप्त हो, तथा हे (सुक्रतो) उत्तम कर्म करनेवाले इन्द्र ! तू (मम जाता पृण) मुझसे उत्पन्न मेरे पुत्रादिकोंको तू पूर्ण कर, उन्हें स्वस्थ एवं सुखी कर ॥ १८ ॥

भावार्थ— जब जब मनुष्य इन्द्रकी स्तुति करें, तब तब वे अच्छी तरह छाने हुए तथा शीघ्र आनन्द उत्पन्न करनेवाले सोमरस इन्द्रको देकर उसे आनन्दित करें ॥ १५ ॥

मेरे तथा अन्योंके द्वारा मिलकर की गई इन्द्रकी स्तुति उसके पास पहुंचकर उसे आनन्दित करे ॥ १६ ॥

जिस तरह लोग पशुओंके चर्मसे पृथ्वीको आच्छादित करते हैं, उसी तरह मरुत् अर्थात् वायु प्रथम मेघोंको व्यापते हैं, और फिर उनसे जलको बरसाते हैं, जिससे नदियोंमें जल आता है ॥ १७ ॥

हे इन्द्र ! तू चाहे इस समय पृथ्वीपर हो, अन्तरिक्षमें हो, या द्युलोकमें हो, तो भी तू मेरी इस स्तुतिको सुन और वृद्धिको प्राप्त हो, तथा स्तुतिसे प्रसन्न होकर हमारी सन्तानोंको पुष्ट कर ॥ १८ ॥

१९ इन्द्राय सु मदिन्तमं सोमं सोता वरेण्यम् ।
शक्र एणं पीपयद् विश्वया धिया हिन्वानं न वाजयुम् ॥ १९ ॥
२० मा त्वा सोमस्य गल्दया सदा याचन्नहं गिरा ।
भूर्णिं मृगं न सवनेषु चुक्रुधं क ईशानं न याचिषत् ॥ २० ॥
२१ मदेनेषितं मद—मुग्रमुग्रेण शवसा ।
विश्वेषां तरुतारं मदच्युतं मदे हि ष्मा ददाति नः ॥ २१ ॥
२२ शेवारे वार्या पुरु देवो मर्ताय दाशुषे ।
स सुन्वते च स्तुवते च रासते विश्वगूर्तो अरिष्टुतः ॥ २२ ॥

अर्थ— [१९] हे स्तोताओ ! (इन्द्राय) इस इन्द्रके लिए (मदिन्तमं) अत्यन्त आनन्द देनेवाले (वरेण्यं सोमं सोत) तथा श्रेष्ठ सोमरसको निचोडो । ताकि (शक्रः) यह इन्द्र (विश्वया धिया हिन्वानं) अपनी संपूर्ण बुद्धिसे स्तुति करनेवाले, तथा (वाजयुं) अन्न प्राप्तकी इच्छा करनेवाले इस यजमानको (पीपयत्) पूर्ण करे ॥ १९ ॥

[२०] हे इन्द्र ! (अहं) मैं (सवनेषु) यज्ञोंमें (सोमस्य गल्दया गिरा) सोमको छानने रूप क्रिया तथा स्तुतिसे (त्वा) तुझे सदा प्रसन्न करूं, पर मैं (सदा याचन्) ' मुझे यह दे, मुझे वह दे ' इस प्रकार हमेशा कुछ न कुछ मांगता हुआ मैं (मृगं न भूर्णिं) सिंहके समान सबके स्वामी (त्वा मा चुक्रुधं) तुझे क्रुद्ध न कर दूं। अथवा (ईशानं कः न याचिषत्) अपने प्रभुसे कौन नहीं मांगता ? अर्थात सभी मांगते हैं ॥ २० ॥

१ ईशानं कः न याचिषत्— अपने प्रभुसे कौन नहीं मांगता ?

[२१] (मदेन इषितं) आनन्दसे तैय्यार किए गए इस (उग्रं मदं) वीर्यशाली तथा आनन्ददायक सोमरसको इन्द्र पीए और (उग्रेण शवसा) अत्यधिक शक्तिसे युक्त हो फिर वह (मदे) आनन्दमें (नः) हमें (विश्वेषां तरुतारं) सभी शत्रुओंका विनाश करनेवाले, तथा (मदच्युत) शत्रुओंके मद-अभिमानको क्षीण करनेवाले पुत्रको (ददाति) दे ॥ २१ ॥

[२२] (विश्वगूर्तः अरिष्टुतः देवः) संसारकी रक्षा करनेवाला तथा शत्रुओंसे भी प्रशंसित होनेवाला देव इन्द्र (शेवारे दाशुषे मर्ताय) सुखदायक कर्म करनेवाले तथा दान देनेवाले मनुष्यको (पुरु वार्या रासते) बहुत सा वरणीय अर्थात् श्रेष्ठ धन प्रदान करता है । (सः) वही देव (सुन्वते स्तुवते च) सोम देनेवाले तथा स्तुति करनेवाले मनुष्यको भी धन प्रदान करता है ॥ २२ ॥

भावार्थ— जिस यजमानकी ओरसे उसके स्तोता इन्द्रको अत्यन्त आनन्द देनेवाले तथा श्रेष्ठ सोमरसको प्रदान करते हैं, वह इन्द्र प्रसन्न होकर उस यजमानकी सारी अभिलाषायें पूर्ण करता है ॥ १९ ॥

मनुष्य अपने प्रभुसे अवश्य याचना करे, पर जो प्रभुसे हमेशा कुछ न कुछ मांगता ही रहता है, उससे प्रभु भी क्रुद्ध हो जाते हैं । अतः मनुष्य प्रभुसे मर्यादित याचना ही करे ॥ २० ॥

सोमरस शक्ति बढानेवाला तथा आनन्द बढानेवाला होता है । इस सोमरसको पीकर इन्द्र यथेच्छ वर प्रदान करता है ॥ २१ ॥

इस इन्द्रकी शत्रु भी प्रशंसा करते है । वीर ऐसा हो कि उसकी वीरता देखकर शत्रु भी प्रशंसा करें । यह वीर इन्द्र कल्याणकारी कर्म करनेवाले, दान देनेवाले, यज्ञ करनेवाले तथा स्तुति करनेवालेको अनेक तरहके श्रेष्ठ धन प्रदान करता है ॥ २२ ॥

२३ एन्द्रं याहि मत्स्व चित्रेण देव राधसा ।
सरो न प्रास्युदरं सपीतिभिरा सोमेभिरुरु स्फिरम् ॥ २३ ॥

२४ आ त्वा सहस्रमा शतं युक्ता रथे हिरण्यये ।
ब्रह्मयुजो हरय इन्द्र केशिनो वहन्तु सोमपीतये ॥ २४ ॥

२५ आ त्वा रथे हिरण्यये हरी मयूरशेप्या ।
शितिपृष्ठा वहतां मध्वो अन्धसो विवक्षणस्य पीतये ॥ २५ ॥

२६ पिबा त्व१स्य गिर्वणः सुतस्य पूर्वपा इव ।
परिष्कृतस्य रसिन इयमासुतिश्चारुर्मदाय पत्यते ॥ २६ ॥

अर्थ— [२३] हे (इन्द्र) इन्द्र ! (आ याहि) तू आ और हे (देव) तेजस्वी इन्द्र ! (चित्रेण राधसा मत्स्व) चाहने योग्य धन देकर तू हमें आनन्दित कर। (सपीतिभिः सोमेभिः) सुनहरे रंगके सोमरसोंसे तू (उरु स्फिरं उदरं) विशाल और बडे पेटको (सरः न) तालाबके समान (प्रासि) पूर्ण कर डाल ॥ २३ ॥

[२४] (हिरण्यये रथे युक्ताः) सोनेके रथमें जोडे गए (ब्रह्मयुजः केशिनः) मंत्रसे जुडनेवाले तथा अयालवाले (सहस्रं हरयः) हजारों घोडे (सोमपीतये त्वा आ वहन्तु) सोम पीनेके लिए तुझे ले आवें, तथा (शतं आ) सौ घोडे तुझे ले आवें ॥ २४ ॥

[२५] हे इन्द्र ! (विवक्षणस्य मध्वः अन्धसः) जिसकी तू इच्छा करता है, ऐसे आनन्दकारी सोमरसको (पीतये) पीनेके लिए (त्वा) तुझे (मयूरशेप्या शितिपृष्ठा) मोरके समान रंगवाले तथा सफेद पीठोंवाले (हरी) दो घोडे (त्वा हिरण्यये रथे आ वाहतां) तुझे सोनेके रथमें यहा ले आवें ॥ २५ ॥

[२६] हे (गिर्वणः) वाणियोंसे स्तुत्य इन्द्र ! (पूर्वपाः इव) जिस तरह तू पहले पीता था, उसी तरह आज भी (अस्य सुतस्य परिष्कृतस्य रसिनः) इस निचोडे गए तथा अच्छी तरहसे तैयार किए गए इस सोमरसको तू (पिब) पी। (इयं चारुः आसुतिः) यह सुन्दर और निचोडा गया सोमरस (मदाय पत्यते) तुझे आनन्द देनेके लिए बह रहा है ॥ २६ ॥

भावार्थ— हे इन्द्र ! तू हमारे पास आकर हमारे द्वारा दिए गए सोनेके रंगवाले सोमरसको खूब पी और हमें उत्तम धन देकर हमें आनन्दित कर ॥ २३ ॥

इन्द्रका रथ सोनेका है, जिसमें हजारों घोडे जोडे जाते हैं और वे घोडे इन्द्रको सर्वत्र ले जाते हैं ॥ २४ ॥

जिन आनन्दकारी सोमरसोंको इन्द्र पीना चाहता है, उन्हें पीनेके लिए मोर जैसे रंगवाले तथा सफेद पीठवाले घोडे तुझे सोनेके रथमें बिठाकर हमारे पास ले आवें ॥ २५ ॥

हे इन्द्र ! अच्छी तरहसे निचोडे गए तथा दूध आदि डालकर अच्छी तरहसे तैय्यार किए गए ये सोमरस तेरे लिए हैं, तू इन्हें पी और आनन्दित हो ॥ २६ ॥

२७ य एको अस्ति दंसना महाँ उग्रो अभि व्रतैः ।
गमत् स शिप्री न स योषदा गमद्धवं न परि वर्जति ॥ २७ ॥
२८ त्वं पुरं चरिष्ण्वं वधैः शुष्णस्य सं पिणक् ।
त्वं भा अनु चरो अध द्विता यदिन्द्र हव्यो भुवः ॥ २८ ॥
२९ मम त्वा सूर उदिते मम मध्यंदिने दिवः ।
मम प्रपित्वे अपिशर्वरे वसवा स्तोमासो अवृत्सत ॥ २९ ॥
३० स्तुहि स्तुहीदेते घा ते मंहिष्ठासो मघोनाम् ।
निन्दिताश्वः प्रपथी परमज्या मघस्य मेध्यातिथे ॥ ३० ॥

अर्थ— [२७] (यः) जो इन्द्र ! (एकः) अकेला-अद्वितीय (दंसना महान्) अपने उत्तम कर्मोंके कारण सबसे बडा (उग्रः) पराक्रमी तथा (व्रतैः अभि) अपने व्रतोंके कारण सबसे श्रेष्ठ है, ऐसा (सः शिप्री) सुन्दर रूपवाला वह इन्द्र (गमत्) हमारे पास आवे, (सः न योषत्) वह हमसे दूर न हो, (हवं आ गमत्) हमारे यज्ञमें वह आवे, (न परिवर्जति) वह हमारे यज्ञको न छोडे ॥ २७ ॥

[२८] हे (इन्द्र) इन्द्र ! (यत् त्वं) जब तूने (वधैः) अपने शस्त्रास्त्रोंसे (शुष्णस्य चरिष्ण्वं पुरं) शुष्ण असुरके चलते फिरते नगरको (सं पिणक्) तोडा, तथा (त्वं) तूने (भाः अनुचरः) प्रकाश मार्गका अनुसरण किया (अधः) उसके बादही तू (द्विता हव्यः भुवः) दो तरहसे प्रशंसनीय हुआ ॥ २८ ॥

१ भाः अनु चरत्, हव्यः भुवत्— जो प्रकाश मार्गका अनुसरण करता है, वह हर तरहसे प्रशंसनीय होता है।

[२९] हे (वसो) सबको बसानेवाले इन्द्र ! (सूरे उदीते) सूर्यके उदय होनेपर (मम स्तोमासः) मेरे स्तोत्र (त्वा अवृत्सत) तुझे प्राप्त हों, (दिवः मध्यन्दिने मम) दिनके मध्यान्ह कालमें भी मेरे स्तोत्र तुझे प्राप्त हों, (प्रपित्वे अपि शर्वरे) दिनके अस्त होने तथा रात्रिके शुरू होनेपर भी (मम आ) मेरे स्तोत्र तुझे प्राप्त हों ॥ २९ ॥

[३०] हे (मेध्यातिथे) मेध्यातिथे ! (ते एते) तेरे, ये लोग (मघोनां मघस्य मंहिष्ठासः) धनवानोंके बीचमें धनोंको अत्यधिक देनेवाले, (निन्दिताश्वः) दूसरोंको नीचा दिखानेवाले घोडोंसे युक्त (प्रपथी) उत्तम मार्गवाले तथा (परमज्या) उत्तम धनुषवाले हैं, अतः तू इनकी (स्तुहि स्तुहि) बार बार प्रशंसा कर ॥ ३० ॥

मेध्य-अतिथिः– ज्ञानवान् अतिथि

भावार्थ— वह इन्द्र अद्वितीय है, उसके समान कोई नहीं है, पर वह अपने उत्तम कर्मोंके कारणही सबसे बडा हुआ है तथा उत्तम व्रतोंका आचरण करनेके कारणही वह अन्योंसे श्रेष्ठ भी हुआ है। वह इन्द्र सदा हमारे पासही रहे कभी भी हमसे दूर या अलग न हो ॥ २७ ॥

इस इन्द्र-अर्थात् सूर्यने अन्धकाररूपी असुरकी चलती फिरती नगरी रात्रिको तोडा और सर्वत्र प्रकाश फैलाया। प्रातः होते ही चर-अचर दोनों प्रकारकी सृष्टियां इस इन्द्र-सूर्यकी स्तुति करने लगीं ॥ २८ ॥

सूर्यके उदय होनेके समय अर्थात प्रातःकाल, दिनके मध्यमें-मध्यान्ह तथा सूर्य अस्त होने तथा रात्रीके शुरू होनेके समय अर्थात् सायं सध्याके समय इन्द्रकी स्तुति करनी चाहिए। इस मंत्रमें प्रातः सवन माध्यन्दिन सवन तथा सायंसवन का विधान है ॥ २९ ॥

ज्ञानवान् अतिथि जहांपर भी और जिस घरमें भी जाए, वहींसे उसे अत्यधिक धन मिले और वह अतिथि सबकी प्रशंसा करे ॥ ३० ॥

३१ आ यदश्वान् वनन्वतः श्रद्धयाहं रथे रुहम् ।
उत वामस्य वसुनश्चिकेतति यो अस्ति याद्वः पशुः ॥ ३१ ॥

३२ य ऋज्रा मह्यं मामहे सह त्वचा हिरण्यया ।
एष विश्वान्यभ्यस्तु सौभगा ऽऽसंगस्य स्वनद्रथः ॥ ३२ ॥

३३ अध प्लायोगिरति दासदन्या नासंगो अग्ने दशभिः सहस्रैः ।
अधोक्षणो दश मह्यं रुशन्तो नळा इव सरसो निरतिष्ठन् ॥ ३३ ॥

३४ अन्वस्य स्थूरं ददृशे पुरस्ता दनस्थ ऊरुरवरम्बमाणः ।
शश्वती नार्यभिचक्ष्याह सुभद्रमर्य भोजनं बिभर्षि ॥ ३४ ॥

अर्थ— [३१] (यत्) जब (अहं) मैं (वनन्वतः) मेरी भक्ति करनेवाले मनुष्यके (अश्वान् श्रद्धया आरुहम्) घोडोंपर श्रद्धासे चढा, और (रथे आ) रथ पर चढा, तब (यः) जो (याद्वः) मनुष्योंमें श्रेष्ठ और (पशुः) पशुओंवाला है, उसने (वामस्य वसुनः चिकेतति) सुन्दर धनको देना चाहा ॥ ३१ ॥

[३२] (यः) जिसने (मह्यं) मुझे (ऋज्रा) सत्ययुक्त (हिरण्यया) सोने तथा (त्वचा सह) मृगचर्म आदिसे युक्त धन (ममहे) दिए, (एषः) वह यह मनुष्य (विश्वानि सौभगा अभि अस्तु) सम्पूर्ण सौभाग्योंको प्राप्त करके सबसे श्रेष्ठ बन जाए, तथा (आसंगस्य) इस धनवान्‌का (स्वनत् रथः) रथ सदा आवाज करता रहे ॥ ३२ ॥

[३३] हे (अग्ने) तेजस्वी देव ! (अध) अतः (प्लायोगिः आसंगः) प्लयोगके पुत्र आसंगने (दशभिः सहस्रैः) दसों, हजारों तरहके धन देकर (अन्यान् अति दासत्) दूसरे दानियोंसे ऊपर उठ गया है, (अधः) इसके बाद (मह्यं) मुझे दिए गए (दश रुशन्तः उक्षणः) दस तेजस्वी बैल (सरसः नळाः इव) तालाबसे जैसी घास उगती है, उसी तरह ((निरतिष्ठन्) अत्यधिक विस्तृत हुए ॥ ३३ ॥

[३४] (शश्वती नारी) ज्ञानसे युक्त स्त्री (अभिचक्ष्य आह) सब कुछ देखकर कहती है कि (अस्य) इस इन्द्रका (स्थूरं पुरस्तात् ददृशे) स्थूलरूप पहले दिखाई देता है, पर इस स्थूलरूपके पीछे (अनस्थः ऊरुः अवरम्बमाणः) अस्थिसे रहित, विस्तृत तथा सर्वत्र व्याप्त रूप है। हे (अर्य) श्रेष्ठ इन्द्र ! तू ही (सुभद्रं) उत्तम कल्याणकारी (भोजनं बिभर्षि) भोजन धारण करता है ॥ ३४ ॥

भावार्थ— जब जब कोई ज्ञानी अतिथि किसीके घरमें प्रेमसे पधारे, तब तब वह यजमान उस अतिथिका धनादिसे सत्कार करे ॥ ३१ ॥

धन प्राप्त करके वह ज्ञानी अतिथि यजमानको इस प्रकार आशीर्वाद दे कि जिस यजमानने मुझे सोना, मृगचर्म आदि अनेक तरहके धन दिए हैं, वह दाता सदा सौभाग्योंसे युक्त रहे और उसका रथ सदा गति करता रहे अर्थात् वह सदा रथपर चढकर घूमा करे ॥ ३२ ॥

मनुष्य यथाशक्ति दान देनेकी कोशिश करे तथा बैल यदि देने हों, तो ऐसे गाय बैल दे कि जिनसे सन्तति होकर उनका विस्तार हो। बूढी गायें या बूढे बैल दानमें न दे ॥ ३३ ॥

ज्ञानसे युक्त स्त्री अपनी सूक्ष्म दृष्टिसे प्रभुके रूपको जानकर कहती है कि आंखोंके सामने जो संसार है, वह प्रभुका स्थूलरूप है, पर इस संसारके पीछे जो प्रभूका सूक्ष्मरूप है, वह पंचतत्त्वसे परे, विस्तृत और सर्वव्यापक है। वही सूक्ष्मरूप प्रभु सारे संसारके लिए भोजनादि प्रदान करता है ॥ ३४ ॥

[२]

(ऋषिः- १-४० मेधातिथिः काण्वः, आङ्गिरसः प्रियमेधश्च, ४१-४२ मेधातिथिः काण्वः। देवताः- इन्द्रः, ४१-४२ विभिन्दुः। छन्द- गायत्री, २८ अनुष्टुप्।)

३५ इदं वसो सुतमन्धः पिबा सुपूर्णमुदरम् । अनाभयिन् ररिमा ते ॥ १ ॥
३६ नृभिर्धूतः सुतो अश्नैरव्यो वारैः परिपूतः । अश्वो न निक्तो नदीषु ॥ २ ॥
३७ तं ते यवं यथा गोभिः स्वादुमकर्म श्रीणन्तः । इन्द्र त्वास्मिन् त्सधमादे ॥ ३ ॥
३८ इन्द्र इत् सोमपा एक इन्द्रः सुतपा विश्वायुः । अन्तर्देवान् मर्त्यांश्च ॥ ४ ॥
३९ न यं शुक्रो न दुराशीर्न तृप्रा उरुव्यचसम् । अपस्पृण्वते सुहार्दम् ॥ ५ ॥
४० गोभिर्यदीमन्ये अस्मन् मृगं न व्रा मृगयन्ते । अभित्सरन्ति धेनुभिः ॥ ६ ॥

[२]

अर्थ— [३५] हे (वसो) सबको बसानेवाले इन्द्र ! (इदं सुतं अन्धः) इस निचोडे गए अन्नरूपी सोमरसको (सुपूर्णं उदरं पिब) पूरे पेट भरने तक पी। हे (अन् आभयिन्) किसीसे भी न डरनेवाले इन्द्र ! (ते ररिम) तुझे हम ये रस प्रदान करते हैं ॥ १ ॥

[३६] ये सोम (नृभिः धूतः) मनुष्योंके द्वारा तोडकर लाए गए (अश्नैः सुतः) पत्थरोंसे कूटे गए तथा (अव्यः वारैः परिपूतः) भेडके बालोंसे छानकर पवित्र किए गए तथा (अश्वः न) घोडेके समान (नदीषु निक्तः) जलोंमें मिलाए गए हैं ॥ २ ॥

[३७] हे इन्द्र ! (ते) तेरे लिए हम (यवं यथा) जौसे बने पुरोडासके समानही (तं) उस सोमरसको (गोभिः श्रीणन्तः) गायके दूधमें मिश्रित करके (स्वादुं अकर्म) स्वादिष्ट बनाते हैं। हे (इन्द्र) इन्द्र ! (त्वां अस्मिन् सधमादे) तुझे इस यज्ञमें हम बुलाते हैं ॥ ३ ॥

[३८] (देवान् मर्त्यान् च अन्तः) देवों और मनुष्योंके बीचमें (एकः इन्द्रः इत्) एक इन्द्रही (सोमपाः) सोमरसको पीनेवाला है। (सुतपाः इन्द्रः विश्वायुः) सोमरसको पीनेवाला इन्द्रही दीर्घायु होता है ॥ ४ ॥

[३९] (यं उरुव्यचसं सुहार्दं) जिस अत्यन्त विस्तृत और उत्तम हृदयवाले इन्द्रको (शुक्रः न अपस्पृण्वते) तेजस्वी सोमरस प्रसन्न नहीं करता हो, ऐसी बात नहीं, (दुराशीः न) कठिनतासे पीनेके लिए मिलनेवाला सोमरस प्रसन्न नहीं करता हो, ऐसी बात नहीं, तथा (तृप्राः) तृप्त करनेवाले सोमरस (न) तृप्त न करते हों, ऐसी भी बात नहीं ॥ ५ ॥

[४०] (अस्मत् अन्ये) हमारे अलावा दूसरे लोग भी (यत्) जब (ईं) इस इन्द्रको (गोभिः) गौदुग्ध आदि लेकर (व्राः मृगं न) जिस प्रकार शिकारी हिरणोंको खोजते हैं, उसी प्रकार (मृगयन्ते) खोजते फिरते है, तब वे (धेनुभिः) उत्तम स्तुतियोंसे युक्त होकर उस इन्द्रके पास (अभित्सरन्ति) जाते हैं ॥ ६ ॥

भावार्थ— हे इन्द्र ! हम तुझे ये सोमरस प्रदान करते हैं, तू इन रसोंको पेट भरने तक पी ॥ १ ॥

सोम पहले तोडकर लाए जाते हैं, फिर पत्थरों द्वारा कूटकर उनका रस निकाला जाता है, फिर भेडके ऊनसे बनी हुई छलनीसे उसे छाना जाता है, फिर जिस प्रकार घोडेको नदीमें नहलाया जाता है, उसी तरह इस सोमरसमें पानी मिलाया जाता है ॥ २ ॥

हे इन्द्र ! हम इस सोमरसको उसमें दूध आदि मिश्रित करके स्वादिष्ट बनाते हैं और तुम्हें बुलाते हैं ॥ ३ ॥

देवों और मनुष्योंमें यह इन्द्रही भरपूर सोमरस पीनेवाला है, इसीलिए उसकी आयु भी दीर्घ होती है। सोमरसका पान करनेवाले की आयु दीर्घ होती है ॥ ४ ॥

इस अत्यन्त विस्तृत तथा उत्तम हृदयवाले इन्द्रको सोमरस हर तरहसे तृप्त करते हैं ॥ ५ ॥

दूसरे लोगभी इस इन्द्रको जाननेका प्रयत्न करते हैं, फिर जान लेनेके बाद उसकी स्तुति करते हैं ॥ ६ ॥

४१ त्रय इन्द्रस्य सोमाः सुतासः सन्तु देवस्य । स्वे क्षये सुतपाव्नः ॥ ७ ॥
४२ त्रयः कोशासः श्चोतन्ति तिस्रश्चम्वः सुपूर्णाः । समाने अधि भार्मन् ॥ ८ ॥
४३ शुचिरसि पुरुनिःष्ठाः क्षीरैर्मध्यत आशीर्तः । दध्ना मन्दिष्ठः शूरस्य ॥ ९ ॥
४४ इमे त इन्द्र सोमास्तीव्रा अस्मे सुतासः । शुक्रा आशिरं याचन्ते ॥ १० ॥
४५ ताँ आशिरं पुरोळाशमिन्द्रेमं सोमं श्रीणीहि । रेवन्तं हि त्वा शृणोमि ॥ ११ ॥
४६ हृत्सु पीतासो युध्यन्ते दुर्मदासो न सुरायाम् । ऊधर्न नग्ना जरन्ते ॥ १२ ॥

अर्थ— [४१] (सुतपाव्नः देवस्य इन्द्रस्य) सोमरसोंको पीनेवाले देव इन्द्रके पीनेके लिए (स्वे क्षये) मनुष्योंके सुखदायक घरोंमें (त्रयः) तीनों समयमें (सुतासः सोमाः सन्तु) निचोडे हुए सोम तैय्यार रहें ॥ ७ ॥

[४२] (समाने भार्मन् अधि) एक ही यज्ञमें (त्रयः कोशासः श्चोतन्ति) तीन बर्तन सोमरस चुआते हैं और (तिस्रः सुपूर्णाः चम्वः) तीन सोमरससे पूर्ण चमचे आहुति देते हैं ॥ ८ ॥

[४३] हे सोम ! तू (शुचिः असि) शुद्ध और पवित्र है, (पुरु निष्ठा) अनेकोंके हृदयोंमें तू रहनेवाला है तथा (मध्यतः क्षीरैः आशीर्तः) बीच बीचमें दूधसे मिश्रित होता है, तथा (दध्ना) दहीसे भी मिश्रित होता है, और तू (शूरस्य मन्दिष्ठः) शूरको और उत्साह देनेवाला होता है ॥ ९ ॥

[४४] हे (इन्द्र) इन्द्र ! (ते) तेरे लिए (अस्मे सुतासः) हमारे द्वारा निचोडे गए (इमे तीव्राः शुक्राः सोमाः) ये तीखे और तेजस्वी सोमरस (आशिरं याचन्ते) दूध आदिकी इच्छा करते हैं ॥ १० ॥

[४५] हे (इन्द्र) इन्द्र ! (इमं पुरोडाशं) इस पुरोडाश तथा (आशिरं सोमं) दूधसे मिश्रित सोमरस अर्थात् (तान्) इन सबको तू (श्रीणीहि) भक्षण कर, (हि) क्योंकि मैं (त्वां रेवन्तं शृणोमि) तुझे धनवान् सुनता हूँ ॥ ११ ॥

[४६] (सुरायां दुर्मदासः न) सुरा पीनेके बाद दुष्ट मस्त होकर परस्पर युद्ध करते हैं, उसी तरह हे इन्द्र ! (पीतासः) पिए गए ये सोमरस (हृत्सु) तेरे हृदयमें (युध्यन्ते) परस्पर युद्ध करते हैं। तथा (ऊधः न) जिस तरह भरे हुए थनोंवाली गायकी जिस तरह लोग प्रशंसा करते हैं, उसी तरह (नग्नाः जरन्ते) स्तोता तेरी स्तुति करते हैं ॥ १२ ॥

भावार्थ— हर मनुष्यके घरमें प्रातः, मध्यान्ह और सायं ये तीन यज्ञ हों और उन यज्ञोंमें इन्द्रको सोमरस अर्पित किया जाए ॥ ७ ॥

तीनों सवनोंमें इस इन्द्रके लिए सोमरसकी आहुति दी जाती है ॥ ८ ॥

यह सोम पीनेवालेके हृदयोंको उत्साहसे भर देता है। ये सोमरस स्वादमें तीखे होनेके कारण इसमें दूध और दही आदि मिलाकर पिया जाता है ॥ ९ ॥

सोमरस तेजस्वी और स्वादमें तीखे होते हैं, अतः जब उनमें गायका दूध मिलाया जाता है, तभी वे पीनेके योग्य होते हैं ॥ १० ॥

हे इन्द्र ! तू धनवान् है अतः मेरे द्वारा दिए गए इस पुरोडाश तथा दुग्धमिश्रित सोमरसको पीकर हमें धन प्रदान कर ॥ ११ ॥

सोम पीनेके बाद ये सोमरस शरीरमें उत्साहका संचार करते हैं ॥ १२ ॥

×

४७ रेवाँ इदू रेवतः स्तोता स्यात् त्वावतो मघोनः । प्रेदु हरिवः श्रुतस्य ॥ १३ ॥
४८ उक्थं चन शस्यमानं अगोररिरा चिकेत । न गायत्रं गीयमानं ॥ १४ ॥
४९ मा न इन्द्र पीयत्नवे मा शर्धते परा दाः । शिक्षा शचीवः शचीभिः ॥ १५ ॥
५० वयमु त्वा तदिदर्था इन्द्र त्वायन्तः सखायः । कण्वा उक्थेभिर्जरन्ते ॥ १६ ॥
५१ न घेमन्यदा पपन वज्रिन्नपसो नविष्टौ । तवेदु स्तोमं चिकेत ॥ १७ ॥
५२ इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तं न स्वप्नाय स्पृहयन्ति । यन्ति प्रमादमतन्द्राः ॥ १८ ॥

अर्थ— [४७] हे (हरिवः) तेजसे युक्त इन्द्र! तेरी (स्तोता रेवान् स्यात्) स्तुति करनेवाला धनवान् हो, क्योंकि (त्वावतः रेवतः मघोनः) तेरे जैसे धनवान् और ऐश्वर्यशालीका स्तोता भी (प्र इत् उ) धनवान् होताही है ॥ १३ ॥

[४८] (अगोः अरिः) स्तुति न करनेवालोंका शत्रु वह इन्द्र (गीयमानं गायत्रं) गाये जाते हुए तथा (शस्यमानं उ चन) बोले जाते हुए स्तोत्रको भी (आ चिकेत न) जानताही है ॥ १४ ॥

[४९] हे (इन्द्र) इन्द्र ! (नः पीयत्नवे मा दाः) हमें हिंसकोंके हाथोंमें मत सौंप, (शर्धते मा परा) जो अत्याचारी है उसके हाथोंमें भी हमें मत सौंप, अपितु हे (शचीवः) शक्तियोंसे सम्पन्न इन्द्र ! (शचीभिः शिक्ष) अपनी शक्तियोंसे युक्त होकर हमें ऐश्वर्य प्रदान कर ॥ १५ ॥

[५०] हे (इन्द्र) इन्द्र ! (त्वायन्तः सखायः) तेरी शरणमें रहनेवाले तेरे मित्र (कण्वाः) ज्ञानीजन (तत् इत् अर्थाः) उसी ऐश्वर्य प्राप्तिकी इच्छासे (उक्थेभिः जरन्ते) स्तोत्रोंसे तेरी स्तुति करते हैं, तथा (वयं उ त्वा) हम भी तेरी स्तुति करते हैं ॥ १६ ॥

[५१] हे (वज्रिन्) वज्रधारी इन्द्र ! (अपसः न विष्टौ) कार्यको तथा स्तुति करनेके समय (अन्यत् न घ ई आपपन) और दूसरा कुछ भी काम न करूं, मैं केवल (तव इत् स्तोमं उं चकेत) तेरेही स्तोत्रको करना जानता हूँ ॥ १७ ॥

[५२] (देवाः) देवगण (सुन्वन्तं इच्छन्ति) यज्ञ करनेवालेकीही इच्छा करते हैं (स्वप्नाय न स्पृहयन्ति) सोनेवाले मनुष्यके पास जानेकी इच्छा वे कभी नहीं करते, (अतन्द्राः) स्वयं कभी आलस्य न करनेवाले वे देवगण (प्रमादं यन्ति) आलसीको छोड जाते हैं ॥ १८ ॥

१ देवाः सुन्वन्तं इच्छन्ति, न स्वप्नाय— देवगण सदा यज्ञ करनेवालेके पासही जाना चाहते हैं, कभी आलसीके पास नहीं ।

२ अतन्द्राः प्रमादं यन्ति— आलस्य न करनेवाले देव आलसीका परित्याग कर देते हैं ।

भावार्थ— कोई मनुष्य किसी धनवानकी प्रशंसा या स्तुति करता है, तो वह भी धनवानही होता है, तो फिर उस प्रभुकी स्तुति करनेवाला धनवान् क्यों न हो ॥ १३ ॥

प्रभु नास्तिकोंका शत्रु है । जो प्रभुकी स्तुति नहीं करते, वे नष्ट हो जाते हैं । वह प्रभु तो सर्वव्यापी है, अतः वह सबकी स्तुतियों और प्रार्थनाओंको जानता है ॥ १४ ॥

हिंसकों और अत्याचारियोंके अधीन होना भी प्रभुकी अवकृपाही है, अतः मनुष्यको चाहिए कि वह कभी भी हिंसकों और अत्याचारियोंके वशमें न हो ॥ १५ ॥

इस प्रभुसे मित्रता करनेवाले ज्ञानी जन भी ऐश्वर्यकी प्राप्तिके लिए इसी प्रभुकी प्रार्थना करते हैं, फिर साधारण लोगोंकी तो बातही क्या ? ॥ १६ ॥

प्रभुकी स्तुति रूप कार्य करते समय मनुष्य और कोई काम न करे, अपितु उस समय वह केवल प्रभुकी स्तुतिही करे ॥ १७ ॥

जो सदा यज्ञरूप सत्कर्म करता रहता है, वही देवगणोंका प्रिय होता है, और देवगण उसीके पास जाते हैं । पर जो आलस्य और प्रमाद करता है, उसका वे परित्याग कर देते हैं ॥ १८ ॥

५३ ओ षु प्र याहि वाजेभि-र्मा हृणीथा अभ्य१स्मान् । महाँ इव युवजानिः ॥ १९ ॥
५४ यो ध्वुग्र दुर्हणावान् त्सायं करदारे अस्मत् । अश्रीर इव जामाता ॥ २० ॥
५५ विद्मा ह्यस्य वीरस्य भूरिदावरीं सुमतिम् । त्रिषु जातस्य मनांसि ॥ २१ ॥
५६ आ तू षिञ्च कण्वमन्तं न घा विद्म शवसानात् । यशस्तरं शतमूतेः ॥ २२ ॥
५७ ज्येष्ठेन सोतरिन्द्राय सोमं वीराय शक्राय । भरा पिबन्नर्याय ॥ २३ ॥
५८ यो वेदिष्ठो अव्यथि-ष्वश्वावन्तं जरितृभ्यः । वाजं स्तोतृभ्यो गोमन्तम् ॥ २४ ॥

अर्थ— [५३] हे इन्द्र ! (अस्मान् अभि मा हृणीथा) तू हमारे ऊपर कभी भी क्रोधित मत हो, अपितु (महान् युवजानिः इव) जिस तरह कोई मनुष्य महान् होनेपर भी अपनी पत्नीके पास जाता है, उसी तरह तू (वाजेभिः) घोडोंसे (ओ सु प्र याहि) हमारी तरफ आ ॥ १९ ॥

[५४] (दुर्हणावान्) शत्रुओंसे असह्य बलवाला इन्द्र (अस्मत् आरे) हमारे पास आवे, वह (अश्रीरः जामाता इव) लक्ष्मीहीन दरिद्र जामाताके समान (सायं मा करत्) सायंकाल न करे ॥ २० ॥

[५५] हम (अस्य वीरस्य) इस वीर इन्द्रकी (भूरिदावरीं सुमतिं) बहुत ऐश्वर्य प्रदान करनेवाली उत्तम बुद्धि तथा (त्रिषु जातस्य) तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध इस इन्द्रके (मनांसि) मनोंको भी (विद्म) जानते हैं ॥ २१ ॥

[५६] हे मनुष्य तू (कण्वमन्तं) ज्ञानसे युक्त इन्द्रको (तु आ सिञ्च) सोमरससे सींच क्योंकि (शवसानात् शतं ऊतेः) अत्यन्त बलशाली तथा सैंकडों तरहके रक्षाके साधनोंसे युक्त इस इन्द्रकी अपेक्षा (यशस्तरं) अधिक यशस्वी (न घा विद्म) हम नहीं जानते ॥ २२ ॥

[५७] हे (सोतः) सोम तैय्यार करनेवाले मनुष्य ! (ज्येष्ठेन) सबसे श्रेष्ठ होनेके कारण (वीराय शक्राय अर्याय इन्द्राय) वीर, शक्तिशाली तथा श्रेष्ठ इन्द्रके लिए (सोमं भर) सोमरस प्रदान कर, तथा वह इन्द्र ((पिबत्) पीए ॥ २३ ॥

[५८] (यः) जो इन्द्र (अव्यथिषु) कभी दुःखी न होनेवाले लोगोंकी (वेदिष्ठः) यज्ञवेदी पर जाकर बैठता है, वह इन्द्र (जरितृभ्यः स्तोतृभ्यः) मंत्र बोलकर स्तुति करनेवालोंको (अश्वावन्तं गोमन्तं वाजं) घोडे और गायोंसे युक्त ऐश्वर्यको प्रदान करता है ॥ २४ ॥

भावार्थ— मनुष्य कभी ऐसा काम न करे कि जिससे इन्द्र उसके ऊपर क्रोधित हो, अपितु जिस प्रकार कोई पुरुष अपनी पत्नी की तरफ आकर्षित होता है, उसी तरह इन्द्र उसकी तरफ आकर्षित होकर जाए ॥ १९ ॥

जिस तरह कोई दरिद्र जामाता अपने ससुराल जानेमें आनाकानी करता है, उसी तरह इन्द्र हमारे पास आनेमें आनाकानी न करे ॥ २० ॥

तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध प्रभुका मन सभी प्राणियों पर उदार होता है, तथा वह सब प्राणियोंको उदार मनसे सहायता देता है, यह बात विद्वान् जानते हैं ॥ २१ ॥

इस बलशाली तथा सुरक्षाके साधनोंसे युक्त इन्द्रकी अपेक्षा अधिक यशस्वी और कोई नहीं है, इसलिए वही एक पूजाके योग्य है ॥ २२ ॥

वह इन्द्र सबसे श्रेष्ठ, सबसे अधिक शक्तिशाली तथा तेजस्वी होनेके कारण पूजाके योग्य है। जो शक्तिशाली और तेजस्वी होता है, वही पूजाके योग्य होता है ॥ २३ ॥

जिस मनुष्यके यज्ञमें इन्द्र जाता है, वह कभी भी दुःखी नहीं होता अपितु घोडे, गाय आदि ऐश्वर्योंसे युक्त होता है ॥ २४ ॥

५९ पन्यंपन्यमित् सोतार आ धावत मद्याय । सोमं वीराय शूराय ॥ २५ ॥
६० पाता वृत्रहा सुतमा घा गमन्नारे अस्मत् । नि यमते शतमूतिः ॥ २६ ॥
६१ एह हरी ब्रह्मयुजा शग्मा वक्षतः सखायम् । गीर्भिः श्रुतं गिर्वणसम् ॥ २७ ॥
६२ स्वादवः सोमा आ याहि श्रीताः सोमा आ याहि ।
शिप्रिन्नृषीवः शचीवो नायमच्छा सधमादम् ॥ २८ ॥
६३ स्तुतश्च यास्त्वा वर्धन्ति महे राधसे नृम्णाय । इन्द्र कारिणं वृधन्तः ॥ २९ ॥
६४ गिरश्च यास्ते गिर्वाह उक्था च तुभ्यं तानि । सत्रा दधिरे शवांसि ॥ ३० ॥

अर्थ— [५९] हे (सोतारः) सोमरस निचोडनेवाले मनुष्यो ! (मद्याय वीराय शूराय) आनन्दयुक्त, वीर तथा शूर इन्द्रके लिए (पन्यं पन्यं सोमं इत्) प्रशंसाके योग्य सोमको ही (आ धावत) प्रदान करो ॥ २५ ॥

[६०] (सुतं पाता) सोमरसको पीनेवाला तथा (वृत्रहा) वृत्रको मारनेवाला इन्द्र (अस्मत् आ गमत्) हमारे पास आवे, (न आरे) हमसे दूर न जाए। तथा (शतं ऊतिः) सैंकडों तरहके रक्षाके साधनोंसे युक्त होकर वह इन्द्र (नियमते) हमारे शत्रुओंपर नियंत्रण करे ॥ २६ ॥

[६१] (ब्रह्मयुजा शग्मा हरी) ज्ञानसे युक्त, सुखकारी घोडे (गीर्भिः श्रुतं) स्तुतियोंसे प्रसिद्ध तथा (गिर्वणसं सखायं) स्तुतिके योग्य मित्रके समान हितकारी इन्द्रको (इह आ वक्षतः) यहां ले आवें ॥ २७ ॥

[६२] हे (शिप्रिन् ऋषीवः शचीवः) सुन्दर रूपवाले, ज्ञानयुक्त और शक्तियुक्त इन्द्र ! (स्वादवः सोमाः) स्वादिष्ट सोम तैय्यार हैं, तू (आ याहि) आ जा, (सोमाः श्रीताः) सोम निचोड दिए गए हैं, तू (आ याहि) आ जा। (न) अब (अयं) यह तेरा भक्त (सधमादं) आनन्द प्रदान करनेवाले तुझे (अच्छ) बुलाता है ॥ २८ ॥

[६३] हे (इन्द्र) इन्द्र ! (कारिणं) उत्तम कर्मोंके कर्ता तुझे (वर्धन्तः) बढाती हुई (याः) जो स्तुतियां (त्वा वर्धन्ति) तुझे बढाती हैं, वह तू (स्तुतः) स्तुतिको प्राप्त करके (महे राधसे नृम्णाय) महान् ऐश्वर्य तथा मनुष्योंके लिए हितकारी धन प्रदान कर ॥ २९ ॥

[६४] हे (गिर्वाहः) प्रशंसनीय इन्द्र ! (याः ते गिरः सन्ति) जो तेरी स्तुतियां हैं, (तुभ्यं उक्था च) तेरे लिए किए जानेवाले स्तोत्र हैं, (तानि सत्रा) वे एक साथ मिलकर (शवांसि दधिरे) तुझमें शक्तिको उत्पन्न करते हैं ॥ ३० ॥

भावार्थ— यह इन्द्र आनन्दसे युक्त, वीर और शूर है, ऐसे श्रेष्ठ देवके लिए प्रशंसा योग्य पदार्थ ही देने चाहिए ॥ २५ ॥

सोमरसको पीनेवाला वह इन्द्र प्रसन्न होकर हमारे पास आवे और हमारे शत्रुओंको दूर करे ॥ २६ ॥

इन्द्रके पशु भी ज्ञानसे युक्त तथा सुखकारी हैं। इसी तरह वीर या राजाके घोडे भी समझदार तथा सुख देनेवाले हों ॥ २७ ॥

हे सुन्दर रूपवाले ज्ञानी तथा शक्तिशाली इन्द्र ! ये सोमरस निचोडकर तैय्यार कर दिए गए हैं, और भक्त तुझे बुला भी रहा है, अतः तू आ ॥ २८ ॥

उत्तम कर्मोंको करनेवाला यह इन्द्र स्तुतियोंसे शक्तिशाली एवं प्रसन्न होकर मनुष्योंको उत्तम ऐश्वर्य प्रदान करता है ॥ २९ ॥

जो भी स्तुतियां या स्तोत्र इन्द्रके लिए किए जाते हैं, वे इन्द्रकी शक्तिको बढाते हैं ॥ ३० ॥

६५ एवेदेष तुविकूर्मि-र्वाजाँ एको वज्रहस्तः	। सनादमृक्तो दयते	॥ ३१ ॥
६६ हन्ता वृत्रं दक्षिणेने-न्द्रः पुरू पुरुहूतः	। महान् महीभिः शचीभिः	॥ ३२ ॥
६७ यस्मिन् विश्वाश्चर्षणय उत च्यौत्ना ज्रयांसि च	। अनु घेन्मन्दी मघोनः	॥ ३३ ॥
६८ एष एतानि चकारे-न्द्रो विश्वा योऽति शृण्वे	। वाजदावा मघोनाम्	॥ ३४ ॥
६९ प्रभर्ता रथं गव्यन्त-मपाकाच्चिद् यमवति	। इनो वसु स हि वोळ्हा	॥ ३५ ॥
७० सनिता विप्रो अर्वद्भि-र्हन्ता वृत्रं नृभिः शूरः	। सत्योऽविता विधन्तम्	॥ ३६ ॥

अर्थ— [६५] (एषः एव इत्) यह ही इन्द्र (तुविकूर्मिः) अनेक तरहके उत्तम कर्मोंको करनेवाला है, यह (एकः) अद्वितीय (वज्रहस्तः) वज्रको हाथोंमें धारण करनेवाला (सनात् अमृक्तः) सदासे शत्रुओंसे अहिंसित है, ऐसा इन्द्र (वाजान् दयते) अन्नोंको प्रदान करता है ॥ ३१ ॥

[६६] (दक्षिणेन वृत्रं हन्ता) चतुरतासे वृत्रको मारनेवाला (इन्द्रः) इन्द्र (महीभिः शचीभिः) अपनी बडी बडी शक्तियोंके कारण (महान्) महान् है, इसलिए (पुरू) सर्वत्र व्यापी वह इन्द्र (पुरुहूतः) अनेकों प्राणियोंके द्वारा बुलाया जाता है ॥ ३२ ॥

[६७] (विश्वाः चर्षणयः) सारी प्रजायें (उत च्यौत्ना) और सारी शक्तियां (च) तथा (ज्रयांसि) विजय (यस्मिन्) जिस इन्द्रमें स्थित हैं, (मघोनः) उस ऐश्वर्यशाली इन्द्रको (अनु घ इत् मन्दी) निश्चयसे आनन्दित करना चाहिए ॥ ३३ ॥

[६८] (यः अति शृण्वे) जो अत्यन्त शक्तिशाली और पराक्रमी सुना जाता है (एषः) इसी (इन्द्रः) इन्द्रने (एतानि विश्वा चकार) इन सभी पराक्रमोंको किया। वही (मघोनां) ऐश्वर्यशालियोंको भी (वाजदावा) अन्न देनेवाला है ॥ ३४ ॥

[६९] (प्रभर्ता) सबका पोषण करनेवाला इन्द्र (यं गव्यन्तं रथं) जिस जाते हुए रथकी (अपाकात् चित्) शत्रुसे भी (अवति) रक्षा करता है, (इनः) सबका स्वामी होकर (सः हि) वही इन्द्र (वसु वोळ्हा) धनको ले जानेवाला होता है ॥ ३५ ॥

[७०] (विप्रः) वह ज्ञानी इन्द्र (अर्वद्भिः सनिता) घोडोंसे सर्वत्र जाता है, (शूरः) वह शूरवीर इन्द्र (नृभिः) नेताओंकी सहायतासे (वृत्रं हन्ता) वृत्र-शत्रुको मारता है, तथा वह (सत्यः) अविनाशी इन्द्र (विधन्तं अविता) अपनी सेवा करनेवालेकी रक्षा करनेवाला है ॥ ३६ ॥

भावार्थ— यह इन्द्र अनेक उत्तम कर्मोंको करनेवाला, अद्वितीय, वज्रको हाथोंमें धारण करनेवाला तथा शत्रुओंके लिए अजेय है ॥ ३१ ॥

महान् शक्तिशाली होनेपर भी इस इन्द्रने वृत्रको चतुरतासे मारा। वह सर्वत्र व्यापी है और सबसे बुलाया जाता है ॥ ३२ ॥

इसी इन्द्रमें सारी प्रजायें, सारी शक्तियां और विजय प्राप्त करनेका पराक्रम स्थित हैं। ऐसे ऐश्वर्यशाली इन्द्रको प्रसन्न करना चाहिए ॥ ३३ ॥

अपने प्रसिद्ध पराक्रमके कार्योंके कारण यह इन्द्र सर्वत्र विख्यात है। धनीसे धनी मनुष्यको भी वही इन्द्र अन्न देता है। कोई चाहे जितना भी धनी हो पर उसे अन्न देनेवाला तो परमात्मा ही है ॥ ३४ ॥

जो वीर तेजीसे दौडते हुए अपने रथकी शत्रुओंसे रक्षा करता है, अर्थात् युद्धमें पराक्रम दिखाता है, वही वीर सबका स्वामी होकर बलवान् होता है ॥ ३५ ॥

वह ज्ञानी इन्द्र अपने सहायकोंकी सहायतासे शत्रुओंको मारता है और अपने सहायकोंकी रक्षा करता है इसी तरह राजा घोडे पर चढकर अपने वीरोंकी सहायतासे शत्रुओंको मारे और अपने सहायकोंकी रक्षा करे ॥ ३६ ॥

७१ यजध्वैनं प्रियमेधा इन्द्रं सत्राचा मनसा । यो भूत् सोमैः सत्यमद्वा ॥ ३७ ॥
७२ गाथश्रवसं सत्पतिं श्रवस्कामं पुरुत्मानम् । कण्वासो गात वाजिनम् ॥ ३८ ॥
७३ य ऋते चिद् गास्पदेभ्यो दात् सखा नृभ्यः शचीवान् । ये अस्मिन् काममश्रियन् ॥ ३९ ॥
७४ इत्था धीवन्तमद्रिवः काण्वं मेध्यातिथिम् । मेषो भूतोऽभि यन्नयः ॥ ४० ॥
७५ शिक्षा विभिन्दो अस्मै चत्वार्ययुता ददत् । अष्टा परः सहस्रा ॥ ४१ ॥
७६ उत सु त्ये पयोवृधा माकी रणस्य नप्त्या । जनित्वनाय मामहे ॥ ४२ ॥

अर्थ— [७१] (यः सोमैः सत्यमत् वा भूत्) जो इन्द्र सोमरस पीनेके कारण सच्ची शक्तिसे युक्त होता है, (एनं इन्द्रं) इस इन्द्रकी हे (प्रियमेधाः) यज्ञसे प्रेम करनेवाले मनुष्यो ! (सत्राचा मनसा) यज्ञसे युक्त मनसे (यजध्वं) पूजा करो ॥ ३७ ॥

[७२] हे (कण्वासः) ज्ञानी मनुष्यो ! तुम (गाथश्रवसं) जिसका यश सर्वत्र गाया जाता है, (सत्पतिं) जो सत्पुरुषोंका पालक है, (श्रवस्कामं) जो यशकी कामना करनेवाला है, (पुरुत्मानं) बहुत आत्मशक्तिवाले इन्द्रके यशका (गात) गान करो ॥ ३८ ॥

[७३] (पदेभ्यः ऋते चित्) पैर आदि अवयवोंके न होने पर भी (यः सखा शचीवान्) जिस मित्र और शक्तिशाली इन्द्रने (नृभ्यः गाः दात्) मनुष्योंके लिए वाणियां प्रदान की। (ये अस्मिन् कामं अश्रियन्) जो मनुष्य इस इन्द्रमेंही अपनी सारी कामनायें स्थापना करते हैं ॥ ३९ ॥

[७४] हे (अद्रिवः) वज्रधारी इन्द्र ! (इत्था धीवन्तं) इस प्रकार स्तुति करते हुए (काण्वं) ज्ञानी (मेध्यातिथिं) पूजाके योग्य अतिथिके पास तू (मेषः भूतः अभि यन् अयः) मेष होकर गया ॥ ४० ॥

[७५] हे (विभिन्दो) शत्रुओंको भेदनेवाले इन्द्र ! तूने (अस्मै) इस ज्ञानीके लिए (चत्वारि अयुता ददत्) चार गुना दस हजार अर्थात् चालीस हजारकी संख्यामें धन दिया, (परः) उसके अलावा (अष्टा सहस्रा) आठ हजार धन और भी दिए ॥ ४१ ॥

[७६] (उत) और (पयोवृधा) जलको बढानेवाले (माकी) सबके निर्माता (रणस्य नप्त्या) स्तोताके पतनको न होने देनेवाले द्यावा पृथ्वीकी मैं (जनित्वनाय) उत्तम धान्य आदिकी उत्पत्तिके लिए (मामहे) स्तुति करता हूँ ॥ ४२ ॥

भावार्थ— सोमरसोंको पीनेसे शक्ति आती है, इन्हीं सोमरसोंके कारण इन्द्र शक्तिशाली हैं, इसीलिए इसकी सब लोग पूजा करते हैं ॥ ३७ ॥

राजाके यशको सभी गाएं, वह सज्जनोंका पालन करे, वह यश की कामना करनेवाला हो, तथा आत्मशक्तिसे युक्त हो। ऐसे वीर राजाके यशका गान ज्ञानी जन भी करते हैं ॥ ३८ ॥

ऐश्वर्यशाली प्रभु मनुष्योंका मित्रके समान हित करनेवाला है। निराकार होनेके कारण पैर आदि अवयवोंसे रहित होनेपर भी उसने मनुष्योंको वाणी प्रदान की, अतः ज्ञानीजन अपने मनोरथोंकी पूर्तिके लिए उसी प्रभुकी प्रार्थना करते हैं ॥ ३९ ॥

ज्ञानी और पूज्य अतिथिका सदा सत्कार करना चाहिए ॥ ४० ॥

ऐश्वर्यशाली इन्द्र ज्ञानीके लिए असंख्य धन प्रदान करता है ॥ ४१ ॥

द्युलोक और पृथ्वीलोक ये दोनों ही लोक सबीके निर्माता तथा उत्तम धान्यको उत्पन्न करनेवाले हैं ॥ ४२ ॥

मुद्रक और प्रकाशक– व. श्री. सातवलेकर, भारत मुद्रणालय, पोस्ट– 'स्वाध्याय मण्डल, पारडी' [जि. बलसाड]

वैदिकधर्म

मार्च १९७४

६० पैसे



संत श्री तुकाराम महाराज



संत श्री एकनाथ महाराज



वैदिक धर्म

वर्ष ५५ : अंक ३ : फाल्गुन : २०३०
स्वामी— स्वाध्याय-मंडल, पारडी [जि. वलसाड]

संस्थापक एवं आद्यसंपादक
श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

संपादक
वसंत श्रीपाद सातवलेकर

विषयानुक्रमणिका

卐

' वैदिक धर्म ' वार्षिक मूल्य म. आ. से ६) रु.

वी. पी. से रु. ७.५० विदेशके लिए रु. ८.०० डाक व्यय अलग रहेगा।

इस अंकमें प्रसिद्ध किये गये लेखकोंके लेखोंमेंके मतों और विचारोंसे संपादक सहमत है ऐसा नहीं है। उन लेखोंमेंके विचारोंके लिये केवल लेखकही व्यक्तिशः उत्तरदायी हैं।

मंत्री— स्वाध्याय-मण्डल, पो.- ' स्वाध्याय-मण्डल (पारडी) ' पारडी [जि. वलसाड]

वैदिक धर्म

श्रेष्ठ देव

अजीजनो हि वरुण स्वधावन्नथर्वाणं
पितरं देवबन्धुम् ।
तस्मा उ राधः कृणुहि सुप्रशस्तं
सखा नो असि परमं च बन्धुः
(अथर्व ५-११-११)



(गृणते देवाय वयोधाः देवः) स्तुति करनेवाले विद्वान्के लिये अन्न देनेवाला देव तू है। तथा तू (स्तुवते विप्राय सुमेधाः विप्र) स्तुति करनेवाले ज्ञानीके लिये उत्तम मेधावान् ज्ञानी है। हे (स्वधावन् वरुण) हे अपनी धारणाशक्तिसे युक्त देव ! तू (देवबन्धुं पितरं अथर्वाणं अजीजनः) देवोंके भाई जैसे पालक अथर्वा योगीको बनाता है। (तस्मा उ सुप्रशस्तं राधः कृणुहि) उसके लिये उत्तम प्रशंसनीय धन प्रदान कर। (नः सखा असि) तू हमारा मित्र है और (परमं च बन्धुः) परम बन्धु भी तू ही है।

स्तुति करनेवाले उपासकको अन्नादि देनेवाला तू ही एक देव है। उपासकको उत्तम ज्ञान देनेवाला भी तू ही है। हे श्रेष्ठ देव ! तू ही रक्षकोंको उत्पन्न करता है, और उनको धनादि पदार्थ अथवा सिद्धि देता है। तू ही हम सबका मित्र है और भाई भी है।

लेखक : श्री श्रीराम माधव चिंगले , एम्. ए., तत्त्वज्ञान मंदिर, अमलनेर

अजातवाद, सृष्टिदृष्टिवाद और दृष्टिसृष्टिवाद

" तस्माद्राम जगन्नासीन्नचास्ति न भविष्यति "

—योगवासिष्ठ

अद्वैत वेदान्तमें जगत्का स्वरूप बतलानेके लिये अधिकार भेदसे विभिन्न प्रक्रियाओंका अवलंब किया गया है। इस विषयमें वेदान्तका मुख्य सिद्धान्त 'अजातवाद' है। श्री गौडपादाचार्यने अपनी सुप्रसिद्ध मांडूक्यकारिकामें इसका उत्तमताके साथ निरूपण किया है। जिस जगत्को एकमात्र सत्य मानकर अज्ञानी मनुष्य रातदिन उसीमें उलझ रहे हैं और जिस जगत्की सत्यत्वबुद्धि अनेक अनर्थोंको जन्म दे रही है उसीके विषयमें वेदान्तशास्त्र तथा उसके अनुभवी मनीषि कहते हैं कि वह तत्त्वतः न तो कभी था, न है, और न होगा। इस प्रकार कालत्रयमें उसकी वास्तविक सत्ताका निषेध किया गया है। वेदान्तशास्त्र कंठरवसे घोषित करता है- 'वस्तुतस्तु जगन्नास्ति सर्वं ब्रह्मैव केवलम्।' अर्थात्- यथार्थ दृष्टिसे जगत् है ही नहीं, केवल ब्रह्म ही है। हमको भ्रमके कारण डोरी पर साँप दिखाई देता है। भ्रमकालमें वह सत्य ही मालूम होता है। इसीलिये भय-कंपादि उत्पन्न होते है। किंतु डोरीके यथार्थ ज्ञानके अनंतर साँपका पता ही नही रहता, न तो वह भ्रमसे पहले कभी था, न भ्रमनिवृत्तिके अनंतर रहता है और न भ्रमकालमें ही वहाँ होता है। यही बात स्वप्नकी है। स्वाप्नपदार्थ स्वप्न कालमें पूर्ण सत्य मालूम होते हैं। किन्तु जागनेपर उनमेंसे कुछ भी शेष नहीं रहता। एकमेव प्रतीतिको छोडकर काल-त्रयमें प्रातिभासिक पदार्थोंकी कोई सत्ता ही नहीं होती। स्वप्नमें मनुष्य राजा बनता है किंतु जागनेपर स्वप्न राज्य-वैभवमेंसे उसके हाथ एक पैसा भी नहीं आता। जो बात स्वप्न दृष्टांतकी है वही दार्ष्टान्तिक जगत्की है। अज्ञान-कालमें जो जगत् एकमेव सत्य मालूम होता है वह ब्रह्म-जाग्रतिके उदय होनेपर स्वप्न और गंधर्वनगरकी तरह नामशेष हो जाता है—

स्वप्नमाये यथा दृष्टे गंधर्वनगरं यथा।
तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः॥

वेदान्तमें सत्य उसीको कहा गया है कालत्रयमें अबाधित हो- 'त्रिकालाबाधितत्वं सत्यत्वं।' सत्य वही है जो आदि, मध्य, अंतमें हो, जो भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों कालोंमें हो। प्रातिभासिक भ्रम पदार्थ न तो आदिमें होता है, न अंतमें। मध्यमें माने भ्रमकालमें वह केवल प्रतीत होता है। वस्तुत उस समय भी वह नहीं होता। इसीलिये सत्यज्ञानसे उसका बाध होता है। यही आशय निम्न श्लोकोंमें उत्तमताके साथ व्यक्त किया गया है–

आदावन्ते च यन्नित्य तत्सत्यं नाम नेतरत्।
आदावन्ते च यत्सत्यं वर्तमाने सदैव तत्।
आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा।
आदावन्ते च यन्नास्ति कीदृशी तस्य सत्यता।

—योगवासिष्ठ

लेकिन अनन्त कालके जगत् सत्यत्व बुद्धिके संस्कारोंके कारण अज्ञ साधारण मनुष्यको यह तथ्य पल्ले पडना कठिन होता है। साधारण मनुष्यकी बात तो दूर रही एक अद्वैत-वेदान्तको छोडकर शेष दार्शनिक संप्रदाय भी जगत् सत्यत्व बुद्धिसे ग्रस्त हैं। बडे प्रयत्नसे यह दूर हो सकती है। इसी आशयसे वसिष्ठ महामुनि कहते हैं–

जन्मान्तरशताभ्यस्ता राम संसारसंस्थितिः।
सा चिराभ्यासयोगेन विना न क्षीयते क्वचित्।

—योगवासिष्ठ

ऐसे मंदाधिकारियोंको ध्यानमें रखकर वेदान्तदर्शन 'सृष्टिदृष्टिवाद' का निरूपण करता है। इसकी व्याख्या है, 'सृष्ट्युत्तरकालीन दृष्टिः।' अर्थात् प्रथम सृष्टि है फिर उसकी दृष्टि माने ज्ञान है। प्रथम ईश्वर द्वारा सृष्टि निर्मित होती है और फिर निर्मित जीवको उसका ज्ञान होता है। इस पक्षमें प्रथम सृष्टि है और फिर उसका ज्ञान

है। केवल इतना ही नहीं, सृष्टिकी सत्ता ज्ञाता जो जीव उसके ज्ञानके निरपेक्ष है। चाहे जीवको उसका ज्ञान हो या न हो, सृष्टि है ही। पाश्चात्य दर्शनमें इस प्रकारकी विचार-प्रणाली 'REALISM' माने 'पदार्थ सत्तावाद' के नामसे प्रसिद्ध है। सामान्य मनुष्यके सारे व्यवहार इसी मान्यतापर आधारित हैं। हम यही समझते हैं कि सृष्टि है ही चाहे हमें उसका ज्ञान हो या न हो। सुषुप्तिमें हमें पुत्र, कलत्र, गृह, वित्तादि किसीका भी ज्ञान नहीं होता। फिर भी अपने स्थानपर ये सब ज्यूँ के त्यूँ रहते हैं। हमारे ज्ञानके होने या न होनेसे इनमें कोई अंतर नहीं पड़ता। केवल इतना ही नहीं, हमें जगत् तथा उसके सारे पदार्थोंके विषयमें सत्यत्वबुद्धि भी होती है। अज्ञानदशामें तो हमें जगत् तथा उसके सारे पदार्थ ये ही हमारे लिये एकमात्र सत्य होते हैं। इनके मिथ्यात्वकी हमें कल्पना भी नहीं छु जाती। इनको मिथ्या कहकर इनसे छुडानेवाला हमें हमारा हितु नहीं, अहितु जान पडता है। अज्ञानका ऐसा विपरीत चक्कर होता है। ऐसे आत्मविस्मृत माने अपने आपको भूले हुए, बाह्य जगत्में आसक्त अज्ञानी बद्ध जीवोंके लिये वेदान्तदर्शन जगन्मिथ्यात्वके सिद्धान्तका प्रतिपादन करके उनकी जगत्सत्यत्व बुद्धिको दूर करनेका प्रयत्न करता है। इस दर्शनके तीन मुख्य प्रमेय हैं। ये श्लोकार्धमें ग्रथित हैं—

'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः।'

अर्थात् एकमात्र ब्रह्मही सत्य है, जगत् मिथ्या है और जीव अपने वास्तविक स्वरूपमें ब्रह्म ही है। जीव और ब्रह्ममें भेद नहीं है। जीव और ब्रह्ममें पूर्णरूपसे अभेद बतलानेवाला यही एकमेव दर्शन है। वेदान्तके उक्त तीन मुख्य प्रमेयोंमेंसे इस शास्त्रके विचारका प्रारंभ जगन्मिथ्यात्वके सिद्धान्तसे होता है क्योंकि अद्वैतसिद्धि द्वैतमिथ्यात्वसिद्धिके बिना नहीं हो सकती। इसी आशयसे अद्वैतदर्शनके सुप्रसिद्ध आचार्य श्री मधुसूदन सरस्वती अपने 'अद्वैतसिद्धि' नामक सुप्रसिद्ध ग्रंथके प्रारंभमें कहते हैं— तत्राद्वैतसिद्धेर्द्वैतमिथ्यात्वसिद्धिपूर्वकत्वात् द्वैतमिथ्यात्वमेव प्रथममुपपादनीयम्।' इस दर्शनमें द्वैत मिथ्यात्वकी सिद्धि श्रुति, युक्ति विद्वदनुभव (तत्त्वदर्शी पुरुषोंके अनुभव) इत्यादि प्रमाणोंके द्वारा की गई है। श्रुति भी इस विषयमें निःसंदिग्ध रूपसे अनुकूल है। यथा— 'नेह नानाऽस्ति किंचन;' 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति।' माने यहाँ तत्त्वतः अनेकत्व नहीं है; जो यहाँ अनेकत्व देखता है वह बार बार मौतके मूँहमें जाता है। इस प्रकार अखिल द्वैतप्रपंचकी मिथ्यात्वसिद्धि होते ही एकमेव ब्रह्मकी सत्यता सिद्ध करना सुगम हो जाता है। फिर ब्रह्मके सच्चिदानंद रूप स्वरूप लक्षणका और उसके जगज्जन्मादिक कर्तृत्वरूप तटस्थ लक्षणका विचार किया जाता है। फिर जीवके स्वरूपका विचार करके 'तत्त्वमसि' (वह ब्रह्म तूही है), 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैंही ब्रह्म हूँ) इत्यादि महावाक्यों द्वारा तत्वपदार्थशोधनपूर्वक जीव ब्रह्मैक्यका प्रतिपादन किया जाता है। ध्यान रहे, अद्वैत वेदान्तका एकमेव अंतिम तात्पर्य अज्ञानी बद्ध जीवको उसके सच्चे नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सच्चिदानंद परात्पर परब्रह्म स्वरूपका बोध कराना ही है। द्वैतमिथ्यात्वादि प्रमेय इसके साधन मात्र हैं। अधिकारानुरूप इन साधनोंमें भेद होता है। सृष्टिदृष्टिवाद सामान्य मनुष्यकी भूमिकासे और उसकी मान्यताओंके आधार पर उसके इष्ट साध्यतक उसे पहुँचाता है। सामान्य मनुष्य स्वप्न देखता है और जगनेपर उसे मिथ्या भी समझता है। वह रज्जु सार्प भ्रमका भी अनुभव करता है और भ्रमबाधके अनंतर उसे मिथ्या भी समझता है। शास्त्रकार इन्हीं दृष्टान्तोंके द्वारा जगन्मिथ्यात्वकी सिद्धि करते हैं और इस प्रकार उसे ज्ञात अनुभवसे अज्ञातकी ओर लेजाते हैं और उसे बुद्धिगम्य बनाते हैं। सामान्य मनुष्य भ्रमकी प्रातिभासिक सत्ता स्वीकार करता है क्योंकि वह उसके बाधका अनुभव करता है। वह व्यवहार कालमें जगत्का बाध होते हुए नहीं देखता। इसलिये उसे वह सत्य समझता है। उसकी इस मान्यताको ध्यानमें रखकर शास्त्रकार जगत्को व्यावहारिक सत्य कहते हैं। किन्तु वे उसे आगे बढाकर यह भी कहते हैं कि ब्रह्मरूप पारमार्थिक सत्ताके अनुभवके साथही व्यवहारकालीन सत्य जगत्का भी बाध हो जाता है। बाधित होनेसे वह मिथ्या ही क्योंकि सत्यका कभी बाध नहीं होता। इस प्रकार सृष्टिदृष्टिवाद जगत्को स्वप्न कहता है और सत्तात्रैविध्य (प्रातिभासिक, व्यावहारिक और पारमार्थिक)का स्वीकार करता है।

अब हम दृष्टिसृष्टिवादका विचार करलें। अद्वैत वेदान्तकी यह प्रक्रिया उत्तम अधिकारीको ध्यानमें रखकर पुरस्कृत की गई है। योगवसिष्ठ, वेदान्तसिद्धान्त मुक्तावली इत्यादि ग्रंथोंमें यही सिद्धान्त मुख्यतः विशद किया गया है। यह सिद्धान्त इस बातको नहीं मानता कि प्रथम सृष्टि है और फिर उसका ज्ञान है; माने सृष्टि है ही चाहे हमें उसका ज्ञान हो या न हो। इस सिद्धान्तानुसार ज्ञान निरपेक्ष सृष्टि नहीं है। वह पूर्णतया हमारी दृष्टि माने ज्ञान पर अवलंबित है। इसकी दो व्याख्याएँ की गई हैं— (१) दृष्टि समसमया (समानकालीन) विश्वसृष्टिः (२) दृष्टिरेव विश्वसृष्टिः

अर्थात् (१) जब तक हमारी दृष्टि है मान ज्ञान है तभी तक सृष्टि है और (२) हमारी दृष्टि माने ज्ञान यही सृष्टि है। ज्ञानके निरपेक्ष सृष्टि है, माने जब ज्ञान नहीं है उस समय भी सृष्टि है इस विषयमें कोई प्रमाण नहीं है। कोई भी प्रमाण जिसे आप सृष्टि दृष्टिके समर्थनमे देंगे वह आखिर ज्ञानही तो है। ज्ञानके बाहर आप जाही नहीं सकते। इस प्रक्रियाका रहस्य सम्यक्तया समझनेके लिये स्वप्नके उदाहरण पर अच्छी तरह ध्यान देना चाहिये। स्वाप्न दृष्टि माने स्वाप्न ज्ञान यही स्वाप्न सृष्टिका स्वरूप है। ज्ञानको छोडकर उसकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती। स्वाप्नसृष्टि, स्वाप्नदृष्टि माने स्वाप्नज्ञान समकालीन होती है या कहिये कि स्वाप्न ज्ञान यही स्वाप्नसृष्टिका स्वरूप है। स्वप्न, रज्जुसर्प इत्यादि समस्त प्रातिभासिक वस्तुओंका यही स्वरूप होता है। वे ज्ञातैकसत् होते हैं। उनकी शास्त्रीय व्याख्या यह है:- 'अध्यासकालेभासमानत्वे सति अध्यासभिन्नकाले अभासमानः।' माने प्रातिभासिक पदार्थ वही है जो भ्रम कालमें प्रतीत होता है किन्तु भ्रम-कालको छोडकर अन्य किसी कालमें प्रतीत नहीं होता। ज्ञानके अतिरिक्त और ज्ञानसे बाहर उनकी कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं होती। उनका ज्ञान यही उनकी सत्ता है। स्वप्न कालका मकान सौ सालका पुराना मालूम होता है; उसमें हमारे स्त्रीपुत्रादि कई वर्षोंके पुराने मालूम होते हैं। वस्तुतः उनकी उत्पत्ति स्वप्न ज्ञानके साथही होती है; यही उनकी सत्ता है। जाग्रत होनेपर स्वाप्न ज्ञानके विलय होतेही स्वाप्न सृष्टिके सारे पदार्थमय उनके साथ सलग्न हर्षविषादादिके तत्काल विलीन हो जाते हैं। एकही स्वप्न हम दुबारा नहीं देख सकते। प्रत्येक स्वप्नकी सृष्टि उनके ज्ञानके साथ नई नई उत्पन्न होती है। इसी प्रकार हमारी जाग्रत दशामें भी जगत् तथा उसके सारे पदार्थ दृष्टि माने ज्ञान समानकालीन होते है या यह ज्ञानही वह जगत् है। स्वप्न अवस्थामें या सुषुप्ति अवस्थामें जाग्रत अवस्था कालीन कोई पदार्थ नहीं रहता। वह रहता है यह हमारी अविचारितसिद्ध मान्यता है। सोकरके उठने पर ज्ञानके उदयके साथही जगत तथा उसके पदार्थ नये सिरसे उत्पन्न होते हैं। प्रत्येक ज्ञानके साथ उसकी सृष्टि भी स्वतंत्र होती है। ज्ञानके विलयके साथही उसकी सृष्टि भी विलयको प्राप्त हो जाती है। जिसे हम व्यवहारकालीन सत्य जगत् कहते हैं वह इस मतमें स्वप्न ही है। सृष्टि दृष्टिवादके अनुसार जगत् स्वप्नवत् है किन्तु दृष्टि सृष्टिवादके अनुसार वह स्वप्न ही है दृष्टि सृष्टिवाद सृष्टि दृष्टिवादकी तरह सत्तात्रयको न मानकर दो ही सत्ताएँ मानता है- प्रातिभासिक और पारमार्थिक। व्यावहारिक सत्ताको वह प्रातिभासिक ही कहता है। संक्षेपमें यह इस प्रक्रियाका स्वरूप है। इस पर अनेक आपत्तियां दी गई हैं जिनका निराकरण इस विषयके आकर ग्रंथोंमें किया गया है। विस्तार भयसे यहां उनका विचार करना संभव नहीं

निस्संदेह इस उच्चतम बोधको सिद्धान्त रूपसे आकलन करना भी कठिन है, उसके अनुसार आचरण करनेकी बात तो दूर रही। उत्तम अधिकार संपन्न साधक या ब्रह्मज्ञानी ही इस बोधके अनुसार आचरण कर सकते हैं। साधक दशामें इस बोधको हम आदर्श रूपमें ही ग्रहण कर सकते हैं। इसके बौद्धिक निश्चयका भी यह फल होगा कि हमारी बद्धमूल जगत् सत्यत्व भावना शिथिल होकर जगन्मिथ्यात्व बुद्धि स्थिर होने लगेगी और हमारे व्यवहार भी इसके साथ बदलने लगेंगे। हमारा नित्यानित्य वस्तुविवेक जाग्रत रहने लगेगा।

अद्वैत वेदान्तके सिद्धान्त उपदेशके लिये सरल किन्तु प्रत्यक्ष आचरणमें लानेकी दृष्टिसे अत्यंत कठिन हैं। यह बात इस मार्गके सभी अनुभवी पुरुष जान सकते हैं। अन्य दर्शनोंकी अपेक्षा इसकी साधना भी कठिन है। स्वयं श्री भगवान्ने श्रीमद् भगवद्गीतामें कहा है कि अनेक जन्मोंके प्रयत्नोंके फलस्वरूप योगीको परमात्मप्राप्तिरूप परम गति प्राप्त होती है- 'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।' किन्तु ध्यान रहे मनुष्यका पुरुषार्थ कठिन बातोंको प्राप्त करनेमें ही है। जब अर्थ कामरूप लौकिक पुरुषार्थ इतनी कठिनाईके साथ संपाद्य होते हैं तब परमपुरुषार्थ जो मोक्ष उसकी प्राप्ति अनायास न हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? पाश्चात्य देशका एक श्रेष्ठ दार्शनिक स्पिनोझा इस तथ्यका स्वरूप बतलाते हुए कहता है— 'यदि मोक्ष हमारे इतना समीप होता और यदि वह अनायास ही लभ्य होता तो यह कैसे संभव था कि प्रायः सभी मनुष्य उसकी उपेक्षा करें? परतु समस्त सर्वोत्तम वस्तुएँ जितनी कठिन, उतनी ही वे दुर्लभ होती हैं।' मूल अंग्रेजी अवतरण इस प्रकार है—

"How would it be possible, if salvation were ready to our hand, and could without great labour be found, that should be by almost all men neglected? But all excellent things are as difficulf as tehy are rare."

ध्यान रहे, उक्त सर्वोत्तम वस्तुओंको दुर्लभ और दुष्प्राप्य कहा गया है, अप्राप्य नहीं। दीर्घकाल, निरंतर, श्रद्धापूर्वक की हुई अभ्यास वैराग्यकी साधनासे मोक्षप्राप्ति होनेमें संदेह नहीं। इस विषयमें इस मार्गके अनुभवी पुरुषोंके आचरण तथा उपदेश नि.संदेह मार्गदर्शक हो सकते है। इसी दृष्टिसे अब हम इस विषयका विचार कर लें। भगवान् श्री रामकृष्ण परमहंस कहा करते थे कि ब्रह्मज्ञानी पुरुषमें और साधारण पुरुषमें क्या अंतर है? ब्रह्मज्ञानीको सींग नहीं फूटते। उसके ज्ञानमेंही विशेषता आ जाती है। उसका ज्ञान या दृष्टि बदलतेही उसकी सृष्टि भी बदल जाती है। भगवान् श्री रामकृष्ण देवके जीवनके एक उदाहरणसे यह बात स्पष्ट हो जायगी। भगवान् श्री रामकृष्ण विवाहित थे। विवाहके समय उनकी पत्नीकी आयु बहुत कम थी। योग्य समयपर जब वह यौवनको प्राप्त हुई तब वह अपने पतिदेवके सम्मुख उपस्थित हुई। किन्तु तबतक श्री रामकृष्णदेव साक्षात्कार संपन्न हो चुके थे। अतएव उन्हें अपनी नवयौवन संपन्न विवाहिता धर्मपत्नीमें भी जगन्माताके दर्शन हुए। दृष्टि याने ज्ञानके बदलतेही उनकी सृष्टि भी बदल गई। इस ज्ञानके प्रभावसे उनकी पत्नीके साथ भी उनका लौकिक संबंध न रहकर विशुद्ध आध्यात्मिक संबंधही रहा। ब्रह्मदृष्टिसे संपन्न श्री शुकाचार्यकी दृष्टिसे स्त्रीपुरुष भेदही निकल गया था। ज्ञानकी ही यह महिमा है।

ध्यान रहे, ज्ञानका मानवी जीवनमें अत्यधिक महत्त्व है। सारा खेल ज्ञान अज्ञानकाही है। अज्ञानही बंध है, ज्ञानही मोक्ष है। ज्ञानाधीनही मनुष्यके सारे व्यवहार होते हैं। जैसा जिसका ज्ञान वैसाही उसका व्यवहार होता है। जैसी जिसकी दृष्टि वैसीही उसकी सृष्टि होती है। और इस दृष्टि माने ज्ञानके और व्यवहारके परिवर्तनके साथही संपूर्ण मनुष्यही आमूलाग्र बदल जाता है। इसी आशयसे न्यायशास्त्र यथार्थके साथ कहता है, 'सर्वव्यवहारहेतुर्गुणो बुद्धिः ज्ञानम्।' स्वयं श्रीभगवान् गीतामें कहते है, 'नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।' इस जगतमें ज्ञानके समान पवित्र अन्य कुछ भी नहीं है। इस विषयमें एकही उदाहरण पर्याप्त है। नारदजीका एक महा भयंकर खूनी डाकूके साथ मुकाबला हुआ। उन्होंने और कुछ न करके उसका ज्ञान भर बदल दिया। इस बदलते हुए ज्ञानने चमत्कार कर दिखाया। इस ज्ञानके प्रभावसे पतितसे पतित मानवका महर्षि वाल्मीकमें रूपान्तर हो गया:—

'उलटा नाम रटत जग जाना।
बल्मीक भये ब्रह्म समाना॥'

लेखक : श्री डा० शिवनारायण सक्सेना

उपदेशका पात्रत्व

प्रवचनका समय हो चुका था। सभामण्डप श्रोताओंसे खचाखच भरा हुआ था। महर्षि याज्ञवल्क्य व्यास गद्दीपर विराजमान थे। उनकेही निकट श्रोताओंसे आगे राजा जनकके बैठनेके लिये एक विशेष आसनकी व्यवस्था थी। पर वह आसन अब तक खाली पड़ा था। किसी विशेष कारणवश राजा निश्चित समयपर उपस्थित न हो पाये थे। महर्षिकी दृष्टि राजमार्गकी ओर लगी थी। इतनेमेंही एक शिष्यने पास बैठे गुरुभाईके कानमें फुसफुसाते हुये कहा– 'महापुरुषोंका भी वैभवसम्पन्न शिष्योंके प्रति कितना लगाव होता है। केवल एक व्यक्तिके पीछे प्रवचनमें विलम्ब हो रहा है।'

महर्षि ठहरे त्रिकालदर्शी। अपने शिष्योंकी नसनस पहचानने वाले। यद्यपि बात बड़े धिरेसे कही गई थी पर निस्तब्ध और प्रशान्त वातावरणने उसे महर्षिके कर्णरन्ध्रों तक पहुँचा दिया। उन्होंने सोचा जो गुरु अपने शिष्योंकी सारी सुख सुविधाओंका ध्यान रखकर उन्हें अध्यात्मके मार्गपर निरन्तर प्रशस्त करनेका प्रयास करता है उसके साथ भी यह दुर्भावनाए। उन्हें दुख हुआ।

राजा जनक मंत्रिश्रेष्ठके साथ पधारे। महर्षिने सम्मान आसन देकर बैठनेका संकेत किया। रागद्वेषसे लिप्त शिष्योंके मनमें फिर हलचल मचने लगी। प्रवचन प्रारम्भ हुआ। राजा जनक धर्मधारणामें तन्मय हो गये उसी समय एक राजमहलका सेवक आया। उसने अपना मुंह राजाके कान तक लेजाकर कुछ कहा। राजाने चुप रहनेका संकेत किया। कठिनाईसे १५ मिनट गुजरे होंगे कि एक अन्य सेवक दौड़ता हुआ आया। उसकी वाणीमें घबराहट थी। उसने धीरेसे कहा– 'राजमहलके उत्तरी भागमें आग लग गई है।' राजाने उसे भी चुप बैठकर प्रवचन सुननेका आदेश दिया। उनके पीछेही तो शिष्य बैठे थे। एक शिष्यके कानमें बात पड़ी तो उसने दूसरेके और दूसरेने तीसरेके कानमें फुसफुसाया।

देखतेही देखते एक एक करके शिष्यगण उठने लगे। राजमहलके उत्तरी भागमेंही तो उनकी कुटियां बनी हुई थी। दौड़ पड़े अपना आसन, उत्तरीय और अधोवस्त्र बचानेके लिये। प्रवचन अबाध गतिसे चलता रहा। राजा जनक तथा अन्य श्रोतागण बड़े तन्मय होकर प्रवचन सुनते रहे।

थोडीही देरमें सारे शिष्यगण चुपचाप सबसे पीछे आकर बैठ गये। निश्चित समयपर प्रवचन समाप्त हुआ। महर्षिने आलोचक शिष्यकी ओर देखकर तीव्र स्वरमें पूछा– 'तुम प्रवचनके बीचमें उठकर कहाँ गये थे?'

'लघुशंकाके लिये।'

'क्या तुम्हारे सारे भाइयोंको एक साथ लघुशंका लगी थी। तुम्हें असत्य बोलते हुये भी तनिक लज्जा नहीं आती। ऐसा लगता है कि तुम्हारी लंगोटियां, उत्तरीय, आसन कमण्डल जनककी धन सम्पदासे अधिक मूल्य रखते थे। तुम्हारी पर्णकुटी शायद राजमहलसे अधिक लागतमें बनी होगी। अब तुम्हीं निर्णय कर लो कि उपदेशका पात्रत्व तुममें है या राजा विदेहमें। तुम सच्चे अधिकारी हो या यह राजा! संसारको इन्होंने स्वप्नवत माना है या तुमने। माया मोहमें तुम फंसे हो या यह।'

शिष्य नत मस्तक थे। गुरुदेवकी क्रुद्ध मुद्राने सबको आतंकित कर दिया था। उनके मनकी ईर्ष्या और मलिनता भस्मीभूत हो चुकी थी। उनके नेत्र आत्मग्लानिके जलसे नम थे। प्रतिउत्तरके लिये उनके पास एक भी शब्द शेष न रह गया था।

लेखक : श्री शोभनाथ पाठक, एम्. ए.

विक्रमसम्वत्

भारतीय संस्कृतिमें विक्रम सम्वत्की अपनी विशिष्टतम वरीयता है जो प्रतिवर्ष चैत्र शुक्ला प्रतिपदासे परिवर्तित होकर नवीनताका आह्वान करता है। इसे गुडीपडवा चैती चाँद और संवत्सरके नामसे भी मनाते हैं। इस पावन पर्वके विषयमें ऐसी मान्यता है कि मालवाधीश सम्राट् विक्रमादित्यने, निरंकुश क्रूर शकोंको इसी दिन पराजित कर विजय प्राप्त की थी अतः उसी खुशीमें नवीन सम्वतका प्रादुर्भाव हुआ इसी लिए इसे आज हम विक्रम सम्वतके नामसे मनाते हैं। यह सम्वत इस वर्ष २४ मार्चको बदलकर २०३० से २०३१ का शुभारम्भ होगा जो राष्ट्रमें समृद्धि–शांति बढ़ेले।

अच्छा तो आइये इस विक्रम सम्वतकी यथार्थताको परखें कि किस विक्रमादित्यने इसका श्री गणेश किया क्योंकि हमारे इतिहासमें अनेक विक्रमादित्य हो गये है। तथ्यतः तो यही माना जाता है कि मालवाधीश विक्रमादित्यने शकोंपर विजय प्राप्त करनेके उपलक्षमें ५७ ई. पू विक्रम सम्वतका प्रारम्भ किया। इसकी पुष्टता हेतु हमें विदवस्तर पर शोध करना चाहिए क्योंकि इस विक्रमादित्यका यश भारतमें तो था ही पर विदेशोंमें भी भारतीय संस्कृतिका सम्वत अवन्तिकेश्वर द्वारा प्रदान किया गया। तभी तो इस विक्रमकी वरीयता 'फरिश्ता' व 'अबुलफजल' के ग्रंथोंमें तो है ही पर हजरत मुहम्मदसे १६५ वर्ष पूर्व अरबोंके प्रसिद्ध कवि 'जिन रहमान बिनतोई' की प्रसिद्ध पुस्तक 'सेअरुल ओकूल' जो 'इस्तम्बूल' के 'मकतए सुलतानिया' पुस्तकालय (तुर्की) में सुरक्षित है विक्रमका यशोगान इस प्रकार है यथा—

'इत्रशफाई सनतुल बिकरम तुम ओल फलहुमिव करीमुन यर्तफोवा क्योवस्सव।
बिहिल्लाहाय समोमित एला मोत कब्वेनरन्।
बिहिल्लाहा यूही कैद मिन होवा यफखरु ॥'

(सेअरुल ओकूल पृ. ३१५)

कहनेका तात्पर्य कि इस पदसे स्पष्ट हो जाता है कि विक्रमादित्य उस देशमें गये व वहांके लोगोंको भारतीय संस्कृतिसे परिचित कराकर ज्ञानी लोकसे आलोकित किये। यही नही वरन रुसमें भी अग्निपूजकोंका मंदिर मिला है जिसपर विक्रमादित्यका नाम अंकित है देखिये धर्मयुग २७-९-७० का अंक। यही तथ्य 'कादम्बिनी' के मार्च ७० अंकमें विस्तारसे मैंने दिया है।

ई पू. प्रथम शताब्दीमें विक्रमादित्यने विक्रमसम्वतका प्रारम्भ किया जिसकी पुष्टि 'बृहत्कथा' व 'कथासरित्सागर' से भी होती है। कथासरित्सागरमें स्पष्ट लिखा है कि—

ततश्च यौवनस्थं तं विलोक्य प्राज्यविक्रमम्।
अभिषिच्य सुतं राज्ये यथाविधि जनप्रियम्।
महेन्द्रादित्य नृपतिः समार्यासचिवोऽपि सः।
वृद्धो वाराणसी गत्वा शरणं शिश्रिये शिवम्।
सोऽपि तथा विक्रमादित्यो राज्यमासाद्य पैत्टकम्।
नमो भास्वानिवारे मे राजा प्रतदिदं क्रमात्॥

(कथा सरित्सागर २८।५९-६०-६१)

परमारवंशीय विक्रमादित्य महेन्द्रादित्यका पुत्र था। अपनी न्यायप्रियता, पराक्रम और प्रतिभाके कारण वह विश्ववंद्य हुआ जिसका वर्णन प्रथम शताब्दीके साहुवाहन राजा हाल ने भी 'गाथासप्तसती' में किया है यथा—

संवाहणसु हरसतोसिएण देन्तेण केर भक्खम्।
चलणेण विक्कमाइत्तचरिअं अणुसिसिक्खि-
अंतिस्सा ॥ (५।६९)

श्री माँ, श्री अरविन्द आश्रम

माताजीकी बात-चीत

मृत्यु-भय

प्र०- माँ, कभी कभी हमें बडा डर लगता है। ऐसी अवस्थामें हमें क्या करना चाहिए ?

उ०- आह ! वह तो भयके स्वरूपपर निर्भर करता है। वह भय बिना कारण है या किसी कारणपर आधारित है ? क्योंकि उपचार भी उसीके अनुसार भिन्न होगा।

प्र०- वह किसी कारणपर आधारित होता है ?

उ०- ओह !... जैसे कि कोई बीमार है और तुम्हें भय होता है कि तुम भी बीमारी न पकड लो।

प्र०- नहीं, कोई मर गया है।

उ०- और तुम्हें मरनेसे डर लगता है।

इसके दो उपचार हैं। ऐसे तो बहुतसे उपचार है, पर अंततः दो तो हैं ही। सभी अवस्थाओंमें यह एक गहनतर चेतनाको स्थापित करनेका प्रयोग होता है। एक अवस्थामें उपचार यह कहनेमें है कि यह तो एक ऐसी वस्तु है जो सबके साथ घटेगी (हम इसका इसी स्तरपर विचार करें) यह एक ऐसी वस्तु है जो सबके साथ घटती है, और इसलिये देर या सबेर, यह आयगीही, तो फिर इससे डरें क्यों, यह बिलकुल स्वाभाविक वस्तु है। तुम इसके साथ एक और विचार जोड सकते हो, अनुभवपर आधारित ज्ञान (तुम्हारे अनुभवपर नहीं; किंतु सामूहिक रूपसे मनुष्यके अनुभवपर) कि एकही, बिलकुल समान परिस्थितियोंमें ही, कोई तो मर जाता है और कोई नहीं मरता- ऐसा क्यों ? और यदि तुम बातको थोडा और बढाओ तो तुम अपनेसे कहते हो, जो भी हो, यह किसी ऐसी वस्तुपर निर्भय करता है जो तुम्हारी चेतनाके बिलकुल बाहरकी है- और अंततः कोई मरता भी तभी है जब उसकी मौत आ जाती है। बस। जब किसीकी मौत आ जाती है तब वह मर जाता है, और यदि मौत नहीं आती तो वह नहीं मरता। यदि तुम्हारी मौतकी घडी नहीं आयी है तो घातक संकट आ जानेपर भी तुम नहीं मरोगे, और सभी प्रकारके संकटसे परे रहनेपर भी, तुम्हारे पैरमें एक खरोंच भर लग जानेसे तुम मर जाते हो- ऐसे लोग हुए हैं जो पैरमें एक पिन गड जानेपर मर गये- क्योंकि उनका समय आ गया था। इसलिये भय निरर्थक है। तुम जो कर सकते हो वह यह कि चेतनाकी एक ऐसी अवस्थामें पहुंच जाओ जब तुम कह सको : बात ऐसीही है, हम इस तथ्यको इसलिये स्वीकार करते हैं, क्योंकि यह जानी-मानी बात प्रतीत होती है कि यह अनिवार्य है। किंतु मुझे चिंता करनेकी



श्री माताजी

विक्रमादित्यके विषयमें जैन विद्वानोंने भी खूब लिखा है। मेरुतुंगाचार्य रचित 'पट्टावली' के अनुसार विक्रमसम्वत प्रवर्तनकी घटना महावीर निर्वाणके ४७० वे वर्षमें हुई। भगवान महावीरका निर्वाण ५२७ ई. पू. में हुआ था अतः ५२७-४७० = ५७ ई. पू. विक्रमादित्यका यह काल सिद्ध होता है। इस तथ्यकी पुष्टि 'प्रबन्धकोश' तथा शत्रुञ्जयमाहात्म्य' से भी होती है।

शकों पर विजय प्राप्तिके उपलक्ष्यमें प्रजातंत्रके पोषण हेतु ही विक्रमादित्यने 'विक्रम सम्वतका' प्रारम्भ किया। अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि शकारि विक्रमादित्य ही प्रथम विक्रमादित्य है जिसने विक्रम सम्वत चलाया। वैसे भी ई. पू का काल शकोंकी क्रूरता व अत्याचारके लिए प्रसिद्ध है। गर्गाचार्यकी 'गर्गसंहिता' और 'युगपुराण' में उनकी क्रूरता देखी जा सकती है। 'अम्लात' नामक शकाधिपतिकी बर्बरता कितनी भयानक थी जो कहा नही जा सकता अतः आवश्यक था कि विक्रमादित्य इनका दमन कर जनताको मुक्त कराता। दानवतापर मानवताकी विजयका इससे अच्छा अवसार कब मिलता तभी तो भविष्य पुराणमें कहा गया है।

शकानां च विनाशार्थमार्यधर्माभिवृद्धये।
जातः शिवाज्ञया सोऽपि कैलासात् महाकालकात्।
विक्रमादित्यनामानां पिताकृत्वामुमोदह॥

विक्रमादित्य पौरुषताका प्रतीक था तभी तो उसके कालमें बर्बरता दबा दी गई इसीके उपलक्ष्यमें उसे 'शकारी' की गरिमासे मंडित किया गया। अभिनन्द कृत 'रामचरित' में लिखा है।

हालेनोत्तमपूजया कविवृषः श्री पालितो लालितः।
ख्याति कामपि कालिदासकृतयो नीता शकारातिनाः।

यही शकारी विक्रमादित्य कवि कालिदासका आश्रयदाता था जिसे ई. पू. प्रथम शताब्दीका प्रबल प्रमाणोंसे सिद्ध किया गया है। विक्रमादित्यकी न्यायप्रियता, शौर्य जहाँ श्रेष्ठ है वहीं साहित्यिक अभिरुचि भी उसकी स्तुत्य थी जिसका वर्णन 'सुबन्धु' ने 'वासवदत्ता' में किया है यथा:-

सा रसवत्ता विहता नवका विलसन्ति चरति नो कंकः।
सरसीव कीर्तिशेषं गतवति भुवि विक्रमादित्ये॥

सर्वगुण सम्पन्न विक्रमादित्य भारतीय संस्कृतिका उन्नायक व विक्रमसम्वत प्रवर्तक है जो ५७ ई. पू. से शको पर विजय प्राप्तिके उपलक्षमें प्रादुर्भूत हुआ था। हाँ यह सम्वत पहले 'मालव सम्वतके' नामसे जाना जाता था क्योंकि विक्रमादित्य मालवाधीश था, इसके बाद इसे 'कृतसम्वत' कहा गया बादमे इसे 'विक्रम सम्वतकी' वरीयतासे समलकृत किया गया।

वेदोंमें 'विक्रमिन' शब्द आया है। कृतयुगमे इसी उपाधिको राक्षसोका संहार करनेके कारण विष्णुने ग्रहण किया था। मालवकी जनताने 'विक्रमको विष्णुकी शक्ति समझकर इसे 'विक्रमादित्यकी' वरीयतासे मंडित किया। दशपुर शिलालेखमें स्पष्ट है कि—

श्रीमांलव गणाम्नाते प्रशस्ते कृतसंज्ञिते।
एक षष्ट्यधिके प्राप्ते समाशत चतुष्टये॥
(एपिग्राफिका इंडिका भाग १२ पृ ३२०)

विक्रम सम्वतका सर्वप्रथम उल्लेख चण्डमहासेनके शिलालेखोमें मिलता है। गतिकी आंधीमें बहुतसे परिवर्तन हुए जब कि आक्रमकोंने हमारी सांस्कृतिक थातीको रौंदा, स्थापत्यकलाका उजाडा इसी क्रममें १२३५के इल्तुतमिशी आक्रमणने उज्जयिनीमें स्थापित महाकालमंदिरकी विक्रम-स्वर्ण प्रतिमाको नष्ट कर दिया, फिर भी विक्रमादित्य अपनी न्यायप्रियता, त्याग बहुमूल्य प्रतिमासे विश्वस्तर पर पूज्य है।

विक्रमसम्वत असत्यपर सत्य, अन्यायपर न्याय व क्रूरतापर शौर्यके विजयका प्रतीक है। प्रतिवर्ष यह पर्व आकर हमें सत्य-निष्ठा-कर्तव्य-परायणता, पौरुष, व भारतीय संस्कृतिके पोषणकी प्रेरणा देता है। हम अपने इस वर्षके संवत प्रवर्तन पर समन्वयात्मक स्नेहके सम्बलसे राष्ट्रीयता को संवारनेका आव्हान करता हूँ।

सफलता मिली है ? ' सच पूछो तो मुझे इसका पता नहीं, क्योंकि मुझे किसी ऐसे व्यक्तिसे भेंट नहीं हुई है... मुझे ऐसा नहीं लगता कि अबतक इसमें कोई सफल हुआ है। किंतु यह संभव है। हाँ, जिस किसी भी स्त्री या पुरुषने यह किया, उसने, कमसे कम अबतक, इसकी घोषणा नहीं की।

बाकी दो समाधान पक्के हैं और तुम्हारी पहुंचके भीतर हैं। अब एक छोटासा उपचार है जो बहुत, बहुत ही सरल है। क्योंकि यह व्यक्तिकी सामान्य बुद्धिके एक छोटेसे प्रश्नपर आधारित है... अपनेको जरा देखो, सोचो कि जब तुम्हें भय होता है तब मानो वह भय उस वस्तुको आकर्षित करता है जिसका तुम्हें भय है। यदि तुम्हें रोगसे भय है तो तुम मानो रोगको अपनी ओर आकर्षित करते हो। यदि तुम्हें किसी दुर्घटनाका भय है तो तुम मानो दुर्घटनाको अपनी ओर खींच रहे हो। इसे, यदि तुम जरासा अपने भीतर या अपने चारों ओर देखो तो पाओगे कि ऐसा सदा होता रहता है। अत: यदि तुम्हें अत्यंत थोडीसी भी सामान्य बुद्धि है तो तुम कहोगे ' किसी वस्तुसे भय करना मूर्खता है, क्योंकि यह तो ठीक ऐसा है मानो मैं उस वस्तुको अपने पास आनेका एक छोटा-सा सकेत कर रहा हूं। यदि मेरा कोई शत्रु है तो मैं उसके पास आकर यह नहीं कहूंगा– तुझे पता है, यह मैंही हूं जिसे तू मारना चाहता है !' यह ऐसी ही बात है। अत: क्योंकि भय बुरी वस्तु है, हमें डरना नहीं चाहिए। और यदि तुम कहते हो कि तुम बुद्धि द्वारा उसे आनेसे रोक नहीं सकते, तो इसका यह अर्थ है कि तुम्हारा अपने ऊपर कोई वश नहीं है, और तुम्हें अपनेको नियंत्रित करनेके लिये थोडा प्रयत्न करना होगा बस !

ओह ! भयसे अपनेको मुक्त करनेके कई तरीके हैं। किंतु वस्तुत: प्रत्येक मनुष्य, उसे जो तरीका अच्छा लगता है, उसे ढूंढ निकालता है। कुछ ऐसे व्यक्ति हैं जिन्हें केवल इतना कहना काफी है ' तुम्हारा भय एक दुर्बलता है, ' और तत्कालही वे भयसे घृणा करनेका तरीका ढूंढ लेंगे, क्योंकि उन्हें दुर्बलतासे घृणा है। कुछ अन्य हैं, जिनसे कहा जाता है ' भय विरोधी शक्तियोंका सुझाव है, उसे वैसेही धकेलकर बाहर निकालना चाहिए जैसे तुम विरोधी शक्तियोंको धकेलकर बाहर निकालते हो, ' यह बहुतही कारगर होता है। प्रत्येकका अपना अथवा अलग तरीका होता है। किंतु सबसे पहले यह समझ लेना चाहिए कि भय बडी बुरी वस्तु है, बहुतही बुरी वस्तु, यह तेजाबकी तरह द्रावक वस्तु है। यदि तुम इसकी एक बूंद भी किसी वस्तुपर डालो तो वह उसे अन्दरतक खा जाता है। पहली बात यह है कि तुम्हें डर लग सकता है, यह बात तुम स्वीकारही न करो। मैं ऐसे लोगोंको जानती हूं जो अपने डरनेकी बात बडे गर्वसे कहते थे, वे लोग लाइलाज हैं। अर्थात् वे बिलकुल स्वाभाविक तरीकेसे कहते हैं ' अहो ! जरा कल्पना तो करो कि मुझे कैसा डर लगता था !' और तब, यह तो कोई गर्व करनेकी बात नहीं है। ऐसोंके साथ कुछ भी नहीं किया जा सकता।

किंतु जब तुम समझ जाओ कि भय कोई अच्छी वस्तु नहीं है, न ही कोई हितकर या महान् वस्तु, और न उस चेतनाके लिये उपयुक्त वस्तु जो थोडी आलोकित हो चुकी है, तो तुम उससे युद्ध करना आरंभ कर दे सकते हो। और मैं कहती हू कि जो तरीका एकके लिये अच्छा नहीं होता; तुम्हें अपना निजी तरीका ढूंढ निकालना होगा। यह प्रत्येक व्यक्तिपर निर्भर करता है। भय एक भयंकर रूपसे सामूहिक तथा संक्रामक वस्तु है– संक्रामक, यह भारीसे भारी सक्रामक रोगोंसे भी अधिक संक्रामक है। तुम भयके वातावरणमें सांस लेते हो, और तुम बिना उसका क्यों, कैसे या कुछ भी जानेही तत्काल भयसे आक्रांत हो जाते हो, केवल इसलिये कि वहां भयका वातावरण था। दुर्घटनासे आनेवाला आतंक भी, और कुछ नहीं, बस यही भयका वातावरण है जो सर्वोपर छा जाता है। और यह अत्यंत साध्य है। ऐसे अनेकों उदाहरण हैं जब लोगोंने किसी आतंकको साफ रोक दिया और उनका उसके एक विपरीत सुझाव द्वारा प्रतिकार किया। रहस्यवादियोंके लिये सबसे अच्छा तरीका यह है कि उन्हें किसी वस्तुसे जब भय लगना आरभ होता है, वे भगवान्के विषयमें सोचने लगते हैं, और तब वे अपनेको उसकी गोदमें लिटा देते हैं या उसके पैरोंपर पड जाते हैं और भीतर, बाहर, चारों ओर जो कुछ भी घटता है, उस सबका पूरा उत्तरदायित्व उन्हीं (भगवान्)को सौंप देते हैं– और तत्कालही भय समाप्त हो जाता है। यह सबसे आसान है। किंतु सभी किसीको रहस्यवादी होनेका सौभाग्य नहीं प्राप्त है।

आवश्यकता नही है; क्योंकि यह तभी आयगी जब इसे आना है। अतः तुम्हे डरनेकी आवश्यकता नहीं; जब उसे नहीं आना होगा तब वह नहीं आयगी, जब उसे आना होगा तब वह आयगी ही। और क्योंकि वह अनिवार्य रूपसे मेरे पास आयगी, इसलिये अच्छा है कि उससे डरा न जाय; इसके विपरीत, जो बिलकुल स्वाभाविक वस्तु है उसे स्वीकार कर लेना चाहिए।' यह एक ऐसा उपचार है जो बहुत फैला हुआ है, अर्थात् जो बहुत प्रचलित है।

एक और उपचार है, जरा अधिक कठिन, किंतु जो मेरे ख्यालसे अधिक अच्छा है। वह है यह सोचना: 'मैं यह शरीर नहीं हूं,' और अपने भीतर तबतक उस भागको खोजना जो तुम्हारा वास्तविक 'मैं' है, जबतक तुम अपनी आंतरात्मिक सत्ताको पा नहीं लेते हो। और जब तुम अपनी आंतरात्मिक सत्ताको पा लेते हो तब पलभरमें, तुम समझ जाते हो–, तुम्हें अमरत्वका बोध होता है। और तुम समझ जाते हो कि जो आता है और जो जाता है वह केवल सुविधेकी बात है; 'मैं उस जूतेके जोडेके लिये नहीं रोऊंगा जिसे पैरोंसे बिलकुल भर जानेपर मैं छोड देता हूं। जब मेरे जूतेका जोडा घिस जाता है तब मैं उसे छोड देता हूं, और मैं रोता नहीं।' सो, आंतरात्मिक सत्ताने इस शरीरको धारण किया है क्योंकि उसे अपना काम करनेके लिये इसे प्रयुक्त करनेकी आवश्यकता थी, किंतु जब शरीर छोडनेकी घडी आती है, अर्थात् जब किसी न किसी कारणसे उसके बेकाम हो जाने पर उसे छोडना पडता है, तब वह उसे छोड देता है, उसे भय नहीं होता। यह बिलकुल स्वाभाविक प्रक्रिया है– और इसे वह बिना खेदके ही करता है।

और जिस क्षण तुम अपनी आंतरात्मिक सत्ताके भीतर होते हो, तुम्हें यह अनुभूति सहज भावसे और अनायास प्राप्त होती है। तुम भौतिक जीवनके ऊपर उठ जाते हो और तुम्हें अमरत्वकी अनुभूति होती है। मैं तो इसी उपचारको सबसे अच्छा समझती हूं। दूसरा उपचार बौद्धिक, व्यावहारिक और तार्किक है। यह एक गहरी अनुभूति है जिसे तुम सदा ही, जब भी अपनी आंतरात्मिक सत्ताके संपर्कमें आते हो, फिरसे प्राप्त कर सकते हो। वह सचमुचमें एक रोचक घटना है, क्योंकि यह अपने आप घटती है। ज्यों ही तुम अपनी आंतरात्मिक सत्ताके संपर्कमें आते हो, उसी क्षण तुम्हें अमरत्वका बोध होता है, कि तुम शाश्वत रूपसे सदा थे और सदा हो। और तब आवागमन जीवनकी मात्र आकस्मिक घटना है, इसका कोई महत्व नहीं है। यही सबसे उत्तम उपचार है। दूसरा तो उस कैदीके समान है जो अपने कैदखानेको स्वीकार करनेके लिये कुछ अच्छे कारण ढूंढ निकालता है। और यह उसके लिये है, जिसके लिये कैदखानेका कोई अस्तित्व ही नहीं रह गया है।

अब एक तीसरी वस्तुको भी जानना चाहिए, किंतु उसके लिये दुर्धर्ष योगी बननेकी आवश्यकता है। वह है यह जानना कि मृत्यु कोई अनिवार्य वस्तु नहीं है, कि वह एक आकस्मिक घटना है, जो अबतक घटती आयी है (जो कमसे कम अबतक सदा घटती आयी प्रतीत होती है); और यह कि हमलोगोंने अपने मस्तिष्कमें और अपने संकल्पमें उस आकस्मिक घटनापर विजय प्राप्त करने और उसे अतिक्रम करनेका निश्चय जमा लिया है। किंतु यह सभी प्राकृतिक नियमों, सभी सामूहिक सप्रेषणों, सभी पार्थिव अभ्यासोंके विरुद्ध एक ऐसा भयकर एव दुर्धर्ष संग्राम है कि जबतक, जैसा कि मैं कह चुकी हूं, कोई प्रथम कोटिका योद्धा न हो, जिसे कुछभी भयभीत न कर सके, युद्ध न आरंभ करना ही अच्छा है। इसके लिये तुम्हें बिलकुल निर्भीक योद्धा होना होगा, क्योंकि प्रत्येक पगपर और प्रत्येक क्षण तुम्हें अबतककी सभी सुस्थापित वस्तुओंके विरुद्ध लडना होगा। अतः यह बहुत सरल नहीं है। और व्यक्तिगत रूपसे भी यह स्वयं अपने विरुद्ध लडाई है, क्योंकि (मेरा ख्याल है कि यह मैं तुम्हें पहले भी बता चुकी हू), यदि तुम चाहते हो कि तुम्हारी भौतिक चेतना ऐसी अवस्थामें आ जाय तो भौतिक अमरत्वकी स्थापनाके अनुकूल हो तो तुम्हें भौतिक चेतनाका प्रतिनिधित्व करनेवाले अबतकके सभी कुछसे इतना स्वतंत्र होना होगा कि वह प्रति क्षणका एक युद्ध बन जायगा। सभी सवेग, सभी संवेदनाएं, सभी विचार, सभी स्वतः क्रियायें, सभी आकर्षण, सभी विकर्षण, वे सभी वस्तुएं जिनका अस्तित्व है, वे सभी वस्तुएं जो हमारे भौतिक जीवनका ताना–बाना हैं– उन सबोंको अतिक्रम करना, रूपांतरित करना तथा उनके स्वभावसे मुक्त करना होगा। यह हजारों, लाखों शत्रुओंके विरुद्ध प्रति पलका संघर्ष है। यदि तुम अपनेको एक योद्धा नहीं समझते हो तो इसे न आरंभ करना ही अधिक अच्छा है। क्योंकि यह प्रश्न है... मुझे ख्याल नहीं, किंतु मेरा विश्वास है कि किसीने मुझसे पूछा था: 'क्या इसमें अबतक किसीको

अर्थ- प्रभ्राजमानां हरिणीं, यशसा संपरिवृताम्, हिरण्ययी पुरं ब्रह्म आविवेश = तेजस्वी, दुःख हरण करनेवाली, यशसे परिपूर्ण, कभी पराजित न हुई, ऐसी प्रकाश मय पुरीमें, ब्रह्म आविष्ट होता है ॥ ३३ ॥

२९ वें मंत्रसे ३३ वें मंत्र तक अयोध्या नगरीका परिचय तथा इसकी विशेषताओंका वर्णन किया गया है। यहाँ मंत्रागत विशेषताओंका उल्लेख किया जायगा। अयोध्या शब्द बताता है कि अयोध्या ऐसी नगरी है जो शत्रुओंसे युद्ध करने योग्य न हो अर्थात शत्रुओंसे अपराजित हो। वेदमंत्रमें भी जो अयोध्या नगरी वर्णित है उसका एक विशेषण 'अपराजिताम्' दिया है गीतामें काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, द्वेष आदि इस नगरीके अजेय शत्रु हैं ऐसा वर्णन है। ये शत्रु जिनकी शरीरको नहीं जीत पाते उसकी शरीर अयोध्या है और इस शरीरमें वास करनेवाली आत्माही राम है रामही परमानन्द है। दशरथके आत्मज है।

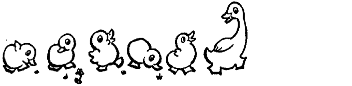
गीतामें वर्णित दैवी सम्पत्तिसे युक्त एवं सम्पन्न दश इन्द्रियोंवाली जीवात्माही दशरथ है समाधिजनित सुखही राम है संयमी योगीकी शरीर अयोध्या है जो प्रभाजमाना है अर्थात ज्ञानकी ज्योतिसे प्रकाशित है। हरिणी है मोक्षदा है मानव-शरीरही मोक्षका साधन धाम है। अतः वेदमें इसे हरिणी कहा गया है। यशसा संपरिवृता है मानव-शरीर रूपी अयोध्या स्वसुकीर्तिसे घिरी हुई है। मानव शरीर भी अपनी सुकीर्तिसे घिरी होनी चाहिए।

मानव शरीर पाकर हमें ज्ञान सम्पन्न होना चाहिए, काम, क्रोध, लोभ आदि विकारोंसे पराजित नहीं होना चाहिए हमें अपनी ' चारों ओर घिरा होना चाहिए। उक्त विशेषताओंको धारण करनेवाली मानव-शरीरही अयोध्या है। इस दार्शंष्टान्तको विशद रूपसे चरितार्थ करनेका अवसर न होनेसे बुद्धिमानोंके लिए संकेतमात्रही पर्याप्त होगा।

रामचरित मानसमें भी गोस्वामी तुलसीदासजीने इस रहस्यकी ओर संकेत किया है परन्तु अवतारवादके झमेलेंमें पड़ी हुई हमारी बुद्धि उस संकेतको नहीं अवगत कर पाती अवधपुरी ममपुरी सुहावनि— आदि चोपाईमें मानव-शरीरकोही अवधपुरी कहा गया है। जीवात्मारूपी राम मानव-शरीरको सब शरीरोंसे श्रेष्ठ मानते हैं। परमात्माकी रचनामें मानव-शरीर सर्व श्रेष्ठ रचना है। इसे दुर्लभ भी बताया गया है देवताओंको भी बड़ी कठिनाईसे मानव-शरीरकी प्राप्ति होती है।

परन्तु यही मानव-शरीर असंयमी अजितेन्द्रिय व्यक्तिके लिये लङ्का भी है। जो जीवात्मा दश इन्द्रियोंका दास होता है अहंकार विमूढ होता है वही आत्मा इस मानव-शरीरमें रहता हुआ रावण होता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या आदि इसके प्रचण्ड साथी होते हैं, इनसे पराजित मानव-शरीर लङ्का कहलाता है।

मानव-शरीरकी महनीयता और कमनीयता तथा दुर्लभताको भुलाकर हम मानवके रूपमें दानव बने हुये हैं। भगवान् वेदके माध्यमसे हमें सावधान करता है; मानव जीवनको व्यर्थ गंवानेके लिये रोकता है परन्तु हम मानवके रूपमें दानव बने हुये हैं। यही कारण है कि आजका मानव दानवताकी ओर रात-दिन अग्रसर हो रहा है। मानव होता हुआ पशुसे भी निकृष्ट सिद्ध हो रहा है। अगर हम इन वेद-मंत्रोंको अपने स्वाध्याय मननका विषय बनाते हैं; अपने जीवनको इन मंत्रोंके अनुरूप बनाते है तो हम मानवके रूपमें देवता बन जाते हैं। हमारे बड़े बड़े मनीषियोंने अपने अदम्य उत्साह एवं परिश्रमसे वेद भगवान्की उपासना करके हमें इन रहस्योंको समझनेका अवसर दिया है। एतदर्थ हम स्वाध्यायमण्डलके आजीवन ऋणी हैं। वैदिक धर्म हमें पाखण्ड, अन्धविश्वास, अज्ञानके दलदलसे निकालकर जीवनकी सुरम्य भूमिपर खड़ा कर देता है जहाँसे हम अमरत्वको प्राप्त करते है। ईश्वर हमें शक्ति एवं सद्बुद्धि प्रदान करे जिससे हम अयोध्याकी पावन मर्यादाकी रक्षा कर सकें।



लेखक : श्री वेदव्रत शर्मा शास्त्री, एम्. ए , साहित्यरत्न

" मानव शरीर ही अयोध्या है "

हमारे वैदिक–वाङ्मयमें ' मानव–शरीर ' के महत्व एवं रहस्यको अवगत कराने लिये बहुतसे रूपकोंका प्रयोग किया गया है। इनमेंसे ' अयोध्या नगरी भी ' मानव शरीरका सुन्दर रूपक है। इस रूपकके द्वारा मानव शरीरके महत्व एवं रहस्यका बोध होता है। उपनिषदमें इसी तत्वको रथके माध्यमसे समझाया गया है। अथर्ववेदके कुछ मंत्र इस सम्बन्धमें यहाँ उद्धृत किये जाते हैं।

ऊर्ध्वो नु सृष्टा३स्तिर्यङ् नु सृष्टा३ः
सर्वा दिशः पुरुष आ बभूवाँ३ ।
पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥२८॥
(अथर्व. १०–२–२८)

अर्थ– पुरुषः ऊर्ध्वः नु सृष्टाः = पुरुष ऊपर निश्चयसे फैला है, तिर्यङ् नु सृष्टाः = निश्चयसे तिरछा फैला है। पुरुषः सर्वाः दिशः आ बभूव = पुरुष सब दिशाओंमें है। यः ब्रह्मणः पुरं वेद = जो ब्रह्मकी नगरी जानता है। यस्याः पुरुष उच्यते = जिस नगरीके कारण उसको पुरुष कहा जाता है। यहां पुरुष शब्द विशेषरूपसे विचारणीय है। संस्कृत साहित्यमें पुरुष दो प्रकारके माने गये हैं ' आत्मा द्विविधः जीवात्मा परमात्माश्चेति ' तर्क संग्रह। निरुक्तकार यास्क पुरुष शब्दकी व्युत्पत्ति इस प्रकार करते हैं ' पुरि शरीरे ब्रह्माण्डे वा शेते इति पुरुष.। इस मंत्रमें भी यही दर्शाया गया है ' यस्याः पुरुष उच्यते ' जिसका पुरुष कहा जाता है। जीवात्माके पक्षमें ' यस्याः ' पदका अर्थ शरीरही होगा। परमात्माके पक्षमें ' यस्याः ' पदका अर्थ ब्रह्माण्डही होगा। जीवात्माका नगर शरीर है। परमात्माके नगर ब्रह्माण्ड हैं दोनोंको इसी कारण 'पुरुष कहा गया है। जीवात्मा एवं परमात्मासे सारा संसार ओतप्रोत है भरा है।

यो वै तां ब्रह्मणो वेदामृतेनावृतां पुरम्।
तस्मै ब्रह्म च ब्राह्माश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः ॥२९॥

अर्थ– यः वै अमृतेन आवृतां तां ब्रह्मणः पुरं वेद= जो निश्चयसे अमृतसे परिपूर्ण उस ब्रह्मकी नगरीको जानता है। तस्मै ब्रह्म ब्राह्माः च चक्षुः, प्राणं, प्रजां च ददुः= उसको ब्रह्म और इतर देव चक्षु, प्राण और प्रजा देते आये हैं।

न वै तं चक्षुर्जहाति न प्राणो जरसः पुरा।
पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥ ३० ॥

अर्थ– यस्याः पुरुष उच्यते, ब्रह्मणः पुरं यः वेद= जिस कारण, जीवात्मा और परमात्माको पुरुष कहते हैं उस ब्रह्मकी नगरीको जानता है; तं जरसः पुरा चक्षुः न जहाति न वै प्राणः = उसको वृद्धा अवस्थासे पूर्व चक्षु छोडता नहीं है और न प्राण छोडता है ॥ ३० ॥

अष्टा चक्रा नव द्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः ॥ ३१ ॥

अर्थ– अष्टा चक्रा, नवद्वारा, अयोध्या देवानां पू= जिसमें आठ चक्र हैं और नौ द्वार हैं ऐसी यह अयोध्या देवोंकी नगरी है। तस्यां हिरण्ययः कोशः ज्योतिषा आवृतः स्वर्गः= उस नगरीमें तेजस्वी कोश है जो तेजसे परिपूर्ण स्वर्ग है।३१।

तस्मिन् हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते।
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदो विदुः ॥३२॥

अर्थ– त्रि अरे, त्रिप्रतिष्ठिते, तस्मिन् तस्मिन् हिरण्यये कोशे, यत् आत्मन्वत् यक्ष तद् वै ब्रह्म विदः विदुः= तीनों आरोंसे युक्त, तीन केन्द्रोंमें स्थिर, ऐसे उस तेजस्वी कोशमें जो आत्मवान् यक्ष है उसको निश्चयसे ब्रह्मज्ञानी जानते हैं ॥ ३२ ॥

प्रभ्राजमानां हरिणीं यशसा संपरीवृताम्।
पुरं हिरण्ययीं ब्रह्मा विवेशापराजिताम् ॥ ३३ ॥

यह यह है कि, वेद और उपनिषद् तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे अत्यंत श्रेष्ठ ग्रंथ हैं, परंतु उनको यथार्थ रीतिसे समझनेवाले सहस्रोंमें एक दो विद्वान् होंगे, परंतु महाभारतकी कथाओंसे बोध लेकर सूज्ञ होनेवाले मनुष्य अनेक मिल सकते हैं; क्योंकि इसमें जो धर्मशास्त्रका विषय प्रतिपादन किया गया है, वह अज्ञ जनोंके समझमें आने योग्य सुगम रीतिसे किया गया है, तथा इतिहासके साथ धर्मतत्त्वोंका बोध संमिलित होनेके कारण महाभारतके पढनेसे निःसंदेह पाठकोंके अंदर 'व्यवहार-चातुर्य' आ सकता है। इस विषयमें देखिये—

यो विद्याच्चतुरो वेदान्सांगोपनिषदा द्विजः।
न चाख्यानमिदं विद्यान्नैव स स्याद्विचक्षणः॥३८२॥
अर्थशास्त्रमिदं प्रोक्तं धर्मशास्त्रमिदं महत्।
कामशास्त्रमिदं प्रोक्तं व्यासेनाऽमितबुद्धिना॥३८३॥
श्रुत्वा त्विदमुपाख्यानं श्राव्यमन्यन्न रोचते।
पुंस्कोकिलगिरं श्रुत्वा रूक्षा ध्वांक्षस्य वागिव॥३८४
अनाश्रित्यैतदाख्यानं कथा भुवि न विद्यते।
आहारमनपाश्रित्य शरीरस्येव धारणम्॥३८८॥

म. भा. आदि अ. २

'जो विद्वान् अंगोंसहित चार वेद और संपूर्ण उपनिषद् जानता है, परन्तु महाभारतका जिसने अध्ययन नहीं किया, वह विचक्षण अर्थात् चतुर नहीं कहा जा सकता। अपार बुद्धिमान् व्यास देवजीने यह महाभारत अर्थशास्त्र, कामशास्त्र और धर्मशास्त्र करके बनाया है। जिस प्रकार कोकिलका मधुर शब्द सुननेके पश्चात् कौवेका शब्द सुनना कोई नहीं चाहता, उसी प्रकार महाभारतकथाका श्रवण करनेके पश्चात् अन्य कथा श्रवण करनेकी इच्छाही नहीं होती। जिस प्रकार अन्न भक्षण करनेके विना शरीरधारणका कोई उपाय नहीं है, उसी प्रकार इस महाभारतके आश्रयके विना कोई भी उपाख्यान नहीं है।'

यह वर्णन देखनेसे भी महाभारतका महत्त्व ध्यानमें आ सकता है। वेद और उपनिषद निःसन्देह तत्त्वज्ञानके ग्रंथ हैं, उनके पढनेसे मनुष्य ज्ञानसंपन्न हो सकता है, परंतु चतुरता प्राप्त करनेके लिये ऐसे पुरुषोंके इतिहास पढने चाहियें कि, जिन्होंने वेदों और उपनिषदोंका तत्त्वज्ञान अपने जीवनमें ढाला है और उस तत्त्वज्ञानका जीवन व्यतीत करनेके लिये विरोधियोंके साथ विविध प्रकारके युद्ध किये हैं। 'सत्यधर्मका पालन करना चाहिये,' यह वेदों और उपनिषदोंकी आज्ञा है, इसका पालन धर्मराज और हरिश्चंद्रने किया, विरोधियोंके साथ सत्याग्रह करके अपना और सत्यका विजय जगत्में उद्घोषित किया, (१) वेद्की आज्ञा और (२) उसका पालन करनेवाले सत्पुरुषोंका जीवनचरित्र इन दोनोंका ठीक ठीक बोध होनेसे मनुष्य चातुर्यसंपन्न हो सकता है। यही बात निम्न श्लोकमें कही है—

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रतरिष्यति॥ २६७॥

म. भा. आदि. अ. १

इतिहास और पुराणोंसे वेदके अर्थका प्रकाश करें, क्योंकि थोडी विद्या पढे हुए जनसे वेदको भय उत्पन्न होता है कि, वह मुझे बिगाडेगा।

इसका भी तात्पर्य यह है कि, इतिहास और पुराणग्रंथोंमें ऐसी कथाएं हैं कि, जो वेदके अर्थका प्रकाश करनेवाली हैं। इसलिये वेदका सत्य अर्थ जाननेके लिये उक्त कथाओंको जानना अत्यावश्यक है। अथवा यों कहा जा सकता है कि वेदका सत्य अर्थ जाननेके जो अनेक साधन होंगे, उनमें यह भी एक साधन है कि, 'वेदके मूल मंत्रोंके साथ पौराणिक और ऐतिहासिक कथाओंकी तुलना करना।'

इस लेखमालामें हम आगे बतायेंगे कि किस प्रकार यह तुलना हो सकती है और इससे सत्य अर्थ निकालनेकी सहायता किस प्रकार तथा किस रूपमें होना संभव है।

मनुष्यके लिये चार पुरुषार्थ करना आवश्यक है और उन चारों पुरुषार्थोंके साधक उपदेश इस महाभारतमें व्यासदेवजीने दिये हैं, तथा श्लोकोंमें और भी स्पष्ट रूपसे यह कहा है कि, महाभारतमें जो कथा है, वही अन्यत्र है और दूसरे किसी

Statement about ownership of VAIDIK DHARMA (Hindi)
(Rule 8 Form IV), Newspapers (Central) Rule, 1956

1. Place of Publication	:	SWADHYAYA MANDAL P. O. ' Swadhyaya Mandal (Pardi) ' Pardi [Dist : Bulsar]
2. Periodicity of Publication	:	MONTHLY 5 th of each Calendar Month
3 Printer's Name	:	VASANT SHRIPAD SATWALEKAR Swadhyaya Mandal, Bharat Mudranalaya,
Nationality	:	INDIAN
Address	:	P. O. ' Swadhyaya Mandal (Pardi) ' Pardi Dist : Bulsar]
4. Publisher's Name	:	VASANT SHRIPAD SATWALEKAR Secretary Swadhyaya Mandal
Nationality	:	INDIAN
Address		P. O. ' Swadhyaya Mandal (Pardi) ' Pardi [Dist : Bulsar]
5. Editor's Name	:	VASANT SHRIPAD SATWALEKAR
Nationality		INDIAN
Address	:	P. O. ' Swadhyaya Mandal (Pardi) ' Pardi [Dist : Bulsar]
6. Name & Address of individuals who own the paper	:	SHRI S. S. BATLIVALA President- Swadhyaya Mandal.

I, Vasant Shripad Satwalekar, hereby declare that the particulars given above are true to the best of my knowledge and belief.

5 th March 1974

Vasant S. Satwalekar
Signature of the Publisher

परंतु यहां हमारे सन्मुख यह प्रश्न है कि, इस समय जो महाभारत मिलता है, वह सबका सब वेदव्यासजीका बनाया है वा नहीं। इस विषयका विचार करनेके लिये निम्नलिखित आश्वलायन गृह्यसूत्र बडा उपयोगी है—

सुमंतु-जैमिनि-वैशम्पायन-पैल-सूत्र-भाष्य-
भारत-महाभारत-धर्माचार्याः ।
(आश्व० गृह्यसू० ३।४)

इसमें '(१) भारताचार्य और (२) महाभारताचार्य ' ऐसे दो आचार्योंका उल्लेख है। इस आश्वलायन सूत्रकारके मतसे स्पष्ट सिद्ध होता है कि, " भारत और महाभारत ' ये दो ग्रंथ हैं और इनके लेखक आचार्य भी भिन्न ही हैं। भारत और महाभारत, (छोटाभारतग्रंथ और बडा भारतग्रंथ) इन शब्दोंके अर्थोंसे ही पता लगता है, कि ' भारत ' नामक ग्रंथ आकारमें छोटा और ' महा-भारत ' ग्रंथ आकारमें बडा था, अर्थात् पहिलेमें श्लोकसंख्या थोडी और दूसरेमें श्लोकसंख्या अधिक होनी स्वाभाविक है।

यदि आश्वलायनके समय ' भारत और महाभारत ' नामके दो इतिहास ग्रंथ थे, अथवा उक्त नामके दो इतिहास-लेखक-आचार्योंका सन्मान किया जाता था, तो यह संदेहरहित बात होगी, कि भारतग्रंथके लेखक अथवा रचयिता और महाभारत ग्रंथके लेखक और रचयिता दो भिन्न आचार्य है। पहिले ' भारत ' ग्रंथ था, उसका पिछेसे ' महाभारत ' बन गया। अब इस विषयमें महाभारतकी भी साक्षी देखनी योग्य है—

वासुदेवस्य माहात्म्यं पांडवानां च सत्यताम् ।
दुर्वृत्तं धार्तराष्ट्राणामुक्तवान् भगवानृषिः ॥ १०० ॥
इदं शतसहस्रं तु श्लोकानां पुण्यकर्मणाम् ।
उपाख्यानैः सह ज्ञेयमाद्यं भारतमुत्तमम् ॥ १०१ ॥
चतुर्विंशतिसाहस्रीं चक्रे भारतसंहिताम् ।
उपाख्यानैर्विना तावद्भारतं प्रोच्यते बुधैः ॥ १२० ॥
(म० भा० आदि अ० १)

' श्रीकृष्णका माहात्म्य, पांडवोंकी सत्यनिष्ठा और धृतराष्ट्र-पुत्रोंकी दुष्टता वर्णन की है। यह आद्य महाभारत है, जो पुण्यकर्म करनेवालोंके उपाख्यानोंके समेत एक लक्ष श्लोकोंका ग्रंथ भगवान् वेदव्यास ऋषिने बनाया। इसके पश्चात् चौवीस सहस्र श्लोकोंका ग्रंथ उपाख्यानोंको छोडकर बनाया, इसका नाम ' भारतसंहिता ' है। ' इसके नंतर—

ततोऽध्यर्धशतं भूयः संक्षेपं कृतवानृषिः ।
अनुक्रमणिकाध्यायं वृत्तान्तानां सपर्वणाम् ॥ १०५ ॥
(म० भा० आदि अ० १)

' आगे वेदव्यासजीने संपूर्ण पर्व और वृत्तांतोंको संक्षेप कर डेढ सौ श्लोकोंमें अनुक्रमणिकाध्यायको रचा। ' इस कथनका तात्पर्य यह है कि—

(१) आद्य भारत अथवा महाभारत (उपाख्यानोंके समेत) १००,००० श्लोक,

(२) भारतसंहिता (उपाख्यानोंसे रहित) २४,००० श्लोक,

(३) संक्षिप्त भारत (अनुक्रमणिका) १५० श्लोक

इस प्रकार पहिले (१) आदिभारत किंवा महाभारत, तत्पश्चात् (२) भारत, तत्पश्चात् (३) संक्षिप्त भारत ये तीन ग्रंथ एकही व्यास देवजीने लिखे, ऐसा महाभारतके प्रथम अध्यायमें लिखा है। आश्वलायन गृह्यसूत्रके कथनके साथ यह विरोध है। उस सूत्रमें स्पष्ट कहा है कि, एक ' भारताचार्य ' है और दूसरा ' महाभारताचार्य ' है। पहिले आचार्यने ' भारतसंहिता ' लिखी और दूसरे आचार्यने उसका ' महाभारत ग्रंथ ' बना दिया। आश्वलायन सूत्रमें जो नाम आते हैं, वे मालानुरूप क्रमसेही आते हैं, अर्थात् पूर्वकालका नाम प्रथम और पश्चात् कालका नाम पश्चात् आता है। इसलिये ' भारताचार्य ' प्राचीन और ' महाभारताचार्य ' अर्वाचीन स्पष्ट प्रतीत होते हैं। परंतु महाभारतके पूर्वोक्त श्लोकोंमें इससे उलटा कहा है, पहिले ' आद्य महाभारत ' पश्चात् ' भारतसंहिता ' और तत्पश्चात् ' संक्षिप्त भारत '। परंतु यह महाभारतका कथन भगवान् व्यासका लिखा न होनेके कारण प्रमाणवाक्य नहीं हो सकता। इससे आश्वलायनका आचार्यतर्पणका सूत्र अधिक प्रामाणिक है, क्योंकि

मनुष्यकृत ग्रंथमें ऐसी कोई कथा नहीं है कि, जो महाभारतकी कथाके आश्रयसे रची नहीं हैं। इसका स्पष्ट तात्पर्य यह है कि, यह महाभारतग्रंथ उस समयके संपूर्ण शास्त्रों और विविध ग्रंथोंका एक प्रकारका ' सारसंग्रहग्रंथ ' है। और इसकी रचनामें संपादक अथवा लेखकने ऐसी योजना की है कि, अपने समयके संपूर्ण ग्रंथोंका सारभूत तत्त्वज्ञान इसमें संगृहित हो जाय और ऐसा कोई भी ग्रंथ न रहे कि, जिसका सारभूत तत्त्वज्ञान इसमें न आया हो। इस प्रकारकी योजना महाभारतमें होने और इसमें उस समयके संपूर्ण ग्रंथोंका सार होनेके कारण ही कहते हैं कि—

' व्यासोच्छिष्टं जगत् सर्वम्। '

' संपूर्ण जगत् व्यासका उच्छिष्ट ही है। ' अर्थात् सब ग्रंथ व्यासके उच्छिष्ट ही हैं। ऐसा एक भी ग्रंथ नहीं था कि जो व्यासने नहीं चखा और उसका रस अपने ग्रंथमें नहीं लिया। अस्तु, इस रीतिसे विचार करनेपर पाठकोंको पता लग जायगा कि, कौरवपांडवोंके इतिहासके अतिरिक्त भी महाभारतकी विशेष योग्यता है और वह योग्यता इस ग्रंथके (Encyclopxdia) सारसंग्रहरूप होनेसे ही है। आजकलके सारसंग्रह ग्रंथोंमें और महाभारतमें भेद यह है कि, आजकलके सारसंग्रह आद्योपांत पढे नहीं जा सकते और यह ग्रंथ रसपूर्ण होनेसे पढा जाता है।

कौरवपांडवोंका इतिहास देते हुए विविध शास्त्रों और ग्रंथोंके सार ऐसी युक्तिसे इसमें दिये हैं कि, ग्रंथ पढते पढते अन्य विविध शास्त्रोंका विचार भी मनमें न लाते हुए, पाठक उन शास्त्रोंके तत्त्वोंके साथ परिचित् हो जाते हैं! पाठक इस बातका विचार मनमें लावें और महाभारतकी योग्यता जाननेका यत्न करें।

इस महाभारतमें कौनसी कथाएं सत्य हैं, कौनसी कथाएं अलंकाररूप अर्थात् कल्पित हैं, कौनसे अन्य तत्त्व सत्य हैं और कौनसे आजकलकी वैज्ञानिक दृष्टिसे मिथ्या हैं, इसका विचार आगे क्रमशः आ जायगा। इस लेखमें अब यही बताना है कि, यह ग्रंथ ' सारसंग्रहग्रंथ ' होनेके अतिरिक्त इतिहासकी दृष्टिसे भी इसका महत्त्व अत्यंत है। पांडवकालीन आर्योंकी सामाजिक, राष्ट्रीय तथा आर्थिक अवस्था किस प्रकार थी, इसका निश्चित ज्ञान इस ग्रंथके पढनेसे हो जाता है। जिस समय मनुष्योंमें कुटुंबके बंधन नहीं थे, उस समयसे पांडवोंके समयतकका सामाजिक उन्नतिका इतिहास महाभारतमें है। अर्थात् कमसे कम बीस हजार वर्षोंका सामाजिक उत्क्रांतिका इतिहास अर्थात् मनुष्योंकी उत्क्रांतिका इतिहास इसमें है। इतने विस्तृत समयका इतिहास किसी अन्य ग्रंथमें निश्चयसे नहीं है।

इसके अतिरिक्त धर्मराजकी धर्मनिष्ठा और सत्यनिष्ठा, भीमसेनकी शक्ति और सरल वृत्ति, अर्जुनका अद्भुत पराक्रम, नकुलसहदेवोंकी बंधुप्रीति, द्रौपदी, गांधारी आदि आर्यस्त्रियोंका अद्भुत चारित्र्य श्रीकृष्ण भगवान्‌का राजनीतिपटुत्व, भीष्माचार्यका अखंड ब्रह्मचर्य और धर्मज्ञान, धृतराष्ट्रका पुत्रप्रेम, दुर्योधनकी साम्राज्यवर्धनकी प्रबल इच्छा, कर्णका औदार्य और स्वाभिमान, इत्यादि महाभारतीय पुरुषोंके स्वभावगुणोंका परिणाम जो पाठकोंके मनके ऊपर हो सकता है और उससे जो मनुष्योंके स्वभावमें अद्भुत उच्चता आ सकती है, वह विलक्षण ही महत्त्व रखती है।

तात्पर्य, अनेक दृष्टिसे देखनेपर भी महाभारतके पढनेसे अत्यंत लाभ होना स्वाभाविक है, इसलिये पाठकोंसे निवेदन है कि, वे इस ग्रंथका पठन और मनन करें और स्वयं बोध लें तथा अपने बालबच्चोंके मनोंपर भी उसका संस्कार डाल दें।

अब सब लेखमालामें महाभारतीय कथाके विशेष प्रसंगोंका क्रमशः विचार होगा और उस विचारमें वेदमंत्रोंके साथ महाभारतीय कथाकी तुलना विशेष रीतिसे की जायगी।

महाभारतकी रचना करनेवाले भगवान् श्रीवेदव्यास।

यह सुप्रसिद्ध इतिहासिक बात है कि, महाभारतके रचयिता भगवान् श्री वेदव्यास कृष्ण द्वैपायन हैं।

सकता। यदि यह प्रथमाध्याय व्यास भगवान्का लिखा होता, तो महाभारतके प्रारंभ स्थानोंका मतभेद वह कदापि नहीं लिखता। परंतु ये श्लोक जिनमें कि महाभारतके प्रारंभके विषयमें संदेह व्यक्त किया है, इस समयके महाभारतमें हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि महाभारतके प्रारंभके अध्याय पीछेसे किसीने लिखकर मिलाये हैं। और इसी कारण पूर्वस्थलके श्लोक कि जिनमें एक लाख श्लोकोंका 'आद्य महाभारत' व्यासका लिखा था (आदि प. श्लोक १०० से १०७ तक) ' इत्यादि बातें भी इस नूतन आधुनिक लेखककी ही प्रणीत होती हैं। इन श्लोकोंमें जो तीन प्रारंभ कहे हैं वे निम्न प्रकार हैं—

१ प्रारंभ पहिला आदिपर्व अ. १ श्लोक १ से
२ प्रारंभ दूसरा आदिपर्व अ. १३ से
३ प्रारंभ तीसरा आदिपर्व अ. ६३ से

जो महाभारत हमारे पास इस समय है, वह जिस कालमें बना उस समय महाभारतके प्रारंभिक श्लोकोंके विषयमें इतना मतभेद था!! परंतु प्रथम अध्यायका लेखक धोखेबाज नहीं था, इसलिये उसने अपने समय विद्वानोंमें जो मतभेद था, वह जैसाका वैसाही लिख रखा है। यदि आजकलके समान स्वमतका दुरभिमान उसमें होता, तो वह इन 'तीनों प्रारंभस्थलोंका उल्लेख' ही न करता। इसके इस विश्वासपात्रतासे इस समयके लोग भी बहुत बोध ले सकते हैं।

इन तीन प्रारंभोंकी उपपत्ति क्या है, वह देखनी चाहिये। इसलिये कथाकी घटना कैसी हुई, यह देखना आवश्यक है।

(१) पहले व्यासमुनिने भारत-संहिता रची, जो गणेशजीने लिखी और व्यासनेही वैशंपायनादि शिष्योंको पढाई—

(२) वही कथा सर्पयज्ञमें व्यासशिष्य वैशंपायनने राजा जनमेजयको सुनाई, इसी सत्रमें उग्रश्रवा सूतने भी सुनी—

(३) वही कथा नैमिषारण्यनिवासी शौनकादि ऋषियोंको उग्रश्रवा सूतने सुनाई।

एक ही भारतकथा तीन स्थानोंमें कही गई। कहनेके समय सुननेवाले जो जो शंकाएं बीच बीचमें पूछते थे, उनका उत्तर देना भी आवश्यक होता था, इसलिये प्रत्येक सुनानेके समय ग्रंथविस्तार बढता गया।

वास्तवमें यह तीन संपादकोंने संपादित किया ऐसाही समझना चाहिये।

(१) पहली वार व्यासदेवजीने 'भारतसंहिता' रची, (२) उसीका द्वितीय वार संपादन वैशंपायनने किया और उसीका (३) तृतीय संपादन उग्रश्रवा सूतने किया। यह सबका तात्पर्य है।

(१) भारतका पहिला संपादक—
भगवानव्यासमुनि
प्रारंभ उपरिचरकथा अ. ६३

(२) भारतका द्वितीय संपादक—
वैशंपायन—
प्रारंभ आस्तीककथा अ. १३

(३) महाभारतका तृतीय संपादक—
उग्रश्रवा-सूत—
प्रारंभ अनुक्रमणिका अ. १

इतने वर्णनसे यही सिद्ध हुआ। तीन प्रारंभ माननेका कारण यही है। पहिली भारतसंहिता जो व्यासमुनिकी रची थी, उसका दूसरा नाम 'जय इतिहास' अथवा 'दिग्विजयका इतिहास' है देखिये।

जयो नामेतिहासोऽयं श्रोतव्यो विजिगीषुणा।
महीं विजयते राजा शत्रूंश्चापि पराजयेत् ॥ २० ॥
(म० भा० आदि अ० ६२)

'इस इतिहासका नाम जय है, जय चाहनेवाले जनको इसे सुनना चाहिये। इसे सुननेसे राजा पृथ्वीको जय कर सकते हैं और शत्रुको हरा सकते हैं।'

व्यासकृत भारतसंहिताका नाम जय है, और इसका वर्णन व्यासकृत भारत प्रारंभ (अ० ६३) होनेके पूर्वही भूमिका अध्याय (अ० ६२) में कहा है। अर्थात् अ० ६३ से मूल भारत-संहिता किंवा

आश्वलायनके समयकी परंपरा उसने लिखी है। अब इसका अधिक विचार करनेके पूर्व हम और एक बातका यहां विचार करते हैं—

षष्टिं शतसहस्राणि चकाराऽन्यां स संहिताम् ॥१०५॥
त्रिंशच्छतसहस्रं च देवलोके प्रतिष्ठितम् ।
पित्र्ये पंचदश प्रोक्तं गंधर्वेषु चतुर्दश ॥ १०६ ॥
एकं शतसहस्रं तु मानुषेषु प्रतिष्ठितम् ॥
नारदोऽश्रावयद् देवानसितो देवलः पितॄन् ॥ १०७ ॥
गंधर्व यक्षरक्षांसि श्रावयामास वै शुकः ।
अस्मिंस्तु मानुषे लोके वैशंपायन उक्तवान् ॥ १०८ ॥
(म० भा० आदि अ० १)

'(१) साठ लक्ष श्लोकोंकी दूसरी एक संहिता उन्होंने रची थी, (२) उसके तीस लाख श्लोक देवलोकमें, (३) पंद्रह लाख पितृलोकमें (४) चौदह लाख गंधर्वलोकमें और (५) एक लाख मनुष्यलोकमें रहे हैं। नारदजीने देवोंके राष्ट्रमें, असित देवलने पितरोंके देशमें, शुकदेवने गंधर्व यक्ष राक्षसोंके देशमें और इस मनुष्योंके देशमें वैशंपायनने कहे थे।'

ये श्लोक संभवतः भारतप्रशंसाके लिये भी लिखे गये हों, परंतु इसमें यदि कोई इतिहासिक सत्यता होगी, तो उसका तात्पर्य यह है कि उक्त चार देशोंमें चार आचार्योंने महाभारतका संपादन किया था। (१) पहिले व्यासदेवजीने जो भारत संहिता रची थी, (२) उसका उपाख्यानोंके समेत वैशंपायनने एक लाख श्लोकोंका ग्रंथ बनाकर जनमेजय राजाको सुनाया। यह द्वितीय संपादन समझिये। (३) इसीको चौदह लाख श्लोकोंमें बढाकर शुकाचार्यने गंधर्व, यक्ष और राक्षसोंके देशमें तृतीय संस्करण संपादित किया। (४) इसीको और एक लाख श्लोक मिलाकर पंद्रह लाख श्लोकोंका बनाकर चतुर्थ संस्करण असित देवल ऋषिने पितृदेशमें प्रसिद्ध किया। (५) नारदने इसीका तीस लाख श्लोकोंका बनाकर देवोंके देशमें पंचम संस्करण प्रसिद्ध किया।

देवलोक तिब्बत है, पितृलोक मानस सरोवर और कैलासके आसपास है, गंधर्वलोक हिमालयकी उतराई है, यक्षलोक उसके नीचे, राक्षसलोक पश्चिमदिशामें और मनुष्यलोक यही भारत देश है। यहां लोक शब्द देशवाचक वा राष्ट्रवाचक है।

मूल व्यासका भारत उपाख्यानोंके विना जितना था, उतना ही है। वह चोवीस हजार श्लोकोंका ग्रंथ है, उसमें उपाख्यानोंकी भरती भर जानेसे उसीका लाख श्लोकोंका महाभारत बना और उसीमें अधिकाधिक उपाख्यानोंके भर जानेसे पूर्वोक्त पांच संस्करणसे यह ग्रंथ बढ गया। परंतु इस समय व्यासकृत 'भारत-संहिता' कहीं भी उपलब्ध नहीं है और ना ही शुक, असित, देवल और नारद इनके संपादित ग्रंथ उपलब्ध हैं। इस समय यही एक लाख श्लोकोंका ग्रंथ उपलब्ध है। अब देखना है कि यह जो इस समय एक लाख श्लोकोंका ग्रंथ है, वह किसका बनाया है।

यदि व्यास ही भारतके पहिले रचयिता हैं, तो उनका नाम आश्वलायनके कथनानुसार 'भारताचार्य' ही है। उपाख्यानोंको छोडकर चौवीस हजार श्लोकोंकी भारतसंहिता इन्होंने रची, ऐसा इससे स्पष्ट होता है। उपाख्यानोंको मिलाकर इसी भारतसंहिताका 'महाभारत' बन गया, तथा पूर्वोक्त देशोंकी विविध कथाएं मिलाकर पूर्वोक्त अन्यान्य ग्रंथ संपादित हुए। व्यासकृत मूल 'भारत-संहिता' के साथ उसका कोई संबंध नहीं है। इसके प्रमाण देखिये—

मन्वादि भारतं केचिदास्तीकादि तथापरे ।
तथोपरिचराद्यन्ये विप्राः सम्यगधीयते ॥ ५२ ॥
(म. भा. आदि अ. १)

'(१) कोई कोई तो 'नारायणं नमस्कृत्य' इस श्लोकसे ही (आदिपर्व अ. १, श्लोक १ से ही) महाभारतका प्रारंभ मानते हैं। (२) कोई कोई आस्तीक पर्व (आदिपर्व अ. १३) से महाभारतका प्रारंभ मानते हैं, तथा (३) कोई कोई तो राजा उपरिचरकी कथा (आदिपर्व अ. ६३) से महाभारतका प्रारंभ मानते हैं।'

ये श्लोक व्यासमुनिके लिये नहीं हो सकते, क्योंकि स्वयं लेखक ही 'अपने ग्रंथका प्रारंभ तीन स्थानोंसे लोक मानते हैं,' ऐसा कभी लिख नहीं

'जय-इतिहास' का प्रारंभ हुआ है। यह जय-इतिहास व्यासकृत है। इसकी श्लोक-संख्या करीब चौवीस हजार होगी।

अ० ६२ के अंततकका भाग वैशंपायनने जनमेजय राजाके प्रश्नोंके उत्तरमें कहा है, इसलिये यह वैशंपायनका संपादित है। आस्तीक पर्वका प्रारंभ अ० १३ से होता है, वहांसे ही वैशंपायनका भारत ग्रंथ प्रारंभ हुआ है। सर्पसत्रके साथ आस्तीक मुनिका संबंध है। इसीलिये इसके प्रारंभमें आस्तीक की कथा होनी आवश्यकही है।

तृतीय संस्करण उग्रश्रवा सूतका संपादित किया हुआ है, जो इस समयका महाभारत है, इसीकी एक लाख श्लोकसंख्या है।

तात्पर्य, महाभारतका संपादन- (१) व्यास, (२) वैशंपायन और (३) उग्रश्रवा इन तीन विद्वानोंके द्वारा हुआ। पहला ग्रंथ व्यास-कृत 'भारत-संहिता' किंवा 'जय-इतिहास,' दूसरा ग्रंथ वैशंपायनकृत 'भारत' और तीसरा ग्रंथ उग्रश्रवाकृत 'महाभारत' है। तीनों संपादकोंके कालोंमें कई शताब्दियोंका अवधि व्यतीत हुआ। पांडव-कालमें व्यासमुनि, उनके पश्चात् जनमेजयके समय वैशंपायन और सौतिका समय विक्रम संवत्के कुछ पूर्व मानना योग्य है। यद्यपि सौति उग्रश्रवाको भी वैशंपायनके समकालीन बताया है, तथापि बुद्धकालके पश्चात्की बातें भी इसी महाभारतमें होनेसे अंतिम संपादक विक्रम सदी प्रारंभ होनेके कुछ पूर्व हुआ होगा, ऐसा ही मानना पडता है।

अस्तु, इस प्रकार एकके संपादनसे यह ग्रंथ बना नहीं है, परंतु तीन कालके तीन विभिन्न संपादकोंने इसका संपादन किया है, यह बात यहां स्पष्ट हो गई। अब इसमें इस कारण मिलावट हुई है वा नहीं और मिलावट हो गई होगी, तो उसका स्वरूप क्या है, इसका विचार करना चाहिये

महाभारतमें मिलावट है वा नहीं ?

☆

बहुत लोग कहते हैं कि महाभारतमें पीछेसे कई बातोंकी मिलावट हुई है, कई मनमानी बातें पीछेसे घुसेड दी गई हैं; इसलिये इस विषयमें, इस लेखमें विचार करना है। साथवाला कोष्टक देखनेसे पता लगता है कि, महाभारतकी अध्यायसंख्या निम्न प्रकार है—

१ अनुक्रमणिकाध्यायमें वर्णित अध्यायसंख्या १९२३
श्लोकसंख्या ८४,८३६
२ गोपाळ नारायण मुद्रित मुंबई महाभारत ... २१०९
श्लोकसंख्या ८४,५२५
३ गणपत कृष्णाजी मुद्रित मुंबई महाभारत ... २१११
श्लोकसंख्या ८३,८२६
४ कुंभकोणं प्रकाशित महाभारत २३१५
श्लोकसंख्या ९८,५४५

हरिवंशकी श्लोकसंख्या मिलानेसे यह संख्या निम्नलिखित बनती है।

१ अनुक्रमणिकाध्यायवर्णित ... महाभारत
८४८३६ + हरिवंश १२००० = कुल श्लोक ९६८३६
२ गोपाळ नारायण मुद्रित ... महाभारत
८४५२५ + हरिवंश १५४८५ = कुल श्लोक १०००१०
३ गणपत कृष्णाजी ... महाभारत
८३८२६ + हरिवंश १२००० = कुल श्लोक ९५८२६
४ कुंभकोणं प्रकाशित ... महाभारत
९८५४५ + हरिवंश १२००० = कुल श्लोक ११०५४५

यह संख्या देखनेसे पता लगता है कि, इस समय उपलब्ध महाभारतके किसी भी पुस्तकमें एक लाख श्लोक नहीं हैं। अध्यायोंकी संख्यामें न्यूनाधिक हुआ है, परंतु वह निःसन्देह लेखकका प्रमाद है। चूंकि श्लोकसंख्या अधिक नहीं हुई है, इसलिये अध्याय-संख्या बढ भी गई तो उसमें कोई विशेष हानि नहीं है। लेखकने बडे अध्यायके दो दो, तीन तीन टुकडे किये हैं और इस कारण अध्याय-संख्या बढ गई है, तथापि श्लोकसंख्या बढी नहीं है।

अनुक्रमणिकाध्यायमें कही श्लोकसंख्या.			गोपाल नारायण०		गणपत कृष्णाजी०		कुंभकोणम्०	
पर्व०	अ०	श्लोक०	अ०	श्लोक०	अ०	श्लोक०	अ०	श्लोक०
१ आदि०	२२७	८८८४	२३४	८६१९	२३४	८४६६	२६०	१०९९८
२ सभा०	७८	२५११	८१	२७१२	८१	२७०९	१०३	४३७७
३ वन०	२६९	११६६४	३१५	१०४९४	३१५	११८५४	३१५	१४०८१
४ विराट०	६७	२०५०	७२	२२७२	७२	२३२७	७८	३५७५
५ उद्योग०	१८६	६६९८	१९६	६५५९	१९६	६६१८	१९६	६७५२
६ भीष्म०	११७	५८८४	१२२	५९६९	१२२	५८१७	१२२	५९०८
७ द्रोण०	१७०	८९०९	२०२	९५७२	२०२	९५९३	२०३	१०१२७
८ कर्ण०	६९	४९६४	९६	४९६४	९६	४९८०	१०१	४९८६
९ शल्य०	५९	३२२०	६५	३६१८	६५	३६०८	६६	३५९४
१० सौप्तिक०	१८	८७०	१८	८०३	१८	८१०	१८	८१५
११ स्त्री०	२७	७७५	२७	८२५	२७	८२६	२७	८०७
१२ शांति०	३२९	१४७३२	३६५	१४९३८	३६६	१३७३२	३७५	१५१५३
१३ अनुशा०	१४६	८०००	१६८	७६३९	१६९	७८३९	२७४	१०९८३
१४ आश्वमे०	१०३	३३२०	९२	२७३६	९२	२८५२	११८	४५४३
१५ आश्रमवा०	४२	१५०६	३९	२०८८	३९	१०८५	४१	१०९८
१६ मौसल०	८	३२०	८	२८७	८	२८७	९	३००
१७ महाप्रस्था०	३	३२०	३	११०	३	१०९	३	१११
१८ स्वार्गारोह०	५	२०९	६	३२०	६	३०७	६	३३७
कुलसंख्या	१९२३	८४८३६	२१०९	८४५२५	२१११	८३८२६	२३१५	९८५४५
१९ हरिवंश		१२०००	२६१	१५४८५		१२०००		१२०००
कुलसंख्या		९६८३६	२३७२	१०००१०		९५८२६		११०५४५

(१०८) निर्वेदमूलो द्विजशापरूपः।

(भागवत १।१९।१४)

यहाँ भगवान् स्वयं ही द्विजशापरूप हुए। 'निर्वेदमूल' स्पष्ट नहीं है। अतः पौराणिक बतलावें कि कौन समास है?

(१०९) ततश्च वः पृच्छ्यमिमं विपृच्छे।

(भागवत १।१९।२४)

'पृच्छ्यं' प्रष्टव्यम् अर्थमें है।

'प्रच्छ्' धातुसे 'ण्यत्' करने पर 'पृच्छ्यम' प्रयोग होना चाहिए।

(११०) श्यामं सदापीच्यवयोऽङ्गलक्ष्म्या स्त्रीणां मनोज्ञं। (भागवत १।१९।२८)

'अपीच्य' वैदिक शब्द है और लौकिक संस्कृतमें प्रयुक्त नहीं है।

यहाँ 'अपीच्य' प्रयोग सदोष है।

(१११) महासने सोपविवेश पूजितः।

(भागवत् १।१९।२९)

'सोपविवेश' में 'सोऽचि लोपे चेत् पादपूरणम्' (अष्टा० ६।१।१३०)[१६] के अनुसार सन्धि अशुद्ध है।

स्कन्ध २

(११२) प्रायेण मुनयो राजन्निवृत्ता विधिषेधतः।

(भागवत २।१।७)

'षेधतः' अपाणिनीय प्रयोग है। 'सेधतः' प्रयोग होना चाहिए। 'सात्पदाद्योः' (अष्टा० ८।३।१११) के अनुसार 'विधिसेधतः' प्रयोगही उचित है।

(११३) तपो रराटीं विदुरादिपुंसः।

(भागवत २।१।२८)

रराटी = ललाट। वेदोंमें 'रराट' प्रयोग आता है। लौकिक संस्कृतमें 'कर्णं ललाटात् कनलंकारे' (अष्टा० ४।३।६५) के अनुसार 'ललाट' प्रयोग होता है।

अतः यहाँ 'रराट' प्रयोग अशुद्ध होता है।

(११४) दंष्ट्रा यमः स्नेहकला द्विजानि।

(भागवत २।१।३१)

'द्विजानि' प्रयोग अशुद्ध है। 'द्विजाः' प्रयोग होना चाहिए।

(११५) वयांसि तद्व्याकरणं विचित्रम्।

(भागवत २।१।३६)

व्याकरण यहाँ 'शिल्प' (कारीगरी) अर्थमें है। लोकमें ऐसा अर्थ प्रसिद्ध नहीं है।

यहाँ 'अप्रसिद्धशब्द अप्रसिद्ध अर्थ' में प्रयुक्त है।

(११६) सर्वधीवृत्त्यनुभूतसर्व आत्मा।

(भागवत २।१।३९)

यहाँ 'दुष्ट दुर्विग्रह समास' का प्रयोग है।

(११७) लब्धोपशान्तिर्विरमेत कृत्याम्।

(भागवत २।२।१६)

'विरमेत' परस्मैपदमें होना चाहिए, पर यहाँ आत्मनेपदमें क्यों प्रयोग किया गया है?

'व्याङ्परिभ्यो रमः' (अष्टा० १।३।८३) के अनुसार 'विरमति' प्रयोग शुद्ध है।

(११८) उदस्तात् प्रयाति चक्रं नृप शैशुमारम्।

(भागवत २।२।२४)

'उदस्तात्' प्रयोग अपाणिनीय है।

'अस्ताति च' (अष्टा० ५।३।४०) के अनुसार 'अधस्तात्' प्रयोग शुद्ध है।

(११९) 'निर्याति सिद्धेश्वरजुष्टधिष्ण्यं यद्।'

(भागवत २।२।२९)

'धिष्ण्यम्' यह पद 'अमरकोष' में 'गृह, नक्षत्र और अग्नि' इन अर्थोंमें पठा है, किन्तु भागवतमें 'विमान' अर्थमें प्रयुक्त कर दिया गया है।

यहाँ 'अप्रसिद्ध शब्द अप्रसिद्ध अर्थ' के प्रयोगका दोष है।

(१२०) 'तदध्यवस्यत्कूटस्थो रतिरात्मन्।'

(भागवत २।२।३४)

यहाँ 'आत्मन्' पद अशुद्ध है। 'आत्मनि प्रयोग शुद्ध है।

(१२१) 'न शृण्वतः कर्णपुटे नरस्य।'

(भागवत २।३।२०)

'शृण्वतः' प्रयोग अपाणिनीय है।

(१२२) 'कथा हरिकथोदर्काः... ।'

(भागवत २।३।१४)

---

१६ अष्टाध्यायीभाष्य-प्रथमावृत्ति, तृतीयभाग, प्रथम संस्करण, (सन् १९६८३ श्रीरामलाल कपूर ट्रस्ट, अमृतसर द्वारा प्रकाशित), पृष्ठ ६३। अन्य संस्करणोंमें अष्टा. ६।१।१३४ है —(लेखक)

मुंबईमें गणपत कृष्णाजीद्वारा मुद्रित महाभारत की पुस्तक विशेष प्रामाणिक है, परंतु वह इस समय मिलतीही नहीं। उसीकी करीब करीब प्रतिलिपि गोपालनारायणद्वारा मुद्रित है। इनकी श्लोक संख्या बहुत अंशोंमें अनुक्रमणिका अध्यायसे मिलती है। कुंभकोणप्रकाशित महाभारत मद्रासके ग्रंथोंके आधारपर प्रकाशित किया है। इस पुस्तकमें करीब चौदह हजार श्लोक अनुक्रमणिकाध्यायसे अधिक हैं। उत्तरसे दक्षिणमें जाते जाते ये श्लोक बीचमें मिल गये, यह बात स्पष्ट विदित होती है। इस कारण मद्रासका महाभारत विश्वासपात्र प्रतीत नहीं होता। मुंबई मुद्रित पुस्तक प्रायः न्यूनाधिक भेदसे एक जैसा ही हैं और श्लोक-संख्यामें भी बहुत भिन्नता नहीं है, इस कारण मुंबईके पुस्तक अधिक प्रामाणिक हैं। और मुंबई मुद्रित पुस्तकोंकी श्लोक-संख्या अनुक्रमणिकाध्यायसे बहुत अंशोंमें मिलती भी है।

इतने बडे ग्रंथमें, इतनी शताब्दियां व्यतीत होनेपर कुछ श्लोक-संख्यामें न्यूनाधिक हो भी गया, तो कोई बडा आश्चर्य नहीं है। हाथसे लिखनेके कारण तथा लेखकोंकी न्यूनाधिक योग्यताके कारण यह संख्या न्यूनाधिक हो गई है। उक्त संख्या देखनेसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि, अनुक्रमणिकाध्याय बननेके पश्चात्, गत दो सहस्र वर्षोंमें महाभारतकी कुल श्लोक-संख्यामें बिलकुल मिलावट नहीं हुई, परंतु घटावट ही हुई है। देखिये—

	कुल श्लोक	न्यून श्लोक
१ अनुक्रमणिकाध्यायवर्णित श्लोक।	८८८३६	(०)
२ गोपालनारायण मुद्रित श्लोक ...	८४५२५	(३११)
३ गणपत कृष्णाजी मुद्रित श्लोक...	८३८२६	(१०१०)

उक्त पुस्तकोंमें इतने श्लोक न्यून हैं। बढना और मिलावट तो दूर रही, परंतु इनमें श्लोक कमही हैं।

श्लोक लिखनेमें भी कई दोष हैं। कई श्लोक तीन पंक्तियोंके हैं, तो कई एक पंक्तिके ही हैं। हमने दो पंक्तियोंके अर्थात् अनुष्टुप् ३२ अक्षरोंके छंदका एक श्लोक मानकर वैसा लिखनेका इस पुस्तकमें यत्न किया, परंतु उससे कई दोष उत्पन्न हुए, इसलिये यह प्रयत्न छोडकर जैसा है वैसाही मुद्रित करनेका निश्चय किया। इस प्रयत्नके कारण हमारे पुस्तकमें आदिपर्वकी श्लोकसंख्या ८७०९ हो गई और अध्याय भी २३६ हो गये।

गोपाल नारायण मुद्रित पुस्तकमें जितने श्लोक हैं, उतने ही इस पुस्तकमें हैं। परंतु श्लोकगिनतीका सुधार करनेका यत्न करनेके कारण कुछ संख्या बढ गई। संभव है कि दो पंक्तियोंका एक श्लोक मानकर यदि गिना जाय, तो इसी पुस्तकमें अनुक्रमणिकाध्यायकी श्लोक-संख्या ठीक मिल जायगी। परंतु वैसा करनेके लिये समय बडा चाहिये और तुलना भी करनेके लिये कई ग्रंथोंका पाठ देखना चाहिये। यह बडे परिश्रमका तथा बडे धनके व्ययका कार्य है

इस समय औंध-नरेशकी प्रेरणासे पूनाके 'भांडारकर प्राचीन विद्या संशोधक संस्था' में महाभारत-संशोधनका कार्य चल रहा है। कई लाख रुपये इसपर खर्च हो जायंगे। कई विद्वान् इस कार्यके लिये नियुक्त किये गए हैं। प्रति मास सहस्रों रु० का व्यय हो रहा है। गत कई वर्षोंसे कार्य चल रहा है, संपूर्ण मुद्रणका कार्य होनेके लिये अभी कई वर्ष चाहिये, इससे पता लग सकता है कि, महाभारतका संशोधन करनेका कार्य कितने बडे व्ययका है। उक्त कार्यके लिये कई लाख रु० का अंदाजा व्यय निश्चित किया गया है। हम सब इसी पुस्तककी ओर देख रहे हैं।

यह पुस्तक प्रसिद्ध होने तक हमारे मार्गदर्शक पुस्तक मुंबईमुद्रित महाभारतके ग्रंथ ही हैं और इनमें श्लोकसंख्या अनुक्रमणिकाध्यायमें लिखित संख्यासे कम है, इस कारण प्रक्षिप्त श्लोक भी संभवतः नहीं होंगे अथवा होंगे तो कम होंगे।

इतना होने पर भी कई विद्वान् कहते ही हैं कि, महाभारतमें बहुत प्रक्षेप हुआ है, कई श्लोक पीछेसे मिलाये हैं, अथवा जानबूझकर घुसेड दिये गये हैं। विचार करना चाहिये कि क्या यह बात सच है?

कुछ श्लोक लेखकोंके प्रमादसे अंदर घुस गये हैं, इसमें शंका नहीं। इतने बडे ग्रंथमें और इतने बडे कालमें यह होना स्वाभाविक ही है। परंतु जानबूझकर श्लोकोंका घुसेडना बडा दोष है, इसलिये इसका विचार अधिक सूक्ष्म दृष्टिसे करना चाहिये।

यहाँ 'अरण' शब्दका अर्थ 'वेद शून्यवचन' है। लोकमें 'अरण्य' शब्दका अर्थ 'आत्मानं लभते' है। यहाँ 'अप्रसिद्धाः शब्दा अप्रसिद्धा अर्थाश्च' दोष है।

(१३९) 'आपः शिखा धृतवतो।'

(भागवत २।७।१८)

'आपः' प्रयोग अशुद्ध है। यहाँ 'अपः' प्रयोग होना चाहिए।

(१४०) 'उच्चाटयिष्यदुरगम्।'

(भागवत २।७।२८)

'उच्चाटयिष्यदुरगम्' प्रयोग अशुद्ध है। उच्चाटयिष्यति' (लृट्) प्रयोग होना चाहिए।

(१४१) 'कम्पयानम्'

(भागवत २।७।४०)

यहाँ 'कम्पमानम्' प्रयोग शुद्ध है।

(१४२) 'येषां स एव भगवान्दययेदनन्तः।'

(भागवत २।७।४२)

'दययेत्' प्रयोग अशुद्ध है।

दय (भ्वादि) धातुपाठ ४८१ के अनुसार 'दयेत' प्रयोग शुद्ध है।

(१४३) मान्धात्रलर्कशतधन्वनुरन्तिदेवाः।'

(भागवत २।७।४४)

'शतधन्वनु' में सन्धि अशुद्ध है। 'शतधनूरनु प्रयोग शुद्ध है।

(१४४) यावत्यः कर्मगतयो यादृशीर्द्विजसत्तम्।

(भागवत २।८।१३)

यहां 'यादृशीः' प्रयोग अशुद्ध है। 'यादृश्यः' प्रयोग शुद्ध है।

(१४५) विलोक्य तत्रान्यदपश्यमानः।

(भागवत २।९।७)

'अपश्यमानः' प्रयोग अशुद्ध है। 'अपश्यन्' प्रयोग शुद्ध है।

(१४६) स्वे एव धामन्। (भागवत २।९।१६)

यहाँ 'धामन्' प्रयोग अशुद्ध है। 'धामनि' होना चाहिए।

(१४७) ब्रह्माङ्घ्रेयः परिश्रामः।

(भागवत २।९ २०)

'परिश्रामः स्वार्थे अण्। नोदात्तोपदेशस्यमान्तस्यानाचमेः (अष्टा० ७।३।३४) के अनुसार ऐसा प्रयोग करनेके लिए पाणिनीजी आदेश नहीं देते हैं।

(१४८) बध्येयं यदनुग्रहात्।

(भागवत २।९।२८)

'बध्येयं' प्रयोग अशुद्ध है।

'बध्येय' प्रयोग पाणिनीय है।

स्कन्ध ३

(१४९) त्यजाश्वशैवं कुलकौशलाय।

(भागवत ३।१।१३)

'अशैवं' यह 'स्वार्थे अण् शिवमेव शैवम्' से बना है। लौकिक संस्कृतमें इसका प्रयोग नहीं पाया जाता है।

(१५०) क एनमत्रोपजुहाव। (भागवत ३।१।१५)

'अपजुहाव' प्रयोग अशुद्ध है। 'उपाजुहाव' प्रयोग शुद्ध है।

(१५१) पक्ष्मभिरक्षिणीव। (भागवत ३।१।३९)

यहाँ सन्धि पाणिनीके 'ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्' और 'प्लुतप्रगृह्या अचिनियम' सूत्रोंके विरुद्ध है।

(१५२) 'न याचतोऽदात्समयेन दायं तमो।'

(भागवत ३।१।८)

'याच्' धातु प्रयोगमें आत्मनेपदी है। अतः 'याचमानस्य' प्रयोग होना चाहिए।

(१५३) 'तितिक्षतो दुर्विषहं तवागः।'

(भागवत ३।१।११)

'तितिक्षत.' प्रयोग अशुद्ध है।

'तितिक्षमाणस्य। गुप् 'तिज्किद्भ्य सन्' से नित्य सन् और आत्मनेपद।

(१५४) 'दृग्भिरनुप्रवृत्तधियोऽवतस्थुः।'

(भागवत ३।२।१४)

'अवतस्थुः' प्रयोग अपाणिनीय है। 'अवतस्थिरे' प्रयोग उचित है।

(१५५) 'उत्थाप्यापाययद्गावस्तत्तोयं।'

(भागवत ३।२।३१)

यहाँ 'गावः' अशुद्ध प्रयोग है। 'गाः' प्रयोग उचित है।

(१५६) 'समाहुता भीष्मककन्यया ये श्रियः।'

(भागवत ३।३।३)

यहाँ 'हुता' प्रयोग अशुद्ध है। 'हूता' प्रयोग उचित है।

(१५७) 'ककुद्मतोऽविद्धमसो दमित्वा...।'

(भागवत ३।३।४)

यहाँ 'दमित्वा' प्रयोग अशुद्ध है। 'दमयित्वा' प्रयोग उचित है।

यहाँ भागवतकार 'हरिकथोत्तरा' यह कहना चाहता है, परन्तु लोकमें, 'उदर्क' शब्दका 'उत्तरफल' अर्थ है, सामान्येन उत्तरमात्र नहीं।

यहाँ 'अप्रसिद्ध शब्द अप्रसिद्ध अर्थ' प्रयोग किया गया है।

(१२३) आयुर्हरति वै पुंसामुद्यन्नस्तं च यन्नसौ। (भागवत २।३।१७)

'अदः' शब्द यहाँ भागवतकार 'सूर्य' अर्थमें कहना चाहता है। वेदोंमें 'अद' शब्दसे 'सूर्य' अर्थका बोध होता है। लोकमें यह शैली नहीं अनुसरण की जाती है।

अतः यहाँ 'अप्रसिद्ध शब्द अप्रसिद्ध अर्थ' प्रयोग किया गया है।

(१२४) 'श्वविड्वराहोष्ट्रखरैः संस्तुतः पुरुषः पशुः। (भागवत २।३।१९)

इस श्लोकमें 'संस्तुत' पदका परिचित ही अर्थ है और लक्षणासे उसका अर्थ 'समान' भी हो जाता है।

उपसर्गका धातु अर्थके अनुवृत्तमें 'संस्तुत' स्तुतका पर्याय भी होता है।

(१२५) 'श्रीविष्णुपद्या मनुजस्तुलस्याः।' (भागवत २।३।२३)

यहाँ 'विष्णुपद्या' का 'विष्णुके चरणोंमें लगी तुलसीकी गंध' अर्थ है। 'विष्णुपद' रूढि है जिसका अर्थ 'जाह्नवी' है। यहाँ 'रूढि प्रत्यनादरः' है।

(१२६) 'भुङ्क्ते गुणान् षोडश...।' (भागवत २।४।२३)

यहाँ 'भुङ्क्ते' आत्मनेपदमें प्रयोग अशुद्ध है।

(१२७) कालकर्मस्वभावस्थो जीवोऽजीवम-जीवयत्। (भागवत २।५।३४)

यहाँ 'जीव' परमात्माके अर्थमें प्रयुक्त हुं। रूढि अर्थ नहीं लिया गया है।

शरीरमें इन्द्रिय व प्राणका अधिष्ठान आत्मा लोकमें 'जीव' कहलाता है। अतः यहाँ 'रूढि प्रत्यनादरः' है।

(१२८) पशवः पितरः सिद्धा विद्याध्राश्चारणा द्रुमाः (भागवत २।६।१३)

यहाँ 'विद्याधराः' प्रयोग शुद्ध है।

(१२९) अन्ये च विविधा जीवा जलस्थलनभौकसः। (भागवत २।६।१४)

यहाँ 'नभौकसः' में सन्धिकार्य अशुद्ध है। यहाँ 'जल-स्थल नभ ओकसः' होगा।

(१३०) अमृतं... त्रिमूर्धनः। (भागवत २।६।१८)

यह अपाणिनीय है जो ऐसी स्थितिमें 'द्वित्रिभ्यां षमूर्ध्नः' (अष्टा० ५।४।११५) के अनुसार पाणिनीमुनिजी 'समासान्त' नियत करते हैं।

(१३१) नाहं न यूयं यदृतां गतिं विदुः। (भागवत २।६।३६)

(क) यहाँ 'दुष्ट समास' का प्रयोग है।

(ख) यहाँ 'व्यवहार दूषण' है।

(१३२) ये यक्षरक्षोरगनागनाथाः। (भागवत २।६।४३)

'रक्षस्' शब्द 'उरग' के साथ अनियमित रूपसे सन्धि कार्य किया गया है। अतः 'रक्षोरग' में सन्धिका प्रयोग अशुद्ध है।

(१३३) अद्भुतार्णम्। (भागवत २।६।४४)

यहाँ 'अद्भुतवर्णम्' होना चाहिए। यहाँ 'व' क्यों लोप किया गया है ?

(१३४) सम्यग्जगाद मुनयो यद्चक्षतात्मन्। (भागवत २।७।५)

यहाँ 'आत्मन्' प्रयोग अशुद्ध है। 'आत्मनि' प्रयोग होना चाहिए।

(१३५) 'अस्मिन्विधूय कपिलस्य गतिं प्रपेदे।' (भागवत २।७।३)

अत्रास्मिन् इत्युत्तरं जन्मनीति पूरणीयम्।

'अध्याहारबाहुल्यम्' दोष है।

(१३६) 'सत्रेममास भगवान् हयशीरषाथो।' (भागवत २।७।११)

यहाँ 'हयशीरषा' प्रयोग अशुद्ध है। 'हयशीर्षा' प्रयोग होना चाहिए।

(१३७) 'निद्राक्षणोऽद्रिपरिवर्तकषाणकण्डूः।' (भागवत २।७।१३)

यहाँ 'कषाण' प्रयोग अशुद्ध है। 'कषण' प्रयोग होना चाहिए।

(१३८) 'श्रुत्वा हरिस्तमरणार्थिनम्।' (भागवत २।७।१६)

'अष्टाविंशद्विप्राः' प्रयोग अशुद्ध है। 'अष्टाविंशतिविप्राः' प्रयोग उचित है।

(१७६) 'अर्वाक्स्रोतस्तु नवमः।'

(भागवत ३।१०।२५)

(क) पुल्लिंग होनेके कारण 'अर्वाक्स्रोताः' प्रयोग अशुद्ध है।

(ख) 'अर्वाक्स्रोतस्तु' में ह्रस्व कैसे ?

(१७७) 'संवत्सरः परिवत्सर इडावत्सर एव च

(भागवत ३।११।१४)

'इडावत्सर' प्रयोग अशुद्ध है। 'इदावत्सरः' प्रयोग पाणिनीय है।

(१७८) 'तस्मैच्छन्मोक्षधर्माणो।'

(भागवत ३।१२।५)

'मोक्षधर्माण:' प्रयोग अशुद्ध है। 'मोक्षधर्मन्' बहुव्रीहि समास प्रयोग शुद्ध है।

(१७९) 'षोडश्युक्थौ पूर्ववक्त्रात्पुरीष्यग्निष्टु-तावथ।'

(भागवत ३।१२।४०)

'अग्निष्टुत्' प्रयोग उचित नहीं है। यहाँ 'अग्निष्टो प्रयोग उचित है।

(१८०) 'नित्यदा।'

(भागवत ३।१२।५०)

लौकिक साहित्यमें 'नित्यदा' का प्रयोग नहीं पाया जाता है।

(१८१) 'प्रजाह्येधाम्बभूविरे।'

(भागवत ३।१२।५४)

'भूविरे' प्रयोग अशुद्ध है। 'आम्प्रत्ययवत् कृञ्जोऽनुप्रयोगस्य' (अष्टा० १।३।६३) के अनुसार यहाँ 'आत्मनेपद' अशुद्ध है।

(१८२) 'एवं युक्तकृतस्तस्य दैवं चावेक्षतस्तदा।'

(भागवत ३।१२।५१)

'अवेक्षते' आत्मनेपदी है। यहाँ परस्मैपदका प्रयोग अशुद्ध है।

(१८३) 'उत्पाद्य शास धर्मेण।'

(भागवत ३।१३।११)

'शास्' अपाणिनीय प्रयोग है।

'शाहौ' (अष्टाध्यायी ६।४।३५) के अनुसार 'शाधि' प्रयोग उचित है।

(१८४) 'खुरैः क्षुरप्रैर्दरयंस्तदाप।'

(भागवत ३।१३।३०)

'दरयन्' प्रयोग अशुद्ध है। यहाँ 'दारयन् प्रयोग शुद्ध है।

(१८५) 'अवयेत वोशर्तो।'

(भागवत ३।१३।४८)

'अवयेत' प्रयोग अपाणिनीय है। 'श्रावयेत्' प्रयोग शुद्ध है। यहाँ 'आत्मनेपद' नहीं होना चाहिए।

(१८६) 'यथा मां नातिवोचन्ति।'

(भागवत ३।१४।२१)

'वच' प्रयोग नियम विरुद्ध है। पाणिनीजी 'अदादिगण' (सं. १०६३) में धातुका निर्देश करते हैं। इसलिए 'वचन्ति' अशुद्ध है।

(१८७) 'चरन्ति यस्यां भूतानि भूतेशानुचराणि ह।' (भागवत ३।१४।२२)

'भूतेशानुचराणि' विशेषण नहीं हो सकता है जो 'भूतानि' को विशेषित करता हो इसलिए षष्ठीतत्पुरुष समास अशुद्ध है। 'अनुचर' पुल्लिंग है अतः परवल्लिंग द्वन्द्वतत्पुरुषयोः (अष्टा० २।२।२६) के अनुसार नियम विरुद्ध है।

(१८८) 'परीतो भूतपर्षद्भिर्वृषेणाटति।'

(भागवत ३।१४।२३)

यहाँ 'पर्षत्' प्रयोग अशुद्ध है। 'परिषत्' उचित है।

(१८९) हरिकथामिव गायमाने।'

(भागवत ३।१५।१८)

'गायमाने' प्रयोग अशुद्ध है। गै=गाना परस्मैपदी है अत 'गायति' रूप उचित है।

(१९०) 'स्वलकमुलसमीक्ष्यवक्त्रमुच्छेषितं-भगवतेत्यमताङ्ग यच्छ्रीः।

(भागवत ३।१५।२२)

'ईक्ष्य' अशुद्ध है। 'ईक्षित्वा' प्रयोग पाणिनीय है। 'उच्छेषितम्' एक असामान्य अस्पष्ट शब्द है जो 'चुम्बन' के अर्थमें प्रयुक्त है। उसके अन्य समानान्तर उदाहरण प्राप्य नहीं है। 'अमत' प्रयोग भी अशुद्ध है 'अमंस्त' प्रयोग शुद्ध है।

(१९१) भूयाद्घोनि भगवद्भिरकारि।

(भागवत ३।१५।३६)

'अघोनि' शब्द लौकिक साहित्यमें प्रयुक्त नहीं होता है।

(१५८) 'कुमन्त्रपाकेन हतश्रियायुषम्।'
(भागवत ३।१।१३)

'हतश्रियायुषम्' प्रयोग अशुद्ध है। 'हतश्र्यायुषम्' प्रयोग होना चाहिए।

(१५९) 'मघ्वामदाताम्रविलोचनानाम्।'
(भागवत ३।३।१५)

'मध्वा' प्रयोग अशुद्ध है। 'मधुना' प्रयोग उचित है।

(१६०) 'एवं सञ्चिन्त्य भगवान् स्वराज्ये स्थाप्य धर्मजम्।'   (भागवत ३।३।१६)

'स्थापयति' निरुपसर्गक धातु होनेमें उससे 'ल्यप्' का प्रयोग अपाणिनीय है। 'स्थापयित्वा' प्रयोग ही पाणिनीय है।

(१६१) 'तर्पयित्वाथ विप्रेभ्यो गावो बहुगुणा ददुः।'
(भागवत ३।३ २६)

'गावो' प्रयोग अशुद्ध है। यहाँ 'बहु' के लिए 'गाः' का प्रयोग द्वितीयामें होना चाहिए।

(१६२) 'दिष्टया ददृश्वान्।'
(भागवत ३।४।१२)

'ददृश्वान्' प्रयोग अपाणिनीय है। 'क्वसुश्च' (अष्टा, ३।२।१०७) के अनुसार 'ददृशिवान्' प्रयोग उचित है।

'ददृश्वान्' प्रयोग लौकिक संस्कृतमें नहीं होता है. वरन् वैदिक संस्कृतमें होता है।

(१६३) 'प्रतिक्षणानुग्रहभाजनोऽहम्।'
(भागवत ३।४।१४)

'भाजनम्' अजन्तलिङ्ग है और यह सर्वत्र नपुंसक है। इसलिए यह आकृति अशुद्धि है।

'अहं प्राञ्जलिराबभाषे।' श्लोक १४ का अन्तिम पद है जो वचनके विरुद्ध है 'उत्तमपुरुषे चित्तविक्षेपादिना-पारोक्ष्यम्' अतः लिट् प्रथम पुरुषमें व्यवहार नहीं किया गया है।

(१६४) यत्प्रमदायुताश्रयः स्वात्मन् रतेः।
(भागवत ३।४।१६)

'स्वात्मनरतेः' बहुव्रीहि समास अशुद्ध है। 'स्वात्मरतेः' प्रयोग उचित है।

(१६५) कौषारवोऽन्ति मे। (भागवत ३।४।२६)

'अन्ति' वैदिक कृदन्त है। लौकिक संस्कृतमें इसका प्रयोग नहीं होता है। 'अन्तिक' प्रयोग उचित है।

(१६६) यद्धरिरपितत्यज आकृतिं।
(भागवत ३।४।२८)

लिट्में 'तत्याज' पाणिनीके 'अत उपधायाः' (अष्टा० ७।२।११६) सूत्रके अनुसार होना चाहिए। यहाँ 'तत्यज' प्रयोग अपाणिनीय है।

(१६७) न शक्नुमस्तत्प्रतिहर्तवे ते।
(भागवत ३।५।४७)

'प्रतिहर्तवे' प्रयोग अशुद्ध है। 'प्रतिहर्तुम्' प्रयोग पाणिनीजीके 'तुमर्थे सेसेनसे... तवैतवेङ्तवेनः' (अष्टा० ३।४।९) के अनुसार उचित है।

(१६८) रेतस्त्वजायां कविमादधेऽजः।
(भागवत ३।५।४९)

'आदधे' प्रयोग अशुद्ध है। 'आदधिवे' प्रयोग शुद्ध है।

(१६९) विविशुर्धिष्ण्यमोषधीः।
(भागवत ३।६।१८)

'ओषधीः' प्रयोग अशुद्ध है। 'ओषध्यः' शुद्ध है।

(१७०) तत्रः पराणुद विमोकश्मलं मानसं महत्।
(भागवत ३।७।७)

'नुद्' आत्मनेपदी धातु है जिसका यथार्थ प्रयोग यहाँ नहीं किया गया है।

भागवत ३।७।१८ में 'पराणुदे' प्रयोग शुद्ध है।

भागवतकार एकही अध्यायमें एक स्थलपर अशुद्ध प्रयोग करता है और दूसरे स्थलपर शुद्ध प्रयोग करता है। भागवतकारने भंग पीकर श्लोकोंको लिखा है।

(१७१) कालात्मिका शक्तिमुदीरयाणः।
(भागवत ३।८।११)

'उदीरयाणः' आत्मनेपद है। यह प्रयोग अशुद्ध है। 'उदिरयमाणः' प्रयोग पाणिनीय है।

(१७२) गुणेन कालानुगतेन विद्धः सूष्यन्।
(भागवत ३।८।१३)

'सूष्यन्' प्रयोग अशुद्ध है। 'सोष्यन्' प्रयोग उचित है।

(१७३) प्रत्यर्हयन्तं सुनसेन सुभ्रूवा।
(भागवत ३।८।२७)

'सुभ्रूवा' प्रयोग अशुद्ध है। 'सुभ्रुवा' प्रयोग उचित है।

(१७४) तान् वदस्वानुपूर्व्येण छिन्धि नः सर्वसंशयान्। (भागवत ३।१०।२)

'वद्' परस्मैपदी धातु है। अतः 'वदस्व' प्रयोग अशुद्ध है।

(१७५) सोऽष्टाविंशद्विधो मतः।
(भागवत ३।१०।२०)

'यक्षरक्षांसि' प्रयोग अशुद्ध है। यह कैसे ?

(२१३) देवताः प्रभया या या दीव्यन् प्रमुखतोऽसृजत्।
ते अहार्षुर्देवयन्तो विसृष्टां तां प्रभामहः॥
(भागवत ३।२०।२२)

'देवताः' शब्द स्त्रीलिंग है। यहाँ पुल्लिंगमें प्रयोग करना अशुद्ध है।

(२१४) इति सायन्तनीं सन्ध्यामसुराः प्रमदायतीम्।
(भागवत ३।२०।३७)

'प्रमदायतीम्' प्रयोग अशुद्ध है। 'प्रमदायमानाम्' प्रयोग उचित है।

(२१५) कथ्यतां भगवन् यत्र मैथुनेनैधिरे प्रजाः।
(भागवत ३।२१।१)

'एध्' से 'लिट्' में 'एधिरे' प्रयोग = इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छ = (अष्टा० ३।१।३६) के अनुसार अशुद्ध है।

(२१६) यत्र च वावतिष्ठते।
(भागवत ३।२२ २०)

'तिष्ठते' आत्मनेपदमें प्रयोग अपाणिनीय है।

(२१७) आसिञ्चदम्ब वत्सेति।
(भागवत ३।२२।२५)

'वत्सेति' प्रयोग अपाणिनीय है।

(२१८) पितृभ्यां प्रस्थिते साध्वी पतिमिङ्गित कोविदा। (भागवत ३।२३।१)

'पितृभ्यां प्रस्थिते' प्रयोग अशुद्ध है। व्याकरणके अनुसार 'पित्रोः प्रस्थितयोः' होना चाहिए।

(२१९) ददर्शोत्पलगन्धयः।
(भागवत ३।२३।२६)

'उत्पलगन्धयः' प्रयोग अशुद्ध है। 'उत्पलगन्धीः' प्रयोग उचित है।

(२२०) वयं कर्मकरीस्तुभ्यं।
(भागवत ३।२३।२७)

'कर्मकरी' अशुद्ध प्रयोग है क्यों कि कर्त्ताके स्थानमें कर्मकारकका प्रयोग किया गया है। अतः 'कर्मकर्यः' प्रयोग शुद्ध है।

(२२१) उत्कचकुमुदगणवानपीच्यस्ताराभिरावृत।
(भागवत ३।२३।३८)

लौकिक संस्कृतमें 'उत्कच' का प्रयोग अप्रचलित है। 'विकच' शब्दका व्यवहार होता है

'अपीच्य' का अर्थ 'अतिसुन्दरः' पं० श्रीधरटीकाकार करते हैं। यह अर्थ किस अधिकारसे किया गया है यह अज्ञात है, क्योंकि 'अपीच्य' वैदिक शब्द है जिसका अर्थ 'अप्रकाशः' है।

(२२२) प्रेक्षयित्वा भुवो गोलं पत्न्यै यावान् स्वसंस्थया। (भागवत ३।२३।४३)

'प्रेक्षयित्वा' प्रयोग अपाणिनीय है। 'प्रेक्ष्य' के स्थान पर 'त्वा' का प्रयोग अशुद्ध है।

(२२३) माखिदो राजपुत्रीत्थमात्मानं।
(भागवत ३।२४।१)

'माखिद' पाणिनीजीके 'माङि लुङ्' (अष्टा० ३।३।१७५) सूत्रके अनुसार अशुद्ध है।

(२२४) वीर्यश्रिया पूर्त्तमहं प्रपद्ये।
(भागवत ३।२४।३२)

पूर्त्तं = पूर्णम्, परिपूर्णम्। व्याकरणके अनुसार 'पूर्त्तं' शुद्ध है परन्तु इस अर्थमें लौकिक साहित्यमें प्रयुक्त नहीं होता है। 'पूर्णम्' से काम चलजाता है।

(२२५) 'तस्मिन् बिन्दुसरेऽवात्सीद्भगवान्।'
(भागवत ३।२५।५)

'बिन्दसरे' अशुद्ध है। 'बिन्दुसरसि' शुद्ध है।

(२२६) 'अग्निरिन्धे सगिरिभिर्भूर्न मज्जति यद्भयात्। (भागवत ३ २९।४२)

'सगिरिभिः' अपाणिनीय है।

'वोपसर्जनस्य' (अष्टा० ६।३।८२) के अनुसार 'सगिरिः' प्रयोग होना चाहिए।

(२२७) 'यावतीर्यातनादयः।'
(भागवत ३।३०।३४)

यहाँ 'यातना' कर्त्ताकारकमें है इसलिए 'यावतीः' अशुद्ध है। 'यावत्यः' होना चाहिए।

(२२८) 'मोहात्मन्मायामृषभायतीम्।'
(भागवत ३।३१।४१)

'ऋषभायतीम्' अशुद्ध है। 'ऋषभायमाणां' प्रयोग 'कर्त्तुःक्यङ्सलोपश्च' के अनुसार होना चाहिए।

(२२९) 'ये स्वधर्मान्नदुह्यन्ति।'
(भागवत ३।३२।५)

'दुह्यन्ति' अशुद्ध है। 'दुहन्ति' प्रयोग उचित है।

(२३०) 'तेपुस्तपस्ते जुहुवुः।'
(भागवत ३।३३ ७)

'तेपु' अशुद्ध है। 'तपस्तप.कर्मकस्यैव' (अष्टा० ३।१।८८) के अनुसार 'तेपिरे' उचित है।

(१९२) वपुर्दर्शयानमनन्यसिद्धैरौत्पत्तिकैः।
(भागवत ३।१५।४५)

'दर्शयानम्' प्रयोग अशुद्ध है। 'दर्शयमानम्' प्रयोग उचित है।

(१९३) कीर्तन्यतीर्थयशसः।
(भागवत ३।१५।४८)

'कीर्तन्य' प्रयोग अशुद्ध है। 'कीर्तनीय' प्रयोग शुद्ध है।

'कीर्तन्य' शब्द भागवत ३।२५।३ में आया है।

(१९४) कदर्थीकृत्य मां यद्वो बहुक्रान्तामतिक्रमम्।
(भागवत ३।१६।२)

'अक्रान्ताम्' प्रयोग अशुद्ध है। 'अकृपाताम्' प्रयोग उचित है।

(१९५) भृतयोर्विवासः।
(भागवत ३।१६।१२)

'भृत' प्रयोग अशुद्ध है। 'भृत्य' उचित है।

(१९६) वरदया तनुवा निरस्य।
(भागवत ३।१६।२२)

'तनुवा' अशुद्ध है। 'तन्वा' शुद्ध है।

(१९७) तद्नुमन्महि। (भागवत ३।१६।२५)

'अनुमन्महि' प्रयोग अपाणिनीय है।

'अनुमन्महे' प्रयोग पाणिनीय है।

(१९८) निहितस्तदवैत विप्राः।
(भागवत ३।१६।२६)

'अवैत' प्रयोग अशुद्ध है। 'अवेत' शुद्ध है।

(१९९) प्रत्येष्यतं निकाशं मे।
(भागवत ३।१६।३१)

'प्रत्येष्यतं' अशुद्ध है। 'प्रत्येष्यथः' शुद्ध है।

'निकाशं' का प्रयोग लौकिक भाषामें अज्ञात है।

(२००) तदा विकुण्ठधिषणात्तयोर्निपतमानयोः।
(भागवत ३।१६।३४)

(क) 'धिषण' अशुद्ध है। 'धिष्ण्य' प्रयोग शुद्ध है।

(ख) 'निपततोः' परस्मैपदके स्थानपर आत्मनेपदका प्रयोग अशुद्ध है।

भागवत ३।२८।२५ में भी 'धिषण' आया है।

(२०१) स्फुरदङ्गदाभुजौ। (भागवत ३।१७।१७)

'अङ्गद' नपुंसकलिङ्ग है, परन्तु यह अनियमित स्त्रीलिङ्गमें प्रयोग किया गया है।

(२०२) वीरशये भ्रू भिर्वृतः। (भागवत ३।१७।३१)

'वीरशये' अपाणिनीय है। 'अधिकरणे शेतेः' (अष्टा० ३।२।१५) के अनुसार 'वीरशये' अशुद्ध है।

(२०३) महामनास्तद्विगणय्य।
(भागवत ३।१८।१)

'विगणय्य' प्रयोग अशुद्ध है। 'अविगणय्य' प्रयोग शुद्ध है।

(२०४) संस्थाप्यमूढ प्रमृजे।
(भागवत ३।१८।४)

'प्रमृजे' अशुद्ध है। 'प्रमार्जिम' शुद्ध है।

(२०५) सगामुदस्तात्सलिलस्य।
(भागवत ३।१८।८)

'उदस्तात्' केवल वैदिक संस्कृतमें प्रयोग होता है। दिक्शब्देभ्यः सप्तमीपञ्चमीप्रथमाभ्यो दिग्देश-कालेष्वस्तातिः। (अष्टाध्यायी ५।३।२७) के अनुसार 'अधस्तात्', 'अवस्तात्' प्रयोग शुद्ध है।

(२०६) प्रमृजाश्रु स्वकानां यः।
(भागवत ३।१८।१२)

'प्रमृञ्ज' अपाणिनीय है। 'अमृड्ढि' प्रयोग पाणिनीय है।

(२०७) दैत्यो गदयाभ्यहनद्धरिम्।
(भागवत ३।१८।१४)

'अभ्यहनत्' अशुद्ध है। 'अभ्यहन्' शुद्ध है।

(२०८) अन्वपत्नप्रतिरथो लोकानटति कण्टकः।
(भागवत ३।१८।२३)

आत्मनेपद 'अन्वेषणमाणः' के स्थानपर यहाँ परस्मैपदका प्रयोग अशुद्ध है।

(२०९) करालदंष्ट्रं परिदृष्टदच्छदम्।
(भागवत ३।१९।२७)

यहाँ 'दत्' प्रयोग अशुद्ध है। वेदोंमें इसका प्रयोग होता है। लौकिक साहित्यमें 'दन्त' प्रयोग शुद्ध है।

(२१०) आपो गाङ्गा इवाघघ्नीर्हरेः पादाम्बुजाश्रयाः।
(भागवत ३।२०।५)

(क) 'अघघ्नीः' का प्रयोग केवल वेदोंमें होता है। लौकिक संस्कृतमें इसका प्रयोग अशुद्ध है। 'अघघ्न्यः' प्रयोग होना चाहिए।

(ख) 'गाङ्गा' प्रयोग अपाणिनीय है।

टिड्ढाणञ्द्वयसज्दघ्नञ्मात्रच्तयप्ठक्ठञ्कञ्क्वरपः (अष्टा० ४।१।१५) के अनुसार 'गाङ्गयः' शुद्ध है।

(२११) तमो मोहो महातमः।
(भागवत ३।२०।१८)

'मोहः' प्रयोग अशुद्ध है। 'मोहम्' शुद्ध है।

(२१२) यक्षरक्षांसि।
(भागवत ३।२०।२१)

१०९ अश्वी रथी सुरूप इद् गोमाँ इदिन्द्र ते सखा ।
श्वात्रभाजा वयसा सचते सदा चन्द्रो याति सभामुप ॥ ९ ॥
११० ऋश्यो न तृष्यन्नवपानमा गहि पिबा सोमं वशाँ अनु ।
निमेघमानो मघवन् दिवेदिव ओजिष्ठं दधिषे सहः ॥ १० ॥
१११ अध्वर्यो द्रावया त्वं सोममिन्द्रः पिपासति ।
उप नूनं युयुजे वृषणा हरी आ च जगाम वृत्रहा ॥ ११ ॥
११२ स्वयं चित् स मन्यते दाशुरिर्जनो यत्रा सोमस्य तृम्पसि ।
इदं ते अन्नं युज्यं समुक्षितं तस्येहि प्र द्रवा पिब ॥ १२ ॥

अर्थ— [१०९] हे (इन्द्र) इन्द्र ! (ते सखा) तेरा मित्र (अश्वी रथी) घोडोंवाला, रथोंवाला, (सुरूपः इत्) उत्तम रूपवाला (गोमान् इत्) गायोंवाला होता है। वह (वयसा श्वात्रभाजा सचते) उत्तम आयु देनेवाले धनसे संयुक्त होता है और वह (सदा) हमेशा (सभां) सभामें (चन्द्रः) चन्द्रके समान आल्हादकारक होकर (उप याति) जाता है ॥ ९ ॥

ते सखा चन्द्रः सभां उप याति— इस इन्द्रका मित्र चन्द्रके समान आनन्द देनेवाला होकर सभामें जाता है।

[११०] हे (मघवन्) ऐश्वर्यशाली इन्द्र ! (ऋश्यः न तृष्यन्) मृगके समान प्यासा होकर तू (अवपानम् आ गहि) इस सोमरसके पास आ और (सोम) को (वशां अनु पिब) इच्छानुसार पी। तू (दिवेदिवे निमेघमानः) प्रतिदिन वृष्टि करता हुआ (ओजिष्ठं सहः दधिषे) ओजसे युक्त बलको धारण करता है ॥ १० ॥

[१११] हे (अध्वर्यो) अध्वर्यो ! (त्वं द्रावय) तू शीघ्रता कर, (इन्द्रः सोम पिपासति) इन्द्र सोम पीना चाहता है। उसने (नूनं) निश्चयसे (वृषणा हरी) बलवान् घोडोंको रथमें जोड लिया है और वह (वृत्रहा) वृत्रको मारनेवाला इन्द्र (आ च जगाम) आ भी गया है ॥ ११ ॥

[११२] हे इन्द्र ! (यत्र सोमस्य तृम्पसि) जिसके घरमें आकर तू सोमरससे तृप्त होता है, (सः दाशुरिः जनः) वह दानशील व्यक्ति (स्वयं चित् मन्यते) स्वयंको अत्यन्त श्रेष्ठ मानता है। हे इन्द्र ! (ते युज्यं) तेरे लिए योग्य (इदं अन्नं समुक्षितं) यह अन्न तैयार किया गया है, (एहि, द्रव) आ, शीघ्र आ और (तस्य पिब) उस रसको पी ॥ १२ ॥

भावार्थ— इस इन्द्र-प्रभुका मित्र अश्व, रथ, गाय, आयु और अन्य ऐश्वर्योंसे सदा युक्त रहता है और वह प्रभुका भक्त जहां जाता है, वहीं आनन्द फैल जाता है और वहीं वह चन्द्रके समान सुशोभित होता है ॥ ९ ॥

हे इन्द्र ! तू हिरणके समान प्यासा होकर पीनेके लिए इस सोमरसके पास आ और इस रसको इच्छानुसार पी। तथा प्रतिदिन उत्तम जलकी वर्षा कर तथा बलसे युक्त हो ॥ १० ॥

हे अध्वर्यु ! तू शीघ्रता कर क्योंकि यह इन्द्र सोम पीना चाहता है। सोम पीनेकी इच्छासे उसने अपने रथमें घोडे जोड लिए हैं और वह यहां आ भी गया है ॥ ११ ॥

जिस मनुष्यके घरमें आकर यह इन्द्र सोमरसका पान करता है, वह मनुष्य स्वयंको अत्यन्त श्रेष्ठ समझता है। इसी लिए सभी उसे प्रार्थना करते हैं कि- हे इन्द्र ! तेरे योग्य यह सोमरस रूपी अन्न हमने तैयार किया हुआ है, अतः तू हमारे पास शीघ्र आ और इन रसोंको पी ॥ १२ ॥

(२३१) 'तस्यास्तद्योगविधुतमात्र्यम् ।'
(भागवत ३।३३।३२)

'मात्र्यं' अशुद्ध है । 'मर्त्यं' होना चाहिए ।

स्कन्ध ४

(२३२) 'तां कामयानां भगवानुवाह यजुषां पतिः ।' (भागवत ४।१।६)

'आनेमुक्' (अष्टाध्यायी ७।२।८२) के अनुसार 'कामयानाम्' प्रयोग अशुद्ध है ।

(२३३) 'अनाहुता अप्यभियन्ति... ।'
(भागवत ४।३।१३)

यहाँ 'अनाहुता' अशुद्ध है । 'अनाहूता' शुद्ध है । 'हुता' में ह्रस्व नहीं होना चाहिए ।

(२३४) 'तप्यति मर्मताडितः ।'
(भागवत ४।३।१९)

'तप्यति' अशुद्ध है । 'तप्यते शुद्ध है 'तप्' वैदिक लौकिक दोनों साहित्यमें सदा आत्मनेपद है ।

(२३५) 'स दूयताहृदा... स्त्रैण ।'
(भागवत ४।४।३)

(क) दूङ् परितापे आत्मनेपद है इसलिए 'दूयमानेन' होना चाहिए ।

(ख) 'स्त्रैण' प्रयोग भी 'स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात्' (अष्टा० ४।१।८७) के अनुसार अशुद्ध है ।

(२३६) 'करालदंष्ट्राभिरुदस्तभागणं ।'
(भागवत ४।५।११)

'भा' अशुद्ध है । 'भ' प्रयोग शुद्ध है जिसका अर्थ 'तारा' है ।

(२३७) 'उत्पेतुरुत्पाततमाः'
(भागवत ४।५।१२)

'उत्पाततमाः' अपाणिनीय है । अष्टाध्यायी ५।३।५५ पर 'बालमनोरमा' देखिए ।

(२३८) प्रातिष्ठद्गुह्यकालयम् ।[17]
(भागवत ४।५।२६)

'प्रातिष्ठत्' प्रयोग अशुद्ध है ।

(२३९) आशासाना जीवितम् ।
(भागवत ४।६।६)

'आशासाना' अशुद्ध है । 'आशासमाना' शुद्ध है ।

(२४०) नारदाय प्रवोचन्तम् । (भागवत ४।६।३७)

'प्रवोचन्तम्' अशुद्ध है । 'प्रब्रुवन्तम्' शुद्ध है

(२४१) प्रथमं त्वमस्राक् । (भागवत ४।७।१४)

'अस्राक्' अशुद्ध है । 'अस्राक्षीः' शुद्ध है ।

(२४२) ...महित्वात्मभुवादयः ।
(भागवत ४।७।२४)

'आत्मभुवादयः' अशुद्ध है । 'आत्मभ्वादयः' बहुव्रीहि समास होना चाहिए ।

(२४३) तत्त्वं न ते वयमनञ्जन रुद्रशापत्कर्मण्यवग्रहधियो भगवत् विदामः । धर्मोपलक्षणमिदं त्रिवृदध्वराख्यं ज्ञातं यदर्थमधिदैवमदोव्यवस्थाः ।
(भागवत ४।७।२७)

(क) 'विदामः' अशुद्ध है । 'विद्मः' से 'विदामः' आत्व कैसे ?

(ख) 'व्यवस्थाः' में 'अऽभाव' कैसे ?

(२४४) दक्षं वभाष आभाष्य ।
(भागवत ४।७।४९)

'वभाषः' अशुद्ध है । वभाषे' शुद्ध है ।

(२४५) स्वेनैवाशाप्रराधसे । (भागवत ४।७।५७)

'राधस्' वैदिक शब्द हैं जो लौकिक साहित्यमें प्रयुक्त नहीं होता है । भागवतकारने अशुद्ध प्रयोग किया है ।

(२४६) सुनीतिरुत्सङ्ग उदूह्यबालम् ।
(भागवत ४।८।१५)

'उदूह्य' अशुद्ध है । 'उदुह्य' शुद्ध है ।

(२४७) तस्यापवर्ग्यशरणं तव पादमूलम् ।
(भागवत ४।९।८)

'आपवर्ग्यं' 'स्वार्थिक ष्यञ्' से विशेषण प्रयोग किया गया है जो अपाणिनीय है ।

(२४८) यो नारदवचस्तथ्यं नाग्राहिषमसत्तमः ।
(भागवत ४।९।३२)[18]

'अग्राहिषम्' प्रयोग 'ग्रहोऽलिटिदीर्घः' (अष्टाध्यायी ७।२।३७) के अनुसार अशुद्ध है । 'अग्रहीषम्' होना चाहिए ।

---

१७ काशीसंस्करण 'सामयिकी भा. टी.' पृष्ठ ३०५ में श्लोक० २६ नहीं है । यह भयंकर भूल है । मथुरा संस्करण बालबोधिनी भा. टी. पृष्ठ २३८ में तथा गीता प्रेस, गोरखपुर संस्करणमें यह श्लोक है —(लेखक)

१८ मथुरा संस्करण, बालबोधिनी भा. टी. पृष्ठ २५७ में श्लोक सं. ३३ है जब कि सर्वत्र श्लोक, सं. ३२ है । —(लेखक)

११७ वेमि त्वा पूषन्नृञ्जसे वेमि स्तोतव आघृणे ।
न तस्य वेम्यरणं हि तद् वसो स्तुषे पज्राय साम्ने ॥ १७ ॥

११८ परा गावो यवसं कच्चिदाघृणे नित्यं रेक्णो अमर्त्य ।
अस्माकं पूषन्नविता शिवो भव मंहिष्ठो वाजसातये ॥ १८ ॥

११९ स्थूरं राधः शताश्वं कुरुङ्गस्य दिविष्टिषु ।
राज्ञस्त्वेषस्य सुभगस्य रातिषु तुर्वशेष्वमन्महि ॥ १९ ॥

१२० धीभिः सातानि काण्वस्य वाजिनः प्रियमेधैरभिद्युभिः ।
षष्टिं सहस्रानु निर्मजामजे निर्यूथानि गवामृषिः ॥ २० ॥

अर्थ— [११७] हे (वसो पूषन्) सबको बसानेवाले तथा पुष्ट करनेवाले इन्द्र ! (स्तुषे पज्राय साम्ने) स्तुतिके योग्य, शत्रुओंके विनाशक तथा सज्जनोंके लिए सुखदायक (त्वा) तुझे (ऋंजसे वेमि) मैं प्रसन्न करना चाहता हूं, हे (आघृणे) सभी ओरसे तेजस्वी इन्द्र ! तेरी (स्तोतवे) स्तुति करनेके लिए (वेमि) मैं इच्छा करता हूं। (तस्य न वेमि) तेरे अलावा और किसीकी स्तुति करना नहीं चाहता, (हि) क्योंकि (तत् अरणं) अन्य देवकी स्तुति असुखकारक होती है ॥ १७ ॥

[११८] हे (आघृणे) सब ओरसे तेजस्वी इन्द्र ! (कच्चित्) कभी कभी (गावः) हमारी गायें (यवसं) घास खानेके लिए (परा) दूर जाती हैं, तब हे (अमर्त्य) मरणरहित इन्द्र ! वह हमारा (रेक्णः) गौ रूपी धन (नित्यं) अक्षय रहे। हे (पूषन्) सबके पोषक इन्द्र ! तू (अस्माकं अविता) हमारी रक्षा करनेवाला, तथा (शिवः भव) सुखकारी हो, (वाजसातये) हमारी अन्न प्राप्तिके समय तू (मंहिष्ठः) अत्यधिक देनेवाला हो ॥१८॥

[११९] (त्वेषस्य सुभगस्य) तेजस्वी, उत्तम ऐश्वर्यवाले (कुरुंगस्य) शत्रुओंको जीतनेवाले (राज्ञः) राजाके (दिविष्टिषु रातिषु) दिव्य दानोंमें अर्थात् दिव्य दानको देनेके समय (तुर्वशेषु) मनुष्योंके बीचमें हमही (स्थूरं शताश्वं राधः) अत्यधिक तथा सैंकडों घोडोंसे युक्त ऐश्वर्यको (अमन्महि) प्राप्त करें ॥ १९ ॥

[१२०] (काण्वस्य वाजिनः सातानि) ज्ञानी और बलवान्के द्वारा प्राप्त किए जाने योग्य तथा (प्रियमेधैः अभि द्युभिः धीभिः) उत्तम मेधाबुद्धिवाले तथा तेजस्वी एवं उत्तम धारणा शक्तिसे युक्त मनुष्यों द्वारा प्राप्त किए जानेवाले (निर्मजां गवां) अत्यन्त पवित्र गायोंके (षष्टिं सहस्रा यूथानि) साठ हजारके झुण्डोंको (ऋषिः अनु निः अजे) ऋषिने प्राप्त किया ॥ २० ॥

भावार्थ— यह इन्द्र सबको बसानेवाला, शत्रुओंका संहारक तथा सज्जनोंके लिए सुखदायक है, अतः उसीकी उपासना करनी चाहिए। अन्य देवकी उपासना दुःखदायक होती है ॥ १७ ॥

हे इन्द्र ! जब हमारी गायें घास चरते चरते दूर चली जाएं, तो वहां भी वे सुरक्षित रहें। उन्हें मारनेवाला कोई न हो। गोरूपी धन हमारे पास सदा बना रहे। उनके कारण हम अन्नसे युक्त हों ॥ १८ ॥

जबको तेजस्वी राजा दान देनेकी इच्छा करे, तब उस दिव्य दानको प्राप्त करनेके अधिकारी हमही हों ॥ १९ ॥

जिन गायोंको ज्ञानी और उत्तम मेधाबुद्धिवाले तेजस्वी जन प्राप्त करते हैं, उन पवित्र गायोंको मैं भी प्राप्त करूं ॥२०॥

×

११३ रथेष्ठायाध्वर्यवः सोममिन्द्राय सोतन ।
अधि ब्रध्नस्याद्रयो वि चक्षते सुन्वन्तो दाश्वध्वरम् ॥ १३ ॥

११४ उप ब्रध्नं वावाता वृषणा हरी इन्द्रमपसु वक्षतः ।
अर्वाञ्चं त्वा सप्तयोऽध्वरश्रियो वहन्तु सवनेदुप ॥ १४ ॥

११५ प्र पूषणं वृणीमहे युज्याय पुरूवसुम् ।
स शक्र शिक्ष पुरुहूत नो धिया तुजे राये विमोचन ॥ १५ ॥

११६ सं नः शिशीहि भुरिजोरिव क्षुरं रास्व रायो विमोचन ।
त्वे तन्नः सुवेदमुस्रियं वसु यं त्वं हिनोषि मर्त्यम् ॥ १६ ॥

अर्थ— [११३] हे (अध्वर्यवः) अध्वर्यु गणो ! (रथेष्ठाय इन्द्राय) रथमें बैठनेवाले इन्द्रके लिए (सोमं सोतन) सोमको निचोडो । (ब्रध्नस्य अधि) ऊंचे स्थानपर रखे हुए (सुन्वन्तः अद्रयः) सोमरस निचोडनेवाले पत्थर (दाश्वध्वरं) दानशील यजमानके यज्ञको (वि चक्षते) विशेष रूपसे प्रकाशित करते हैं ॥ १३ ॥

[११४] (ब्रध्नं वावाता) अन्तरिक्षमें संचार करनेवाले (वृषणा हरी) दो बलवान् घोडे (इन्द्रं अपसु उप वक्षतः) इन्द्रको इस यज्ञके समीप ले आएं । हे इन्द्र ! (अध्वरश्रियः सप्तयः) यज्ञके आश्रयसे रहनेवाले घोडे (त्वा) तुझे (अर्वांचं) हमारी ओर (सवना इत् उप) हमारे यज्ञके पास ले आवें ॥ १४ ॥

[११५] (युज्याय) योग्य मित्रताके लिए (पुरूवसुं पूषणं) बहुत धनवाले तथा पोषण करनेवाले इन्द्रको हम बुलाते हैं। हे (पुरूहूत शक्र) बहुतोंके द्वारा बुलाये जानेवाले शक्तिशाली तथा (विमोचन) संकटोंसे मुक्त करनेवाले इन्द्र ! (तुजे राये) शत्रुओंकी हिंसा तथा ऐश्वर्यकी प्राप्ति करनेके लिए (सः) वह तू (नः धिया शिक्ष) हमें बुद्धिपूर्वक धन प्रदान कर ॥ १५ ॥

[११६] हे (विमोचन) संकटसे मुक्त करनेवाले इन्द्र (भुरिजोः क्षुरं इव) नाईके छुरेके समान (नः सं शिशीहि) हमारी बुद्धियोंको तू तीक्ष्ण कर तथा (रायः रास्व) धन प्रदान कर । हे इन्द्र ! (यं त्वं मर्त्यं हिनोषि) जिस धनको तू मनुष्यकी ओर प्रेरित करता है, (त्वे) तुझमें स्थित (तत् उस्रियं वसु) वह गायसे युक्त धन (नः सुवेदं) हमें आसानीसे प्राप्त होनेवाला हो ॥ १६ ॥

भावार्थ— हे अध्वर्यु गण ! रथमें बैठनेवाले इन्द्रके लिए सोमरसको निचोडो ! ऊंचे स्थानपर रखे हुए पत्थरोंसे जान पडता है कि यज्ञ चल रहा है ॥ १३ ॥

इन्द्रके घोडे यज्ञके आश्रयसे रहते हैं, यज्ञके द्वारा वे बल प्राप्त करते हैं, अतः वे हमेशा इन्द्रको यज्ञकी ओर ही ले जाते हैं ॥ १४ ॥

यह इन्द्र बहुत धनवाला तथा पोषण करनेवाला है, ऐसे इन्द्रको हम अपनी मैत्रीके लिए बुलाते हैं । वह इन्द्र हमें ऐश्वर्यकी प्राप्ति कराकर तथा शत्रुओंका नाश करके हमें संकटसे मुक्त करे ॥ १५ ॥

हे इन्द्र ! तू हमें संकटसे मुक्त करनेवाला है, अतः हमारी बुद्धिको तू तीक्ष्ण कर । जिन धनोंको तू मनुष्यकी ओर प्रेरित करता है, वे सब धन तुझमेंही प्रतिष्ठित हैं, अतः वे सब हमें आसानीसे प्राप्त होनेवाले हों ॥ १६ ॥

१२६ मंहिष्ठा वाजसातमे―षयन्ता शुभस्पती । गन्तारा दाशुषो गृहम् ॥ ५ ॥
१२७ ता सुदेवाय दाशुषे सुमेधामवितारिणीम् । घृतैर्गव्यूतिमुक्षतम् ॥ ६ ॥
१२८ आ नः स्तोममुप द्रवत् तूयं श्येनेभिराशुभिः । यातमश्वेभिरश्विना ॥ ७ ॥
१२९ येभिस्तिस्रः परावतो दिवो विश्वानि रोचना । त्रीँरक्तून् परिदीयथः ॥ ८ ॥
१३० उत नो गोमतीरिष उत सातीरहर्विदा । वि पथः सातये सितम् ॥ ९ ॥
१३१ आ नो गोमन्तमश्विना सुवीरं सुरथं रयिम् । वोळ्हमश्वावतीरिषः ॥ १० ॥
१३२ वावृधाना शुभस्पती दस्रा हिरण्यवर्तनी । पिबतं सोम्यं मधु ॥ ११ ॥

अर्थ― [१२६] (मंहिष्ठा) अत्यन्त महनीय, (वाजसातमा) यथेष्ट अन्न, बल देनेहारे (शुभस्पती) शुभ कार्योंके पालनकर्ता (इषयन्ता) अन्न उत्पन्न करनेहारे और (दाशुषः गृहं) दानी पुरुषके-घरपर (गन्तारा) जानेवाले अश्विदेव हैं ॥ ५ ॥

[१२७] (सुदेवाय) अच्छे तेजस्वी (दाशुषे) दानीके लिये (ता) वे विख्यात तुम दोनों अश्विदेव (अवितारिणीं) नष्ट न होनेवाली (सुमेधां) अच्छी बुद्धि तथा (गव्यूतिं घृतैः उक्षतं) गौओंकी सुरक्षा करनेवाली शक्तिको घृतोंसे सींच देवें ॥ ६ ॥

[१२८] हे (अश्विना) अश्विदेवो ! (श्येनेभिः) श्येनपक्षीके समान (आशुभिः अश्वेभिः) शीघ्रगामी घोडोंसे (नः स्तोमं उप) हमारे यज्ञके समीप (तूयं द्रवत्) जल्दी और दौडते दौडते (आ यातं) आओ ॥ ७ ॥

[१२९] (तिस्रः दिवः) तीन दिन और (त्रीन् अक्तून्) तीन रातोंतक (परावतः) दूर देशसे (येभिः) जिन यानोंकी सहायतासे (विश्वानि रोचना) सभी जगमगाते तेजो-गोलोंके (परि-दीयथः) इर्दगिर्द तुम संचार करते हो उन्हींपर बैठकर इधर आओ ॥ ८ ॥

[१३०] हे (अहर्विदा) दिनको जतलानेहारे ! (उत) और एक बात है कि (नः गोमतीः इषः) हमें गायोंसे युक्त अन्न (उत सातीः) और बाँटनेयोग्य संपत्तियाँ दो, (सातये) ठीक दान करनेके लिये (पथः वि सितं) मार्ग बतला दो ॥ ९ ॥

[१३१] हे (अश्विना) अश्विदेवो ! (नः) हमें (अश्वावतीः इषः) घोडोंसे पूर्ण अन्न (सुरथं सुवीरं रयिं) अच्छे रथ तथा वीर संतानसे युक्त धन (आ वोळ्हं) पहुँचा दो ॥ १० ॥

[१३२] हे (शुभः- पती) शुभ कार्योंके अधिपति ! (दस्रा) शत्रुविनाशक ! (हिरण्यवर्तनी) स्वर्णमय रथवाले अश्विदेवो ! (वावृधाना) बढते हुए तुम दोनों (सोम्यं मधु पिबतं) सोमरससे मिलाये शहदका पान करो ॥ ११ ॥

भावार्थ― बडे, अन्नदान करनेवाले, शुभ कार्य करनेवाले, अन्न उत्पन्न करनेवाले, दाताकी सहायतार्थ उसके घर आनेवाले, अश्वि देव हैं । (वैसेही मनुष्य बनें) ॥ ५ ॥

अच्छे दाताकी तारक और गोरक्षक-बुद्धिको और संरक्षकशक्तिको अश्विदेव घृतादिसे अधिक समर्थ बनावें, घृतादि पदार्थोंका सेवन करके अपनी तारक-शक्ति, सुबुद्धि और गोरक्षणकी शक्ति बढावें ॥ ६ ॥

इन देवोंके घोडे पक्षियोंके समान बहुत वेगवान् हैं । अतः वे जहां जाना चाहते हैं, वहां वे शीघ्रतासे पहुंच जाते हैं ॥ ७ ॥

अश्विदेवोंके यान श्येनपक्षीके सदृश आकाशमें तीन दिन और तीन रातोंतक अविकल रूपसे संचार करते थे ॥ ८ ॥

हे देवो ! तुम दोनों हमें गायोंसे युक्त उत्तम ऐश्वर्य दो, साथही यह भी मार्ग बतलाओ कि हम किस तरह उस ऐश्वर्यका सदुपयोग करें ॥ ९ ॥

हे अश्विदेवो ! हमें तुम घोडे, गाय, रथ तथा वीर संतानोंसे युक्त धन प्रदान करो ॥ १० ॥

ये दोनों सदा शुभ कार्य करते हैं, इसीलिए ये दोनों शुभ कार्यके स्वामी हैं तथा ये दोनों ही देव शत्रुओंके विनाशक भी हैं ॥ ११ ॥

१२१ वृक्षाश्चिन्मे अभिपित्वे अराराणुः ।
गां भजन्त मेहना ऽश्वं भजन्त मेहना ॥ २१ ॥

[५]

(ऋषिः- ३९ ब्रह्मातिथिः काण्वः । देवताः- अश्विनौ, ३७ (उत्तरार्धस्य)- ३९ चैद्यः कशुः ।
छन्दः- गायत्री, ३७-३८ बृहती, ३९ अनुष्टुप् ।)

१२२ दूरादिहेव यत् सत्यरुणप्सुरशिश्वितत् । वि भानुं विश्वधातनत् ॥ १ ॥
१२३ नृवद् दस्रा मनोयुजा रथेन पृथुपाजसा । सचेथे अश्विनोषसम् ॥ २ ॥
१२४ युवाभ्यां वाजिनीवसू प्रति स्तोमा अदृक्षत । वाचं दूतो यथोहिषे ॥ ३ ॥
१२५ पुरुप्रिया ण ऊतये पुरुमन्द्रा पुरूवसू । स्तुषे कण्वासो अश्विना ॥ ४ ॥

अर्थ— [१२१] (मे अभि पित्वे) मेरे द्वारा गौरूपी धनको प्राप्त कर लिए जानेपर (वृक्षाः चित् अराराणुः) वृक्ष भी चिल्लाने लगे कि इन्होंने (मेहना गां भजन्त) प्रशंसनीय गायोंको प्राप्त कर लिया । इन्होंने (मेहना अश्वं भजन्त) प्रशंसनीय घोडोंको प्राप्त कर लिया ॥ २१ ॥

[५]

[१२२] (यत्) जब (अरुणप्सुः) लाल रंगवाली उषा (दूरात् इह इव सती) दूरसेही मानों इधरही आती हुई सी (अशिश्वितत्) क्रमशः श्वेत वर्णवाली हुई, तब वह (भानुं) सूर्यको (विश्वधा) सभी प्रकारसे (वि अतनत्) फैला चुकी थी ॥ १ ॥

[१२३] हे (दस्रा अश्विना) शत्रुविनाशक अश्विदेवो ! (नृवत्) तुम नेताके समान हो और (मनोयुजा) मनमें इच्छा करतेही आते हो और (पृथुपाजसा रथेन) बडे विशाल बल या अन्नवाले रथ से (उषसं सचेथे) उषाके साथ साथ चलने लगते हो ॥ २ ॥

[१२४] हे (वाजिनी-वसू) धनको बसानेवाले अश्विदेवो ! (युवाभ्यां प्रति) तुम्हारी ओर (स्तोमाः अदृक्षत) स्तोत्र आते हुए दीख पडते हैं; (दूतः यथा) दूत जैसा करता है, वैसेही (वाचं ओहिषे) वाणीको मैं तुम्हारेतक पहुंचाता हूँ ॥ ३ ॥

[१२५] (नः ऊतये) हमारी सुरक्षाके लिये (पुरुप्रिया) बहुतोंके प्यारे (पुरुमन्द्रा) बहुतोंको अत्यन्त हर्षित करनेवाले (पुरुवसू) अधिक धन देनेवाले अश्विदेवोंकी (कण्वासः स्तुषे) ज्ञानी मैं स्तुति करता हूं ॥ ४ ॥

भावार्थ— जब ऋषि या ज्ञानी सज्जन पुरुष उत्तम धन प्राप्त करते हैं, तब सभीको यहां तक कि वृक्ष आदि स्थावरोंको भी प्रसन्नता होती है, क्योंकि वे जानते हैं कि ज्ञानियोंको धन मिलनेपर वे उससे दूसरोंको सुखही देंगे ॥ २१ ॥

जब लाल रंगवाली उषा श्वेत वर्णकी बनने लगी, तब विशेष प्रकाश हुआ और सूर्य भी चमकने लगा ॥ १ ॥

ये अश्विदेव नेता हैं, लोगोंको सन्मार्ग पर ले जानेवाले हैं । जो मनसे इनकी भक्ति करता है, उसके पास ये आते हैं ॥ २ ॥

अश्विदेव धनको देते हैं, इसलिये उनके स्तोत्र गाये जाते हैं, और सेवकके समान उनके विषयमें वर्णन करते हैं ॥ ३ ॥

ये अश्विनीकुमार हमारी रक्षा करनेवाले, बहुतोंको प्रिय और अपने उपासकोंको अत्यन्त हर्षित करनेवाले हैं, अतः वे स्तुतिके योग्य हैं ॥ ४ ॥

१४१ तेन॑ नो वाजिनीवसू पश्वे॑ तो॒काय॒ शं गवे॑ । वह॑तं॒ पीव॑री॒रिषः॑ ॥ २० ॥
१४२ उ॒त नो॑ दि॒व्या इष॑ उ॒त सिन्धूँ॑रहर्विदा । अप॒ द्वारे॑व वर्ष॑थः ॥ २१ ॥
१४३ क॒दा वां॑ तौ॒ग्र्यो वि॑धत् स॒मु॒द्रे ज॑हि॒तो न॑रा । यद् वां॒ रथो॒ वि॒भि॒ष्पता॑त् ॥ २२ ॥
१४४ यु॒वं कण्वा॑य नास॒त्या ऽपि॑रिप्ताय ह॒र्म्ये॑ । शश्व॑दू॒तीर्द॑शस्यथः ॥ २३ ॥
१४५ ता॒भि॒रा या॑तमू॒ति॒भि॒र्नव्य॑सीभिः सुश॒स्तिभिः॑ । यद् वां॑ वृषण्वसू हु॒वे ॥ २४ ॥
१४६ यथा॑ चि॒त् कण्व॒माव॑तं प्रि॒यमे॑धमुपस्तु॒तम् । अत्रिं॑ शि॒ञ्जार॑मश्विना ॥ २५ ॥
१४७ यथो॒त कृत्व्ये॒ धने॒ ऽशुं गोष्व॒गस्त्य॑म् । यथा॒ वाजे॑षु सोभ॑रिम् ॥ २६ ॥

अर्थ— [१४१] हे (वाजिनी-वसू) यज्ञक्रियाको धन माननेवाले अश्विदेवो ! (नः पश्वे तोकाय) हमारे पशु तथा संतान और (गवे) गौके लिए (शं) सुखकारक हो इस ढंगसे (पीवरीः इषः) पुष्ट अन्नसामग्रियाँ (तेन वहतं) उस रथसे इधर ले आओ ॥ २० ॥

[१४२] हे (अहः विदा) दिनको जतलानेहारे ! (उत) और (नः) हमें (दिव्याः इषः) उच्चकोटिकी अन्नसामग्रियाँ (उत सिन्धुन्) तथा बहनेवाले जलसमूहोंको, (द्वारा इव) मार्गसे जल जैसे छोडे जाते हैं वैसे ही, (अप वर्षथः) तुम बारिश लगातार कर देते रहो ॥ २१ ॥

[१४३] हे (नरा) नेता अश्विदेवो ! (समुद्रे जहितः तौग्र्यः) समुन्दरमें फेंका हुआ तुग्रका पुत्र (वां कदा विधन्) तुम्हारी स्तुति भला कब कर चुका ? (वां रथः) तुम्हारा रथ (यत् विभिः पतात्) जब पक्षी जैसा उडते हुए आगया था ॥ २२ ॥

[१४४] हे (नासत्या) सत्यपालक अश्विदेवो ! (अपिरिप्ताय कण्वाय) दुःखी कण्वको (युवं) तुम (शश्वत्) हमेशा (हर्म्ये) ऊँचे महलमें (ऊतीः दशस्यथः) अनेक संरक्षण देते हो ॥ २३ ॥

[१४५] हे (वृषण्वसू !) धनकी वर्षा करनेहारे अश्विदेवो ! (यत् वां हुवे) चूँकि मैं तुम्हें बुला रहा हूँ इसलिए (नव्यसीभिः सुशस्तिभिः) नई भलीभाँति प्रशंसनीय बातोंसे और (ताभिः ऊतिभिः) उन संरक्षणोंसे युक्त होकर (आ यातं) इधर आओ ॥ २४ ॥

[१४६] हे (अश्विना) अश्विदेवो ! (यथा शिञ्जारं अत्रिं) जैसे शिंजारको, अत्रिको, (उपस्तुतं प्रियमेधं कण्वं चित्) उपस्तुतको, प्रियमेधको और कण्वको भी (आवतं) तुमने सुरक्षित किया ॥ २५ ॥

[१४७] (उत) और (यथा कृत्व्ये धने) जैसे संपादन करनेयोग्य धनको पानेमें (अंशुं) अंशुको (गोषु अगस्त्यं) गौवोंकी प्राप्तिमें अगस्त्यको (यथा सोभरिं वाजेषु) जैसे सोभरिको युद्धोंमें तुमने बचाया था ॥ २६ ॥

भावार्थ— ये अश्विदेव यज्ञ क्रियाको ही सच्चा धन मानते हैं। ये देव सभी प्राणियोंका कल्याण करके उन्हें सुख देनेवाले हैं और अपने रथ अन्न-सामग्री रखकर उसे सर्वत्र पहुंचाते हैं ॥ २० ॥

हे देवो ! तुम ऐसी कृपा करो कि समयपर वृष्टि होती रहे और हमें भरपूर अन्न मिलता रहे ॥ २१ ॥

तुग्रके पुत्रको उसके शत्रुओंने समुद्रमें फेंक दिया था। उसने वहींसे अश्विदेवोंकी प्रार्थना की, तब अश्विदेव पक्षियों पर सवार होकर गए और उन्होंने उसे बचाया ॥ २२ ॥

ये देव सदा सत्यवक्ताकी रक्षा करके सत्यका पालन करते हैं, इसीलिए इन्हें न-असत्या कहा जाता है। अश्विदेव असत्यकी रक्षा कभी नहीं करते। जो सत्य बोलता है, उसे ऊंचे ऊंचे महल अर्थात् धनैश्वर्य प्रदान करते हैं ॥ २३ ॥

हे अश्विदेवो ! मैं तुम्हें बुलाता हूँ, अतः तुम मेरी रक्षा करनेके लिए उत्तम शस्त्रास्त्रोंसे युक्त होकर आओ ॥ २४ ॥

इन अश्विदेवोंने अत्रि, उपस्तुत आदि अनेकों ऋषियोंकी रक्षा की ॥ २५ ॥

धनको प्राप्त करनेके कार्यमें अंशुको, गो-प्राप्तिके कार्यमें अगस्त्यको तथा युद्धमें सोभरिकी इन अश्विदेवोंने रक्षा की थी ॥ २६ ॥

१३३ अस्मभ्यं वाजिनीवसू मघवंद्भ्यश्च सप्रथः । छर्दिर्यन्तमदाभ्यम् ॥ १२ ॥
१३४ नि षु ब्रह्म जनानां याविष्टं तूयमा गतम् । मो ष्वन्याँ उपारतम् ॥ १३ ॥
१३५ अस्य पिबतमश्विना युवं मदस्य चारुणः । मध्वो रातस्य धिष्ण्या ॥ १४ ॥
१३६ अस्मे आ वहतं रयिं शतवन्तं सहस्रिणम् । पुरुक्षुं विश्वधायसम् ॥ १५ ॥
१३७ पुरुत्रा चिद्धि वां नरा विह्वयन्ते मनीषिणः । वाघद्भिरश्विना गतम् ॥ १६ ॥
१३८ जनासो वृक्तबर्हिषो हविष्मन्तो अरंकृतः । युवां हवन्ते अश्विना ॥ १७ ॥
१३९ अस्माकमद्य वामयं स्तोमो वाहिष्ठो अन्तमः । युवाभ्यां भूत्वश्विना ॥ १८ ॥
१४० यो ह वां मधुनो दृति—राहितो रथचर्षणे । ततः पिबतमश्विना ॥ १९ ॥

अर्थ— [१३३] हे (वाजिनी-वसू) सेनारूपी धनवाले ! (अस्मभ्यं) हमें (मघवद्भ्यः च) और धनिकोंको (सप्रथः) अत्यन्त विस्तीर्ण (अदाभ्यं छर्दिः यन्तं) दबानेमें असंभव याने सुदृढ घर दो ॥ १२ ॥

[१३४] (या) जो तुम दोनों (जनानां ब्रह्म) जनताके ज्ञानको (सु नि अविष्टं) भली भाँति खूब सुरक्षित रख चुके, ऐसे तुम (तूयं आगतं) बहुत जल्दी आओ (अन्यान्) दूसरोंके (उप) समीप (मो सु आरतं) कभी मत जाओ ॥ १३ ॥

[१३५] हे (धिष्ण्या अश्विना) पूजनीय अश्विदेवो ! (अस्य चारुणः) इस सुन्दर (मदस्य मध्वः) हर्षजनक, मीठे सोमको जोकि (रातस्य) दान दिया जा चुका है (पिबतं) तुम पीजाओ ॥ १४ ॥

[१३६] हे अश्विदेवो ! (पुरुक्षुं) बहुतोंको निवास देनेवाले (विश्वधायसं) सभीका धारण करनेहारे (शतवन्तं सहस्रिणं रयिं) सैकडों हजारों संख्यावाले धनको (अस्मे आ वहतम्) हमें पहुँचा दो ॥ १५ ॥

[१३७] (मनीषिणः नराः) मननशील नेता (वां) तुम्हें (पुरुत्रा चित् हि) सभी स्थानोंमें जरूर (विह्वयन्ते) विशेष रूपसे बुलाते हैं, इसलिए (वाघद्भिः आ गतं) वाहनोंसे आओ ॥ १६ ॥

[१३८] (वृक्तबर्हिषः) कुशासन फैलाये हुए (हविष्मन्तः अरंकृतः) हविवाले, अलंकृत (जनासः) लोग (युवां हवन्ते) तुम्हें बुलाते हैं ॥ १७ ॥

[१३९] (अद्य) आज हे (अश्विना) अश्विदेवो ! (अस्माकं अयं) हमारा यह (वां वाहिष्ठः) तुम्हारे प्रति अत्यन्त आतुरतासे जानेवाला (स्तोमः) स्तोत्र (युवाभ्यां अन्तमः भूतु) तुम्हारे अतीव निकट चला जाय ॥ १८ ॥

[१४०] हे (अश्विना) अश्विदेवो ! (वां रथचर्षणे) तुम्हारे रथके देखनेयोग्य भागमें (यः मधुनः दृतिः) जो मधुका बर्तन (आहितः ह) रखा हुआ है, (ततः पिबतं) उससे पान करो ॥ १९ ॥

भावार्थ— इन दोनों देवोंका धन इनकी सेना ही है। इस धनके सहारे ये देव अन्य भी धन प्राप्त करते हैं और अपने उपासकोंको भी हर तरहसे आनन्दमें रखते हैं ॥ १२ ॥

मनुष्योंके पास जो बुद्धि एवं ज्ञान है, उसे ये देव और अधिक पुष्ट करते और सुरक्षित रखते हैं। ऐसे ये देव सदा सज्जनोंके पासही जाते हैं, दुष्टोंके पास कभी नहीं जाते ॥ १३ ॥

हे देवो ! तुम्हारे लिए ये आनन्ददायक और मधुर सोमरस अर्पित किए गए हैं, उन्हें तुम पीओ ॥ १४ ॥

हे देवो ! हमें ऐसा धन दो जो बहुतोंको जीवन देनेवाला तथा उनके जीवनको धारण करनेवाला हो ॥ १५ ॥

मननशील ज्ञानी जन इन अश्विदेवोंको सभी स्थानोंमें पुकारते हैं और उनसे सहायताकी प्रार्थना करते हैं ॥ १६ ॥

सभी लोग हवि लेकर और आसन तैयार करके इन दोनों देवोंको आदरसे बुलाते हैं ॥ १७ ॥

हे अश्विदेवो ! हमारा यह स्तोत्र तुम्हारी ओर आतुर होकर जाए और तुम्हें प्राप्त कर ले ॥ १८ ॥

हे देवो ! तुम दोनों उत्तम बर्तनमें रखे हुए सोमरसका पान करो ॥ १९ ॥

१४८ एतावद् वां वृषण्वसू अतो वा भूयो अश्विना । गृणन्तः सुम्नमीमहे ॥ २७ ॥
१४९ रथं हिरण्यवन्धुरं हिरण्याभीशुमश्विना । आ हि स्थाथो दिविस्पृशम् ॥ २८ ॥
१५० हिरण्ययीं वां रभिरीषा अक्षो हिरण्ययः । उभा चक्रा हिरण्यया ॥ २९ ॥
१५१ तेन नो वाजिनीवसू परावतश्चिदा गतम् । उपेमां सुष्टुतिं मम ॥ ३० ॥
१५२ आ वहेथे पराकात् पूर्वीरश्नन्तावश्विना । इषो दासीरमर्त्या ॥ ३१ ॥
१५३ आ नो द्युम्नैरा श्रवोभिरा राया यातमश्विना । पुरुश्चन्द्रा नासत्या ॥ ३२ ॥
१५४ एह वां प्रुषितप्सवो वयो वहन्तु पर्णिनः । अच्छा स्वध्वरं जनम् ॥ ३३ ॥

अर्थ— [१४८] वैसेही हे (वृषण्वसू) धनकी वर्षा करनेहारे (अश्विना) अश्विदेवो ! (वां गृणन्तः) तुम्हारी सराहना करते हुए (एतावत्) इतना (अतः भूयः वा) या इससे भी अधिक (सुम्नं ईमहे) सुखकी याचना हम करते हैं ॥ २७ ॥

[१४९] हे (अश्विना) अश्विदेवो ! (हिरण्यवन्धुरं) सुवर्णमय लट्ठवाले (हिरण्य-अभीशुं) सुनहरे चाबुक या लगामवाले (दिवि-स्पृशं) द्युलोकको छूनेवाले (रथं आ स्थाथः हि) रथपर तुम अवश्य चढ जाते हो ॥ २८ ॥

[१५०] (वां रभिः ईषा हिरण्ययी) तुम्हारी आलंबन देनेवाली लकडी सुनहली है, (अक्षः हिरण्ययः) पहियेकी धुरी सुवर्णमय है (उभा चक्रा हिरण्यया) दोनों पहिये भी सुवर्णके बने हुए हैं ॥ २९ ॥

[१५१] हे (वाजिनी-वसू) बलको धन समझनेवाले ! (तेन) उस रथसे (इमां मम सुष्टुतिं) इस मेरी अच्छी स्तुतिको सुननेके लिये (नः) हमारे पास (परावतः चित्) दूर देशसे भी (उप आ गतं) समीप आओ ॥ ३० ॥

[१५२] हे (अमर्त्या) अ-मरणशील अश्विदेवो ! (पूर्वीः दासीः इषः) बहुतसी दासोंकी अन्नसामग्रियाँ (अश्नन्तौ) प्राप्त करते हुए (पराकात् आ वहेथे) सुदूर देशसे इधर आ पहुँचते हो ॥ ३१ ॥

[१५३] हे (पुरु-चन्द्रा अश्विना) बहुतोंको आनन्द देनेवाले एवं सत्यपूर्ण अश्विदेवो ! (नः) हमारे समीप (द्युम्नैः श्रवोभिः राया) धनों, अन्नों तथा वैभवसे युक्त होकर (आ यातं) आओ ॥ ३२ ॥

[१५४] (इह) इधर (पर्णिनः) पंखवाले (प्रुषितप्सवः वयः) स्निग्धरूपवाले एवं गतिशील पक्षी जैसे घोडे (स्वध्वरं जनं अच्छ) अच्छे अहिंसक कार्य करनेवाले लोगोंके प्रति (वां आ वहन्तु) तुम्हें ले आयें ॥ ३३ ॥

भावार्थ— हे देवो ! तुम दोनों धनकी रक्षा करनेवाले हो, अतः हम सब तुम्हारी स्तुति करते हुए यही प्रार्थना करते हैं कि तुम हमें इतना धन दो कि हम सदा सुखी रहें ॥ २७ ॥

इन अश्विनौ देवोंके रथोंमें सोनेके दण्ड लगे होते हैं, इनकी चाबुक भी सोनेकी ही होती है । ऐसे रथों पर चढकर ये सर्वत्र संचार करते हैं ॥ २८ ॥

इन देवोंके रथोंकी लकडी सुनहली है, उस रथके पहिए भी सुनहरे हैं और धुरा भी सोनेकी ही है । इसप्रकार इनका पूरा रथ ही सुनहरा है ॥ २९ ॥

हे अश्विनी देवो ! हमारी इन अच्छी स्तुतियोंको सुनकर तुम दूर देशसे भी हमारे पास आओ ॥ ३० ॥

हे देवो ! दासोंके पास जितनी भी अन्न सामग्री हो, वह उनसे छीनकर हम आर्योंको दो । कोई भी मनुष्य दास न बने, क्योंकि सभी देव दासोंके शत्रु हैं ॥ ३१ ॥

हे अश्वि देवो ! हमारे पास यश देनेवाले धनोंसे युक्त होकर तुम आओ । धन पाकर मनुष्यकी कीर्ति फैले, ऐसे काम वह करे । धनमदमें कुकर्म न करे ॥ ३२ ॥

पंखवाले गतिशाली पक्षी तुम्हें मनुष्योंके पास ले आएं कि जो अहिंसक हों । हिंसा न करनेवालोंसे ये देव स्नेह करते हैं ॥ ३३ ॥

वैदिक धर्म

अप्रैल १९७५

६० पैसे



आर्य समाजके संस्थापक
महर्षि स्वामी दयानन्दजी सरस्वती

मुद्रक और प्रकाशक– व. श्री. सातवलेकर, भारत मुद्रणालय, पोस्ट– 'स्वाध्याय मण्डल, पारडी' [जि. बलसार]



वैदिक धर्म

वर्ष ५५ : अंक ४ : चैत्र : २०३०

स्वामी— स्वाध्याय-मंडल, पारडी [जि. बलसाड]

संस्थापक एवं आद्यसंपादक
श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

संपादक
वसंत श्रीपाद सातवलेकर

विषयानुक्रमणिका

卐

' वैदिक धर्म ' वार्षिक मूल्य म. आ. से ६) रु.

वी. पी. से रु. ७.५० विदेशके लिए रु. ८.००, डाक व्यय अलग रहेगा।

इस अंकमें प्रसिद्ध किये गये लेखकोंके लेखोंमेंके मतों और विचारोंसे संपादक सहमत है ऐसा नहीं है। उन लेखोंमेंके विचारोंके लिये केवल लेखकही व्यक्तिशः उत्तरदायी हैं।

मंत्री— स्वाध्याय-मण्डल, पो.- ' स्वाध्याय-मण्डल (पारडी) ' पारडी [जि. बलसाड]

वैदिक धर्म

ऋणरहित होना

अपमित्यमप्रतीत्तं यदस्मि
यमस्य येन बलिना चरामि ।
इदं तदग्ने अनृणो भवामि
त्वं पाशान्विचृतं वेत्थ सर्वान् ॥

(अथर्व ६-११७-१)



(यत् अपमित्य अप्रतीत्तं अस्मि) जिस वापस करने योग्य पदार्थको वापस न करनेके कारण मैं ऋणी हो गया हू और (यमस्य येन बलिना चरामि) नियन्ताके वशमें जिस ऋणके कारण पहुंचा हू, हे अग्ने ! (इदं तत् अनृण-भवामि) अब मैं उस ऋणको चुकाकर ऋणरहित हो जाऊ, (त्वं सर्वान् विचृत पाशान् वेत्थ) तू सब ऋणके खुले हुए पाशोंको जानता है ।

जो कर्जा लिया होता है उसे समयपर वापस करना चाहिये । यदि वापस न किया तो ऋण लेनेवाला दोषी होता है । इस दोषसे मुक्त होनेके लिये शीघ्र ऋणमुक्त होनेका यत्न करना चाहिये । सब अपने पाश तोडकर पहिले ऋणमुक्त होना चाहिये ।

आमूलाग्र परिवर्तित हो जाते हैं। अज्ञान दशामें ये सब विपरीत स्वरूपके होते हैं। शास्त्रकार हमें तत्त्व दृष्टि प्रदान करके यथार्थ ज्ञानके द्वारा इन्हें आमूलाग्र बदल देते हैं। वेदान्तदर्शन मानवकी कल्याण कामनासे प्रेरित होकर यही काम करता है। वह देहबुद्धिके स्थानपर आत्मबुद्धि, जीवभावके स्थानपर शिवभाव और जगत् बुद्धिके स्थानपर परमात्मबुद्धि करना सिखाता है। वह कंठरवसे घोषित करता है—

हरिरेव जगत् जगदेव हरिः
हरितो जगतो नहि भिन्न तनुः।
इति यस्य मतिः परमार्थगतिः
स नरो भवसागरमुत्तरति॥

अर्थ- हरि ही जगत् है, जगत ही हरि है। हरि और जगत्में किंचिन्मात्र भी भेद नहीं है। जिसकी ऐसी बुद्धि है उसीकी परमार्थमें गति है। वह मनुष्य संसार सागरको तर जाता है।

किन्तु जगत् बुद्धिके स्थानपर परमात्मबुद्धि उत्पन्न होना कोई साधारण काम नहीं है। इसके लिये हमें साधना करनी पड़ती है। अब हम इसीका विचार प्रस्तुत करते हैं। बाह्य जगत्के साथ हमारा संपर्क हमारी कर्मेंद्रियों तथा ज्ञानेंद्रियोंके द्वारा आता है। अध्यात्ममार्गके साधक इस रहस्यसे परिचित हैं कि मनको जीतनेके लिये हमें अपनी इन्द्रियोंको वशमें करना पड़ता है। हमारी इंद्रियाँ स्वभावतः बलवान और प्रमाथी होती हैं। अतएव वे बलपूर्वक मनको खींच ले जाती हैं। श्री भगवान् स्वयं गीतामें कहते हैं– 'इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥' जो अपनी इन्द्रियोंको वशमें कर लेता है उसीकी बुद्धि स्थिर होती है– 'वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥' इसलिये श्री भगवान् अर्जुनको पहले इंद्रिय जय करनेका उपदेश देते हैं– 'तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।' किन्तु इंद्रियोंको जीतना भी कोई साधारण काम नहीं है क्योंकि वे स्वभावतःही बहिर्मुख होती हैं। श्रुति उनके विषयमें कहती है– 'पराञ्चिखानि व्यतृणत् स्वयंभू।' इंद्रियोंकी स्वाभाविक प्रवृत्ति बाह्य जगत्के शब्दस्पर्शादि विषयोंकी ओर होती है। हमारी पाँच ज्ञानेंद्रियोंमें भी हमारे नेत्र प्रधान हैं। इन्हींके कारण हमारा बाह्य जगत्के साथ मुख्य संपर्क होता है और इस नेत्ररूप स्थूल दृष्टिके कारण ईश-सृष्टिके अंतर्गत हमारे बंधनके लिये कारणीभूत हमारी आसक्ति ममतारूप जीवसृष्टि बनती चली जाती है। हमारी जीवनीय शक्तिका प्रवाह नेत्रोंद्वारा वह बहकर बंधरूप माया-जाल बनाता चला जाता है। बिलकुल बेमालूम रूपसे यह प्रक्रिया चलती रहती है। प्रारंभमें हमें इसका भान भी नहीं होता। किन्तु जब हम अपनीही नेत्ररूप दृष्टि द्वारा बनाई हुई सृष्टिमें या मायाजालमें बुरी तरह उलझ जाते हैं और उलझकर दुखी होते हैं, तभी हमें इसका पता चलता है और फिर हम इससे छूटनेका उपाय ढूंढते हैं। अध्यात्म मार्गके अनुभवी श्री सद्गुरुनाथ अपनी कृपा द्वारा हमें उससे मुक्त होनेका उपाय बताते हैं। हमारे पूज्य गुरुदेव (श्री लक्ष्मणसिंहजी) ने हमारी साधनाकी प्रारंभिक अवस्थामें हमारी कल्याणकामनासे प्रेरित होकर हमें दृष्टि सृष्टिके रहस्यसे परिचित कराया था जिससे हम लोग अत्यंत लाभान्वित हुए थे और अभी भी हो रहे हैं। हमारे समानधर्मी लोगोंके उपयोगके लिये पूज्य गुरुदेवके शब्दोंमें ही हम यह रहस्य प्रकट करते हैं क्योंकि श्री सद्गुरुके शब्दोंमें शक्तिपातकी सामर्थ्य होती है—

(१) 'दृष्टि और दृष्टिके कारण उत्पन्न होनेवाली जगत् विषयक कल्पना तथा आसक्ति इत्यादिको नष्ट करनेका उपाय सुगम तथा सर्वजन सुलभ है। यदि हम केवल हमारी बाह्य दृष्टि कोही सहायक बना लें तो इसके मूलके मूलमें पहुंचनेका पूर्ण विश्वास अनुभव द्वारा रखते हैं। इसी दृष्टिके आधीन दर्शन है। बाह्य जगत्में यदि यह दृष्टि न जाने पाय और नेत्रके मध्यमेंही क्षणमात्र अचलरूपसे ठहर जाय; और यदि वह बाहर चली भी जाय तो भी यदि शक्तिका योग उसके साथ न होने पाय और इस प्रकार हम भरी हुई दृष्टिसे न देखकर यंत्रवत् देखा करें तो बाह्य जगत् और उसे देखकर जो विकार यानी जीवकी आसक्तिसे पूर्ण कल्पना उत्पन्न होकर मानसिक जाल बन जाता है इन दोनोंसे हम मुक्त हो जाते हैं। इस जरासी दृष्टिके वशमें आ जानेसे जीव फंदेसे मुक्त हो जाता है। मनको रोकनेसे मन नहीं रुकता किन्तु मनकी जननी दृष्टिको रोकनेसेही मन रुक सकता है। यही युक्ती मैंने की और मैं गायब हो गया (बाह्य जगत्के फंदेसे मुक्त होकर अंतर्मुख हो गया।)'

(२) 'आपकी आँखे चाहे खुली हों या बंद, दृष्टिमें शक्ति न जाने दिजिये। इससे नया बंधनकारक संस्कार

लेखक : श्री श्रीराम माधव चिंगले, एम्. ए.,

अजातवाद, सृष्टिदृष्टिवाद और दृष्टिसृष्टिवाद

अद्वैत वेदान्तके एक श्रेष्ठ आचार्य श्री विद्यारण्य महामुनिने अपने पंचदशी नामक ग्रंथमें जीवसृष्टि तथा ईशसृष्टिमें भेद किया है। उनके अनुसार स्वयं ईशसृष्टि न तो हमारे बंधनका कारण होती है और न हमारे सुख-दुःखका। इस विशाल ईशसृष्टिमें हम अज्ञानमूलक ममता तथा आसक्तिके कारण अपनी अलगसी छोटीसी जीवसृष्टि बना लेते हैं। वही हमारे सुखदुख तथा बंधका कारण होती है। दुनियामें प्रतिदिन अनेक लोग जनमते मरते रहते हैं। किन्तु इस कारण हमें कुछ भी सुख दुख नहीं होता क्योंकि ये हमारी स्वयंकी सृष्टिके भाग नहीं हैं। किसीके कीमती मकानको आग लग जानेसे हमें उतना भी दुख नहीं होता जितना हमारी स्वयंकी सुई जैसी छोटीसी वस्तु खो जानेके कारण होता है। हमारे दैनदिन जीवनमें भी दृष्टिसृष्टिका सिद्धान्त बेमालूम रूपसे काम करता रहता है। मान लीजिये हमारा निवास किसी एक जगह है और हमारे मकान जायदाद दूसरी जगह हैं। यदि वे आगमें या बाढमें नष्ट भी हो जायें और यदि हमें इस बातका ज्ञान न हो तो इस अज्ञात अपरिमित हानिके कारण हमारे आमोद प्रमोदमें कोई अंतर नहीं पडने पाता। किन्तु इस बातका पता चलते ही हमारे आनंद मंगलपर पानी फिर जाता है और हमारे होशहवास उड जाते हैं। यह अंतर ज्ञान या दृष्टिके कारण ही होता है। श्री अरविन्दके जीवनकी एक दुःखद घटनासे इस तथ्य पर प्रकाश पडता है। श्री अरविन्द इंग्लैंडमें रहकर अपना अध्ययन पूरा करके भारतमें वापिस आनेको निकले। वे जिस जहाजसे आनेवाले थे उसकी पूर्व सूचना संबंधित लोगोंको दे दी गई। दुर्भाग्यसे वह जहाज डूब गया। किन्तु सौभाग्यसे श्री अरविन्द किसी कारण वश उस जहाजसे न आकर उसके पीछेवाले जहाजसे आनेको निकले। किन्तु दुर्भाग्यसे उनके पिताजीको इस बातका पता न चल पाया वे तो यही समझते रहे कि वह पहला जहाज उनके प्रिय पुत्रको लेकर डूबा है। इस कारण उत्पन्न होनेवाले शोकावेगको वे सहन न कर सके और श्री अरविन्दकी सुरक्षाकी खबर मिलनेसे पहलेही ठीक राजा दशरथकी तरह हा अरविन्द! हा अरविन्द! कहकर प्राणत्याग किया। यहाँ ईशसृष्टिमें श्री अरविन्द विद्यमान थे। किन्तु उनके पूज्य पिताजीकी दृष्टिरूप जीवसृष्टिमें नहीं थे। मान लीजिये इससे ठीक विपरीत स्थिति होती, तो उसका परिणाम भी इससे ठीक विपरीत होता। इससे सिद्ध होता है कि दृष्टि ही सृष्टि है।

वस्तु एकही होती है। किन्तु दृष्टिभेदसे वह विभिन्न लोगोंको विभिन्न रूपसे दिखाई देती है। एकही स्त्रीको उसके मातापिता पुत्रीके रूपमें वात्सल्यभावसे देखते हैं; भाई उसे बहनके रूपमें पवित्र प्रेमकी दृष्टिसे देखता है; उसका पुत्र उसे माताके रूपमें देखता है; उसका पति उसे पत्नीके रूपमें देखता है; सासससुर उसे पुत्रवधूके रूपमें देखते हैं; उसी स्त्रीको कामीपुरुष विषयभोगके साधनके रूपमें देखता है; किन्तु उसेही वीतराग सन्यासी उदासीन भावसे देखता है। यहाँ भी दृष्टिभेदके कारणही सृष्टिभेद होता है। इस दृष्टिके बदलतेही सृष्टि भी बदल जाती है। मान लीजिये उक्त कामी पुरुषको मालूम हो जाय कि जिस स्त्रीको वह भोगवस्तु समझ बैठा था वह उसकी सगी बहन निकली तो अपनी इस गलतीके कारण वह लज्जासे चूर हो जाता है। यहाँ दृष्टिके बदलतेही प्रत्यक्ष व्यवहारमें और तन्मूलक भावनाओंमें कितना परिवर्तन हो जाता है। ध्यान रहे हमारी सारी इच्छाएँ, भावनाएँ, कृतियां तथा हमारे सारे मूल्य ज्ञानाधीनही होते हैं। ज्ञानके परिवर्तित होतेही ये सब

आर्यसमाजका वेदाङ्ग साहित्य-शिक्षा

लेखक : डा. भवानीलाल भारतीय, एम्.ए., पी एच.डी.

वेदमंत्रोंके यथा योग्य उच्चारणकी शिक्षा देनेवाले शास्त्रको 'शिक्षा' कहा जाता है। स्वर, वर्ण आदिका यथार्थज्ञान शिक्षाशास्त्रसे ही होता है। अतः वेदके ६ अंगोंमें शिक्षाको प्रथम स्थान दिया गया है। पुराकालमें अनेक ऋषियोंने पृथक् पृथक् शिक्षा ग्रन्थ लिखे थे। पाणिनि, वसिष्ठ, पराशर, नारद, याज्ञवल्क्य, कात्यायन आदि ऋषियोंद्वारा रचित अथवा उनके नामसे प्रसिद्ध शिक्षा ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। स्वामी दयानन्दने पाणिनिके नामसे प्रसिद्ध उस श्लोकात्मक 'पाणिनीय शिक्षा' को प्रामाणिक ग्रन्थ स्वीकार नहीं किया जिसका प्रारम्भ 'अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामि पाणिनीयं मतं यथा' आदि श्लोकों द्वारा होता है। इसमें स्वामीजीका तर्क नितान्त स्पष्ट है कि 'मैं जैसा पाणिनि मुनिको शिक्षाका मत है वैसी शिक्षा करूंगा इसमें स्पष्ट विदित होता है कि यह ग्रन्थ पाणिनि मुनिका बनाया नहीं, किन्तु किसी दूसरेने बनाया है।" [1] स्वामीजीने पाणिनिकी मूल सूत्रात्मिका शिक्षाको बडे परिश्रमपूर्वक सं. १९३६ वि में ढूंढ निकाला तथा स्वरचित वेदाङ्ग प्रकाशके प्रथम भागमें स्वरचित व्याख्या सहित प्रकाशित किया। इस सम्बन्धमें इन्होंने वर्णोच्चारण शिक्षाकी भूमिकामें लिखा - बडे परिश्रमसे पाणिनि मुनिकृत शिक्षाका पुस्तक प्राप्त कर इन सूत्रोंकी सुगम भाषामें व्याख्या करके वर्णोच्चारण विद्याकी शुद्ध प्रसिद्धि करता हूँ कि मनुष्योंको थोडे ही परिश्रमसे वर्णोच्चारण विद्याकी प्राप्ति शीघ्र हो जावे।"

स्वामीजीने पाणिनीय सूत्रात्मक शिक्षाकी यह व्याख्या माघ शुक्ला चतुर्थी स १९३६ वि. शनिवार के दिन लिख कर समाप्त की थी जैसा कि ग्रन्थकी पुष्पिकाके निम्न श्लोकसे विदित होता है—

ऋतुरामाङ्कचन्द्रेऽब्दे माघमासे सितेदले।
चतुर्थ्यां शनिवारेऽयं ग्रन्थः पूर्ति समागतः॥

यद्यपि स्वामीजीने पाणिनिकी जिस सूत्रात्मक शिक्षाका अन्वेषण कर उसे प्रकाशित किया उसके कारण विद्वत् समाजमें उनका यह शोधकार्य समाहत होना चाहिये था, परंतु हुआ इससे ठीक विपरीत। १९३८ ई. में कलकत्ता विश्वविद्यालयके श्री मनोमोहन घोषने पाणिनीय शिक्षा (श्लोकात्मक) का सम्पादन करते हुये स्वामीजी द्वारा अनूदित और सम्पादित सूत्रात्मक पाणिनीय शिक्षाकी प्रामाणिकताके विषयमें शंका उपस्थित कर यह आशंका व्यक्त की थी कि सम्भवतः ये सूत्र महाभाष्य तथा चन्द्रगोमिन्‌के वर्ण सूत्रोंसे संगृहीत किये गये हैं, क्योंकि इन तथाकथित पाणिनीय शिक्षा सूत्रोंका कोई प्राचीन या अर्वाचीन हस्तलेख उपलब्ध नहीं हुआ और न किसी अन्य ग्रन्थमें ही इनका सङ्केत मिलता है। [2] डा. सुधीर कुमार गुप्त (अध्यक्ष संस्कृत विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय) ने अपने एक शोध निबन्ध Authorship of the phonetic Sutras edited by Dayanand [3] में श्री घोषके उपर्युक्त मन्तव्यका खण्डन करते हुये स्वामीजी द्वारा सम्पादित पाणिनीय शिक्षा सूत्रोंकी प्रामाणिकता सिद्ध की है। पं युधिष्ठिरजी मीमांसकने भी 'मूल पाणिनीय शिक्षा' शीर्षक एक लेख 'साहित्य' (पटनासे प्रकाशित पत्रिका अंक १ सन १९५९ ई.) में लिखकर घोष महाशयके मतकी आलोचना करते हुये उनके हेत्वाभासोंकी समीक्षा की है।

अन्य शिक्षा ग्रन्थोंका प्रकाशन—

१ माण्डूकी शिक्षा— अथर्ववेदीया माण्डूकी शिक्षाका सम्पादन पं भगवद्दत्तने किया।

२ नारदीय शिक्षा— पं तुलसीराम स्वामीने गान स्वर विषयक यह सामवेदका शिक्षा ग्रन्थ फाल्गुन सं १९६३ वि. में स्वामी प्रेस मेरठसे सम्पादित कर प्रकाशित किया।

३ शिक्षा सूत्राणि— (आपिशलि पाणिनि चन्द्रगोमि विरचितानि) प. युधिष्ठिर मीमांसकने आचार्य पाणिनिके पूर्ववर्ती आचार्य आपिशलि तथा परवर्ती आचार्य चन्द्रगोमीके शिक्षा सूत्रोंको पाणिनीय शिक्षा (वृद्ध पाठ) के साथ सम्पादित कर सं २००५ वि में प्रकाशित किया। इसका द्वितीय संस्करण वि. स. २०२४ में भारतीय प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान अजमेरसे प्रकाशित हुआ।

४ याज्ञवल्क्य शिक्षा— याज्ञवल्क्यके विचारोंको श्लोकात्मक रूपमें प्रस्तुत करनेवाला यह शिक्षा ग्रन्थ स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजकके हिन्दी भाष्य सहित श्री प्रतापसिंह ट्रस्ट करनाल द्वारा २०२४ वि. में प्रकाशित हुआ। इस ग्रन्थके समस्त श्लोकोंकी संख्या ११६ है। यह शिक्षा यजुर्वेदीया है तथा इसमें मंत्रोंके स्वरोंको हस्त चालनसे प्रकाशित करना तथा मन्त्रोच्चारण विषयक अन्य उपयोगी विषय वर्णित हैं।

---

१ वर्णोच्चारण शिक्षा (वेदाङ्ग प्रकाश भाग १) भूमिका

२ Paniniya Siksha, Iatroduction Section 31.

३ अ. भा. प्राच्य विद्या परिषद् के १३ वें अधिवेशन (१९५१ ई. स.) में प्रस्तुत।

उत्पन्न न होगा और पिछले संस्कारोंकी शक्ति धीरे धीरे क्षीण होती चली जायगी। इस प्रकार शक्तिका अपव्यय रुककर उसका संचय होने लग जायगा और आपकी यह संचित की हुई शक्ति आपकी सेवामें निरंतर हाजिरही मिलेगी। आप शक्तिसंपन्न होने लग जाएंगे। बाह्य दृष्टिके संयमके फलःस्वरूप आपकी यह बाह्य दृष्टिही अंतर्दृष्टिमें परिवर्तित हो जाती है और आपका ज्ञानरवि प्रकट हो जाता है– आपका ज्ञानरूप तृतीय नेत्र खुल जाता है। विकासकी पूर्णतामें पूर्ण ज्ञान प्राप्त होतेही यह ज्ञान रवि प्रकट हो जाता है। स्थानभ्रष्ट होनेके कारण हम इस ज्ञान रविको न पहचानकर हमारी स्वाभाविक दृष्टिमें फंस जाते हैं और जो कुछ हमारी अज्ञानपूर्ण बाह्य दृष्टिमें दिखाई देता है उसके आधार पर अज्ञानयुक्त कल्पना करके हमारे सहज स्वाभाविक ज्ञानरविको दृष्टिसे ओझल कर लेते हैं। जीवकी कल्पनाके अतिरिक्त कुछ भी वस्तु मिटानेकी नहीं है। कल्पना दृष्टिदोषसे होती है। बस आप अपनी दृष्टि बाह्य जगत्में चिपकने न दें। आपका ज्ञानरवि आपकी संपत्ति है। किसी भी वस्तुको यदि पूर्ण रूपसे देखना हो तो हमें उस वस्तुके मूलको देखना चाहिये। अन्यथा संबंधित वस्तुका ज्ञान अधूरा और सदोष होता है। यदि आप अपने आपको देखना चाहते हैं तो आप अपने अभीके माने अज्ञानी अहंभावसे युक्त संसारासक्त स्वयंको न देखकर अपने मूल विशुद्ध शरीरको देखिये।'

(३) बाह्य जगत्के विषय यंत्रवत् दीखते भी रहें पर उनमें दृष्टिका स्पर्श न हो; और दृष्टिका स्पर्श भी हो तो भी इस स्पर्शमें दृष्टिका योग न हो, यानी वस्तुओंको देखते हुए भी हम उनमें आसक्त न हों। *अन्यथा* बाह्य जगत्के विषयोंको लेकर तत्काल मानसिक जाल बनना शुरू हो जायगा और हम अनजाने रूपसे इस स्वकृत जालमें बुरी तरहसे उलझ जाएंगे। मानसिक जगत् माने बाह्य वस्तुओंको लेकर हमारे मनमें उत्पन्न हुई कल्पनाओंको यदि नष्ट करना है तो इन कल्पनाओंकी जननी दृष्टिको वशमें करना पडता है। कल्पनाओंके जालमें फँसा हुआ जीव यदि इस बातके रहस्यसे परिचित हो जाय कि वह अपनी दृष्टिके लगावके कारणही फंदेमें फँसा हुआ है तो इस जालसे छूटनेकी चाबी उसके हाथमें आ जाती है। उसे चाहिये कि वह अपनी दृष्टि इसके उगम स्थानमेंही रखे, उसे आगे न बढने दे। दृष्टिकी उत्पत्तिका केंद्र जो आंखका मध्यबिंदु है, उसीमें दृष्टिको लय करे। इसका इष्ट फल यह होगा कि बहती हुई शक्ति जो दृष्टि द्वारा बाहर जाकर किसी वस्तु पर टकराती है और टकराकर मानसिक जगत् बना लेती है अब बहनेसे रुक जाती है और आंखके मध्यमें एकत्रित हो जाती है; और एकत्रित होकर हमारे अगले विकासमें सहायक हो जाती है क्योंकि अब वह अंतर्मुख हो जाती है। वही शक्ति जो हमारी विषयाभिमुख दशामें हमारे विकासमें बाधक हो रही थी, अब हमारे विकासमें साधक हो जाती है।'

(४) 'प्यारे श्रीराम! कल्पनाकी नास्ति करनेके लिये कल्पनाकी जननी दृष्टिको हमें जरा रोकना पडता है। इस प्रकार इसे रोकतेही हमारे मस्तिष्कमें दृष्टिका शक्तिके साथ योग हो जाता है– कल्पनाकी जड हाथमें आ जाती है।'

(५) 'जीवकी कल्पना झूठी होती है। शिवकी कल्पना पूर्ण शक्ति लिये हुए रहती है और पूर्ण कृतिरूपमें सहजही परिणत होती रहती है।'

(६) 'कल्पनाके आधारपर जो जीव होते हैं उनको शक्ति नचाती है। इसके विपरीत सत्यके आधारपर जो जीव होते हैं वे शक्तिको अपने इशारे पर नचाते हैं। कल्पनाको अलग कीजिये। जीवसे शिव बनिये। इसीमें मानव जीवनका साफल्य है।'

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं प्लवं
सुकल्पं गुरुकर्णधारम्।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं पुमान्
भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा॥

श्रीमद्भागवत ११।२०।१७

अर्थः– यह नरदेह समस्त शुभ फलोंकी प्राप्तिका मूल है और अत्यंत दुर्लभ होनेपर भी अनायास सुलभ हो गया है। इस संसारसागरसे पार होनेके लिये यह एक सुदृढ नौका है। शरणग्रहण मात्रसेही श्रीसद्गुरुनाथ इसके केवट बनकर पतवारका संचालन करने लगते हैं और स्मरणमात्रसेही मैं अनुकूल वायुके रूपमें इसे लक्ष्यकी ओर बढाने लगता हूँ। इतनी सुविधा होनेपर भी जो इस शरीरके द्वारा संसार-सागरसे पार नहीं होता वह तो अपने हाथों अपनी आत्माका हनन करता है।

॥ इति शुभम् ॥

सदा शुद्ध होता है- अपनी परिभाषासे ही- क्योंकि यह सत्ताका वह भाग है जो भगवान्के संपर्कमें रहता है और सत्ताका सत्य अभिव्यक्त करता है। किंतु वह सत्ताके अंधकारमें एक चिनगारी जैसा हो सकता है, अथवा वह पूर्णतः रूपायित और स्वतंत्र ज्योतिर्मय सत्ता हो सकता है। इन दोनोंके बीचमें ढेर-सारे क्रम हैं।

प्र० सामान्यतः यह आवरणसे ढका रहता है ?

उ० वह बाह्य चेतना है जो इसके संपर्कमें नहीं रहती, क्योंकि वह भीतरकी ओर मुड़ी रहनेकी जगह, बाहरकी ओर मुड़ी रहती है- क्योंकि वह भीतरकी ओर सत्ताकी गहराईमें दृष्टि डालनेकी जगह, सारे बाहरी कोलाहल और गतियोंमें – जो कुछ वह देखती जो कुछ वह करती, जो कुछ वह कहती है– उसमें वास करती है।

प्र० क्या अंतरात्मामें कोई शक्ति होती है ?

उ० शक्ति ? सामान्यतः अंतरात्मा ही सत्ताका मार्ग दर्शन करता है। लोगोंको इसका कोई पता नहीं होता, क्योंकि लोग इसके प्रति सचेतन नहीं होते, किंतु सामान्यतः सत्ताका पथ प्रदर्शन यही करता है। यदि कोई खूब सतर्क रहे तो वह इसका पता पाता है। किंतु अधिकाश लोगोंको इसकी विद्यमानताका संदेहतक नहीं होता। उदाहरणार्थ, यदि उन्होंने अपने अज्ञानमें, कोई काम करनेका निश्चय किया है, और उसे कर सकने की जगह, सारी परिस्थितियाँ कुछ इस प्रकार व्यवस्थित हो जाती है कि उन्हें कुछ दूसरा ही काम करना पड़ता है, तो वे चिल्लाना शुरू करते है, तूफान उठा देते हैं, भाग्यके विरुद्ध क्रुद्ध हो उठते है, कहने लगते हैं (यह उनके विश्वासों उनकी मान्यताओंपर निर्भर करता है), कि प्रकृति बड़ी दुष्ट है अथवा उनका भाग्य खोटा है, अथवा भगवान् अन्यायी है, अथवा... जो कुछ भी उनके मनमें आता है (यह उनकी मान्यताओंपर निर्भर करता है), वे कह डालते हैं। जब कि अधिकांशतः ये परिस्थितियाँ ठीक वही होती है, जो उनकी आंतरिक प्रगतिके लिये सबसे अधिक अनुकूल हैं। और स्वभावतः, यदि तुम अंतरात्मासे यह मांग करो कि वह तुम्हें सुखद जीवन व्यतीत करने, पैसे कमाने, ऐसी संतान पानेमें, जो परिवारके गौरव हों, इत्यादिमें तुम्हारी सहायता करे, तो अंतरात्मा तुम्हारी सहायता नहीं करेगा ! किंतु वह वे सारी परिस्थितियां सृष्ट करेगा, जिसमें तुम्हारे भीतर कोई वस्तु जगे और तुम्हारी चेतनाके भीतर भगवान्के साथ युक्त होनेका प्रयोजन जन्म ले। कभी कभी तुम बहुतसी योजनाएं बनाते हो, और यदि वे सफल हो जातीं तो तुम अपने बाहरी, अज्ञानमें, अपनी मूर्खता पूर्ण क्षुद्र महत्वाकांक्षामें तथा अपने लक्ष्यहीन कार्य कलापमें अधिकाधिक गड़ते चले जाते। जब कि यदि तुम्हें एक कड़ा धक्का लगता है और जिस वस्तुका तुम्हें लोभ था वह तुम्हें नहीं दिया जाता, तुमने जो योजना बनाई थी वह विफल हो जाती है, और सब कुछ तुम्हारे विपरीत हो उठता है, तब कभी कभी वह विपरीतता तुम्हारे लिये किसी अधिक सत्य तथा अधिक गंभीर वस्तुका द्वार खोल देती है। और जब तुम जरा जाग्रत हो जाते हो और पीछेकी ओर देखते हो, तब तुममें यदि जरा भी सच्चाई है, तुम बोल उठते हो 'अहो, मैंने भूल समझा था- यह तो प्रकृति या भागवत कृपा या मेरा अंतरात्मा था जिसने यह किया,' यह व्यवस्था अंतरात्माने की थी।

प्र० भगवान्के साथ तादात्म्य स्थापित करनेकी चाह क्या अंतरात्माका संकल्प है ?

उ० हां, अवश्य। यह अंतरात्माका संकल्प है। उसके अस्तित्वका हेतु भी यही है। इसीलिये वह वहा है। उदाहरणस्वरूप, मनके भीतर कुछ क्रियायें (और कभी कभी शरीर और प्राणके भीतर भी कुछ क्रियायें) अज्ञात रूपसे अंतरात्माके प्रभाव द्वारा जगती हैं। इसी कारण इन भागोंमें लगन आती है, और ये भी भागवतज्ञान, भगवान्के साथ एकत्व, भगवान्के साथ संबंध जोड़नेकी अभीप्सा करने लगते हैं।

प्र० अंतरात्मा सत्यको कैसे अभिव्यक्त करता है ?

उ० मैंने कहा है कि यह सत्यको अभिव्यक्त करता है ?

प्र० 'हम अपनी सत्ताके मनोवैज्ञानिक केन्द्रको, वह, जो हमारे अंदर हमारे अस्तित्वका उच्चतम सत्य है तथा उस सत्यको जान और अभिव्यक्त कर सकता है, उसे 'अंतरात्मा' कहते है।' (शिक्षा–सीमा)

उ० ओहो ! हमारे अस्तित्वका सत्य —निरासत्य नहीं। सत्ताका सत्य, अर्थात्, अस्तित्वका केन्द्रीय हेतु। यह वही (अंतरात्मा) है जो परिस्थितियोंको इस प्रकार व्यवस्थित करता है, जिसमें सत्ताका सत्य अपनेको अभिव्यक्त कर सके, अथवा बाहरी सतही सत्ताको अंदरकी ओर मुड़ना पड़े— उदाहरणार्थ, उसे बाहर कोई सहारा न मिले, और वह सहारा पानेके लिये अंदरकी ओर मुड़े उसे अंतरात्माका सहारा प्राप्त हो जाता है।

अहंभाव और अंतरात्मा

[श्री माताजीकी बात-चीत]

अपने अहंभावसे छुटकारा पाना सरल कार्य नहीं है। भौतिक चेतनामें उसपर विजय पानेपर भी हमें आध्यात्मिक चेतनामें अभिवर्द्धित रूपमें उससे फिर भेंट होती है।

प्र० आध्यात्मिक अहंभाव भी होता है ?

उ० जिस प्रकार शारीरिक प्राणिक और मानसिक अहंभाव होता है, उसी प्रकार एक आध्यात्मिक अहंभाव भी है। ऐसे कितने व्यक्ति हैं जिन्होंने अपने सारे अहंभाव और सारी सीमितताओंपर विजय प्राप्त करनेका काफी प्रयास किया और उन्हें आध्यात्मिक चेतना प्राप्त हुई; और वहाँ, इनमें सारा मिथ्या अभिमान, अपने महत्वका बोध, तथा उन लोगोंके प्रति उपेक्षाका भाव वर्तमान है, जो उनकी जैसी अवस्थामें नहीं है। अतः अहंभावमें जो कुछ भी हास्यास्पद एवं बुरा है, वहां उन्हें पुनः प्राप्त हो जाता है। ऐसे बहुतसे लोग हैं, बहुतसे उनकी शारीरिक तथा प्राणिक चेतनामें जो कुछ था उसपर उन्होंने विजय प्राप्त की, किंतु उन्होंने अपने पर विजय प्राप्त करनेके जो प्रयास किये और जो विजय प्राप्त की, ठीक येही उन्हें अपने अत्यधिक महत्त्वका बोध प्रदान करते हैं। और तब वे फूल उठते हैं और अपना अधिकार जमाने लगते हैं।

यह इतना प्रायशः होता है कि लोग इसपर ध्यानतक नहीं देते।

प्र० फिर भी, आध्यात्मिक अहंकार सामान्य अहंकारसे अधिक अच्छा है न ?

उ० यह सामान्य अहंकारसे बहुत अधिक खतरनाक है! क्योंकि लोगोंको इसका पता ही नहीं होता कि यह अहंकार है। बाहरी तौरपर यदि तुममें अहंकार है, तो स्वयं तुम तो उसे जानते ही हो, अन्य लोग भी तुम्हें यह और भी अधिक जताते रहते हैं और परिस्थितियाँ तुम्हें पल-पल इसका प्रमाण देती रहती हैं। किंतु यहां (आध्यात्मिक अहंकारकी अवस्थामें) क्योंकि दुर्भाग्यवश तुम्हें ऐसे बहुतसे लोग मिलते हैं, जो तुम्हारा बहुत आदर करते हैं, तुम्हें इसका पता ही नहीं होता कि तुम भयंकर रूपसे अहंकारी हो।

बहुत ही खतरनाक। आध्यात्मिक मिथ्या अभिमान भौतिक मिथ्या अभिमानसे बहुतही अधिक चिन्तनीय मिथ्या अभिमान है।

प्र० तब माँ, अहंभावके साथ मनुष्य भगवान्को पा सकता है ?

उ० जिस क्षण मनुष्य भगवान्के साथ तादात्म्य लाभ करता है, उस क्षण नहीं। स्पष्ट है कि उस क्षण अहंभाव लुप्त हो जाता है। किंतु वह अवस्था टिकती नहीं। अथवा हम इसे दूसरी तरहसे कह सकते हैं; वे लोग जो अपने साथ अपना अहंभाव लिये आते हैं, इस चेतनाको अधिक देरतक नहीं रख सकते। अनुभवके क्षणमें उन्हें अपने आपका बोध फिर आ जाता है। यही सबसे बड़ी भयकर बात है। वे अपनेको अनुभूति करते देखते हैं और अपनी बड़ाई करते हैं। और उन्हें ऐसा लगता है मानो वे असाधारण जीव हैं, दूसरोंसे बहुत ऊंचे, और तब यह सोचनीय हो जाता है।

× × ×

प्र० माँ, आपने कहा है : 'यह बोध (अंतरात्माका बोध) प्राप्त करनेके लिये और अंतमें इससे तादात्म्य स्थापित करनेके लिये बहुतसे तरीके उद्घोषित किये गये हैं। इनमेंसे कुछ तरीके मनोवैज्ञानिक हैं, तो कुछ धार्मिक और कुछ यांत्रिक भी।'

क्या आप इनके कुछ उदाहरण दे सकती हैं ?

उ० यांत्रिक प्रणालियां हैं आसन और हठयोग। ये इसी उद्देश्यसे किये जाते हैं। धार्मिक प्रणाली उन लोगोंके लिये है, जो किसी विशेष धर्ममें आस्था रखते हैं और प्रार्थना तथा धार्मिक उत्सव-व्रत आदि करते हैं। जब कोई किसी धर्ममें आस्था रखता है- चाहे वह कोई भी धर्म हो- तब वह उस धर्मका अनुशासन मानता है और प्रार्थना करता तथा कुछ माँगता है, वह उस धर्मकी मान्यताओंमें आस्था रखता, उस धर्मके उपदेशोंके अनुसार अनुशासनका अनुशीलन करता है। मनोवैज्ञानिक प्रणाली है योग। अपने भीतर जो स्थायी, सतत, विद्यमान वस्तु है, उसकी खोज। बस।

प्र० सभी व्यक्तियोंमें क्या अंतरात्मा सदा शुद्ध होता है, अथवा उसे शुद्ध बनाना पड़ता है ?

उ० वह सदा शुद्ध होता है। किंतु कम या अधिक मात्रामें वैयक्तिक अथवा अपनी क्रियामें स्वतंत्र होता है। सत्ताके भीतर, जिस भागको हम अंतरात्मा कहते हैं, वह

लेखक : श्री पं. वीरसेन वेदश्रमी

चातुर्मास्य याग

(४) शुनासीर पर्व (चातुर्मास्य याग)

चातुर्मास्य यागोंमें यह चौथा पर्व याग है। साकमेध पर्व यागकी समाप्तिके अनन्तर फाल्गुन मासमें यह शुनासीरीय याग किया जाता है। वायु और आदित्य निमित्त होता है। यह प्रयोजन भेदसे फाल्गुन शुक्ला प्रतिपदा या फाल्गुन शुक्ला चतुर्दशीको भी किया जाता है।

प्रधान दश याग

इस पर्वमें १० याग होते हैं जिनमेंसे प्रथमके पांच याग वैश्व देव पर्वके समान होते हैं और शेष पांच विशेष हैं-

१ अग्निके लिये अष्टाकपाल पुरोडाशसे याग।
२ सोमके लिये चरु द्रव्यसे याग।
३ सविताके लिये अष्टाकपाल या द्वादश कपाल पुरोडाशसे याग।
४ सरस्वतीके लिये चरु द्रव्यसे याग।
५ पूषाके लिये आटेके चरु द्रव्यसे याग।
(ये उपरोक्त पांचों याग वैश्व देव पर्वके ही हैं)
६ इन्द्राग्नीके लिये द्वादश कपाल पुरोडाशसे याग।
७ वैश्व देवोंके लिये पयसे याग।
८ शुनासीर इन्द्रके लिये द्वादश कपाल पुरोडाशसे याग।
९ वायुके लिये पय या चरुसे याग।
१० सूर्यके लिये एक कपाल पुरोडाशसे याग।

इसमें नव प्रयाज और नव अनुयाज वैश्व देव पर्वके ही समान होते है। साकमेध और शुनासीर पर्वोंमें अवभृथ स्नान नहीं होता है। वैश्व देव पर्व तथा वरुण प्रघासमें अवभृथ स्नान होता है।

॥ इति चातुर्मास्यानि ॥

-आग्रयणेष्टि (नवान्नेष्टि)-

(१) शारदी नवान्नेष्टि

नवीन अन्न आने पर शरत् एवं वसन्त ऋतुमें नवान्नेष्टि की जाती है। शरत्में कार्तिक पूर्णिमा या अमावस्याको या अन्य उपयुक्त शुभ दिवसमें पूर्वाह्णमेंही इसका अनुष्ठान करें। इस शरद्कालीन नवान्नेष्टिमें चार याग होते हैं-

१ अग्नि देवताके लिये पुराने चावलोंसे बने अष्टा कपाल पुरोडाशसे याग।
२ इन्द्राग्नी देवोंके लिये नये चावलोंसे बने द्वादश कपाल पुरोडाशसे याग।
३ विश्वेदेवोंके लिये नये चावलोंसे दूधमें पके चरुसे याग।
४ द्यावा पृथिवीके लिये नये चावलोंसे बने एक कपाल पुरोडाशसे याग।

यदि श्यामाक अन्नसे भी नवान्नेष्टि शरद्में करनी हो तो उसीसे चरु बनाकर सोम देवताके लिये आहुति देवे। परंतु श्यामाक नये ही होने चाहिये। यदि केवल नव श्यामाकसे ही यज्ञ करना हो तो पूर्वोक्त चार देवताओंके लिये आहुति न देकर केवल सोम देवताके लिये ही आहुति देनी चाहिये।

(२) वासन्ती नवान्नेष्टि

वसन्त ऋतुमें नवान्नेष्टि करनेपर नये ही यवोंका उपयोग करना चाहिये। इसमें तीन याग होते हैं—

१ इन्द्राग्नी देवोंके लिये नये जौसे द्वादश कपाल पुरोडाशसे याग।
२ विश्व देवोंके लिये नये जौसे दूधमें बने चरुसे याग।
३ द्यावा पृथिवीके लिये नये जौसे बने एक कपाल पुरोडाशसे याग।

शेष सामान्य कर्म पूर्व प्रकृतिवत् होते हैं। आग्रयणेष्टि अर्थात् नवान्नेष्टिके पश्चात् ही नवान्नका सेवन करें।

॥ इत्याग्रयणेष्टिः ॥

लेखक : श्री रामपालसिंह तेवतिया

वैदिक ऋषियोंके अन्वेषण और आविष्कार

मैं वेदके आधारपर 'वैदिक विज्ञान निघण्टु' नामक पुस्तकका निर्माण कर रहा हूं जिसमें 'वैदिक ऋषियोंके अन्वेषणों और आविष्कारोंका संग्रह' है। उनमेंसे कुछको दिग्दर्शन हेतु, अपनी लेखावली द्वारा यहाँ क्रमशः प्रकाशित कर रहा हूं। प्रथम 'खगोल विज्ञान' संबंधी लेख।

अत्यन्त प्राचीनकालमें वैदिक ऋषियोंने देखा कि सूर्य-चन्द्र, शुक्र, बृहस्पति आदिग्रह और तारागण निकलते और छिपते हैं। हमारी पृथिवी पर दिन और रात होते हैं। कभी बराबर, कभी छोटे-बडे। जाडे-गर्मी ऋतुएं होती हैं। चन्द्रमा घटता-बढता है। सूर्य-चन्द्र ग्रहण होते हैं। इसी प्रकारके अनेक खगोलीय दृश्य फलित होते उन्होंने देखे।

तब ऋषियोंने बडे परिश्रम और प्रयत्नोंसे उक्त दृश्योंके कारणोंकी खोज की। वेदमें विहित खगोल विज्ञान सम्बन्धी उन आर्षेय अन्वेषणोंमेंसे कुछ अन्वेषण निम्न प्रकार हैं।

(१) भूगोल या गोलाकार भू अर्थात् हमारी पृथ्वीका आकार गेन्दके समान गोल है। यह अन्वेषण ऋषि हिरण्यस्तूपने अत्यन्त प्राचीन कालमें किया था। प्रमाण द्रष्टव्य है।

चक्राणासः परीणहं पृथिव्या...सूर्येण।
(ऋ. १।३३।८)

भावार्थ- पृथ्वी चक्राकार अर्थात् गोलाकार है। इसका आधा भाग सूर्यसे प्रकाशित रहता है और आधा भाग अन्धकारावृत्त रहता है और सूर्यके आकर्षणपर यह भूगोल आधारित है।

(२) पृथ्वीका आधार- प्रश्न था कि गोल पृथ्वी आकाशमें निराधार अर्थात् अलग-अलग किस प्रकार स्थित है। ऋषि कवषने खोज की थी कि पृथ्वी सूर्यकी आकर्षण शक्तिके आधारपर गतिशील अवस्थामें स्थित है। प्रमाण द्रष्टव्य है।

उक्षा स द्यावा पृथिवी बिभर्ति (ऋ. १०।३१।८)
अनड्वान् दाधार पृथिवीमुतद्याम्।
(अथर्व. ४।११।१)

उपरोक्त दोनो वेदमन्त्र प्रतीकोंका एकमात्र तात्पर्य है कि पृथ्वी सूर्यकी आकर्षण शक्तिपर आधारित है।

(३) पृथ्वीकी दो गतियां- अपने, अक्षपर घूमना एवं अपनी कक्षामें सूर्यके परितः परिक्रमण। ऋषिका सार्पराज्ञीने अन्वेषण किया था कि पृथ्वी अपने अक्षपर घूमती है जिससे दिन रात उत्पन्न होते हैं। यह गति पूर्वाभिमुख होती है। और साथ-साथ अपनी कक्षामें सूर्यके चारो ओर भी परिक्रमा करती है जिससे दिन-रात छोटे-बडे होते हैं तथा जाडे-गर्मीकी ऋतुएं होती हैं। प्रमाण द्रष्टव्य है।

आयं गौः पृश्निर क्रमीत्...प्रयन्त्स्वः।
ऋ० १०।१८९।१

उपरोक्त मन्त्रका भावार्थ है कि पृथ्वी आकाशमें अपनी कीली या धुरी या अक्षपर घूमती है एवं सूर्यके चारों ओर भी घूमती है।

ऋषि वसुकर्णने भी स्वतन्त्ररूपसे खोज की थी कि पृथ्वी सूर्यकी परिक्रमा करती है जैसा कि निम्न मंत्रसे ज्ञात है

यां गौर्वर्तनिं पर्येति...विवस्वते। ऋ० १०।६५।६

तात्पर्यार्थ है कि यह पृथ्वी सूर्यकी परिक्रमा करती है।

पृथ्वीके गोलाकार एवं पृथ्वीके आधार तथा पृथ्वीकी उपरोक्त गति संबंधी अन्वेषण अन्य अनेक ऋषियोंने भी स्वतन्त्र रूपसे किए थे जिनके शब्द प्रमाण वेदोंमें निहित हैं। जिनका प्रकाशन किया जायगा। [क्रमशः]

जीवन क्या है ?

लेखक : श्री मिट्ठनलाल गुप्ता

विकासके प्रथम चरणसेही उपरोक्त प्रश्न मानव मस्तिष्क में गूंजता रहा है. विभिन्न अनुभूतियोंने विभिन्न समाधान प्रस्तुत किये किन्तु इस प्रश्नकी भूख शान्त न हुई।

जीवन क्या है ? एक अजीब सा विचारपूर्ण प्रश्न। एकान्तमें बैठकर सोचते हैं- सवेरे उठना, दैनिक कार्योंमें भागादौड़ी करना और थककर शाम कैसे जाना, क्या यही जीवन है।

जब दूसरा पहलू सामने आता है तो भयसे कांप उठते हैं- मौत ! एक कठोर सत्य, मस्तिष्कमें खलबली पैदा करनेवाला जीवनका अवश्यम्भावी परिणाम। यह सोचकर हम अशान्त हो उठते हैं लेकिन पाठको ! वर्षाका जल नदी और झरनेके रूपमें बहकर मस्ती और टक्करोंके साथ समुद्रमें मिल जाता है और बाष्प बनकर पुनः जलका रूप ले लेता है इसी प्रकार यह जिन्दगी गम और खुशीकी परिधिमें घूमती हुई मौत स्थलपर आ टिकती है, फिर पुनः नये जीवनमें परिणत हो जाती है दूसरे शब्दोंमें मौत नवीन जिन्दगीका पैगाम है नई शक्तिका सन्देश।

गीतामें भ० कृष्ण कहते हैं—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय,
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥

अर्थात् जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्रोंको त्यागकर दूसरे नये वस्त्रोंको ग्रहण करता है वैसेही जीवात्मा पुराने शरीरोंको त्यागकर दूसरे नये शरीर प्राप्त करता है।

मौतसे निडर होकर हमारी विचारधारा फिर जीवनके प्लेटफार्मपर आ टिकती है। जीवनको शान्त और सुखी कैसे बनाया जाय ? मानसिक द्वन्द्वोंको निश्चिन्तताकी कोखमें कैसे पटका जाय ? असलमें कई बार हम आशा और कल्पनाके रेतसे महत्वाकांक्षाओंके घरौंदे खड़े कर लेते हैं, अकस्मात् या भवितव्यतावश जब वे टूट जाते हैं तो आह भरकर कह उठते हैं- 'मेरा तो जीवन बेकार हो गया ! ! मेरे एक मित्र हैं चंद दिनों पूर्व कह रहे थे कि मैं अशांतिकी आगमें जल रहा हूँ ५० वर्षकी उम्र हो चुकी, सुगरका मरीज हूं जबसे धन आया है, अशांति और बढ़ गई है। सारा जीवन जिस एकमात्र लड़केके लिये कमाया, वह अब बोलता भी नहीं। घरसे खोया अन्दर है और खोज रहा है बाहर। अरे मानव ! सब कुछ तेरे अन्दर है, बाहर क्या देख रहा है। दिव्य दृष्टिसे देख ! एक उर्दू कविके शब्दोंमें—

खुदाको ढूंढा सभी जगह पर, खुदा तो लेकिन कहीं न पाया।
जो खून देखा तो गौर करके, खुदा तो हमने खुदीमें पाया।

एक सम्राट एक फकीरके पास पहुँचा, बोला महात्मन ! मैंने दुनियोंकी समस्त चीजें प्राप्त कर लीं- अतुल सम्पति, वैभव, सुन्दर स्त्रियाँ आदि सब कुछ। किन्तु शान्ति हासिल नहीं कर सका। कोई उपाय बताओ। फकीर बोला सम्राट ! शांति खरीदी नहीं जा सकती, यह अन्तरकी वस्तु है। स्वयंमें ढूंढो।

लेकिन ! वर्तमान मानवने उसे धन-सम्पतिमें ढूंढना चाहा। बाह्य आकर्षण और वासना तृप्तिमें पाना चाहा। 'खाओ पियो मौज करो' की शब्दावलीमें उन नैतिक आदर्शोंका बलिदान कर दिया जो कभी हमारी संस्कृतिके प्राण थे, मानवताके अमर रत्न। किन्तु वह इन सबसे शान्ति प्राप्त न कर सका, अन्तर्द्वन्द्व चल पड़े। मानसिक विघटनने जोर पकड़ा और स्वस्थ मन विक्षिप्त बन गया। पागलखानोंकी संख्या बढ़ना इसीका परिणाम है।

दूसरे हम अमेरिकाका उदाहरण लें। यह विश्वका सबसे अधिक समृद्ध और सम्पन्न देश है लेकिन इस धनने उसे अशांत बना डाला ठीक उस मकड़ीकी तरह जिसने अपने शिकारके लिये जाला बुना था किन्तु स्वयं फंस गई। यहाँ ६ करोड़ रु. प्रतिवर्षकी नींद लानेकी गोलियाँ बिकती हैं। स्पष्ट है कि धनग्रस्त मन इतना अशांत है कि रातको भली प्रकार सो भी नहीं सकता। वहांके तरुणोंका भारतीय योगकी ओर झुकाव भी इसी तथ्यको प्रकट करता है अतः यही कहना है कि बाह्य भोगोंमें सुख एवं शान्तिकी कल्पना निरी आत्मवञ्चना है। विभिन्न आकर्षणोंके शीशे चढ़ाकर जीवनके सही मार्गके अवलोकनकी आशा निराशाकी ओर प्रयास है। संसारकी गतिविधियाँ एक स्वप्न है, यहाँ किसीसे घृणा करना मानवताको चुनौती देना है। निस्वार्थ त्याग और प्रेमकी सुगन्धसे मानस उद्यानको सुवासित कर लो। मुझे इस सम्बन्धमें एक उदाहरण याद आता है- एक जगल, फकीरकी छोटीसी कुटिया। सर्दीका ठिठुरता मौसम। फकीर अपनी पत्नी सहित उसमें रहता था। रातको दोनों निद्रामग्न थे। अचानक भयकर वर्षा हुई, फकीरकी कुटियाका किसीने दरवाजा खटखटाया। फकीरने अपनी पत्नीसे कहा- किवाड़ खोल दो, कोई शरण चाहता है। पत्नीने उत्तर

लेखक : श्री वशिष्ठ

भवसागर का नाविक

वह फेरता शाश्वत वस्तुओं ओर निज प्रतीक अनुसंधान;
बदलता जीवन उस हेतु निज काल–रचित आलोक,
जो ढांप रहीं अनन्तताको वे प्रतिमाएं निज।
परिसर पृथिवीके हटते पीछे तथा पार्थिव रागरंग
लटकाते उस चहुओर नहीं निज पारोज्ज्वल प्रावार।
नश्वर विचार व आशकी सीमा करली उसने पार,
वह पहुंच गया जग–अन्त पर व निहारता अतिक्रान्त;
नेत्र नश्वर शरीरके डुबोते निज दृष्टि अनिमेष
उन ' चक्षुओं ' में जो अवलोकते नित्यताको।
एक बृहत्तर जगत् ' काल– ' यात्रीमें खोजना अवश्य।
अन्ते वह सुनता उत्कर्षों पर एक स्तोत्र गान
और बोलता दूरस्थ व आ जाता अज्ञात समीप;
अलक्ष अगोचरकी सीमाएं वह करता पार
और नश्वर दृष्टिके परिसार पार करता गमन
अपने व वस्तुओंके एक नूतन आभास प्रति।
एक असमाप्त जगत्में है एक आत्मा वह
जो जानता नहीं उसे और न जान सकता स्वयंको;
उसके लक्ष्यरहित अन्वेषका तल प्रतीक, प्रतिरूप
उसकी आन्तर दृष्टि प्रति ले जाता गाढ़तर अर्थ;
प्रकाश हेतु उसकी है अन्धकारकी एक खोज
अनश्वरता निमित्त नश्वर जीवनका अन्वेष।
एक पार्थिव मूर्तिमत्ताके जहाज, वहित्रमें
सीमाकारी अनुबोधके सकुचित अन्तरायों ऊपर
आंख पसारता वह ' काल ' की मायिक तरंगों पर
जहां मन एक सोम समान करता दीप्त जग–अंधकार।
चित्रांकित है वहां नेत्रोंसे सदा प्रतिनिवृत्त,
मानो एक सूक्ष्म धूमिकामय स्वप्न– आभामें खचित,
एक निष्प्रभ रहस्यमय कूलका आकार मात्र।
' अचेतन ' के अगम्यतल उदधि पर एक मांझी, कर्णधार,
विचारके तारकित जगत् सुं जलयात्रा करता वह
एक आध्यात्मिक अर्क प्रति ' अम्र ' के नीतल पर।
उत्क्रोश व समवायके प्रचुर कोलाहल पार,
अत्यानन्दित अज्ञेय नीरवताओंके तीरान्तर,
विविज गगनों तले एक विचित्र मध्य–जगत् सुं,
वसुन्धराके ध्रुवकों व अक्षरेखाओंसे अतिक्रान्त,
नियत है लक्ष्य उसका सर्व विद्यमान नक्शों– बहिर्भाग।
सोखता नहीं कोई किन्तु किधर खेता वह अज्ञात सुं
या दिया महती ' माता ' ने क्या गुप्त दौत्य कर्म।
इसके सर्व समर्थ ' संकल्प ' के प्रच्छन्न पराक्रममें,
जीवनके उछलते उदधि पार इसके प्राण द्वारा प्रेरित,
गर्जनके निनाद सु तथा निर्वात मौन सु,
कुहा व तुषार सु जहां दिखता न नेक कुछ,
वह ले जाता निज अन्तस्तले इसके मुद्राबद्ध आवेश।
कालातीत जानेगा वह, खोलकर गुह्य, गूढ़ हस्तलेख,
किंवा ' अदृष्ट ' में एक शून्य, एकान्त नौकाशय ओर
जाता वह, या निर्देशसे इसके हो सन्नद्ध,

---

* श्री अरविन्दकृत अंगरेजी महाकाव्य ' सावित्री ' से सकलित व अनूदित। —वशिष्ठ

फेरता = मोड़ता, आलोक = दृश्य, प्रावार = पर्दा, जो = जगत्, सोम = चन्द्रमा, अर्क = सूर्य,
' अम्र ' = जड़तत्व, नीतल = जहाजका तख्ता, इसके = माताके

लेखक : श्री आचार्य मुंशीराम शर्मा

वेदार्थ प्रक्रिया

वैदिक मंत्रोंके अर्थ करनेमें स्कन्द, सायण प्रभृति सभी भाष्यकारोंने प्राय निरुक्तका आश्रय लिया है। निर्वचन शब्दके अर्थपर जितना प्रकाश डाल सकता है उतना सम्भवत: लक्ष्यार्थ या व्यग्यार्थ भी नहीं डाल सकता। निर्वचनमें वाच्यार्थ ऐसा घुला मिला रहता है कि वह निर्वचनकी प्रक्रियासे सहज बोध गम्य बन जाता है। व्याकरण शब्दके निर्माणको बता देगा, परन्तु उसमें निहित अर्थको निर्वचनही ऊपर उठा सकेगा। महर्षि यास्कके निरुक्तसे पहले भी कई आचार्य निर्वचन सम्बन्धी ग्रंथ लिख चुके थे। इनके नाम निरुक्तमें आये हैं। वार्ष्यायणि औपमन्यव, शाक पूणि, कौत्स आदि ऐसेही आचार्य हैं। इनके मत तो कहीं कही प्राप्त हो जाते हैं, परन्तु इनके ग्रंथोंका पता अभी तक नहीं चला।

वैदिक शब्दोंके अर्थ जाननेके लिये निर्वचन पद्धति कतिपय नियमोंके आधार पर निर्मित हुई है। आजके वैज्ञानिक अपने सिद्धान्तोंके प्रतिपादनमें सिद्धान्तकी आधारभूत मान्यताओंको न्यूनतम रखना चाहते हैं परतु ये मान्यताएं आवश्यक (necessary) और पर्याप्त (sufficient) होनी चाहिये। उदाहरणके लिये वेदके द्वासुपर्णा अथवा त्रयः केशिनः अथवा ये त्रिसप्ता: शब्दोंसे प्रारम्भ होनेवाले मंत्रोंको ले। इनमें तीन सत्ताओंका वर्णन है और उनके सात सात भेद भी किये गये हैं। तीनकी सख्या तीन अनादि पदार्थोंकी संकेतिका है, तीन प्रकारके परमाणुओंकी द्योतक है और तीन प्रकारकी स्थितियोंकी भी सूचना देती हैं। वैज्ञानिक जिसे matter कहते है, उसमें हमारी प्रकृतिके गुण आते है, या नहीं, यह भी विचारणीय है। हम 'सत-रज-तमसाम् साम्यावस्था प्रकृति' ऐसा कहते हैं। यह साम्यावस्था क्या है? क्या यह सत है? क्या यह असत है? कदाचित दोनोंसे परे और अनिर्वचनीय है। आर्थर एडिंगटनने एक स्थान पर ऐसाही लिखा है। उसीके शब्दोंमें uniformity & nothingness are philosophically identicle सम्भवत: बोद्धोंने ऐसीही स्थितिके लिये शून्यवाद शब्दका प्रयोग किया था। जिसकी कोई रूपरेखा न हो वह वचनबद्ध कैसे होगी? रूपरेखामें विषमता रहती है। इस विषमताकाही वर्णन किया जा सकता है और किया जाता भी है। यही विषमता परिवर्तन करती है।

विज्ञानमे जिसे Law of inertia कहते है, उसमें प्रत्येक प्रकारके परिवर्तनका प्रतिरोध होता है। इसीके साथ एक दूसरा वैज्ञानिक नियम है Law of maximum entropy जिसका अर्थ होता है कि बिना किसी चेतना शक्तिकी सहायताके जो स्वत: स्फूर्त गति होती है वह सर्वाधिक अव्यवस्था या विप्लवमयी होती है। यह भी निश्चित है कि अव्यवस्थामें कोई रचना नहीं हो सकती।

जब हम वर्तमान सृष्टिके रूपपर विचार करते हैं तो उसमें हमें एक व्यवस्था दिखलायी देती है। दिनके बाद रात्रि और रात्रिके बाद दिन, एक ऋतुके पश्चात दूसरी ऋतु, एक पक्षके बाद दूसरा पक्ष और एक अयनके पश्चात दूसरा अयन सब परिपूर्ण क्रममें चल रहे हैं। प्रत्येक ग्रहकी कक्षा और गति निश्चित है। एक ग्रहकी दूसरे ग्रहसे दूरी भी नपी तुली है। इस व्यवस्थाके पीछे निश्चित रूपसे कोई परमचेतना या महाचिति संचालिकाके रूपमें विद्यमान है। इस व्यवस्थाको या क्रमको हम साम्यावस्था नहीं कह सकते। सृष्टिका कोई भी पदार्थ अपने अणुओंमें साम्य नहीं रखता। हमारे ऋषियोंने प्रकृतिमें सत-रज, तम नामके तीन गुणोंकी कल्पना की है। प्रलयमें इन तीनों गुणोंके परमाणु अव्यवस्थित परन्तु उस महान अर्णवमें स्वतंत्रता पूर्वक घूमते रहते हैं। स्वतंत्रतामें ही उनका साम्य है। रचनाके समय इन्हे वही महाचिति व्यवस्थित रूप देती है, स्वतंत्रसे व्यवस्थाबद्ध रूप

दिया- यहाँ हम दोनों भी अच्छी तरह नहीं सो सकते, फिर भला हम किसी अन्यको शरण कैसे दे सकेंगे ?

फकीर बोला- हम बैठकर रात काट लेंगे, आये अतिथिको वापिस नहीं जाने देंगे। जीवनके मधुर संवेगकी विजय हुई, अतिथिको सत्कारके साथ अंदर बिठाया। कुछ क्षणों बाद २ व्यक्ति और आये, फकीरने पत्नी और नवागन्तुकके मना करनेपर भी स्वयं तंगीमें बैठना स्वीकार किया, किन्तु मजबूर मेहमानोंको शरण दी। लगता था- आज उसकी उदारता कसौटी पर थी, थोडी देरमें फिर दरवाजेमें आहट हुई। वहाँ बैठे सभी व्यक्तियोंकी अनिच्छाके बावजूद भी फकीरने दरवाजा खोला। देखा तो सामने गधा खडा था। मानस हृदय द्रवित हो उठा, फकीर बोला- हम सभी खडे होकर रात काट लेंगे, लेकिन इस भयंकर वर्षा और सर्दीमें शरणागतको वापिस नहीं जाने देंगे, सभी खडे हुए और अन्दर गधेको शरण दी। यह था इंसानियत का स्वर्णिम प्रतिबिम्ब जो आजकी हैवानियतके नग्न नाचको एक आदर्श है। काश ! आज भी इसी प्रत्याशा रहित प्रेमके पवित्र जलमें शुद्ध इंसान डुबकी लगा लेता। काश ! दयाके इस प्रकाशसे आपसी द्वेष और युद्ध-भावनाका अंधकार विलीन कर लेता।

हे अशांत मानव ! अपनी शक्ति पहचान, आत्माकी आवाज सुन। उस अनंत शक्तिको टटोल जिसके अवलोकनसे जिन्दगीका सही रास्ता मिल सकता है। देख ! तेरी झूठी प्रतिसे आज चारों ओर भीषण हाहाकार मचा हुआ है, हर मानस आतंकित है, अस्त व्यस्त मन उधेडबुनमें पडा हुआ है। समस्त वातावरण भयभीत है। भ्रष्टाचार चोरबाजारी और रिश्वतका बाजार गर्म है। शराफत खुराफातके भागनेको जी करता है, कुछ समझमें नहीं आता क्या करूँ ? यह अशांति वास्तवमें आज अधिकतर प्रतिलक्ष लिये बैठे हैं इसके समाधानके लिये हमें गीताके पवित्र पृष्ठ पलटने होंगे। भ. कृष्ण कहते हैं पुरुषार्थ करो, फलकी आकांक्षा मत रखो

कर्मण्ये वाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्व कर्मणि ॥

पाठको !
जीवन निराशा और बेचैनीका नाम नहीं,
यह आशा और प्रसन्नताका पुंज है।
जीवन काम, क्रोध और लोभका कृत्रिम घोल नहीं,
यह संयम और त्यागका वास्तविक मिलन है।
जीवन भ्रष्टाचार और अत्याचारकी संकीर्ण गली नहीं,
यह सदाचार और दयाका विशाल प्राङ्गण है।
जीवन ईर्ष्या, द्वेष और घृणाका शुष्क जंगल नहीं,
यह प्रेम और सहानुभूतिका हरा उद्यान है।'
जीवन स्वार्थ और अपकार नहीं,
परमार्थ और परोपकार है।
जीवन कुत्सित विचार नहीं,
पवित्र भावनायें है।
जीवन निरर्थक वाणी नहीं,
सार्थक अभिव्यक्ति है।
जीवन लेना नहीं, देना है,
ग्रहण नहीं समर्पण है।
जीवन विघटन नहीं, समन्वय है,
विध्वंस नहीं, निर्माण है।
जीवन अभिशाप नहीं, वरदान है,
पाप नहीं पुण्य है।

जीवनकी इसी परिभाषाको लेकर भ. राम और कृष्ण अस्तित्वमें आये, भ० बुद्ध और महावीर महापुरुष बन गये दयानंद महर्षि दयानन्द बन गये। शांतिकी धारामें स्नान करके पवित्रात्मा बन गये। उनकी अमर ध्वनि आज तक हमारे कानोंमें गूंज रही है, भारतीय संस्कृतिके जर्रे-जर्रे में उनका शाश्वत सन्देश समाया हुआ है। हम भी उनकी तरह महान बन सकते हैं लेकिन शान्ति ढूढनेका हमारा तरीका गलत है, हम बाहर ढूढ रहे हैं, ठीक उस बुढियाकी तरह जिसके पंजोंमें जकडी हुई है, न्याय अन्यायकी जेल में बंद है, सत्य असत्यके कट घरेमें कराह रहा है। वासना मानव बर्बादी देखकर कुटिल मुस्कराहटके साथ तालियाँ बजा रही है।

हे मानव ! अपनी सूरत सत्यके दर्पणमें देख, कितनी बीभत्स हो गई है। इसपर भी तेरा अहं मन और वाणीके बीच एक दिवार खडी कर रहा है। तेरी असंयमित विचार खलाओंने जीवन-वीणाकी मधुरता छीन ली है। इसके तारोंको संयमी हाथोंसे समायोजित कर ले फिर सुन ! दायिनी धुन और झूम उठ, शांतिकी रागिनीमें। स्वयं प्रसन्न होकर दूसरोंको भी प्रसन्न कर अन्यथा यह चिंता और व्याकुलता अंधेरा पैदा कर देगी, मनकी आग जला देगी। सरल बनकर सत्य और शांतिको ढूंढ। यही अंतिम सोपान है, और यही जीवन।

हमने इससे पूर्व बताया ही है कि, महाभारत ' सर्वसारसंग्रहग्रंथ ' (Encyclopaedia) है। जो लोक सारसग्रहग्रंथकी रचना जानते हैं, वेही महाभारतके महत्त्वको जान सकते हैं। अंग्रेजी भाषामें ' ब्रिटनका सारसंग्रहग्रंथ ' (Encyclopaedia Britanica) है। इसके इस समय ग्यारह वार मुद्रण हो चुके हैं। पहिले मुद्रणके समयका संपादक भिन्न था और ग्यारहवीं वारका भिन्न है, बीचमें और भी कई संपादक हुए है। पहिली वार मुद्रित ब्रिटनसारसंग्रह ग्रंथ छोटा था और प्रति वार बढते बढते ग्यारहवी बारके मुद्रणके समय यह ग्रंथ बहुतही बढ गया है। इसमें कई बातें नवीन मिलाई हैं और कई बातोंका अन्वेषण करके सुधार कर उनको ठीक करके लिखा गया है। पहिले ग्रंथमें और इस समयके ग्रंथमें जमीनआसमानका भेद हो गया है, तो भी सब लोग कहते हैं कि, यह (Revised & enlarged Encyclopaedia) ' संशोधित तथा परिवर्धित सारसंग्रह ग्रंथ ' है। कोई भी इसे यह नहीं कहता कि, इसमें मिलावट हुई है अथवा इसमें यह घुसेडा है। परंतु सब इस नवीन परिवर्धित सारसंग्रहग्रंथको पसंद करते हैं।

जो लोग इस अंग्रेजी परिवर्धित सारसंग्रहग्रंथको पसंद करते हैं, वेही मूल भारतसंहिताके संशोधित और परिवर्धित तृतीय संस्करणको कहते हैं कि, इसमें घुसेडा है, इसमें प्रक्षिप्त भाग है ! ! यदि भारत और महाभारत ' सारसंग्रहग्रंथ ' है, तो उसके द्वितीय और तृतीय संस्करणके समय उसमें कुछ अधिक बातोंको रखा गया, तो गुनाह किस रीतिसे हुआ ? जो अपराध ब्रिटिशसारसंग्रहग्रंथमें नहीं होता, वही अपराध आर्योंके सारसंग्रहमें किस प्रकार समझा जाता है ?

सबसे प्रथम व्यासमुनिने ' भारत संहिता ' किंवा ' जय ' नामक एक सारसंग्रहग्रंथ किया। युरोपके सारसंग्रहमें और इसमें भेद इतनाही है कि, युरोपके सारसंग्रहमें रसहीनता होती है और इसमें सरसता है; क्योंकि यह काव्यकी रीतिसे लिखा है। और युरोपके ग्रंथ केवळ संग्रहकी दृष्टिसे लिखे हैं। कौरव-पांडवोंके इतिहास देते हुए व्यासदेवजीने अपने समयके सब शास्त्र इसमें ऐसी युक्तिसे लिखे हैं कि, पढनेवालोंका मनरंजन होते हुए, उनको सब शास्त्रोंका ज्ञान होवे। उदाहरणार्थ देखिये कि ग्रंथकारको भूगोल (Geography) का वर्णन करना है, तो वह एक कथाप्रसंग लेता है कि अर्जुन यात्राके लिये गया और इस मिषसे वह उस समयके ग्रामों, नगरों, पर्वतों और अन्यान्य दृश्योंका वर्णन करता है। ऐसे स्थानमें अर्जुनयात्राका वर्णन यह एक मिष है, मुख्य उद्देश्य उस समयका भूगोलवर्णन होता है। इसी प्रकार नाना स्मृति, नाना धर्म और नाना मतोंका वर्णन महाभारतमें किया गया है। कोई ज्ञानी धर्मराजसे अथवा किसी दूसरेसे फलाना शास्त्र या सिद्धांत कहता है। इस प्रसंगसे यह अनुमान करना कि सचमुच धर्मराजको या किसीको वह बात अवश्यही कही गई थी, यह सरासर गलत है। ग्रंथकारको उस प्रसंगके वर्णनके मिषसे वह वर्णन वहां करना अभीष्ट है। जैसा कि दुर्योधन और भीमके गदायुद्धके प्रसंगमें बलराम आ गये और उस समय बलरामके यात्राके मिषसे सरस्वतीतीर्थोंका वर्णन वहां किया गया है। युद्धप्रसंगकी दृष्टिसे यह वर्णन अप्रासंगिक है, परंतु ' सारसंग्रहग्रंथ ' की दृष्टिसे ग्रंथकारको उतना संबंध पर्याप्त है, क्योंकि उसको दुर्योधन-भीमके युद्धका वर्णन करना मुख्य प्रयोजन नहीं है, परंतु परशुरामके निमित्तसे तीर्थोंका वर्णन करना अधिक अभीष्ट है।

इससे कोई यह न समझे कि, महाभारतका इतिहास-दृष्टिसे कोई महत्त्व नहीं है। इतिहासिक दृष्टिसे भी महाभारतका उतनाही महत्त्व है कि, जितना सारसग्रहग्रंथकी दृष्टिसे इसका महत्त्व है। दोनोंका संमेलन महाभारतमें जैसा हुआ है, वैसा जगत्में दूसरा कोई ग्रंथ हैही नहीं। इसलिये इसका निरीक्षण हम इतिहासिक दृष्टिसे भी कर सकते हैं, तथा अन्यान्य दृष्टियोंसे भी कर सकते हैं। सर्वांगपूर्ण होनेसेही यह ग्रंथ मनुष्यकृत ग्रंथोंमें अद्वितीय-ही है।

प्रदान करती है, Chaos से Cosmos बना देती है। परन्तु उस व्यवस्थामें भी साम्य नहीं वैषम्य रहता है।

महत्तत्वमें सतके परमाणुओंकी अधिकता रहती है रज और तमके परमाणु स्वल्प मात्रामें रहते हैं, उतनी ही मात्रा में जिससे महत्तत्वके सत परमाणुओंको आधार और गति मिल सके। सतमें प्रकाश है परन्तु रचनामें इस प्रकाशको भी कोई आधार चाहिये और आधारके साथ क्रिया भी आवश्यक है। अहंकारमें रजके परमाणुओंका बाहुल्य है। सत और तमके परमाणु उसमें रहते हैं परंतु क्रियाको प्रकाश और आधार देनेके लिये। पंचतन्मात्राओंमें तमके परमाणु सर्वाधिक और सत तथा रजके परमाणु स्वल्प मात्रामें रहते हैं। यह प्रकृतिके रचनामें आबद्ध होनेका प्रथम रूप है। तीन गुण और रचनाके ये सात रूप (महत्तत्व + अहंकार + पचतन्मात्रा) त्रिक और सप्तक रूपमें नाना तत्वों एवं पदार्थोंके निर्माता बनते हैं।

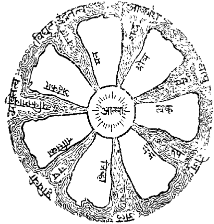
यह नानात्व परमाणुओंके वैषम्यका ही सूचक है। हमारा शरीर ही त्रिक और सप्तकके रूपमें इक्कीस हजार छः सौ बार श्वास प्रश्वास लेता हुआ बहत्तर हजार नाडियों, स्नायुओं, अस्थियों, मांस-मज्जा, रक्त-रस आदिका विचित्र भंडार बना हुआ है। न इसमें नसें एक जैसी हैं और न अस्थियां। कोई छोटी है कोई बडी। कुछ तत्व अस्तित्व रखते हुये भी नपे-तुले हैं? तो कुछ ऐसे भी हैं जो विशाल हैं और अपनी आकृतिमें सुगमतासे जाने और पहचाने जाते हैं। मस्तिष्कको ही लें तो वह भी विषमताओंका पुंज जान पडता है। वेद इस मस्तिष्कके ऊपरके तीन पर्तोंका वर्णन करता है। ये तीन पर्त हैं- अन्न, प्राण और मन। इन तीन पर्तोंके आवरणोंके भीतर वह मूल देवकोष रूपी शिर है जो मुदा हुआ है। आजका विज्ञान उसके भी चार भागोंका उल्लेख करता है जिन्हें Cerebram, cerebelem, pons और medula कहा जाता हैं। इन चारोंसे रस धाराएं निकल कर कानों, आंखों, नासिका और जिह्वाको शक्ति देती रहती हैं। साम्य यहां भी नहीं है। शरीरके किसी भी भागमें समता नहीं है। हाथकी अंगुलियां और अंगूठा एक दूसरेसे पृथक असम और विभिन्न चिन्होंवाले हैं। ये विषम हैं पर किसी अन्तः शक्तिके द्वारा मिलकर चलते हैं। किसी वस्तुको ग्रहण करनेमें सब मिल जाते हैं और एक दूसरेके सहयोगी बन जाते हैं। मैं यह लेख लिख रहा हूं। कमल अंगुलियों और अंगूठेके अधीन है। अंगुलियों और कलममें कोई समता नहीं है; परन्तु इस शरीरके भीतर बैठी हुई चेतना इन विषमोंको भी एकत्र करके, सहयोगी बनाकर लेख लिखा रही है। जो दशा इस लेख रूपी रचनाकी है वही इस निखिल ब्रह्माण्डकी व्यवस्था रूपी रचना की है।

जिन तीन गुणोंकी चर्चा हमने ऊपर की है उनमें तमकी जडता या inertia विशुद्ध प्राकृत गुण है। रजकी क्रियामें चेतनाका आभास झलकता है इसे हम कर्म-परायण जीवात्माकी विशेषताका आभास मान सकते हैं। सत प्रकाश है। यह प्रकाश हमें ईश्वरका आभास दे सकता है। अतः सताएं पुनः तीन हो जाती हैं। वेदान्त दर्शनमें इन तीनोंकी विशेषताओंके सूचक तीन तत्व वर्णित हुये हैं- आकाश, प्राण और ज्योति। आकाश समग्र निर्मित सत्ताओंका आधार है। आकाशमें ही सब कुछ स्थित है सबका आधार और आश्रय होनेके कारण इसे तमोगुण, जाडय एवं प्रकृतिका ज्ञापक कह सकते हैं। प्राण रजोमयी गति एवं जीवनका द्योतक है। जीवात्माकी जीव संज्ञामें भी यही प्राणवत्ता या जीवन तत्व सन्निहित है। ज्योति सतके प्रकाशकी सूचना देती है और प्रकाशके स्रोत ईश्वरकी ओर संकेत करती है। वैषम्य यहांपर भी है। प्रकृतिसे जीव और जीवनसे ईश्वर सब भिन्न भिन्न है, पर यह सब रचनाकी व्यवस्थाको लक्ष्यमें रखकर लिखा जा रहा है। अन्तमें तो जो साम्यावस्था आयेगी उसमें किसी प्रकारका भेद परिलक्षित नहीं होगा। एकत्वमें ही समग्र वैषम्य और वैभिन्य ऐसा विलीन हो जायेगा जैसे था ही नहीं। साम्यावस्थावाली प्रलय भी कई प्रकारकी है। नैमित्तिक प्रलय कल्पान्त या युगान्तकी प्रलय होती है और आत्यन्तिक प्रलय जीवात्माका शरीर बन्धनसे मुक्त हो जाता है। परन्तु सभी प्रकारकी प्रलय वैषम्यसे हटाकर एकत्वकी ओर ले जानेवाली और स्वातंत्र्य प्रदान करनेवाली है। उसमें बंधन नहीं, मुक्ति है। सुषुप्तिकी दशा भी इसी प्रकारकी है। इसीलिये उसे भी मोक्ष रूपी कहा गया है। [क्रमशः]

यह अत्यंत अल्प है । यह सचमुच भारतीयोंके लिये भूषणरूपही है । परंतु युरोपियन लोक कुछ न कुछ कल्पना लिख मारते हैं और हमारे विद्वान् उनकोही दुहराते हैं, यह सचमुच हिंदुस्थानियोंकी मानसिक परतंत्रताकाही द्योतक है । यदि हमारे लोक महाभारत आदिपर्वके पहले ६२ अध्याय, जो महाभारतकी भूमिकारूपही हैं, पढेंगे तो उनको स्पष्ट पता लग जायगा कि, यह एक राष्ट्रीय सार-संग्रह-ग्रंथ है । जब यह कल्पना होगी, तब उनको इसमें परस्पर-विरोधी कथनोंकी संगति समझनेमें कठिनता नहीं होगी । दृष्टिका कोन बदलना चाहिये । ग्रंथमें दोष नहीं है, परंतु देखनेवालोंकी दृष्टिही कलुषित है ।

जिस ग्रंथसे उग्रश्रवाकी विद्वत्ता और बुद्धि-कौशल्यका ज्ञान होना था, उसी ग्रंथकी ओर कई लोग विपरीत दृष्टिसे देखने लगे, इसलिये उसमें उनको परस्परविरोध ही दिखाई दिया ।

इसलिये पाठकोंसे निवेदन है कि, वे इसको अपना 'राष्ट्रीय महा ग्रंथ' समझें । दो हजार वर्षोंके पूर्वकी स्थिति दर्शानेवाला यह 'सारसंग्रह ग्रंथ' है, ऐसा भी मानें, और पांच सहस्र वर्षोंके पूर्वका राजकीय, सामाजिक, धार्मिक 'इतिहासका प्रामाणिक ग्रंथ' यह है, ऐसा कल्पना करें, और इस ग्रंथको पढें, तो ही इसके पढनेसे आनंद आवेगा । आशा है कि इस दृष्टिसे पाठक पढेंगे ।



x

महाभारतका महत्त्व ।

✿

इससे पूर्व बताया जा चुका है कि, मुम्बई, तथा बंगाल, युक्तप्रांत और पंजाबके महाभारत ग्रंथोंमें प्रक्षिप्त भाग बहुत नहीं है, और जो होगा, वह भी काल और ग्रंथविस्तारके विचार करनेपर उपेक्षणीय ही है, ऐसाही प्रतीत होता है । मद्रासके महाभारतमें हेरफेर और प्रक्षेप भी बहुत है, इस कारण मद्रासी महाभारत विश्वसनीय नहीं है । सारांशरूपसे इतना कहनेके पश्चात् एक शंका उत्पन्न होती है । वह यह है कि, तीन भिन्न समयोंमें तीन भिन्न विद्वानोंने जिसकी रचना की है, ऐसे महाभारतमें रचना-पद्धतिकी समानता रही, इस विषयमें प्रमाण क्या है ? इस विषयमें प्रमाण संपादकोंकी समान मनःप्रवृत्ति ही है । इस समयतक जगत्‌में कई संपादक हुए हैं, परंतु ऐसा एक भी संपादक नहीं है कि, जिसने मूल ग्रंथकारके ग्रंथको जानबूझकर बिगाड दिया हो ।

युरोपमें शताब्दियोंके पूर्व बने हुए कोशोंके संशोधित और परिवर्धित संस्करण कई छपे हैं, सारसंग्रह ग्रन्थोंके भी संवर्धित संस्करण छपे हैं, परंतु किसी भी संपादकने मूल पुस्तकके ढंगको बिगाडा नहीं है । भारतवर्षमें भी कई संपादकोंने मूल पुस्तकको बढाया है, परंतु उसीके ढंगपर बढाया है । सर्वसाधारण विद्वान् संपादक अपनी जिम्मेवारीको समझते ही हैं ।

महाभारतके तीन संपादक भी असाधारण विद्वान् और अपनी जिम्मेवारी समझनेवाले थे । श्री भगवान् वेदव्यास, वैशंपायन और उग्रश्रवा ये व्यक्तियाँ साधारण व्यक्तियाँ नहीं हैं । जो लोग ग्रंथको स्वयं नहीं पढ सकते अथवा इनके कार्यका गौरव नहीं अनुभव कर सकते, वे मर्जी चाहे लिखें, परंतु जिम्मेवार विद्वान् उक्त तीनों विद्वानोंको दोषदृष्टिसे देखही नहीं सकता ।

भगवान् वेदव्यासजीने जिस ढंगसे पहली भारत-संहिता रची थी, उसी ढंगसे वैशंपायनने बढाई और उसी रीतिसे उग्रश्रवाजीने भी बढाई होगी । इससे विपरीत माननेके लिये कोई भी

इतना इस महाभारतका सामान्य स्वरूप ध्यानमें धरके इसके तीनों संस्करणोंका विचार कीजिये—

१ प्रथम संस्करण = व्यासमुनिकृत ' भारत-संहिता ' प्रायः चोवीस हजार (२४०००) श्लोकोंका ग्रंथ। इसमें अर्जुनके दिग्विजयके इतिहासके साथ उस समयके शास्त्रोंका वर्णन था। कुछ महत्त्वके आख्यान भी होंगे। इसका नाम- ' जय इतिहास ' भी था।

२ द्वितीय संस्करण = (संशोधित तथा परिवर्धित) = वैशंपायनकृत ' भारत '। इसमें उपाख्यानोंका तथा इसके समयके शास्त्रोंका भी मिलान हो गया।

३ तृतीय संस्करण = (संशोधित और संवर्धित) उग्रश्रवा सौतिसे ' महाभारत ' बन गया, इसमें नाना शास्त्र और सैकडों उपाख्यान इस संस्करणके समय मिलाये गये। इसी समय यह ग्रंथ एक लाख श्लोकोंका बन गया। विक्रमके पूर्व कुछ शताब्दी यह ग्रंथ तृतीय संस्करणसे संस्कारित हुआ।

व्यास मुनिके समय जो धर्ममत तथा शास्त्र नहीं थे और जो वैशम्पायनके समय बने थे, वे वैशंपायनने उसमें संमिलित किये। तथा उग्रश्रवाके समय जितने मतमतांतर तथा शास्त्र थे, वे सब इसमें उन्होंने संमिलित किये और अपना ग्रंथ-संशोधन और परिवर्धन करके अपने समय तक पूर्ण किया। जिस प्रकार ब्रिटिश सार-संग्रह-ग्रंथ (Encyclopaedia Britanica) का ग्यारहवां संस्करण उसके छपनेके समय तक परिपूर्ण करना उनके संपादकका कर्तव्य था, उसी प्रकार उग्रश्रवा का कर्तव्य था कि वह अपने समयतक इस ' महाभारतीय सार संग्रह-ग्रंथ ' को परिपूर्ण करे। उसको अपने कर्तव्यका पूर्ण ज्ञान था, इसलियेही उन्होंने अपने समयतक उसको परिपूर्ण किया। उग्रश्रवाके पश्चात् वैसा कोई विद्वान् इस देशमें हुआ नहीं कि, जो उसके पश्चात्के नाना शास्त्रोंके सारको इसमें संमिलित कर सकता और इसका चतुर्थ संस्करण तैयार करता। यह विद्याहीनताकी अवस्थाका दोष है।

उग्रश्रवाके समय परस्परभिन्न मत इस देशमें प्रचलित थे, इसलिये उनका सार देते हुए भी उनकी परस्परभिन्नता दर्शाकर उनका एकीकरण करनेका यत्न उग्रश्रवाने किया है। यह उग्रश्रवाका कौशल्य जो जानेगा, वही उसके अद्वितीय विद्वत्ताको जान सकता है। इस कारणही यह महाभारतग्रंथ राष्ट्रीय जीवनका आधार और सर्वमान्य ग्रंथ माना गया है, क्योंकि अनेक प्रभेदोंमें भी यह एकताका उपदेश करता है।

' सार-संग्रह-ग्रंथ ' राष्ट्रीय महाग्रंथ होता है। हरएक राष्ट्राभिमानी पुरुषको उसका अभिमान होता है, वह उससे राष्ट्रीयताका अमृतपान करता है। इसी प्रकारका यह महाभारत है।

इसी ढंगपर अग्नि-पुराण, भविष्यपुराण आदि ग्रंथ लिखे गये थे। परंतु महाभारतकी योग्यता किसी भी ग्रंथकी नहीं है। यदि लोग सार-संग्रह-ग्रंथकी दृष्टिसे इन ग्रंथोंकी ओर देखेंगे, तो ही उनको इस ग्रंथका महत्व ज्ञात हो सकता है और तभी उनको पता लग सकता है कि इनमें जो परस्परविरोधी कथन है, वे घुसेडे हुए नहीं हैं, परंतु नानाविध *मतमतांतरोंका सार* देनेके समय वे सब देना संपादकका कर्तव्यही था। हरएक सार-संग्रह-ग्रंथ में ऐसाही हुआ करता है। अर्थात् यह महाभारतग्रंथ संशोधित और परिवर्धित सार-संग्रह-ग्रंथका तृतीय संस्करण है।

इसमें जो लेखकोंके प्रमादसे अध्यायोंकी उलट-पुलट हो गई है, श्लोकोंकी हेरफेर हो गई है (और जो कई स्थानोंपर मिलावट भी हुई होगी, जैसीकी कुंभकोणकी मद्रासी महाभारतमें दिखाई देती है) वह सब अल्पज्ञ लेखकके कारणही समझनी चाहिये। उस समय पत्रोंकी पोथियां होती थीं, पत्ते उलट-पुलट लग जानेसे अध्याय आगेके पीछे और पीछेके आगे होने कोई बडी बात नहीं है। इसी प्रकार कई कारण हो सकते हैं कि, जिस कारण श्लोकादिकोंमें हेरफेर होना संभव है।

एक लाख श्लोकोंका ग्रंथ दो हजार वर्ष तक करीब जैसाका वैसाही रहा है, जो भेद हुआ है,

पूर्वोक्त वैदिक सिद्धांतकोही आधुनिक ढांचेमें उग्रश्रवाने ढाल दिया है। पूर्वोक्त वैदिक मंत्रके इंद्र, मित्र, वरुणादि विभिन्न नामोंमें एकही अभिन्न उपास्य देव रहता है, यह जिस ढंगसे कहा है, उसी ढंगसे शिव, विष्णु आदि देवताओंके अंदर एकही अभिन्न उपास्य देव है। इतनाही नहीं, प्रत्युत ये देव परंपरके कारण पूर्ण होते हैं। शिवसे विष्णुका महत्त्व और विष्णुसे शिवका महत्त्व है, इत्यादि अनेक युक्ति और प्रयुक्तिसे भिन्न मतोंकी भिन्नता हटाकर उनका ऐक्य बताया है।

यहां उक्त एकही उदाहरण बताया है, परंतु ऐसे सैंकडों स्थल महाभारतमें हैं कि, जहां धर्म, दैवत, पंथ, मत, मतांतर, उपासना, आचार आदिके कारणकी भिन्नता हटाकर सबोंको एकही सनातन वैदिक धर्मके बंधनसे बांधकर एकत्रित करनेका प्रयत्न उग्रश्रवाजीने किया है। इतनाही नहीं, परंतु महाभारतके कारणही सनातन धर्मका चातुर्वर्ण्य समाज जो बौद्धों और जैनादिकोंके विविध हमलोंसे पादाक्रांत और जर्जरितसा बन गया था, तथा अंतर्गत पंथभेदोंके कारण शतधा विदीर्ण बन गया था, वह एक 'राष्ट्र-पुरुष-रूपी' अर्थात् ऐक्यभावसे युक्त बन गया और इसी महाभारतसे नवजीवन प्राप्त करके वह उत्तर कालमें जीवित और जागृतसा बना।

उग्रश्रवाका यह महान् कार्य निःसंदेह अभिनंदनीय है। जो बात उस समय अशक्यसी थी, वही उग्रश्रवाने करके बतायी है। यह बात और है कि, उसके पश्चात् संचालन करनेवाला कोई विद्वान् नहीं आया, इस कारण फिर भी यह भारतीय लोग वैसेही मतमतांतरोंके झगडोंमें फंस गये, परंतु यह गलती उग्रश्रवाजीकी नहीं है, यह दोष उसके पीछेका है। अस्तु। जिसने 'भारत' का 'महाभारत' बनाया, उसका यह प्रशंसनीय कार्य हरएकको देखनेयोग्य है। और उसका हृदयसे अभिनंदन करना आवश्यक है।

स्मृतिशास्त्र और नीतिसंग्रह।

महाभारतमें अनेक नीतिशास्त्रोंका संग्रह है। विदुर-नीति, कणिक-नीति, नारदनीति, तथा अन्यान्य नीतियां अनेक हैं। प्रत्येक नीतिशास्त्र एक स्वतंत्र पुस्तक है और उसका उद्देश भी बडा है। इन सब नीतिशास्त्रोंका संग्रह इस महाभारतमें होनेके कारण इस महाभारतकी योग्यता विलक्षण बढ गई है।

कणिक-नीति सम्राटोंका साम्राज्य बढानेका मत प्रदर्शित कर रही है, और विदुरनीति दीन प्रजाके समान अधिकारोंका साम्यवाद प्रदर्शित कर रही है। इसी प्रकार अन्यान्य नीतियोंके अन्यान्य ध्येय हैं। इन विविध ध्येयोंके विविध नीतिशास्त्रोंका संग्रह इस महाभारतमें होनेके कारण यह महाभारत एक नीतिशास्त्रोंका बडा समुद्र ही है।

धर्मशास्त्र अर्थात् स्मृतिशास्त्र भी इसमें स्थान-स्थानपर भरपूर हैं। सनातन वैदिक धर्मके मूल तत्त्व स्मृतिशास्त्रमें व्यावहारिक रूप लेकर उपस्थित होते हैं। श्रुतिमें धर्मके सिद्धांतिक तत्त्व रहते हैं। परंतु उनका व्यावहारिक रूप स्मृतियोंमें होता है। ऐसे स्मृतिशास्त्रोंका संग्रह महाभारतमें होनेसे यह महाभारत एक बडा धर्मशास्त्रग्रंथ हुआ है। इसी कारण इसकी योग्यता स्मृतिशास्त्रके बराबर मानी जाती है।

श्रुति और स्मृतिका परस्परसंबंध तुलना करके देखना चाहिये। क्योंकि श्रुतिके सिद्धांतिक तत्त्व स्मृतिके विना व्यवहारमें प्रवृत्त नहीं होते, और स्मृति भी श्रुतिके प्रमाणके विना निष्फल है। इस कारण दोनोंकी संगति देखनी अत्यावश्यक है। वेदका अध्ययन धर्मशास्त्रकी दृष्टिसे करनेवालोंको इसी कारण महाभारतकी अपूर्व सहायता हो सकती है। इतनाही नहीं परंतु जो लोग स्मृति और महाभारतको साथ न लेते हुए ही वेदका अध्ययन करनेका यत्न करेंगे, उनके यत्न उतने सफल नहीं होंगे, कि जितने दोनोंकी साथ साथ तुलना करनेसे हो सकते हैं। इसीलिये कहा है कि—

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
(म. भारत. आदि. अ. १।२६७)

'इतिहास अर्थात् रामायण, महाभारत तथा पुराणोंसे वेदका तत्त्व संवर्धित करना चाहिये। दोनोंकी तुलना करनेसे ही इसकी शक्यता हो सकती है।

तात्पर्य, वेदका मर्म समझनेके लिये इस प्रकार महाभारतकी आवश्यकता है। इसलिये वैदिक

प्रमाण नहीं है। यदि इसमें पद्धतिकी भिन्नता होती, तो कोई भी प्राचीन ग्रंथकार महाभारतके विषयमें शंका उत्पन्न करता। परंतु गत दो तीन हजार वर्षोंके किसी भी ग्रंथकारने महाभारतके विषयमें ऐसी शंका नहीं लिखी है। परंतु प्रायः सभी प्राचीन विद्वान् इसको प्रमाण ही मानते आये हैं।

महाभारतके सुप्रसिद्ध टीकाकार श्री नीलकंठ चतुर्धर स्वयं टीका करते हुए लिखतेही हैं कि, यह श्लोक प्रक्षिप्त है, परंतु ऐसे स्थल गिनतीके हैं। और इतने बडे ग्रंथके विषयमें इतने बडे समयमें ऐसा होना स्वाभाविकही है। इस कारण उक्त शंका निर्मूल है।

अब महाभारतके प्रामाणिक होनेके विषयमें किसीको शंका नहीं हो सकती। यद्यपि इस महाभारतमें वर्णित कई बातें आजकल वैज्ञानिक ज्ञान बढ जानेसे अप्रामाणिक सिद्ध हो जायंगी, तथा तर्ककी वृद्धि होनेके कारण कई बातें इस समय मानना अशक्य होगा, तथापि ये बातें ग्रंथके महत्त्वको न्यून नहीं करती हैं, इतनाही यहां बताना है। आगे विवेचनमें स्थानस्थानपर इसका विचार कियाही जायगा। अब इस महाभारतके सर्वसाधारण महत्त्वका विचार करते हैं-

विभिन्न मतोंका एकीकरण।

शैव, वैष्णव, गाणपत्य, आदि अनंत मतमतांतर इस देशमें विक्रम संवत्‌के पहलेहि शुरू हो चुके थे। इनका आपसमें विलक्षण झगडा भी था। इनका एकीकरण करना उग्रश्रवाजीको अभीष्ट था। यह कार्य महाभारतमें उन्होंने बडी उत्तमतासे अपने तृतीय संस्करणमें करके बनाया है।

भगवद्गीतामें भी जैसा सांख्य योगादि, तथा कर्म उपासनादिका भी योग्य संगति लगाकर सबका संगतीकरण किया है, उसी प्रकार संपूर्ण महाभारतमें स्थान स्थानपर अनंत प्रकारोंसे यह एकीकरणका कार्य बडे चातुर्यके साथ किया है।

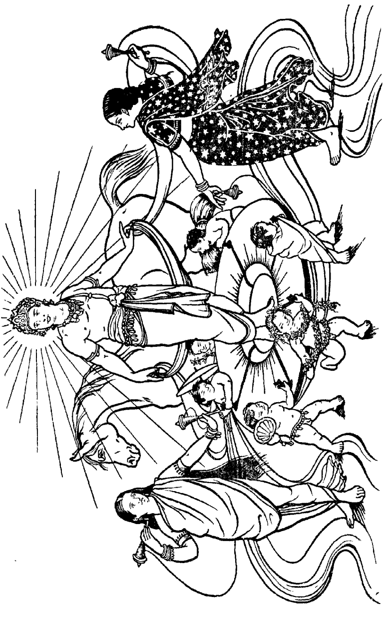
वैष्णवोंको विष्णुकी श्रेष्ठता, शैवोंको शिवकी श्रेष्ठता तथा अन्यान्य मतवादियोंको अपने अपने प्रिय नामके देवकी श्रेष्ठता अभीष्ट थी। इससेही विविध झगडे समाजमें खडे हो गये थे। इन झगडोंकी निवृत्ति करके सबको एक धर्मबंधनसे बांधना उग्रश्रवाजीको अभीष्ट था। और यह कार्य इन्होंने अत्यंत उत्तम रीतिसे किया है।

वेदमें इंद्रवरुणादि विभिन्न देवताएं अनेक हैं, इन विभिन्न देवताओंमें व्यापक एक अभिन्न आत्मा है और वह एक अद्वितीय आत्माही अन्य देवताओंके नाम धारण करता है, यह बात वेदमें बताई है-

> इंद्रं मित्रं वरुणमग्निमाहु-
> रथो दिव्यः स सुपर्णो गरु-
> त्मान्। एकं सद्विप्रा बहुधा
> वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वान-
> माहुः॥ [ऋ० १।१६४।४६]
> यो नः पिता जनिता यो विधाता
> धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
> यो देवानां नामधा एक एव॥
> [ऋ० १०।८२।३]

' एकही सद्वस्तुको ज्ञानी लोग अनेक नामोंसे वर्णन करते हैं, एक देवकोही अग्नि, मित्र, वरुण, सुपर्ण, यम, मातरिश्वा आदि कहते हैं॥ जो हमारा पिता उत्पादक और बनानेवाला है, जो सब भुवनोंको जानता है, वही एक देव सब अन्य देवोंके नाम धारण करता है॥ '

इन मंत्रोंसे देवता-नानात्ववाद हट जाता है। वेदमें अनेक देवताओंका वर्णन होते हुए भी एकही परमात्माकी कल्पना वेदमें है, ऐसा हम कहते हैं, उसका परम आधार यही मंत्र हैं। ऐसे अनेक मंत्र हैं और वे बता रहे हैं कि वेदमें इंद्र, वरुणादि अनेक देवताओंका वर्णन होते हुए भी सब देवताओंके वर्णनसे मिलकर एकही देवताका वर्णन होता है। यह वैदिक कल्पना महाभारतके तृतीय संस्करणके समय अर्थात् उग्रश्रवाजीके समय समूल नष्ट हो चुकी थी। और प्रायः लोग समझने लगे थे कि, अपनी अपनी देवताही सबसे श्रेष्ठ है। शैव शिवजीका महत्त्व और वैष्णव विष्णुका महत्त्व गाते रहे और परस्पर मतभेद होनेके कारण एक दूसरेका सिर भी फोडते रहे। आपसके इन क्षुद्र विवादके कारण विदेशी लोग हमारे राष्ट्रमें भी घुसने लगे थे। इस पतनकी अवस्थाको दूर करके सबको एकताके धर्मबंधनसे बांधना अति दुष्कर कार्य था। परंतु यह श्री उग्रश्रवाजीने बडी चतुराईसे किया।



छः खूंटियोंवाला खड्डी जिसपर दो स्त्रियां कपडा बुनती हैं। (महाभारत आदि. अ. ३ १४२)

धर्मका तत्त्व समझनेवाले पाठक महाभारतके पाठसे दूर न रहें, इतना ही यहां बताना है।

राष्ट्रीय महा काव्यग्रंथ।

अब राष्ट्रीय महाकाव्यग्रंथकी दृष्टिसे महाभारतका महत्त्व देखेंगे। राष्ट्रीय महाकाव्यमें निम्नलिखित लक्षण अवश्य होने चाहिये—

१ महाकाव्य राष्ट्रका आदरणीय ग्रंथ होना चाहिये,
२ राष्ट्रीय महाकाव्यमें प्रारंभसे अंततक एकही प्रतिपाद्य विषय होना चाहिये,
३ सब काव्यद्वारा प्रतिपादित प्रसंग अत्यंत महत्त्वपूर्ण और राष्ट्रीय महत्त्वका होना चाहिये,
४ उस काव्यके वर्णित पुरुष श्रेष्ठ वर्णके और उदारचरित तथा धार्मिक दृष्टिसे आदरणीय होने चाहिये,
५ ग्रंथकी भाषा सुगम, गंभीर और भावपूर्ण चाहिये, वृत्त भी सुगम और उत्तम चाहिये,
६ वर्णित प्रसंगोंमें विविधता चाहिये,
७ ग्रंथमें धवल यश फैलनेका वर्णन चाहिये,
८ अंतमें सत्यका जय होना चाहिये,
९ कथाभाग पुराना होनेपर भी उसकी नवीनता सदा रहनी चाहिये,
१० राष्ट्रका शीलसंवर्धन करने और सभ्यताका आदर्श बतानेवाला मुख्य वर्णन होना चाहिये।

ये महाकाव्यके लक्षण होते हैं। ये सबकेसब इस महाभारतमें घटते हैं। जगत्‌में जो जो राष्ट्रीय महाकाव्य है, उनमें ये दस लक्षण पूर्णतासे सबके सब घटते नहीं हैं परतु केवल महाभारतमें ही ये दसों लक्षण पूर्णतासे घटते हैं। इसीलिये सब विद्वान् इसी महाभारतको सच्चा राष्ट्रीय महाकाव्य कहते हैं और इसी हेतुसे इसकी प्रशंसा सब विद्वान् करते हैं। देखिये—

१ महाभारत इस भरतखंडमें सर्वत्र आदरणीय है।
२ इसमें प्रारंभसे अंत तक कौरवपांडवोंका वर्णन यही प्रतिपाद्य विषय है।
३ कौरव-पांडवोंका युद्ध-प्रसंग यह अत्यंत राष्ट्रीय महत्त्वका विषय इसका मुख्य प्रतिपाद्य और वर्णनीय विषय है।
४ इस काव्यमें वर्णित भीष्माचार्य, धर्मराज, श्रीकृष्ण, अर्जुन, कर्ण आदि अनेक उदारचरित महात्मा हैं और हरएकका जीवन आदर्शरूपही है।
५ ग्रंथकी भाषा सुगम, गंभीर और भावपूर्ण है। वृत्तभी अत्यंत सरल और उत्कृष्ट है।
६ वर्णनोंकी विविधता तो महाभारतमें स्थान-स्थानमें है।
७ पांडवोंका धवल यश फैलनेका वर्णन इसमें है।
८ अंतमें पांडवोंके सत्पक्षकाही जय दिखाया है।
९ महाभातका वर्णन अत्यंत पुराना होनेपर भी नूतनसा आज भी प्रतीत होता है।
१० भारतवर्षका शील बढानेवाला तथा आर्य-सभ्यताकी रक्षा करनेवाला यही महाभारत ग्रंथ है।

इस प्रकार राष्ट्रीय महाकाव्यके सबके सब लक्षण इस महाभारतमें पूर्णतया संगत होते हैं। इसीलिये इस भारतवर्षका यह राष्ट्रीय महा काव्यग्रंथ है, इसमें कोई संदेहही नहीं है।

आर्योंके प्राचीन इतिहासमें भारतीय युद्धका महत्त्व अत्यंत है। राष्ट्रीय प्रगतिकी दृष्टिसे इसका महत्त्व अत्यंत है, क्योंकि आर्योंकी वैदिक सभ्यता इस समय पर्वतकी चोटीपर पहुंच चुकी थी। इसके पश्चात् इस सभ्यताका पतन शुरू होता है, वह पतन धीरेधीरे इस समयतक चलही रहा है। भारतीय राष्ट्रके इतिहासमें भारतीय युद्धके प्रसंगके समान महत्त्वपूर्ण दूसरा प्रसंगही नहीं है। यही प्रसंग इसमें मुख्य वर्णनका भाग है।

महाभारतमें अन्यान्य दृश्य भी इतने मनोरम हैं कि, जो अकेले अकेले अन्यान्य महाकाव्योंके विषय बने हैं। जैसा (१) भारवी कविका किरातार्जुनीय काव्य अर्जुनको पाशुपतास्त्र प्राप्त होनेके प्रसंगका वर्णन कर रहा है। (२) माघ कविका शिशुपाल वध काव्य शिशुपालके वधके वर्णनपर रचा है। (३) श्रीहर्षके नैषध काव्यका विषय नल-दमयंती चरित्रही है। इस प्रकार पंच महाकाव्योंमेंसे तीन महाकाव्य महाभारतके थोडेसे वर्णन परही रचे गये हैं। इससे स्पष्ट पता लग सकता है कि, महाभारतकी काव्यदृष्टिसे भी कितनी योग्यता है

(२४९) 'वीरवीरसुवोमुहुः।'

(भागवत ४।९।५०)

'वीरसुवः' अशुद्ध है। 'वीरसू' प्रयोग होना चाहिए।

(२५०) 'वनं विरक्तः प्रातिष्ठद्विमृशन्नात्मनो।'

(भागवत ४।९।६७)

'प्रातिष्ठत्' अशुद्ध है।

'समवप्रविभ्यःस्थः' (अष्टा० १।३।२२) के अनुसार 'प्रातिष्ठते' होना चाहिए।

(२५१) 'धनुषि प्रयुञ्जतः।'

(भागवत ४।११।३)

'प्रयुञ्जतः' अशुद्ध है।

'प्रोपाभ्यां युजेरयज्ञपात्रेषु' (अष्टा० १।३।६४) के अनुसार 'प्रयुञ्जानस्य' शुद्ध है।

(२५२) 'तं विचक्ष्य खलं पुत्रं... ।'

(भागवत ४।१३।४२)

'विचक्ष्य' अशुद्ध है। 'विख्याय पाणिनीके 'दृशेविख्ये' (अष्टा० ३।४।११) के अनुसार होना चाहिए।

(२५३) 'वेनसुवंप्रसुताम्'।

(भागवत ४।१३।४७)

'वेनसुवं' अशुद्ध है। 'वेणस्वम्' शुद्ध है।

(२५४) 'दहिष्यामः स्वतेजसा।'

(भागवत ४।१४।१३)

'दहिष्यामः' अपाणिनीय है। 'धक्ष्यामः' शुद्ध है।

(२५५) 'स ते मा विनशेद्वीर प्रजानां।'

(भागवत ४।१४।१६)

'विनशेत्' अशुद्ध है।

'नश्' सदा दिवादि है, अतः 'विनश्येत्' शुद्ध है।

(२५६) 'एकदा मुनयस्ते तु सरस्वत्सलिला-प्लुताः।'

(भागवत ४।१४।३६)

यहाँ 'पुंवद्भाव' कैसे?

षष्ठी तत्पुरुष समासमें 'पुंवद्भाव' नहीं होता है। यहाँ 'सरस्वत्' पुंलिंगमें 'सरस्वती' स्त्रीलिंगके बदले है।

(२५७) 'जातो लोकरिरक्षया।'

(भागवत ४।१५।६)

'रिरक्षया' अशुद्ध है। 'रिरक्षयिषया:' शुद्ध है।

(२५८) सूताद्यापिवरीमाभिः। कर्मभिः कथमात्मानंगापयिष्याम बालवत्॥

(भागवत ४।१५।२६)

'वरीमभिः' अशुद्ध है। 'वरीभभिः' होना चाहिए।
'गापयिष्याम' अशुद्ध है। लृट्में विसर्ग लुप्त क्यों है?

(२५९) कर्माणि वयं वितन्महि।'

(भागवत ४।१६।३)

'वितन्महि' अशुद्ध है। 'वितन्वीमहि' शुद्ध है।

(२६०) 'यो लीलयाद्रीन् स्वशरासकोट्या।'

(भागवत ४।१६।२२)

'शरासन' शुद्ध है।

(२६१) 'तदानिलिल्युर्दिशि।'

(भागवत ४।१६।२३)

'निलिल्युः' अपाणिनीय है। 'निलिल्यिरे' पाणिनीय है।

(२६२) 'अहारषीद्यस्य हयं पुरन्दरं।'

(भागवत ४।१६।२४)

'अहारषीद्' अशुद्ध है। 'अहार्षीत्' शुद्ध है।

(२६३) वक्तुमर्हसियोऽदुह्यद्दैन्यरूपेण गामिमाम्।'

(भागवत ४।१७।७)

'अदुह्यत्' अशुद्ध है।

'दुह्' आदादिक है, दैवादिक नहीं है अतः 'अधोक्' होगा।

(२६४) 'तन्नो भवानीहतु रातवेऽन्नं।'

(भागवत ४।१७।११)

'ईहतु' अशुद्ध है।

ईह धातु आत्मनेपदी है अतः 'ईहताम्' प्रयोग शुद्ध है।

(२६५) 'वसुधे त्वां वधिष्यामि... ।'

(भागवत ४।१७।२२)

'वधिष्यामि' अशुद्ध है।

'हनोवधलिङि' (अष्टा० २।४।४२) के अनुसार 'वध' केवल लुङ्, लिङ्में प्रयोग होता है। अतः यहां 'हनिष्यामि' शुद्ध प्रयोग होना चाहिए।

(२६६) वत्संकृत्वा मनुं पाणावदुहत्सकलौषधीः।

(भागवत ४।१८।१२)

और यह इतना बडा ग्रंथ है कि, जिसकी उपकथाओंको लेकरही एकएक महाकाव्य बन सकता है !

महाभारतके स्त्री और पुरुष, बाल, वृद्ध और तरुण अवस्थाओंमें भी परम आदर्श बनने योग्य हैं। पांडवोंका प्रतिपक्षी सम्राट् दुर्योधन भी अपने साम्राज्यके लिये एक आदर्श साम्राज्यवादी (Ideal Imperialist) ही है। जब महाभारतमें वर्णित बुरीसे बुरी व्यक्ति भी ' साम्राज्यवाद ' की दृष्टीसे आदर्श है, तो अन्यान्य व्यक्तियां भीष्माचार्य, द्रोणाचार्य, धर्मराज आदि भी आदर्श हैं, इसमें संदेहही क्या है ? दुर्योधनके विषयमें बहुत बुरे विचार लोगोंमें फैले हैं, उनको महाभारतमें आधार बिलकुल नहीं है। राज्यशासन, राज्यवर्धन, राज्यरक्षण, धर्मयुद्धके नियम पालन आदिमें दुर्योधनका एक भी दोष नहीं है। प्रजापालनमें भी उसका कोई दोष नहीं था। राजनीतिकी दृष्टिसे उसका आचरण भी दोषी नहीं था। अर्थात् महाभारतकी दृष्टिसे उसमें आदर्श ' साम्राज्यवादकी वीरता ' देखनी चाहिये। एक ओर पृथ्वीका साम्राज्य और दूसरी ओर मृत्यु, इनके बीचकी मध्य अवस्था सुयोधन (दुर्योधन यह उसका सच्चा नाम भी नहीं था) सम्राट्को पसंत ही नहीं थी। अस्तु, इस प्रकार प्रतिपक्षी वीरके अंदर भी उच्च आदर्श जिस महाभारतकारने रखा है, उसकी बुद्धिकी चतुराई हम क्या वर्णन कर सकते हैं ?

प्रारंभसे अंततक बहुत ही अल्प प्रसंगोंको छोडकर, सबके सब वर्णनके प्रसंग मुख्य कथाके साथ संबंध रखनेवाले ही हैं। मुख्य कथाके साथ संबंध न रखनेवाले वर्णन बहुधा कहीं भी नहीं हैं। इतने बडे ग्रंथमें वर्णनोंका इतना परस्पर घनिष्ठ संबंध रखना सचमुच कवित्वके अद्‌भुत सामर्थ्यके विना हो ही नहीं सकता।

कौरव-पांडवोंके समय जो जो छोटे और मोटे राजे इस भरतखंडमें थे, वे सबके सब इस युद्धमें संमिलित थे। लडनेवाले वीरोंकी संख्या १८ अक्षौहिणी अर्थात् बावन लाख थी, इन वीरोंके छोडकर इनके साथ रहनेवाले नौकर चाकर और इतने अथवा इससे भी अधिक भी होंगे। इस प्रकार भारतवर्षके हरएक प्रांतके वीर इस युद्धमें संमिलित थे। इसलिये इस युद्धके साथ संबंध भारतवर्षके हरएक प्रांतका था। इसीलिये भारतीय युद्धको राष्ट्रीय महायुद्ध कहते हैं। इस महायुद्धके वर्णनका प्रसंग इस महाभारतमें है, इसीलिये इसको ' राष्ट्रीय ग्रंथ ' कहते हैं। महाभारत सर्व-मान्य राष्ट्रीय ग्रंथ होनेका भी यही एक मुख्य कारण है, कि इस युद्धमें भारतके सब प्रांतोंके लोग संमिलित थे, इसीलिये हरएक प्रांतके लोग युद्धचरित्र पढनेके लिये उत्सुक ही थे। वह युद्धचरित्र इस महाभारत ग्रंथद्वारा मिलतेही इस ग्रंथकी सर्व-मान्यता बढ गई और भारतके सब प्रांतोंमें यह इतिहास प्रिय बन गया।

इस समय भारतवर्षके भिन्न प्रांतोंमें जो जो वीर जातियां हैं उनके पूर्वज वीर महाभारत कालमें भारतीय महायुद्धमें संमिलित थे। इसलिये यह इतिहास अपने ही प्राचीन पूर्वजोंका इतिहास है। अतः इस दृष्टिसे इस ग्रंथका इस समय भी राष्ट्रीय महत्त्व है।

इस विषयमें प्रसंगसे आगे भी अधिक वर्णन आनेवालाही है, इसलिये इस विषयको यहांही समाप्त करते हैं।

छः खूंटियोंवाला बडा चक्र।

धौम्य मुनिके तीसरे ज्ञानी शिष्य वेद नामक थे। समावर्तन-संस्कार होनेके पश्चात् गृहस्थाश्रममें प्रविष्ट होनेके अनंतर उस आचार्य वेदके पास भी कई शिष्य वेदाभ्यासके लिये आ गये। उनमें एक अत्यंत सद्‌गुणी शिष्य उत्तंक नामसे प्रसिद्ध था और इसीपर पूजनीय आचार्यजीका भी अत्यंत विश्वास था। एक समय सम्राट् जनमेजयके घरके याजनकर्मके लिये जानेके कालमें आचार्य वेदजीने अपने शिष्य उत्तंकसे कहा कि ' हे उत्तंक ! मैं चाहता हूं, कि मेरी अनुपस्थितिमें मेरे घरमें जोकुछ अभाव हो, तुम उनको पूरा किया करो। ' इस प्रकार आज्ञा देकर आचार्यजी सम्राट्के याज्ञिक कर्मके लिये चले गये।

(२८४) 'विकर्षसि त्वं खलुकालयानः ।'
(भागवत ४ २४।६५)

'कालयानः' अशुद्ध है। 'कालयमानः' शुद्ध है।

(२८५) 'समाहितधियः सर्व एतदभ्यसतादृताः।'
(भागवत ४।२४।७१)

'अभ्यमत' अपाणिनीय है। 'अभ्यस्यत' शुद्ध है।

(२८६) 'अनेन ध्वस्ततमसः सिसृक्ष्मो विविधाः प्रजाः।'
(भागवत ४।२४।७३)

'सिसृक्ष्मः' अशुद्ध है। 'सिसृक्षामः' शुद्ध है।

(२८७) 'विन्दते पुरुषोऽमुष्माद्यद्यदिच्छत्यसत्वरम्।'
(भागवत ४।२४।७७)

'असत्वरम्' गीताप्रेस, पण्डित-पुस्तकालय, मथुरा संस्करणमें यह प्रयोग अशुद्ध है।

'असत्वरन्' पाठ शुद्ध है।

(२८८) 'संज्ञापिताञ्जीवसङ्घान्निर्घृणेन सहस्रशः।'
(भागवत ४।२५।७)

'संज्ञापितान्' अपाणिनीय है। 'संज्ञपितान्' शुद्ध है।

(२८९) 'प्राकारोपवनाट्टालपरिखैरक्षतोरणैः।'
(भागवत ४।२५।१४)

'परिखैः' अशुद्ध है। यहाँ 'पुवद्भाव' कैसे? 'परिखाभिः' (स्त्रीलिंग) शुद्ध है।

(२९०) 'हिमनिर्झरविप्रुष्मत्कुसुमाकरवायुना।'
(भागवत ४।२५।१८)

'विप्रुष्मता' अशुद्ध है। 'विप्रुष्मता' शुद्ध है।

(२९१) 'एता वा ललनाः सुभ्रु कोऽयं तेऽहिः पुरः सरः।'
(भागवत ४।२५।२७)

'सुभ्रु' अपाणिनीय है।

'अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः' (अष्टा० ७।३।१०७) के अनुसार अशुद्ध है।

(२९२) 'न विदाम वयम् ...।'
(भागवत ४।२५।३३)

'विदाम' अशुद्ध है। 'विद्मः' (लट्में) होना चाहिए।

(२९३) 'उद्वहिष्यामि तांस्तेऽहम्...।'
(भागवत ४।२५।३६)

'उद्वहिष्यामि' अपाणिनीय है।

लृट्में 'उद्वक्ष्यामि' होना चाहिए।

(२९४) 'शयानायामन्वास्ते क्वचिदासतीम्।'
(भागवत ४।२५।५९)

'अन्वास्ते' अशुद्ध है। 'आसीनाम्' 'ईदासः' (अष्टा० ७।२।८३) के अनुसार शुद्ध है। धातु आत्मनेपदी है।

(२९५) '... वाचा हृदयेन विदूयता।'
(भागवत ४।२६।१९)

'विदूयता' अप्रचलित व अशुद्ध है। 'विदूयमानेव' होना चाहिए।

(२९६) 'पुरञ्जनी महाराजरेमेरमयती पतिम्।'
(भागवत ४।२७।१)

'रमयती' अशुद्ध है। 'रमयन्ती' होना चाहिए।

(२९७) '... पौरञ्जन्यः प्रजापते।'
(भागवत ४।२७।७)

'पौरञ्जनीः' पाठ समीचीन है।

(२९८) 'कथं नु दारकादीना दारकीर्वा परायणाः।'
(भागवत ४।२८।२१)

'दारकी' प्रयोग पाणिनीके 'प्रत्ययस्थात् कात पूर्वस्यात इदाप्यसुपः' (अष्टा० ७।३।४४) के अनुसार अशुद्ध है। 'दारिका' होना चाहिए।

(२९९) '... मां येनाग्रे विचचर्थेह।'
(भागवत ४।२८।५२)

चर गतौ भक्षणेऽपि, द्वितीय पुरुष, एकवचनसे 'विचचर्थ' बना है।

'थलिचसेटि' (अष्टा० ६।४।१२१) के अनुसार 'विचेरिथ' प्रयोग शुद्ध है।

(३००) 'अपिस्मरसि चात्मानमविज्ञातसखं सखे।'
(भागवत ४।२८।५३)

'राजाहः सखिभ्यष्टच्', अष्टाध्यायीके सूत्रसे यहाँ 'अविज्ञातसखम्' बहुव्रीहिसमास अशुद्ध है।

(३०१) '... चित्रमन्धो बहूदनम्।'
(भागवत ४।२९।१२)

'बहूदनम्' अशुद्ध है। 'बह्वोदनम्' शुद्ध है।

(३०२) '... उच्चावचपथाभ्रमन्।'
(भागवत ४।२९।३१)

'अदुहत्' का लुङ्में प्रयोग अशुद्ध है। 'अधुक्षत्' प्रयोग शुद्ध है।

(२६७) 'कृत्वा वत्सं सुरगणा इन्द्रं सोममदूदुहन्।'
(भागवत ४।१८।१५)

'अदूदुहन्' अपाणिनीय है। 'अधुक्षन्' शुद्ध है।

(२६८) 'सोऽश्वंरूपं च तद्धित्वा तस्मा अन्तर्हितः स्वराट्।' (भागवत ४।१९।१७)

'तस्मा अन्तर्हितः' चतुर्थीकारक अशुद्ध है। टीकाकार प. श्रीधरजीका निर्णय हास्योत्पादक है।

(२६९) 'तत्तस्य चाद्भुतंकर्म विचक्ष्य परमर्षयः।'
(भागवत ४।१९।१८)

'विचक्ष्य' अशुद्ध है। 'विख्याय' होना चाहिए।

(२७०) 'तदिदं पश्यत महद्धर्मव्यतिकरं द्विजाः।'
(भागवत ४।१९।३१)

'इदं' अशुद्ध है। 'इमम्' होना चाहिए।

(२७१) 'क्रतुर्विरमतामेष देवेषु दुखग्रहः।'
(भागवत ४।१९।३५)

'विरमताम्' अशुद्ध है।

'व्याङ्परिभ्यो रमः' (अष्टा० १।३।८३) के अनुसार 'विरमतु' शुद्ध है।

(२७२) '... प्रजापतेसङ्कल्पनं विश्वसृजां पिपीपृहि।' (भागवत ४।१९।३८)

'पिपीपृहि' अशुद्ध है।

पॄ पालनपूरणयोः से 'पिपृहिः' पाठ शुद्ध है।

(२७३) 'एष तेऽकारषीद्भङ्गं।'
(भागवत ४।२०।२)

'अकारषीत्' अशुद्ध है। 'अकार्षीत्' शुद्ध है।

(२७४) 'अनुशासित आदेशं शिरसाजगृहे हरेः।'
(भागवत ४।२०।१७)

'अनुशासितः' अपाणिनीय है। 'अनुशिष्टः' पाणिनीय है।

(२७५) 'रक्षिता वृत्तिदः स्वेषु सेतुषु स्थापिता पृथक्।' (भागवत ४।२१।२२)

'स्थापिता' अशुद्ध है। 'स्थापयिता' शुद्ध है।

(२७६) सद्यःक्षिणोत्यन्वहमेधतीसती...।'
(भागवत ४।२१।३१)

'एधती' अशुद्ध है। 'एधमाना' प्रयोग शुद्ध है।

(२७७) 'नात्यद्भुतमिदं नाथ तवाजीव्यानुशासनम्।' (भागवत ४।२१।५०)

'आजीव्यानुशासनम्' में सन्धि अशुद्ध है।

(२७८) 'न कुर्यात्कर्हिचित्सङ्गं
तमस्तीव्रंतितीरिषुः।'
(भागवत ४।२२।३४)

'तितीरिषुः' अशुद्ध है। 'तितीर्षुः' प्रयोग शुद्ध है।

(२७९) 'कृच्छ्रोमहानिह भवार्णवमप्लवेषां
षड्वर्गनक्रमसुखेन तितीरिषन्ति। तत्-
त्वंहरेर्भगवतो भजनीयमङ्घ्रिं
कृत्वोडुपंव्यसनमुत्तर दुस्तरार्णम्।'
(भागवत ४।२२।४०)

(क) तितीरषन्ति' अशुद्ध है। 'तितीर्षन्ति' शुद्ध है।

(ख) 'दुस्तरार्णम्' अशुद्ध है।

(२८०) 'भगवद्धर्मिणः साधोः श्रद्धया यततः सदा।' (भागवत ४।२३।१०)

'यततः' अशुद्ध है। 'यतमानस्य' शुद्ध है।

(२८१) 'विसिस्म्यू राजपुत्रास्ते।'
(भागवत ४।२४।२३)

'विसिस्म्यूः' अशुद्ध है।

'अनुदात्तङित आत्मनेपदम् (अष्टा० १।३।१२) के अनुसार ष्मिङ् ईषद्धसने आत्मनेपदी है। अतः 'विसिष्मियिरे' शुद्ध है।

(२८२) 'नम ऊर्जइषे त्रय्याः पतये यज्ञरेतसे।'
(भागवत ४।२४।३८)

'पतये' अपाणिनीय है।

'षष्ठीयुक्तश्छन्दसि वा' (अष्टा० १।४।९) के अनुसार 'पत्ये' शुद्ध रूप है।

(२८३) 'नमोवाचोविभूतये।'
(भागवत ४।२४।४३)

यह अपाणिनीय प्रयोग है, अलुक् समास है।

(३१८) '... शृणुवाम तुभ्यम् ।'
(भागवत ५।२।१०)

'तुभ्यम्' अशुद्ध है। 'तव' शुद्ध है।

(३१९) '... आसन्नभृङ्गनिकरंसर इन्मुखं[१९] ते।'
(भागवत ५।२।१३)

टीकाकार पं. श्रीधरके अनुसार 'इत् = इव, परन्तु वेदों व निरुक्तके अनुसार अशुद्ध है। 'इत्' पदपूरणम् है।

(३२०) '... एजयतेऽक्षिणी... ।'
(भागवत ५।२।१४)

'एजयतेऽक्षिणी' में सन्धि अशुद्ध है।

(३२१) 'चर्तुं तपोऽर्हसि मयासह ..।'
(भागवत ५।२।१५)

'चर्तुम्' अशुद्ध है।
चर सेट धातु है। अतः 'चरितुम्' पाठ शुद्ध है।

(३२२) '...यतः प्रतिसरन्तु शिवाः सचिव्यः।'
(भागवत ५।२।१६)

'सचिव्यः' अशुद्ध है। 'सचिवाः' शुद्ध है।

(३२३) 'अर्वाक्तनाभिर्नामरूपाकृतिभी रूपनिरूपणम्।' (भागवत ५।३।४)

'अर्वाक्तनाभि.' अशुद्ध है। 'अर्वाक्तनीभिः' शुद्ध है।
पाणिनीके 'टिड्ढाणञ् द्वयसज् दघ्नञ् मात्र चतय ठक्ठञ्कञ्क्वरपः' (अष्टा० ४।१।१५) से स्त्रीलिङ्ग रूपके लिए ङीप् आवश्यक है। 'सायंचिरंप्राह्णेप्रगेऽव्ययेभ्यष्ट्युट्युलौतुट् च' (अष्टा० ४।३।२३) के अनुसार शब्दका रूप बना है।

(३२४) '.. गृहीत नरलोक स धर्मं भगवन्तम्।
(भागवत ५।४।४)

'गृहीतनरलोक स धर्मं भगवन्तम्' में 'समासके मध्यमें 'सधर्मं' शब्द अपाणिनीय है, क्योंकि 'स धर्मं' विशेषण और एक बहुव्रीहि समास है इसलिए यहाँ 'स' व्यर्थ है और यह रूप अशुद्ध है।

(३२५) '..गृहेषु लोकं नियमयत्।'
(भागवत ५।४।१४)

'नियमयत्' अशुद्ध है। 'न्ययमयत्' शुद्ध है।

(३२६) '.. यदिन्द्रियप्रीतय आपृणोति।'
(भागवत ५।५।४)

'आपृणोति' अशुद्ध है। 'आप्रियते' शुद्ध रूप है।

(३२७) '...सर्वे महीयांसममुं सनाभम्।'
(भागवत ५।५।२०)

'सनाभम्' अपाणिनी है।
ज्योतिर्जन पदरात्री नाभिनामगोत्र रूपस्थान वर्णवयोवचन बन्धुषु' (अष्टा० ६।३।८५) के अनुसार 'सनाभिम्' शुद्ध है।

(३२८) 'देवासुरेभ्यो मघवत्प्रधाना...।'
(भागवत ५।५।२२)

'देवासुरेभ्यः' में सन्धिकार्य अशुद्ध है।
'देवा असुरेभ्यः' शुद्ध है।

(३२९) 'विमोक्तुमीशेत्।'
(भागवत ५।५।२७)

'ईशेत्' अशुद्ध है। 'ईश-धातु 'अदादिगणीय' और सदा आत्मनेपदी है अतः 'ईशीत' शुद्ध है।

(३३०) खाद्त्यवमेहति हृदति स्म चेष्टमानः।
(भागवत ५।५।३२)

'हृदति' अशुद्ध है। हृद (धातुपाठ ९७७) से बनता है। धातु आत्मनेपदी है।

(३३१) 'विश्रम्भमनवस्थानस्य शठकिरात-इव सङ्गच्छन्ते।
(भागवत ५।६।२)

'सङ्गच्छन्ते' अपाणिनीय है।
सम् + गम् 'समोगम्यृच्छिभ्याम्' (अष्टा० १।३।२९) के अनुसार आत्मनेपद है और अकर्मक है, परन्तु 'विश्रम्भम्' यहाँ कर्म है।
'सङ्गच्छते' शुद्ध है।

(३३२) '...भगवदीयत्वेनैव...।'
(भागवत ५।६।१७)

'भगवदीय' अशुद्ध है।

---

१९ 'इन्मुखं' पाठ उचित है। 'पण्डित-पुस्तकालय, काशी संस्करण, सामयिकी भा. टी. पृष्ठ ४२८ में 'उन्मुखं' पाठ है जो अशुद्ध है।

'इन्मुखं' पाठ मथुरा संस्करण, बालबोधिनी भा. टी. पृष्ठ ३४८ तथा गीताप्रेस गोरखपुर संस्करणमें है। काशी संस्करणवालोंकी भयंकर भूल है। —(लेखक)

'उच्चावचपथा' अशुद्ध है। 'उच्चावचपथेन' होना चाहिए।

(३०३) 'श्रृण्वतः श्रद्दधानस्यनित्यदास्याद-
धीयतः।' (भागवत ४।२९।३८)

'अधीयतः' अशुद्ध है।

'अधि इङ्अध्ययने (धातुपाठ १०४६) आत्मनेपद है। इसलिए 'अधीयानस्य' पाठ शुद्ध है।

(३०४) 'स त्वं विचक्ष्य ...।'
(भागवत ४।२९।५५)

'विचक्ष्य' अपाणिनीय है।

'चक्षिङः ख्याञ्' (अष्टा० २।४।५४) के अनुसार 'विख्याय' शुद्ध है।

(३०५) 'काशिष्णुना ...।'
(भागवत ४।३०।६)

'अलंकृञ्निराकृञ्प्रजनोत्पचोत्पतोन्मदरुच्यपत्रपवृतु वृधु-सहचर इष्णुच् (अष्टा० ३।२।१३६) के अनुसार 'काशिष्णुना:' पाठ अशुद्ध है।

(३०६) 'देभिर्नी रोदमानाया निदघे स दया-
न्वितः।' (भागवत ४।३०।१४)

'रोदमानाया' अशुद्ध है।

'रुदिर् अश्रुविमोचने' परस्मैपदीसे 'रुदत्या:' प्रयोग उचित है।

(३०७) 'येनोपशान्तिर्भूतानां क्षुल्लकानामपी-
हताम्।' (भागवत ४।३०।२९)

'ईहताम्' अपाणिनीय है।

'ईहमानानाम्' प्रयोग पाणिनीय है।

क्रिया ईह चेष्टायाम् आत्मनेपदी (धातुपाठ ६३२) है।

(३०८) 'इति प्रचेतसां पृष्टो भगवान्तारदो मुनिः।'
(भागवत ४।३१।८)

'प्रचेतसां पृष्टः' में सम्बन्धकारक अशुद्ध है। यहाँ करणकारक होना चाहिए।

(३०९) 'स्वानां दिदृक्षुः प्रययौ ज्ञातीनां निर्वृ-
ताशयः।' (भागवत ४।३१।३०)

'स्वानां ज्ञातीनाम्' में सम्बन्धकारक अशुद्ध है।

'न लोकाव्यय' (अष्टा० २।३।६९) के अनुसार 'स्वान् ज्ञातीन्' होना चाहिए जो दिदृक्षुः में उप्रत्यय द्वारा षष्ठी समास है।

स्कन्ध ५

(३१०) 'वयं भवस्ते तत एष महर्षिर्वहाम
सर्वे विवशा यस्यदिष्टम्।'
(भागवत ५।१।११)

'वहाम' अशुद्ध है। लट्में 'वहामः' होना चाहिए।

(३११) '... विहन्तुं तनुभृद्विभूयात्।'
(भागवत ५।१।१२)

'विभूयात्' अशुद्ध है। 'आशीर्लिङ्' अशुद्ध है। यहाँ विधिलिङ्के अनुसार 'विभवेन्' शुद्ध होगा।

(३१२) यथानुभूतं प्रतियातनिद्रः किं त्वन्य-
देहाय गुणान्न वृङ्क्ते।'
(भागवत ५।१।१६)

'वृङ्क्ते' अशुद्ध है। 'वृणीते' शुद्ध है।

(३१३) '... आत्मविद्यायामर्भभावादारभ्य।'
(भागवत ५।१।२६)

'अर्भभावात्' अशुद्ध है। 'अर्भकभावात्' शुद्ध है।

(३१४) '... यौषिण्यम्...।'
(भागवत ५।१।२९)

'यौषिण्यम्' अशुद्ध है। 'योषन्' शुद्ध है।

(३१५) '... प्रजा औरसवद्धर्मविक्षमाण...।'
(भागवत ५।२।१)

'धर्मविक्षमाणः' में समास अपाणिनीय है। 'धर्मम् या धर्मेण उपपद नहीं है, 'अवेक्षमाणः' तिङन्त है, अतः यहाँ समास असम्भव है।

(३१६) '... विकचय्य व्यचष्ट।'
(भागवत ५।२।५)

'विकचय्य' अशुद्ध है। 'विकच' से क्रियापद संज्ञा है।

'विकचयित्वा' होना चाहिए।

(३१७) 'कस्मै युयुक्षसिवने विचरन्न...।'
(भागवत ५।२।८)

'युयुङ्क्षसि' अपाणिनीय है। 'युयुक्षि' पाणिनीय है।

'निकामयेत्' अशुद्ध है। 'कर्मणिङ्' (अष्टा० ३।१।३०) के अनुसार 'निकामयेत' शुद्ध है। धातु आत्मनेपद है।

(३४९) 'मथ्नन्ति मथ्ना मनसा...।'

(भागवत ५।१८।३६)

'मथ्ना' अपाणिनीय है।

'पथिमथ्यृभुक्षामात्' (अष्टा० ७।१।८५) के अनुसार 'मथा' शुद्ध है।

(३५०) 'माया यथायो भ्रमते ..।'

(भागवत ५।१८।३८)

'भ्रमते' अशुद्ध है। 'भ्रमति' (परस्मैपद) शुद्ध है।

(३५१) प्रत्यक् प्रशास्तं सुधियोपलम्भनं
ह्यनामरूपं निरहं प्रपद्ये।'

(भागवत ५।१९।४)

'उपलम्भनम्' ल्युट्कर्मणिके साथ यह प्रयोग अशुद्ध है। 'उपलभ्यम्' शुद्ध है।

(३५२) 'कुतोऽन्यथास्या द्रमतः स्व आत्मनः।

(भागवत ५।१९।५)

'रम' धातु नित्य आत्मनेपदी है। अतः 'शानच्से 'रममाणस्य' होगा। 'रमतः' अशुद्ध है।

(३५३) 'ते भूमो वनौका इव यान्ति बन्धनम्।'

(भागवत ५।१९।२५)

'वनौका' अशुद्ध है। 'वनौकसः' शुद्ध पाठ है।

(३५४) 'एकः पृथङ्नामभिराहुतो मुदा...।'

(भागवत ५।१९।२६)

'आहुतः' अशुद्ध है। 'आहूतः' शुद्ध है।

(३५५) 'आपोमयं देवमपां...।'

(भागवत ५।२०।२२)

'आपोमयम्' अशुद्ध है। 'अम्मयम्' शुद्ध है।

(३५६) 'भयमाशासते।' (भागवत ५।२२।१३)

'माशंसते' अशुद्ध है। 'आशंसति' शुद्ध है। शंस धातु परस्मैपदी है।

(३५७) 'अमृजितकषायः।' (भागवत ५।२४।२६)

'मृजूष शुद्धौ (१०६६ धातु पाठ) वेट् है क्योंकि धातु पाठमें यह ऊदित् पढा जाता है इसलिए 'यस्य विभाषा' (अष्टा० ७।२।१५) के अनुसार 'अमृष्ट' होना चाहिए।

(३५८) 'सहस्र शीर्षाणां फणासु—।'

(भागवत ५।२४।३१)

'शीर्षाणां' अशुद्ध है। 'शीर्ष्णां' शुद्ध है।

'शीर्षन्' 'शीर्षश्छन्दसि' (अष्टा० ६।१।५९) के अनुसार केवल वेदोंमें व्यवहार किया जाता है।

टीकाकार पं. श्रीधरका उच्चारण अशुद्ध है।

(३५९) 'प्रलम्भलाद्धा।' (भागवत ५।२५।११)

'प्रलम्भः' यहाँ 'परिहासः' (हँसी) के अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। यह प्रयोग संस्कृत साहित्यमें अज्ञात है।

(३६०) 'कृमिकुण्डे कृमिभूत...।'

(भागवत ५।२६।१८)

'कृमिभूत' पाणिनीके 'च्वौच' (अष्टा० ७।४।२६) के अनुसार अपाणिनीय है।

(३६१) '... भागण लोक संस्था।'

(भागवत ५।२६।४०)

'भागण' अशुद्ध है। 'भगण' (तारागण) शुद्ध है।

स्कन्ध ६

(३६२) 'विप्रां स्वभार्यामप्रौढां कुले महति-
लम्भिताम्।' (भागवत ६।१।६५)

'लम्भिताम्' = 'परिणीताम्'

'लम्भिताम्' एक अव्यवहारिक व अप्रचलित शब्द है।

(३६३) 'अहोकष्टं धर्मदृशामधर्मः स्पृशते-
सभाम्।' (भागवत ६।२।२)

'स्पृशते' अशुद्ध है। 'स्पृशति' शुद्ध है जो स्पृश धातु, तुदादि, परस्मैपदीसे बना है।

(३६४) 'यथागदं वीर्यतममुपयुक्तं यदृच्छया।'

(भागवत ६।२।१९)

'वीर्यतमम्' अशुद्ध है। 'वीर्यवत्तमम्' होना चाहिए।

(३६५) 'यमराज्ञ यथा सर्वमाचचक्षुररिन्दम।'

(भागवत ६।२।२१)

'यमराज्ञे', 'आचचक्षुः' दोनोंही प्रयोग अशुद्ध है।

(क) 'राजाहस्सखिभ्यष्टच्' (अष्टा० ५।४।९१) के अनुसार 'यमराजाय' शुद्ध है।

(ख) 'आचचक्षिरे' शुद्ध है। धातु चक्षिङ् है जो ङित्करणमके कारण आत्मनेपद है।

(३६६) '...वृषल्यां जायताऽऽत्मना।'

(भागवत ६।२।२६)

'जायता' अशुद्ध है। 'जायमानेन' शुद्ध है।

(३६७) 'मा भैरेत्याययुर्द्रुतम्।'

(भागवत ६।३।१०)

(३३३) 'सुरेतसादः पुनराविश्य चष्टेहंसं गृध्राणं नृषद्रिङ्गिरामिमः ।'

(भागवत ५।७।१४)

'गृध्राणम्' अशुद्ध है। 'गृध्यन्तम्' शुद्ध है।

'नृषद्रिङ्गिराम्' में 'रिङ्गिराम्' अशुद्ध है। 'रिङ्गिरम्' शुद्ध है।

(३३४) '...मृतमातरमित्याश्रमपदमनयत्।'

(भागवत ५।८।७)

'नद्यृतश्च' (अष्टा० ५।४।१५३) के अनुसार 'मृतमातृकः' शुद्ध है।

(३३५) '...अनसूयुनाऽनुष्ठेयं।'

(भागवत ५।८।९)[२०]

'अनसूयुः' प्रयोग 'सनाशंसभिक्षभ्य उ' (अष्टाध्यायी ३।२।१६८) के अनुसार अशुद्ध है।

(३३६) '...स्यादधिगम्यमध्वा...।'

(भागवत ५।१०।९)

'अधिगम्यम्' नपुंसकलिंग अव्यवस्थित है, क्योंकि 'अध्वा' पुंलिंग है।

(३३७) '...साम्येन वाताभिमतेस्तवापि।'

(भागवत ५।१०।२५)

'अभिमतिः' = 'अभिमान' अर्थमें प्रयुक्त है। यह शब्द अस्पष्ट है और प्रायः लौकिक साहित्यमें नहीं पाया जाता है।

(३३८) '...परस्परं चालपते निरन्धः।'

(भागवत ५।१३।६)

'आलपते' अशुद्ध है 'आलपति' शुद्ध है।

(३३९) 'याचन्परादप्रतिलब्धकामः।'

(भागवत ५।१३।१२)

'याचन्' अशुद्ध है। 'याचमानः' शुद्ध है।

याच् उभयपदी है 'पर' सर्वनाम है। इसलिए 'पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा' (अष्टा० ७।१।१६) के अनुसार 'याचमानः' होगा।

(३४०) 'क्वचिद्कदाचिद्धरिचक्रतस्त्रसन्।'

(भागवत ५।१३।१६)

'त्रसन्' अशुद्ध है। 'त्रस्यन्' शुद्ध है।

(३४१) इत्येवमुत्तरामातः स वै ब्रह्मर्षिसुतः...।'

(भागवत ५।१३।२४)

'उत्तरामातः' अशुद्ध है। 'उत्तरामातृक' सम्बोधन कारकमें शुद्ध है।

(३४२) '...कामान् दुदूहुः...।'

(भागवत ५।१५।११)

'दुदूहु.' अशुद्ध है। 'दुदुहुः' शुद्ध है।

(३४३) ...सर्वविजिज्ञासामि।'

(भागवत ५।१६।२)

'विजिज्ञासामि' अशुद्ध है। 'विजिज्ञासे' पाणिनीके 'ज्ञाश्रुस्मृदृशां सनः' (अष्टा० १।३।५७) के अनुसार उचित है।

(३४४) 'भजे भजन्यारणापादपङ्कजं।'

(भागवत ५।१७।१८)

'भजन्य' अशुद्ध है। 'भजनीय' शुद्ध है।

(३४५) 'यमनन्तमृषयः।'

(भागवत ५।१७।२१)

'ऋषय.' अशुद्ध है। 'ऋषयः' शुद्ध है।

(३४६) 'यन्निर्मितां कर्ह्यपि कर्म पर्वणीं मायां जनोऽयं गुणसर्ग मां हितः।

(भागवत ५।१७।२४)

'कर्मपर्वणीम्' अपाणिनीय है।

'एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य' (अष्टा० ६।४।८२) के अनुसार 'कर्मपर्वण्यम्' होना चाहिए।

(३४७) 'पितरं जिजीविषति।'

(भागवत ५।१८।३)

'जिजीविषति' अपाणिनीय है।

(३४८) 'या तस्य ते पादसरोरुहार्हणं निकामयेत्...।'

(भागवत ५।१८।२१)

---

२० पण्डित पुस्तकालय, काशी संस्करण, सामयिकी भा. टी., पृष्ठ ४४५ में 'सू' मुद्रित नहीं है। मथुरा संस्करण, पृष्ठ ३६३ में तथा गीता प्रेस, गोरखपुरमें शुद्ध है। —(लेखक)

१५५ रथं वामनुगायसं य इषा वर्तते सह । न चक्रमभि बाधते ॥ ३४ ॥
१५६ हिरण्ययेन रथेन द्रवत्पाणिभिरश्वैः । धीजवना नासत्या ॥ ३५ ॥
१५७ युवं मृगं जागृवांसं स्वदथो वा वृषण्वसू । ता नः पृङ्क्तमिषा रयिम् ॥ ३६ ॥
१५८ ता मे अश्विना सनीनां विद्यातं नवानाम् ।
यथा चिच्चैद्यः कशुः शतमुष्ट्रानां ददत् सहस्रा दश गोनाम् ॥ ३७ ॥
१५९ यो मे हिरण्यसंदृशो दश राज्ञो अमंहत ।
अधस्पदा इच्चैद्यस्य कृष्टय–श्चर्मम्ना अभितो जनाः ॥ ३८ ॥

अर्थ—[१५५] (यः इषा सह वर्तते) जो अन्नके साथ रहता है उस (वां अनुगायसं रथं) तुम्हारे रथको जिसके पीछे स्तुति करनेवाले लोग रहते हैं (चक्रं न अभि बाधते) शत्रुसैन्य कष्ट नहीं पहुँचाता है ॥ ३४ ॥

[१५६] हे (धी जवना नासत्या) बुद्धिके तुल्य वेगवाले सत्यपूर्ण अश्विदेवों ! (द्रवत्-पाणिभिः अश्वैः) दौडते हुए घोडोंसे और (हिरण्ययेन रथेन) सुवर्णमय रथसे आओ ॥ ३५ ॥

[१५७] हे (वृषण्वसू) धनकी वर्षा करनेहारे ! (युवं वा) तुम तो (जागृवांसं मृगं स्वदथः) जागृत एवं ढूँढनेयोग्य सोमका सेवन करते हो, ऐसे (ता) वे दोनों तुम (नः रयिं) हमारे धनको (इषा पृङ्क्तं) अन्नसे जोड दो ॥ ३६ ॥

[१५८] हे (अश्विना) अश्विदेवो ! ऐसे तुम विख्यात (ता) वे दोनों (मे) मेरे लिए (नवानां सनीनां) नये और देनेके योग्य धनोंको (विद्यातं) जान लो। (यथा) जिस तरह (चैद्यः) चित् अर्थात् ज्ञानके पुत्र ज्ञानी तथा (कशुः) तेजस्वी दाताने मुझे (उष्ट्रानां शतं) सौ ऊंट तथा (गोनां दशसहस्रा) दस हजार गायें मुझे (ददत्) दीं ॥ ३७ ॥

[१५९] (यः) जिस तेजस्वी राजाने (मे) मुझे (हिरण्यसंदृशः) सोनेके समान वर्णवाले अर्थात् तेजस्वी (दश राज्ञः) दस राजाओंको (अमंहत) प्रदान किया। (चैद्यस्य) ऐसे ज्ञानीके (कृष्टयः अधः पदाः इत्) सारी प्रजायें नीचेही रहती हैं और (अभितः जनाः) चारों ओरके लोग (चर्मम्ना) उसके पास शरणमें आते हैं ॥ ३८ ॥

भावार्थ— इन अश्विदेवोंके रथोंमें अन्न सदा भरपूर प्रमाणमें रहता है और इन रथोंके पीछे सदा इन देवोंके अनुयायी चलते हैं, अतः शत्रुगण इनके रथोंको कोई भी नुकसान नहीं पहुंचा पाते ॥ ३४ ॥

अश्विदेवोंके रथ मनके समान शीघ्र गतिवाले हैं। ऐसे सुनहरे और वेगवान् रथोंमें बैठकर ये देव सर्वत्र संचार करते हैं ॥ ३५ ॥

दोनों अश्विदेव धनको वर्षा करनेवाले हैं, अतः ये दोनों ऐसे व्यक्तिकी खोज करते हैं कि जो सदा जागृत रहकर इन्हें सोम प्रदान करता है। आलसी लोगोंके पास ये दोनों देव नहीं जाते ॥ ३६ ॥

हे अश्विदेवो ! तुम दोनों सर्वज्ञ हो अतः तुम मेरे मनोरथोंको जानतेही हो। जिस प्रकार मुझे दूसरे ज्ञानी और तेजस्वी दाता दान देते हैं, उसी तरह या उससे भी अधिक दान तुम दोनों मुझे दो ॥ ३७ ॥

उत्तम ज्ञानीके पास बडे बडे राजा भी दासके समान आकर रहते हैं। सारी प्रजायें ऐसे ज्ञानीके अधीन रहती हैं। और चारों तरफके लोग इस ज्ञानीकी शरणमें आकर रहते हैं ॥ ३८ ॥

'मा भैः' अशुद्ध है।

'मा माङ्योगे' (अष्टा० ६।४।७४) के अनुसार 'मा भैषीः' होना चाहिए।

(३६८) 'तत् क्षम्यतां स भगवान् पुरुषः।'

(भागवत ६।३।३०)

'क्षम्यताम्' अपाणिनीय है। 'क्षमताम्' पाणिनीय है।

(३६९) 'कथं तदनुरूपाय गुणविश्रम्भ्युपक्रमेत्'

(भागवत ६।५।२०)

'उपक्रमेत्' अशुद्ध है। पाणिनीके 'प्रोपाभ्यां समर्थाभ्याम्' (अष्टा० १।३।४२) सूत्रके अनुसार 'उपक्रमेत' होना चाहिए।

(३७०) 'अखण्डचित्तमाविश्य लोकाननुचरन्मुनिः।'

(भागवत ६।५।२२)

'अनुचरत्' अशुद्ध है। 'अन्वचरत्' शुद्ध है।

(३७१) '...ब्रह्मादयो ये वयमुद्विजन्तः।'

(भागवत ६।९।२१)

'उद्विजन्त' अशुद्ध है। 'उद्विजमानाः' शुद्ध है। ओ विजी भयचलनयोः (धातुपाठ १२८९) आत्मनेपद है।

(३७२) 'वयं न यस्यापि पुरःसमीहतः पश्याम लिङ्गं पृथगीशमानिनः।'

(भागवत ६।९।२५)

'समीहतः' अशुद्ध है। 'समीहमानस्य' शुद्ध है, क्योंकि ईह आत्मनेपदी है।

(३७३) 'चिक्षेप तामापततीं सुदुःसहां जग्राह...।'

(भागवत ६।११।९)

'आपततीम्' अशुद्ध है। 'आपतन्तीम्' शुद्ध है।

(३७४) 'युयुत्सतां कुत्रचिदाततायिनां...।'

(भागवत ६।१२।७)

'युयुत्सताम्' अशुद्ध है। युध आत्मनेपदी है, इसलिए पाणिनीके 'पूर्ववत् सनः' (अष्टा० १।३।६२) के अनुसार 'युयुत्समानानाम्' होगा।

(३७५) 'एवं सञ्चोदितो विप्रैर्मरुत्वानहनद्रिपुम्।'[२१]

(भागवत ६।१३।१०)

'अहनत्' अशुद्ध है। 'अहन्' शुद्ध है।

(३७६) 'स्वस्त्ययनं तथायुषम्।'

(भागवत ६।१३।२३)

'आयुषम्' अशुद्ध है 'तस्मैहितम्' (अष्टा० ५।१।५) के अनुसार 'आयुष्यम्' शुद्ध है।

(३७७) 'दारे प्रजावति।'

(भागवत ६।१४।३८)

'दार' एकवचनमें प्रयोग अशुद्ध है। 'दार' शब्द नित्य बहुवचन होता है अतः 'दारेषु' होना चाहिए।

(३७८) 'भूमण्डलं सर्षपायतियस्य मूर्ध्नि तस्मै नमो...।'

(भागवत ६।१६।४८)

'सर्षपायति' अशुद्ध है।

'कर्तुः क्यङ् सलोपश्च' (अष्टा० ३।१।११) के अनुसार 'सर्षपायते' शुद्ध है।

(३७९) 'जगाम स्वविमानेन पश्यतोः स्मयतोस्तयोः।'

(भागवत ६।१७।२५)

'स्मयतोः' अशुद्ध है। 'स्मयमानयोः' शुद्ध है, क्योंकि ष्मिङ् ईषद्धसने (धातुपाठ ९४८) आत्मनेपदी है।

(३८०) 'गुणदोष विकल्पश्च भिदेव स्रजिवत्कृतः।'

(भागवत ६।१७।३०)

'स्रजिवत्' अशुद्ध है।

'तत्रतस्येव' (अष्टा० ५।१।११६) के अनुसार स्रजीव' शुद्ध है।

(३८१) 'इति भागवतो देव्याः प्रतिशप्तुमलन्तमः।'

(भागवत ६।१७।३७)

'अलन्तमः' अशुद्ध है।

'किमेत्तिङव्ययघादाम्वद्रव्यप्रकर्षे' (अष्टा० ५।४।११) के अनुसार 'अलन्तमाम्' शुद्ध है।

---

२१ 'पण्डित पुस्तकालय, काशी संस्करण, समाधिकी, भा. टी. में अनहद्' अशुद्ध मुद्रित पाठ है, यहाँ 'अहनद्' होना चाहिए। मथुरा संस्करण, बालबोधिनी भा. टी. पृष्ठ ४७५ में तथा अन्य संस्करणोंमें अहनद्' पाठही है। —(लेखक)

१६३ कण्वा इन्द्रं यदक्रत स्तोमैर्यज्ञस्य साधनम् । जामि ब्रुवत आयुधम् ॥ ३ ॥
१६४ समस्य मन्यवे विशो विश्वा नमन्त कृष्टयः । समुद्रायेव सिन्धवः ॥ ४ ॥
१६५ ओजस्तदस्य तित्विष उभे यत् समवर्तयत् । इन्द्रश्चर्मेव रोदसी ॥ ५ ॥
१६६ वि चिद् वृत्रस्य दोधतो वज्रेण शतपर्वणा । शिरो बिभेद वृष्णिना ॥ ६ ॥

अर्थ— [१६३] (कण्वाः) ज्ञानी जनोंने (यत्) जब (ऋतस्य साधनं इन्द्रं) यज्ञको सिद्ध करनेवाले इन्द्रको (स्तोमैः अक्रत) स्तोत्रोंसे प्रार्थना की तब शत्रुके (आयुधं) शस्त्र (जामि ब्रुवत) भाई हुए ऐसा कहने लगे ॥ ३ ॥

१ ऋतस्य साधनं इन्द्रम्— इन्द्र यज्ञको सिद्ध करनेवाला है। यज्ञका साधन है।

२ आयुधं जामि ब्रुवत— शत्रुके शस्त्रको भाई है ऐसा कहने लगे।

[१६४] (अस्य मन्यवे) इस इन्द्रके क्रोधित हो जानेपर (विश्वाः कृष्टयः विशः) सभी मानवी प्रजायें (सिन्धवः समुद्राय इव) जैसे नदियां समुद्रके लिए उसी प्रकार (सं नमन्ते) नमन करती हैं ॥ ४ ॥

१ अस्य मन्यवे विश्वाः कृष्टयः विशः सं नमन्ते— इन्द्रके क्रोधित हो जानेपर सभी मनुष्य उसको प्रणाम करते हैं।

[१६५] (अस्य तत् ओजः) इसका वह बल (तित्विषे) प्रकाशित होता है, (यत्) जिस बलसे (इन्द्रः) यह इन्द्र (उभे रोदसी) दोनों द्यु और पृथिवीके साथ (चर्म इव) चमडेके समान (सं-अवर्तयत्) व्यवहार करता है ॥ ५ ॥

१ इन्द्रः रोदसी चर्म इव सं अवर्तयत्— इन्द्र अपने बलसे द्यु और पृथ्वीसे चमडेके समान व्यवहार करता है। अर्थात् चमडेके समान वह कभी इनको फैला देता है, और कभी समेट लेता है।

२ अस्य तत् ओजः— इस इन्द्रका ऐसा बल है।

[१६६] इस इन्द्रने (दोधतः वृत्रस्य चित्) [जगत्को] कंपानेवाले वृत्रासुरके (शिरः) शिरको (शतपर्वणा वृष्णिना वज्रेण) सकडों धाराओंवाले, बलवान् वज्रसे (वि बिभेद) काट डाला ॥ ६ ॥

१ दोधतः— कंपानेवाले 'धूञ् कम्पने'

२ शतपर्वणा वृष्णिना वज्रेण— सैकडों धारावाले बलवान वज्रसे। अपने अस्त्र शत्रुके शस्त्रोंसे अधिक मारक चाहिये।

भावार्थ— जब ज्ञानियोंके द्वारा स्तुति किए जानेपर उनके पास इन्द्र आता है, तब इन्द्र उनकी रक्षा करता है और तब शत्रुके शस्त्र भी उन ज्ञानियोंके मित्र बन जाते हैं अर्थात् शत्रुके शस्त्र भी उन ज्ञानियोंका कुछ बिगाड नहीं सकते ॥ ३ ॥

जब इन्द्र क्रोधित होता है, तब सारे प्राणि घबराने लगते है। सभी उसके क्रोधसे डरते हैं, अतः सब उसके क्रोधको शांत करनेके लिए उसे प्रणाम करते है, उसके पास विनीत भावसे जाते हैं ॥ ४ ॥

इस इन्द्रका बल अप्रमेय है। उसकी कोई सीमा नहीं है। उसके बलके आगे सारा जगत् तुच्छ है। इसीलिए वह द्युलोक और पृथ्वी जैसे बडे बडे लोकोंको भी चमडेके समान कभी लपेट देता है, तो कभी फैला देता है। प्रलयकालमें वह इन दोनों लोकोंको समेट देता है तो सृष्टिकालमें फैला देता है ॥ ५ ॥

जो दुष्ट कर्म करनेवाले होते हैं, उनसे सारा जगत् कांपता है। ऐसे दुष्टोंको इन्द्र मारता है और जगत्को भयरहित करता है ॥ ६ ॥

×

१६० माकिरेना पथा गाद् येनेमे यन्ति चेदयः ।
अन्यो नेत् सूरिरोहते भूरिदावत्तरो जनः ॥ ३९ ॥

[६]

(ऋषिः- वत्सः काण्वः । देवता- इन्द्रः, ४६-४८ तिरिन्दिरः पार्शव्यः । छन्दः- गायत्री ।)

१६१ महाँ इन्द्रो य ओजसा पर्जन्यो वृष्टिमाँ इव । स्तोमैर्वत्सस्य वावृधे ॥ १ ॥
१६२ प्रजामृतस्य पिप्रतः प्र यद् भरन्त वह्नयः । विप्रा ऋतस्य वाहसा ॥ २ ॥

अर्थ— [१६०] (येन इमे चेदयः यन्ति) जिस मार्गसे ये ज्ञानी जाते हैं, (एना पथा माकिः गात्) इस मार्गसे दूसरे मूर्ख जन नहीं जा सकते । इन ज्ञानियोंकी अपेक्षा (भूरिदावत्तरः) और अधिक दान देनेवाला तथ (सूरिः) विद्वान् (अन्यः जनः न) और कोई मनुष्य नहीं है ॥ ३९ ॥

[६]

[१६१] (यः इन्द्रः) जो इन्द्र (ओजसा) अपने बलके कारण (वृष्टिमान् पर्जन्यः इव) वृष्टि करनेवाले बादलके समान (महान्) श्रेष्ठ है, [वह इन्द्र] (वत्सस्य स्तोमैः) वत्सऋषिको स्तुतियोंसे (वावृधे) महान् प्रतीत होता है ॥ १ ॥

१ यः इन्द्रः ओजसा वृष्टिमान् पर्जन्यः इव महान्— जो इन्द्र अपने बलके कारण, वर्षा करनेवाले बादलके समान्, महान् है ।

२ वत्सस्य स्तोमैः वावृधे— वह इन्द्र वत्सकी स्तुतियोंसे महान् होता है ।

३ वत्स— पुत्र, बछडा, ऋषि,

[१६२] (ऋतस्य प्रजां) यज्ञके प्रजारूपी इन्द्रको [मार्गको अपनी गतिसे] (पिप्रतः) भर देनेवाले (वह्नयः) घोडे (यत् प्रभरन्त) जब होते हैं, [तब] (विप्राः) ज्ञानी (ऋतस्य वाहसा) यज्ञको सिद्ध करनेवाले स्तोत्रसे [उस इन्द्रका गुणगान करते हैं] ॥ २ ॥

१ ऋतस्य प्रजा— इन्द्र यज्ञमें आता है । यज्ञसे इन्द्रका अस्तित्व प्रकट होता है । इसलिये इन्द्रको यज्ञकी प्रजा माना है ।

२ पिप्रतः— पूर्ण करते हुए ' पृल् पूरणे '

३ वन्हिः— अग्नि, घोडा, ' वह्निरिति अश्व नाम ' (निघं. १।१४)

भावार्थ— जिस श्रेष्ठ मार्गसे ज्ञानी जाता है, उस मार्गसे मूर्ख लोग नहीं जा सकते । तथा इस ज्ञानीकी अपेक्षा अधिक दाता और विद्वान् भी दूसरा कोई नहीं होता ॥ ३९ ॥

वृष्टि करनेवाला मेघ वृष्टीद्वारा अन्न उत्पन्न करके सबका पालन करता है, इस कारण पालन कर्ता होनेसे मेघ महान् है । वैसाही इन्द्र सबका रक्षक होनेसे महान् है ॥ १ ॥

जहां जहां यज्ञ होता है और सोम निचोडा जाता है, वहां वहां इन्द्र प्रकट होता है, अतः इन्द्रको यज्ञका पुत्र माना जाता है । ऐसे सभी यज्ञोंमें इन्द्रके गुणोंका गान किया जाता है ॥ २ ॥

१७२ ये त्वामिन्द्र न तुष्टुवुर्ऋषयो ये च तुष्टुवुः । ममेद् वर्धस्व सुष्टुतः ॥ १२ ॥
१७३ यदस्य मन्युरध्वनीद् वि वृत्रं पर्वशो रुजन् । अपः समुद्रमैरयत् ॥ १३ ॥
१७४ नि शुष्ण इन्द्र धर्णसिं वज्रं जघन्थ दस्यवि । वृषा ह्युग्र शृण्विषे ॥ १४ ॥
१७५ न द्याव इन्द्रमोजसा नान्तरिक्षाणि वज्रिणम् । न विव्यचन्त भूमयः ॥ १५ ॥
१७६ यस्त इन्द्र महीरपः स्तभूयमान आशयत् । नि तं पद्यासु शिश्नथः ॥ १६ ॥

अर्थ— [१७२] हे (इन्द्र) इन्द्र ! (ये) जो मनुष्य (त्वां न तुष्टुवुः) तेरी स्तुति नहीं करते और (ये च ऋषयः तुष्टुवुः) जो ऋषि स्तुति करते रहे, [उन सबमें] (मम इत्) मेरीही स्तुतिसे (सुष्टुतः) अच्छी प्रकार प्रशंसित हुआ तू (वर्धस्व) बढ ॥ १२ ॥

[१७३] (यत् अस्य मन्युः) जब इसका क्रोध (वृत्रं पर्वशः वि रुजन्) वृत्रको टुकडे टुकडे करके मारता हुआ (अध्वनीद्) शब्द करता है, [तब इन्द्र] (अपः) जलोंको (समुद्रं ऐरयत्) समुद्रकी तरफ प्रेरित करता है ॥ १३ ॥

१ अपः समुद्रं ऐरयत्— तब जल समुद्र तक प्रवाहित होता है।

२ वृत्रः— मेघ, घेरनेवाला शत्रु

३ मन्युः— क्रोध, उत्साह

[१७४] हे (इन्द्र) इन्द्र ! तुमने (शुष्णे दस्यवि) शुष्णनामक राक्षस पर (धर्णसिं वज्रं) धारावाले वज्रको (नि जघन्थ) मारा [इसमे] हे (उग्र वृषा) वीर तथा बलवान् इन्द्र ! तुम (शृण्विषे) प्रसिद्ध हुए ॥ १४ ॥

१ इन्द्र ! शुष्णे दस्यवि धर्णसिं वज्रं नि जघन्थ— हे इन्द्र तू शुष्ण असुरको तीक्ष्ण वज्रसे मारता है।

२ उग्र शृण्विषे— तब वह वीर इन्द्र प्रसिद्ध होता है।

३ धर्णसि— तीक्ष्ण धारवाला

४ शुष्णः— शोषण करनेवाला,

[१७५] (द्यावः) द्युलोक (ओजसा) बलसे (इन्द्रं) इन्द्रको (न विव्यचन्त) व्याप्त नहीं कर सकते, (अन्तरिक्षाणि) अन्तरिक्ष लोक इस (वज्रिणं) वज्रको धारण करनेवाले इन्द्रको (न) नहीं घेर सकते, (भूमयः न) और भूमियां भी [इस इन्द्रको] नहीं घेर सकती ॥ १५ ॥

[१७६] (इन्द्र) हे इन्द्र ! (ते महीः अपः) तुम्हारे बडे बडे जल प्रवाहोंको (यः) जो वृत्रासुर (स्तभूयमान आशयत्) रोक करके रह रहा था, (तं) उसको तुमने (पद्यासु) बहनेवाले जलोंसेंही (नि शिश्नथः) मार डाला ॥ १६ ॥

भावार्थ— कुछ लोग ऐसे नास्तिक होते हैं कि जो प्रभुकी स्तुतिही नहीं करते तो कुछ लोग आस्तिक तो होते हैं और वे प्रभुकी स्तुति भी करते हैं, पर उनकी स्तुति प्रेमभरी और हृदयसे नहीं होती, तीसरे लोग वे होते हैं, कि जो प्रभुकी स्तुति बडेही प्रेमसे और हृदयसे करते हैं। प्रभु ऐसे तीसरे वर्गके लोगोंकी स्तुतिही सुनता है ॥ १२ ॥

जब इन्द्र क्रोधित होता है, अर्थात् बिजली चमकती है, तब मेघके टुकडे टुकडे होते हैं और उनसे जल बरसता है और वे जल समुद्रकी तरफ बहते हैं ॥ १३ ॥

जब इन्द्रने शुष्ण नामक असुरपर अपने तीक्ष्ण धारवाले वज्रको गिराया, तब वह असुर मर गया और तब वह बलवान् इन्द्र प्रसिद्ध हुआ। इसी तरह राजा अपने शत्रुओंको मारकरही प्रसिद्ध होता है ॥ १४ ॥

द्यु, अन्तरिक्ष और पृथ्वी लोक इस इन्द्रको घेर नहीं सकते, इतना वह इन्द्र अनन्त सामर्थ्यवाला है, अथवा वह सब जगह व्याप्त होनेसे ये तीनों लोक उसको घेर नहीं सकते ॥ १५ ॥

इन्द्रने बडे बडे जल प्रवाहोंको रोककर पडे हुए बादलोंको फाडा और पानीके रूपमें उन्हें बहाया ॥ १६ ॥

१६७ इमा अभि प्र णोनुमो विपामग्रेषु धीतयः । अग्नेः शोचिर्न दिद्युतः ॥ ७ ॥
१६८ गुहा सतीरुप त्मना प्र यच्छोचन्त धीतयः । कण्वा ऋतस्य धारया ॥ ८ ॥
१६९ प्र तमिन्द्र नशीमहि रयिं गोमन्तमश्विनम् । प्र ब्रह्म पूर्वचित्तये ॥ ९ ॥
१७० अहमिद्धि पितुष्परि मेधामृतस्य जग्रभ । अहं सूर्य इवाजनि ॥ १० ॥
१७१ अहं प्रत्नेन मन्मना गिरः शुम्भामि कण्ववत् । येनेन्द्रः शुष्ममिद् दधे ॥ ११ ॥

अर्थ— [१६७] (विपां अग्रेषु) विद्वानोंके आगे (इमाः) इन (अग्नेः शोचिः न) अग्निकी ज्वालाके समान (दिद्युतः) तेजस्वी (धीतयः) स्तोत्रोंको हम (अभि प्र णो नुमः) वारंवार बोलते हैं ॥ ७ ॥

[१६८] (गुहा सतीः) बुद्धिमें रहनेवाली (यत् धीतयः) स्तुतियां (उप प्र शोचन्त) प्रकाशित होती हैं, उनको (कण्वाः) ज्ञानी जन (ऋतस्य धारया) यज्ञको धारण करनेवाली [वाणी] से बोलते हैं ॥ ८ ॥

१ शोचन्त— प्रदीप्त होती है, प्रकाशित होती हैं । ' शुच् दीप्तौ ' ।

२ कण्वाः— कण्व ऋषिके पुत्र, ज्ञानी, ' कण्व इति मेधावि नाम ' (निघं. ३।१५)

३ गुहा सतीः धीतयः— अन्तःकरणमें रहनेवाली भक्तोंकी स्तुतियां ।

[१६९] हे (इन्द्र) इन्द्र ! हम (गोमन्तं अश्विनं) गौवोंवाले, घोडोंवाले (तं रयिं) उस ऐश्वर्यको (प्र नशीमहि) अच्छी तरह प्राप्त करें । तथा (पूर्व चित्तये) पूर्ण ज्ञानकी प्राप्तिके लिए (ब्रह्म) ज्ञानको भी (प्र) प्राप्त करें ॥ ९ ॥

[१७०] (ऋतस्य पितुः) यज्ञके पालक [इन्द्र] की (मेधां) बुद्धिको (अहं इत्) मैंनेही (परिजग्रभ) प्राप्त किया है [इस कारण] (अहं सूर्य इव अजनि) मैं सूर्यके समान [तेजस्वी] हो गया हूँ ॥ १० ॥

१ ऋतस्य पितुः मेधां अहं जग्रभ, सूर्य इव अजनि— यज्ञ तथा सत्यके पालक इन्द्रकी बुद्धि प्राप्त करनेसे मनुष्य सूर्यके समान तेजस्वी हो जाता है ।

[१७१] (कण्ववत् अहं) ज्ञानीके समान मैं (प्रत्नेन मन्मना) प्राचीन स्तोत्रसे अपने (गिरः) वाणीको (शुम्भामि) अलंकृत करता हूँ । (येन इन्द्रः) जिससे इन्द्र (शुष्मं इत् दधे) बलको धारण करता है ॥ ११ ॥

१ मन्मना गिरः शुम्भामि– परमात्माकी स्तुतिसे वाणीको उत्तम सुशोभित करता हूं ।

भावार्थ— विद्वानोंके आगे अग्निदेवके गुणोंका वर्णन करना चाहिए । अग्निदेवके गुणोंको और महत्त्वको विद्वान्ही समझ सकते हैं, मूर्ख नहीं ॥ ७ ॥

प्रभुको की जानेवाली स्तुतियां भक्तके अन्तःकरणमें रहती हैं । पर वे भक्तके अन्तःकरणको सदा पवित्र किए रहती हैं और उसके अन्तःकरणसेही वे स्तुतियां सदा प्रकट होती रहती हैं । ज्ञानी जन इस प्रकार अपने अन्तःकरणमें स्थित स्तुतियोंको अपनी वाणीके द्वारा प्रकट किया करते हैं ॥ ८ ॥

हे इन्द्र ! हम एक तरफ गाय और घोडोंवाले भौतिक ऐश्वर्यको भी प्राप्त करें, तो दूसरी तरफ उस ऐश्वर्यका सदुपयोग करनेके लिए ज्ञानको भी प्राप्त करें तथा पूर्णज्ञानी बनें ॥ ९ ॥

जो मनुष्य इन्द्रकी स्तुति करके उससे ज्ञान और बुद्धिको प्राप्त करता है, वह सूर्यके समान तेजस्वी होता है ॥ १० ॥

परमात्माकी स्तुति करनेसे मनुष्यकी वाणी उत्तम और पवित्र होती है और मनुष्यके द्वारा की गई स्तुतिसे प्रभुका महत्त्व सब ओर प्रकाशित होता है ॥ ११ ॥

१८३ आ नं इन्द्र महीमिषं पुरं न दर्षि गोमंतीम् । उत प्रजां सुवीर्यम् ॥ २३ ॥
१८४ उत त्यदाश्वश्व्यं यदिन्द्र नाहुषीष्वा । अग्रें विक्षु प्रदीदयत् ॥ २४ ॥
१८५ अभि व्रजं न तंत्निषे सूरं उपाकचंक्षसम् । यदिन्द्र मृळयासि नः ॥ २५ ॥
१८६ यदुङ्ग तंविषीयस इन्द्रं प्रराजसि क्षितीः । महाँ अंपार ओजंसा ॥ २६ ॥

अर्थ— [१८३] हे (इन्द्र) इन्द्र ! तू (नः) हमें (महीं गोमतीं पुरं) बडे गौवोंसे युक्त नगरको, (इषं) अन्नको (उत) और (प्रजां सु-वीर्यं) प्रजा तथा उत्तम बलको (नः आदर्षि दे ॥ २३ ॥

१ महीं गोमतीं पुरं— बडे गौओंसे भरे नगरको हमें दो।

२ इष— अन्नको दे दो।

३ प्रजां सुवीर्यं नः आदर्षि— प्रजा और उत्तम वीर्यको हमें दे दो।

नगरमें बहुत गौवें हैं तथा अन्न। प्रजा और उत्तम वीर्य लोगोंके पास हो।

[१८४] हे (इन्द्र) इन्द्र ! तुमने (अग्रे) पहले (नाहुषीषु विक्षु) नहुष राजाकी प्रजाओंको (यत् आशु अश्व्यं) जिस शीघ्र दौडनेवाले घोडेके समूहको (प्रदीदयत्) दिया था, (उत त्यद् आ) उसकोही [हमें दो] ॥ २४ ॥

नहुष— इस नामका एक राजा, मनुष्य 'नहुष इति मनुष्यनाम' (निघं. २।३)
शीघ्र दौडनेवाले घोडे अपने पास होने चाहिये।

[१८५] हे (इन्द्र) इन्द्र ! (यत् नः मृळयासि) जब हमें सुखी करते हो, तब (सूर) हे विद्वान् इन्द्र ! तुम (उपाक चक्षसं व्रजं न) पासमें दीखनेवाले गोष्ठको (अभितत्निषे) विस्तृत करते हो ॥ २५ ॥

१ उपाक- चक्षसं गोष्ठं अभितत्निषे— वह इन्द्र समीपके गोष्ठको गायोंसे भरकर विस्तृत करता है। गायोंका पालन करना चाहिये।

[१८६] हे (अंग इन्द्र) प्रिय इन्द्र ! तुम (यत् तविषीयसे) जब अपना बल प्रकट करते हो तब (महाँ अपार ओजसा) अपने महान्, अनन्त बलसे (क्षितीः प्रराजसि) मनुष्योंपर शासन करते हो ॥ २६ ॥

१ महां अपार ओजसा क्षितीः प्रराजसि— यह महान् इन्द्र अपने अनन्त बलसे सब मनुष्योंपर शासन करता है।

२ क्षितयः— मनुष्य, पृथ्वी, 'क्षितयः मनुष्यनाम' (निघं. २।३)

भावार्थ— हे इन्द्र ! तू हमें गायोंसे युक्त नगर, अन्न, उत्तम सन्तान तथा उत्तम बल प्रदान कर ॥ २३ ॥

मनुष्योंके राजाओंके पास दौडनेवाले घोडे हों, ताकि शत्रुपर आक्रमण करनेके समय वे उपयोगमें आ सकें ॥ २४ ॥

इन्द्र जिस मनुष्यको सुखी करना चाहता है, उसके गोष्ठको गायोंसे भर देता है। गायोंकी समृद्धिमेंही मनुष्योंकी समृद्धि है ॥ २५ ॥

यह इन्द्र अपने महान् और अनन्त बलके सहारेही सब विश्वपर शासन करता है। जो बलशाली है, वही प्रजाओंपर शासन कर सकता है ॥ २६ ॥

१७७ य इमे रोदसी मही संमीची समजग्रभीत् । तमोभिरिन्द्र तं गुहः ॥ १७ ॥
१७८ य इन्द्र यतयस्त्वा भृगवो ये च तुष्टुवुः । ममेदुग्र श्रुधी हवम् ॥ १८ ॥
१७९ इमास्त इन्द्र पृश्नयो घृतं दुहत आशिरम् । एनामृतस्य पिप्युषीः ॥ १९ ॥
१८० या इन्द्र प्रस्वस्त्वाऽऽसा गर्भमचक्रिरन् । परि धर्मेव सूर्यम् ॥ २० ॥
१८१ त्वामिच्छवसस्पते कण्वा उक्थेन वावृधुः । त्वां सुतास इन्दवः ॥ २१ ॥
१८२ तवेदिन्द्र प्रणीतिषूत प्रशस्तिरद्रिवः । यज्ञो वितन्तसाय्यः ॥ २२ ॥

अर्थ— [१७७] (यः) जिस वृत्रने (इमे मही समीची) इन विस्तृत तथा मिले हुए द्यावा पृथ्वीको (सं- अजग्रभीत्) पकड लिया, हे इन्द्र ! (तं) उस वृत्रको (तमोभिः गुहः) अन्धकारोंसे ढक दे ॥ १७ ॥

[१७८] हे (इन्द्र) इन्द्र ! (ये यतयः त्वा) जिन यतियोंने तेरी (तुष्टुवुः) स्तुति की, (च) और (ये भृगवः) जिन भृगुओंने [तेरी स्तुति की] उनमें हे (उग्र) शूरवीर इन्द्र ! (मम हवं श्रुधी) मेरे स्तोत्रको सुन ॥ १८ ॥

[१७९] हे (इन्द्र) इन्द्र (ते) तुम्हारी (ऋतस्य पिप्युषीः) यज्ञको बढानेवाली (इमाः पृश्नयः) ये गायें (एनां आशिरं घृतं) इस दूध और घीको (दुहत) दुहतीं हैं ॥ १९ ॥

१ ते इमा पृश्नयः आशिरं घृतं दुहत— इन्द्रके पास अनेक गायें हैं, जो घी दूध देती हैं।

२ ऋतस्य पिप्युषीः— गायें यज्ञको बढाती हैं, अतः हर यज्ञ करनेवालेको गायें पालनी चाहिए।

[१८०] हे (इन्द्र) इन्द्र ! (याः प्रस्वः) जो [बच्चे] उत्पन्न करनेवाली गायें (सूर्यं परि घर्म इव) सूर्यके चारों ओर पानीके समान, (त्वा) तेरे वीर्यको (आसा) मुखसे खाकर (गर्भं अचक्रिरन्) गर्भमें धारण करती है ॥ २० ॥

[१८१] हे (शवसस्पते , बलके स्वामिन् (त्वां इत्) तुझको ही (कण्वाः) ज्ञानी (उक्थेन वावृधुः) स्तोत्रसे उत्साहित करते हैं और (सुतासः इन्दवः त्वा) सोमरस भी तुझे हर्षित करते हैं ॥ २१ ॥

[१८२] हे (अद्रि-वः इन्द्र) पर्वतोंके किलोंमें वास करनेवाले इन्द्र ! जो (वितन्तसाय्यः यज्ञः) विस्तृत यज्ञ किये जाते हैं, [उन] (प्रणीतिषु) यज्ञोंमें (तव प्रशस्तिः) तेरो ही प्रशंसा [गाई जाती है] ॥ २२ ॥

१ प्रणीतिषु तव प्रशस्तिः— यज्ञोंमें इन्द्रकी प्रशंसा होती है। वीरकी प्रशंसा की जाती है।

भावार्थ— वृत्र अर्थात् मेघने जब द्यु और पृथ्वी लोकको आच्छादित कर लिया, तब सर्वत्र अन्धकार छा गया ॥१७॥ सब यति अर्थात् त्यागी जन भी इसी इन्द्रकी स्तुति करते हैं, और सबका भरण पोषण करनेवाले संसारी जन भी इसी इन्द्रकी स्तुति करते हैं। अर्थात् सभी लोग इसी प्रभुकीही स्तुति करते हैं ॥ १८ ॥

इन्द्र गायोंका पालन करनेवाला है, अतः उसकी गायें भरपूर प्रमाणमें दूध देती हैं। उन दूध और घृतसे यज्ञकी अग्नि प्रदीप्त होती है। इसी तरह राष्ट्रमें गायोंका पालन हो, तथा उन गायोंके दूध, दही और घृतसे यज्ञकी वृद्धि हो ॥ १९ ॥

सूर्यकी गायें अर्थात् किरणें इन्द्र अर्थात् विद्युत्के वीर्य अर्थात् जलको अपने मुंहसे पीती हैं और उस जलको बादलोंमें स्थापित करती हैं। इस प्रकार वे बादल उन जलोंके द्वारा गर्भित होते हैं ॥ २० ॥

इस इन्द्रको ज्ञानी जन अपने स्तोत्रोंसे उत्साहित करते हैं और सोमरस उसे हर्षित करते हैं ॥ २१ ॥

मेघरूपी किलेमें यह विद्युत्रूपी इन्द्र वास करता है और उन मेघोंसे पानी बरसानेपर सर्वत्र अन्न धान्यकी समृद्धि होती है, और उस अन्न-धान्यसे यज्ञ आदि किए जाते हैं, उन यज्ञोंमें इन्द्रकी स्तुति गाई जाती है ॥ २२ ॥

१८७ तं त्वा हविष्मतीर्विश उप ब्रुवत ऊतये । उरुज्रयसमिन्दुभिः ॥ २७ ॥
१८८ उपह्वरे गिरीणां संगथे च नदीनाम् । धिया विप्रो अजायत ॥ २८ ॥
१८९ अतः समुद्रमुद्वतश्चिकित्वाँ अव पश्यति । यतो विपान एजति ॥ २९ ॥
१९० आदित् प्रत्नस्य रेतसो ज्योतिष्पश्यन्ति वासरम् । परो यदिध्यते दिवा ॥ ३० ॥

अर्थ— [१८७] हे इन्द्र ! (तं) उस (उरुज्रयसं त्वां) महान् बलवाले तुमको (हविष्मतीः विशः) हवि देनेवाली प्रजायें (ऊतये) अपने रक्षणके लिए (इन्दुभिः उपब्रुवत) सोमरसोंको तयार करके पास बुलाती है ॥ २७ ॥

१ उरु - ज्रयस्— विशाल बलवाला,

२ हविष्मती। विशः— हवि तैयार करके यज्ञ करनेवाली प्रजायें।

३ उरुज्रयसं विशः ऊतये अपब्रुवत— अधिक बलवान् वीरको प्रजाएं अपने संरक्षणके लिये बुलाती हैं।

[१८८] (गिरीणां उपह्वरे) पहाडोंके उतार पर (च) और (नदीनां संगथे) नदियोंके संगमपर [मनुष्य] (धिया) बुद्धिसे (विप्रः अजायत) ज्ञानी बनता है ॥ २८ ॥

१ गिरीणां उपह्वरे— पहाडोंकी उतराईपर।

२ नदीनां संगमे— नदीयोंके संगमपर

३ धिया विप्रः अजायत— बुद्धिको बढानेसे मनुष्य ज्ञानी बनता है।

[१८९] (विपानः यतः एजति) व्यापक इन्द्र जिस स्थानसे गति करता है (उद्वतः अतः) ऊपरवाले उस स्थानसे (चिकित्वान्) बुद्धिमान् इन्द्र (समुद्रं अव पश्यति) जल मिश्रित सोमको या समुद्रको नीचे मुख करके देखता है ॥ २९ ॥

समुद्र— जल, समुद्र

[१९०] (दिवा परः) द्युलोकसे भी परे [यह इन्द्र] (यत् इध्यते) जब प्रकाशित होता है, (आत् इत्) उसके अनन्तरही, (प्रत्नस्य रेतसः) अति पुरातन वीर्यवान् [इस इन्द्रकी] (वासरं ज्योतिः) दिनको बनानेवाली ज्योतिको [मनुष्य] (पश्यन्ति) देखते हैं ॥ ३० ॥

१ परः दिवा यत् इध्यते— द्युलोकके ऊपर जब प्रकाशित होता है तब

२ प्रत्नस्य रेतसः वासरं ज्योतिः पश्यन्ति— पुरातन वीर्यसंपन्न इन्द्रकी दिनको बनानेवाली ज्योतिको मनुष्य देखते हैं।

भावार्थ— अपनी रक्षा करनेके लिए सारे प्राणी इसी बलशाली इन्द्रकी स्तुति करते हैं। बलशालीका सारी प्रजायें सत्कार करती हैं ॥ २७ ॥

पहाडोंकी उतराईपर अथवा नदीयोंके संगमपर मनुष्य ध्यान धारणा करके, विद्याध्ययन द्वारा अपनी बुद्धि बढानेसे ज्ञानी होता है ॥ २८ ॥

यह इन्द्र जहां जहां गति करता है, वहां वहांसे जलके समुद्रको खाली कर देता है। जहां जहां विद्युत् गति करती है, वहां वहांके बादल जलसे खाली हो जाते हैं। उनका सारा पानी पृथ्वीपर बरस जाता है ॥ २९ ॥

जब द्युलोकमें इन्द्र-सूर्य प्रकाशित होता है, तब चारों ओर उसका तेजस्वी प्रकाश फैल जाता है और उसकी ज्योति दिनको प्रकट करती है ॥ ३० ॥

मुफ्त भेंट मुफ्त भेंट मुफ्त भेंट

आज ही इस योजना का लाभ उठाइए। इस योजनामें आपके द्वारा खरीदी गई पुस्तकोंके साथ अन्य पुस्तकें आपको संस्था की ओरसे मुफ्तमें भेंट रूपमें दी जाएंगी।

योजना – १ – (१) अथर्ववेदका सुबोध अनुवाद (पांच भागोंमें)
कीमत रु. ६०–०० (डाकव्यय अलग रहेगा)

इन पांचों भागोंको एक साथ खरीदनेवालेको संस्थाकी ओरसे–

(१) ऋग्वेदसंहिता – (मूलमात्र)

(२) यजुर्वेदसंहिता–(मूलमात्र) या (३) सामवेदसंहिता– (मूलमात्र)

ये दो पुस्तकें मुफ्तमें दी जाएंगी। अथर्व - अनुवादके पांचों भाग हिन्दी-मराठी - गुजराती इन तीनों भाषाओंमें उपलब्ध हैं।

योजना – २ –(१) गीतापुरुषार्थबोधिनी मूल्य रु. ३०–००
(२) सामवेदभाष्य मूल्य रु. १८–०० (डाकव्यय अलग)

इन दोनों ग्रंथोंको एक साथ खरीदनेवालेको संस्थाकी ओरसे—
ऋग्वेदसंहिता (मूलमात्र)
मुफ्तमें दी जाएगी। योजना–२ की पुस्तकें हिन्दी तथा मराठी भाषाओंमें उपलब्ध हैं।

योजना – ३– (१) अथर्ववेदका सुबोध अनुवाद —
(पांच भागोंमें) मूल्य ६०–००
(२) गीतापुरुषार्थबोधिनी मूल्य ३०–००
(३) चाणक्य सूत्राणि मूल्य १८–०० (डा. व्य. अलग)

इन तीनों पुस्तकोंको एक साथ खरीदनेवाले को संस्थाकी ओरसे—
(१) ऋग्वेदसंहिता (मूलमात्र)
(२) यजुर्वेदसंहिता (मूल) अथवा सामवेदसंहिता (मूल)
(३) पं. सातवलेकर—जीवनप्रदीप (हिन्दी)

ये पुस्तकें मुफ्तमें दी जाएंगी। योजना - ३ की सभी पुस्तकें हिन्दी और मराठी भाषाओंमें उपलब्ध हैं।

यह " मुफ्त भेंट योजना " दिसम्बर १९७५ तक ही रहेगी। अतः शीघ्रता करें और आज ही अपना ऑर्डर भेजें। ऑर्डर देते समय किस भाषामें पुस्तकें चाहिए इसका भी उल्लेख अवश्य करें। पुस्तकों के लिए आज ही लिखें।

व्यवस्थापक
स्वाध्याय मण्डल, पारडी
जि. बलसार (गुजरात)

मुद्रक और प्रकाशक- व. श्री. सातवलेकर, भारत मुद्रणालय, पोस्ट- 'स्वाध्याय मण्डल, पारडी' [जि. बलसार]



वैदिक धर्म

वर्ष ५५ : अंक ५ : वैशाख : २०३०

स्वामी— स्वाध्याय-मंडल, पारडी [जि. बलसाड]

संस्थापक एवं आद्यसंपादक
श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

संपादक
वसंत श्रीपाद सातवलेकर

विषयानुक्रमणिका

卐

' वैदिक धर्म ' वार्षिक मूल्य म. आ. से ६) रु.

वी. पी. से रु. ७.५०. विदेशके लिए रु. ८.००, डाक व्यय अलग रहेगा।

इस अंकमें प्रसिद्ध किये गये लेखकोंके लेखोंमेंके मतों और विचारोंसे संपादक सहमत है ऐसा नहीं है। उन लेखोंमेंके विचारोंके लिये केवल लेखकही व्यक्तिशः उत्तरदायी है।

मंत्री— स्वाध्याय-मण्डल, पो.- ' स्वाध्याय-मण्डल (पारडी) ' पारडी [जि. बलसाड]

वैदिक धर्म

प्रातःकालमें भगवान्की प्रार्थना

प्रातर्जितं भगमुग्रं हुवामहे
वयं पुत्रमदितेर्यो विधर्ता ।
आध्रश्चिद् यं मन्यमानस्तुरश्चिद् राजा
चिद् यं भगं भक्षीत्याह ॥

(अथर्व ३-१६-२)



(वयं प्रातर्जित अदितेः उग्रं पुत्रं भगं हुवामहे) हम प्रातः कालके समय अदितिके विजयी शूर पुत्र भगकी प्रार्थना करते है, (आध्रः चित्) अशक्त भी और (तुरः चित् यं) बलवान् भी जिसको तथा (राजा चित्) राजा भी (यं मन्यमानः) जिसका सन्मान करता हुआ ('भगं भक्षि' इति आह) 'धनका भाग मुझे दे' ऐसा कहता है।

हम इस प्रातःकालके समय अदीनताके वीर भगवान्की प्रार्थना करते हैं, जो भगवान् सबका विशेष प्रकारसे धारण करनेवाला है और जिसको अशक्त, रंक और राजा, सभी एक प्रकारसे परम पुज्य मानते हुए, 'अपनेको भाग्यवान्' करनेकी इच्छासे प्रार्थना करते हैं।

लेखक : श्री आचार्य मुंशीराम शर्मा

वेदार्थ प्रक्रिया

आबद्ध अवस्थामें संसार व्यवस्थित एवं गतिशील है। इस गति एवं व्यवस्थाके पीछे परम चैतन्य शक्ति है, ऐसा हम लिख चुके है। आत्मा शब्द अत् सातत्यगमने धातुसे निष्पन्न होता है। पिंड शरीरकी गतिका कारण जीवात्मा है तो ब्रह्माण्डकी गतिका कारण परमात्मा। संसारकी सभी गतियां चक्राकार (reversible या periodic) है और ये गतियां तभी चलती रह सकती है जब इसकी संचालिका शक्ति इनसे भिन्न हो और चक्रका संचालन करती हुई स्वयं क्षीण न हो। पृथ्वीके वायुचक्र, जलचक्र और जीवन-चक्र एक ओर शक्तिके आश्रित माने जाते है। इस शक्तिको वेदने सविता नाम दिया है। सविता सर्वस्य प्रसविता या उत्पादक होनेके साथ सर्वस्य प्रेरयिता, प्रेरक या संचालक भी है। सविता शब्दका यह वैदिक प्रयोग अतीव उपयुक्त है।

सांख्यमें प्रकृतिकी जिन पूर्वोल्लिखित सात विकृतियोंका वर्णन है, उनमें प्राण कहीं पर भी नहीं है। वर्तमान विज्ञान विद्युन्मय है। यह विद्युत भी उनमें नहीं आई। हो सकता है, महत्तत्वमें इन दोनोंका सम्मिश्रण या अन्तर्भाव हो। विद्युतका द्युत अंक ज्योतिका संकेत दे रहा है। सतके परमाणु ज्योतिर्मय हैं। महत्तत्वमें सतके परमाणुओंका आधिक्य है। अतः विद्युत उसमें समाविष्ट है– ऐसा माना जा सकता है। पर प्राणके लिये क्या कहा जाय ? प्राण प्रत्येक गतिके मूलमें है। जीवन भी वही है। प्राण गर्भमें क्रियाशील रहता है और मृत्युके उपरान्त भी वही सूक्ष्म तथा कारण शरीरोंको लेकर बाहर निकल जाता है। स्थूल शरीर जलकर या गलकर या सूखकर समाप्त हो जाता है। इस प्राणको कहां स्थान दिया जाय ? ऋषियोंने सूर्यको प्रजाओंका प्राण कहा है। सूर्यकी ज्योति विद्युत है तो सूर्यकी ऊष्मा प्राण है। क्या ज्योति और ऊष्मा संगिनी हैं, सहेली हैं, साथ साथ रहनेवाली हैं ? यदि ऐसा है तो विद्युत और प्राण भी साथ साथ रह सकते है। महत्तत्वमें विद्युत तो महतत्वमें प्राण भी है।

पिप्पलादके अनुसार प्रजापतिने प्राण और रयिके जोडेको उत्पन्न किया। अघमर्षण सूक्तमें ऋत और सत्यका जोडा अभीद्ध तपसे उत्पन्न होता है। रयि यदि सतात्मक तत्व है तो ऋत अवश्यही प्राण है। ऋत गत्यात्मक तत्व है। प्राणमें भी गतिमत्ता है। तब ऋतही प्राण है। वर्तमान विज्ञानकी energy या ऊर्जा भी यही है।

रचनामें अहंकारके साथ कारण शरीरोंका निर्माण होने लगता है। इकाइयां पृथक पृथक भासित होने लगती है। कारण शरीरोंके उपरान्त सूक्ष्म और उनके उपरांत स्थूल शरीरोंका निर्माण होता है। यह त्रीक बडी दूर तक जाता है। जो बात प्राणियोंके शरीरोंके लिये कही जाती है, वही जगतके रूपोंके लिये जगतमें भूः, भुवः और स्वः पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्यावा लोकोंके लिये, तो अग्नि, विद्युत और आदित्य ज्योतियोंके लिये और ऋक, यजु तथा साम अथवा ज्ञान, कर्म और भक्ति जीवननिर्मायक वैज्ञानिक या धार्मिक साधनोंके लिये त्रिक रूपही है।

भाषा शब्दोंसे बनती है। उसमे भी ध्वनि, वर्ण एवं शब्दोंका त्रिक है। आचार्योंने शब्दोंके अर्थोंमे भी अभिधा लक्षणा, व्यंजना रूप त्रिककी स्थापना की है। उदात्त, अनुदात्त एवं स्वरित स्वर भी तीनही है। स्वर और व्यंजनोंके साथ संयुक्ताक्षर एवं अर्धस्वर और अर्धव्यंजनोंका भी त्रिक है। प्राण पांच है तो व्यंजनोंके वर्गोंमें भी पांच व्यंजन हैं, परंतु स्वर, व्यंजनोंके पांच वर्ग तथा अक्षरोंकी युतिमें सात भेद बन जाते है। त्रिकके साथ सप्तकका महत्व ही प्रख्यात है। भू से लेकर सत्य तक सात लोक है। छन्द भी गायत्री, त्रिष्टुप एवं जगतीके त्रिकके साथ साथ छन्दोंका सप्तक बनते है। शरीरके अन्दर धातुएं भी सात ही है।

वैदिक मंत्रोंकी अर्थ प्रक्रियामें इन सबका ध्यान रखना पड़ता है। वैदिक भाषाको गणितकी भाषा भी कहा गया है। गणितमे जैसे या क के संकेत कई संख्याओंके संकेतक बन जाते है, जैसे ही वेदमें अग्नि, इन्द्र, सोम आदि शब्द भी कई अर्थ-दिशाओंके ज्ञापक होते हैं। गणितकी भाषा सदैव ज्ञान रूपा है। वेदकी भाषा भी इसी प्रकारकी है। सामान्य भाषासे यह एक दिशामे भिन्न है। सामान्य भाषा अर्थ एवं अनर्थ दोनो कर सकती है। गणित या वेदकी भाषा ऐसा नहीं करती। एक जर्मन विचारकने अपनी पुस्तक Tyranny of wordsमें भाषाके अनर्थोंके अनेक उदाहरण दिये हैं। विज्ञानने आज अद्भुत यन्त्रोंका निर्माण करके मानव साधनोंको उच्च कोटिकी क्षमता प्रदान की है। वेद भाषाको भी हम ऐसा यंत्र कह सकते हैं। यदि वह हृदयगम हो सके तो मानव जीवन सक्षमतो बनेगा ही, वह उस सफलता या ध्येयका वरण भी कर सकेगा जिसके लिये वह अगणित योनियोंके जीवन कालमें प्रयत्नशील रहा है।

भारतीय मनीषा वेदको सर्वोपरि महत्ता देती रही है। मनु तो वेद भक्त हैं ही। मनुस्मृतिमें कई स्थानोंपर वेदके महत्वका प्रतिपादन हुआ है। मनुकी दृष्टिमे 'वेदश्चक्षु. सनातनम्' तथा 'वेदोऽखिलोधर्म मूलम्' जैसे वाक्य वेदकी प्रशंसा ही नहीं करते, उसे परम प्रमाण कोटिमें रख देते हैं। परवर्ती साहित्यमें हमारे यहां जो इतिहास, पुराण और काव्य लिखे गये वे भी वैदिक मर्मके उद्घाटनके लिये हो। व्यासका यह कथन सर्वविदित है, 'इतिहास पुराणाभ्याम् वेदं समुपबृंहयेत्'। भागवत पुराण अपने प्रारम्भिक माहात्म्य अध्याय २ के ६५ एवं ६७ श्लोकोंमें इसी कथनकी आवृत्ति करता है। यथा- 'तत् कथासु तु वेदार्थः श्लोके श्लोके पदे पदे। वेदोपनिषदाम् साक्षात् जाता भागवती कथा'। माहात्म्यका ६-८० श्लोक भी भागवतको 'निगमकल्पतरोर्गलितं फल' कहता है। भागवत वैदिक शब्द-प्रयोगोंसे भरी पड़ी है, इसे सभी अध्येता अनुभव करते हैं। भरतने अपने नाट्यशास्त्रमें नाटकके अभिनय, संवाद, रस आदि सभी अंगोंको वेदोंसे निस्सृत माना है। वेदके शब्दोंके आधारपर लौकिक नाम रखे गये, यह भी मनु आदि सभी ऋषियोंका मत है।

वैदिक शब्दोंकी व्याख्या ब्राह्मण ग्रन्थोंमें बाहुल्यसे हुयी है। यजमानो वै यज्ञः। यज्ञोवैविष्णुः। आत्मा वै यज्ञस्य यजमानो अंगानिऋत्विजः। प्राणो वै वसिष्ठः। चक्षुः यमदग्निः। अत्रि वै वाक्। प्रभृति वाक्योंमें शब्दोंकी आत्मा छिपी या छपी हुई है। सायणाचार्य तो वेदकी वंदना इसी तथ्यमें मानते हैं कि यह प्रत्यक्ष तथा अनुमान दोनों प्रमाणोंसे ऊपर है। जिसको न प्रत्यक्ष सिद्ध कर सके और न अनुमान, उसकी सिद्धि वेदसेही होती है। प्रत्यक्षेणानुमित्यावायस्तु पायो न विद्यते। एनं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता॥ परन्तु वेदको समझनेके लिये उसकी अर्थ-प्रक्रियाका ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। निरुक्तके अनुसार वेदमें वन, वृक्ष सरिता, मधु, सुपर्ण, इन्द्र, मित्र, वरुण आदि शब्दोंको देखकर लौकिक अभिधानोंसे पृथक अर्थोंपर दृष्टि केन्द्रित करनी होगी। वनके सम्बन्धमें निम्नांकित मंत्र प्रश्न करता है- 'किं स्विवन' वह वन कौनसा है कि उस वृक्ष खास-कौनसा वह वृक्ष है यतो द्यावा पृथिवी निष्ट तक्षुः ऋग्वेद १०-३१-७ जिससे द्यावा और पृथ्वीका निर्माण हुआ। उत्तरमें कहा गया है। कि ब्रह्मही यह वन है और ब्रह्माही वह वृक्ष है जिससे द्यावा पृथ्वीका निर्माण हुआ। मत्रमें वन साधारण कानन नहीं है। वन ब्रह्म है जिसको सब भजते हैं, जो सबका स्रोत है। यह भक्तो, भजने धातु इसी अर्थकी ओर जाती है। प्रश्नोत्तरकी जो प्रणाली इन मत्रोमें है वही वेदमें अन्यत्र भी देखी जाती है।

पुरुष सूक्तमें मुख किमस्य को बाहू आदि मत्र भी इसी प्रणालीके हैं। यजुर्वेद अध्याय २३ के ४५ से लेकर ५४ सख्यक मंत्रोंमें कौन एकाकी चलता है, सूर्यके समान कौन ज्योति है, विष्णुके तीन पद क्या हैं, पुरुषमें कौन और पुरुष किनमें प्रविष्ट हैं, पूर्वचित्ति, बृहद्वय, पिलिप्पिला और विशंगिला क्या है- इन प्रश्नोंके उत्तर दिये गये हैं। विष्णुके तीन पद भूमि, अन्तरिक्ष और द्यौ हैं, यह सत्य है। सूर्य अकेला चलता है, चन्द्रमा पुनः पैदा होता है, अग्नि हिमकी औषधि है, भूमि महान आवपनका क्षेत्र है, ब्रह्म सूर्यके समान ज्योति है द्यावा समुद्रके तुल्य सरोवर है, इन्द्र पृथिवीसे बड़ा है, गो या वाणीकी नाप तोल नहीं हो सकती। पुरुष या आत्मा पांच प्राण या पांच भौतिक शरीरमें प्रविष्ट हैं और पुरुषमें पांच प्राण प्रविष्ट है या पुरुष पांच भौतिक शरीरका आधार है। पूर्वाचित्ति द्यौ है अश्व बृहद्वयः या पक्षी है, अवि या पृथ्वी प्रारम्भमें पिलपिली थी, कालान्तर में ठोस हुई। रात्रि या प्रलय पिश या रूपको निगल जाती

है। ऋग्वेद १०-८१-२ में अधिष्ठाता और आरम्भण क्या हैं, जैसे प्रश्न है। इसी प्रकार ऋग्वेद ६-२७-१, १०-८८-१८, १०-९०- ११ तथा १०-१३५-५ में प्रश्नोत्तरकी प्रणालीका प्रयोग हुआ है। प्रश्नोत्तरकेही समकक्ष रहस्यमयी प्रणाली भी है। इसी प्रणालीमें चतुष्पाद ब्रह्मका वर्णन करते हुये यजुर्वेदके ३२ वें अध्यायमें कहा गया है—

प्रतद्वोचे अमृतं नु विद्वान्
गंधर्वो धाम विभृतं गुहासत्।
त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य
यस्तानि वेद स पितुः पितासत् ॥

पुरुष सूक्त भी कहता है- पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि। ब्रह्म चतुष्पाद है। इसके तीन पाद गुहामें निहित हैं, छिपे हुये हैं। यह विराट ब्रह्माण्ड जो मूर्तरूपमें दृष्टिगोचर हो रहा है, ब्रह्मका एक पाद है। ब्रह्म इस ब्रह्माण्डमें भी व्याप्त है, पर इसके परे भी है। ब्रह्माण्ड शान्त है, ब्रह्म अनन्त है। ब्रह्मके गुहा निहित तीन पादोंको जो जान ले, वह पिताका भी पिता है।

इसी प्रकार मधु लोक भाषामें शहद है, परन्तु वेदमें वह शहदयी है और मोक्षका आनन्द भी। सुपर्ण सुन्दर पंखों-वाला गरुड है और प्राणावान तथा ज्ञान कर्मसे युक्त जीवात्मा भी। मित्र लोकमें सखा है तो वेदमें मृत्युसे प्राण देनेवाला परमात्मा। वरुण लोकमें जलका अधिष्ठाता है तो वेदमें वरणीय प्रभु जो पाप-तापका निवारक है। निम्नांकित मंत्र पर विचार कीजिये जो कमसे कम चार पक्षोंका उद्घाटन कर रहा है—

प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे
प्रातर्मित्रा वरुणा प्रातरश्विना अ० ३-१६-१
प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं प्रातः
सोममुत रुद्रं हुवेम ॥ (ऋ० ७-४१-१)

प्रातःकाल आप प्रभुका स्मरण करेंगे जो अग्नि है, आपको आगे ले जानेवाला है इन्द्र अर्थात परमैश्वर्यवान है। वह मित्र हैं, मृत्युसे बचानेवाला है, वरुण हैं- वरणीय और सर्वश्रेष्ठ है, अश्विना- सर्व व्यापक है, भग अर्थात भजनीय है, पूषा है- पोषण करनेवाला है, ब्रह्मणस्पति-ब्रह्माण्डका स्वामी, सबसे बडा रक्षक है, सोम अर्थात अपनी शक्तिसे समवेत और रुद्र अर्थात रोगोंको दूर करनेवाला है।

प्रातः आप अपने शरीर पर भी विचार कीजिये, जिसमें अग्नि बुद्धि है, इन्द्र अहंकार है, मित्र चित्त है, वरुण मन है, अश्विना प्राणायाम है, भग ऐश्वर्य प्रदाता हाथ हैं, पूषण पैर हैं, ब्रह्मणस्पति मस्तिष्क, सोम अंगोका रस और रुद्र मल हटानेवाले, अपनयन कारी अंग हैं।

प्रातः आप अपने समक्ष उपस्थित ब्रह्माण्डको देखिये, जिसमें अग्नि पार्थिव अग्नि है, इन्द्र अन्तरिक्षीय विद्युत है, मित्र सूर्य है, वरुण चंद्रमा है, अश्विना- वायु है भग- पार्थिव धनधान्य है, पूषण मेघ है, ब्रह्मणस्पति द्यावा या द्यो लोक है, सोम वसन्त है और रुद्र ग्रीष्म ऋतु है।

प्रातः आप अपने राष्ट्र या समाजका चिन्तन कीजिये, जिसमें अग्नि ब्राह्मण है, इन्द्र क्षत्रिय राजा है, मित्र मंत्रिपरिषद है, वरुण सेनापति है, अश्विना-स्वास्थ्य विभाग का अधिकारी है, भग वैश्य है- व्यवसायी समुदाय है, पूषण श्रमजीवी शूद्र है, ब्रह्मणस्पति विद्या तथा शिक्षा विभागका अधिष्ठाता है, सोम कलाकार है और रुद्र पुलिस विभाग है।

वेद संख्यावाचक शब्दोंके प्रयोग द्वारा भी अनेक रहस्योंका उद्भेदन करता है। यथा—

द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत।
तस्मिन् त्साकं त्रिशता न शङ्कवोऽर्पिता षष्टिर्न
चलाचलासः ऋ० १-१६४-४८

मन्त्रमे कालचक्रका वर्णन है जिसमें बारह प्रधियां या अरे हैं, तीन नाभिस्थान हैं। चल और अचल शंकु या कीलोंकी भांति तीन सौ साठ अहोरात्र हैं। बारह अरे द्वादश राशियों वाली संक्रान्तियां और महीने हैं। तीन नाभिस्थान अथवा नाभिस्थानकी तीन धुरियां शीत ग्रीष्म तथा वर्षा ऋतुयें हैं।

ऋ० १-१६४ के प्रथम तीन मंत्र भी संख्यावाचक शब्दों द्वारा सृष्टि विद्याके रहस्य पर प्रकाश डालते हैं। एक वृद्ध वामहोता है। यह वृद्ध वाम अग्नि है। ऋग्वेदके प्रथम मंत्रमें भी इसे होता कहा गया है। अग्निका एक दूसरा मध्यम स्थानीय मध्यम भ्राता है। इसे अशनि या विद्युत कहा जाता है। इसका तीसरा भ्राता घृतपृष्ठ है जिसे सूर्यका नाम प्राप्त है। यहीं पर सात पुत्रोंवाला विश्पति अर्थात् प्रजापति है, जिसे ज्येष्ठ ब्रह्मकी संज्ञा दी जाती है। इसके सात पुत्र भू० से लेकर सत्य तक सात लोक हैं।

द्वितीय मंत्रमें एक चक्रवाले विश्वरूपी रथका वर्णन है जिसे सात नामों वाला एक अश्व खींच रहा है। इस चक्रकी तीन नाभियां हैं जो अजर, जरा विहीन हैं और अनर्व अर्थात अचल है इस रथमें समस्त भुवन ठहरे हुए हैं। एक अश्व सूर्य है जिसके सात नाम उसकी सात प्रकारकी रश्मियों पर पडे हैं। रथकी सात परिधियोंको इससे युक्त या जुड

हुआ कहा गया है। ये परिधियां सप्तग्रह रूपमें हैं तथा एक एक सौर चक्र या सिस्टमके साथ संलग्न हैं।

तृतीय मंत्रमें इस रथको सात चक्रोंवाला माना है। जिसमें सात घोड़े जुते हुये हैं। इसरथ पर सात भाई बैठे हैं और सात बहनें सामने झुक रही हैं और जहां गौओं या किरणोंके सात नाम निहित हैं।

आगे ग्यारहवे मंत्रमें इस चक्रका ऋतुका चक्र कहा गया है जिसमें बारह अरे हैं। यह चक्र घूम रहा है और जीर्ण नहीं होता। इसके सात सौ बीस मिथुन या जुड़वां लड़के हैं। ऋत और सत्य दो सूक्ष्म तत्व हैं जो गति और स्थिरताके युग्ममें अभीद्ध तपसे उत्पन्न होते हैं। ऋत गतिमय है और सत्य सत्ता या स्थिरता वाला है। जब विश्व चक्रको ऋतका चक्र कहते हैं तब सत्ता उसकेसाथ संयुक्त रहती है। इस ऋतचक्रमें ७२० दिनरातके जोड़ों या युग्मोंके समकक्ष ७२० प्रकारके परमाणु मिथुन हैं जो सत, रज तथा तम तीन गुणोंवाले हैं।

१२ वे मंत्रमें जो प्रश्नोपनिषदका १-११ मंत्र भी है, सूर्यका पितर या पालक रूपमें वर्णन किया गया है। इसके पांच पैर हैं– चार दिशाओंके साथ ऊर्ध्व दिशा या केन्द्रस्थ-स्थिति ही पांच पैर है। सूर्यकी किरणें तिरछी पड़ती हैं क्योंकि हमारी पृथ्वी अक्ष पर कुछ झुकी हुयी रहती है, परन्तु अग्नि ऊर्ध्वगा है। सूर्य भी अग्नि है। अतः चारों ओर फैलकर भी किरणें ऊर्ध्व दिशाकी ओर जाती हैं और केन्द्रस्थ भी रहती हैं। १२ संक्रान्तियोंमें १२ मासोंकी विभिन्न आकृतियां रखनेवाला सूर्य द्वादशाकृति माना गया है। इसी प्रकारके १२ आदित्यों या सूर्योंका भी वर्णन आया है। संभवतः वे १२ सौर जगतोंका भी संकेत देते हैं। यह सूर्य पुरीषिणम् पुरीषी या पुरीष वाला भी कहा गया है। पुरीषका अर्थ जल है। सूर्यमें निरन्तर सूर्यसे ऊपरके सोमकी आहुतियां पड़ती रहती हैं। सोमरसकी ये आहुतियां जलमयी हैं। इसी रस या जलको खाकर सूर्य निरंतर समिद्ध रहता है। यह जल वर्षाका कारण भी है। इस सूर्य चक्रमें लाल, पीली, काली, बैंजनी आदि सात किरणें ही सात पहिये हैं और वसन्त, ग्रीष्म आदि ६ ऋतुएं ही इसमें अरेके समान संलग्न हैं। यह सूर्यमंडल पिताके समान समग्र सौर जगतका पालन कर रहा है।

मंत्र १३ में सूर्यके अक्षको भूरि भारवाला होकर भी दुखी होनेवाला नहीं कहा गया है। यह नाभिके साथ सदैव स्वस्थ रहता है, शीर्ण नहीं होता। इसीके आकर्षणमें आबद्ध सभी लोक-ग्रहपिण्ड अपनी सत्ता बनाये चले जा रहे हैं।

मंत्र ४४ में तीन केशियोंका वर्णन है जिनमें एक प्रकृति है जो समय पर सृष्टि उत्पत्तिके अवसर पर बोई जाती है और अंकुरित तथा पल्लवित होकर ब्रह्माण्डका रूप धारण कर लेती है। दूसरा केशी जीव है जो अदृश्य है, पर उसकी गति और कृति दृष्टिगोचर होती है। तीसरा केशी ब्रह्म है जो विश्वका द्रष्टामात्र है। मंत्र ४५ में वाणीके ४ पदोंका वर्णन है जिनमेंसे तीन गुहामें छिपे रहते हैं। चौथा रूप मनुष्यों द्वारा बोला जाता है। आचार्योंने परा, पश्यन्ती तथा मध्यमावाणियोंको अंतर्निहित और बैखरी वाणीको मानव उच्चरित रूप कहा है। मंत्र ४१ में गौरी, शक्ति प्रकृति या मायाको एक पदी, द्विपदी, चतुष्पदी, अष्टपदी, नवपदी तथा सहस्राक्षर कहा गया है। रचनाके समय एकही प्रकृति एकसे दो (अंकुरकी भांति द्विदली) दो से चार, चार से आठ आदि रूपोंमें फैलती हुयी सहस्रों रूप धारण कर लेती है और जगत विविध रूपोंमें भासित होने लगता है।

वेदमें कहीं कहीं ऐसे शब्द आ गये हैं जो परवर्ती ऋषियों या राजाओंके नाम हैं। प्रारम्भसेही वेदज्ञ इन नामोंकी व्याख्या करते रहे हैं। उनकी ऐसी मान्यता भी है कि परवर्ती पुरुषोंके नाम वेद शब्दोंके आधारपर रखे गये हैं। यही नहीं, लोकमें नदियों, पक्षियों, पशुओं आदिके नाम भी वेद शब्दोंके आधारपर पड़े हैं। शतपथ ब्राह्मण कई स्थानों पर इन शब्दोंकी निरुक्ति देता है। यथा–तदाहुः किं तदसदासीदिति ऋषयो वाव ते अग्रे असत् आसीत्। तदाहुः के त ऋषयः इति प्राणा वा ऋषयः। सृष्टिके पूर्व असत था। वह असत क्या था ? कहते हैं वह असत ऋषि थे। ऋषि कौन ? कहते हैं, प्राणही ऋषि हैं। क्यों ? क्योंकि इस समस्त रचनासे पूर्व सृष्टिकी इच्छा करते हुये वे श्रम तथा तपके कारण पिस गये– ऋषन् या अरिषन्– इसलिये वे ऋषि कहलाये। जो यह बीचमें प्राण है, वही इन्द्र है। तान् एष प्राणान् मध्यतः इन्द्रियेण ऐन्द्ध, यद् ऐन्ध तस्मात् इन्धः। इन्धाह वैतम् इन्द्र इत्याः चक्षते। ६-१-१, २ इन्द्र रूप इस मध्य प्राणने अन्य प्राणोंको अपनी इन्द्रिय अर्थात् शक्तिसे समिद्ध किया। अतः वह इन्ध कहलाया। इन्धकोही इन्द्र कहते हैं।

यजु० ३४-५५ में शरीरके सात ऋषियोंका उल्लेख है जिसके अनुसार सात ऋषि शरीरमें स्थित हैं, सात ऋषि

शरीर रूपी वेदीकी रक्षा कर रहे हैं। सात प्रवाह हैं जो सुप्त पुरुषके भीतर अपने लोक या उद्भवभूमिमें चले जाते हैं, सो जाते हैं, परन्तु दो देव ऐसे हैं जो जागते रहते हैं और वेदी पर बैठे हुये यज्ञकी रक्षा करते रहते हैं।

शरीर एक यज्ञ है। इसमें पाच ज्ञान इन्द्रिया, छठा मन और सातवीं बुद्धिही सात ऋषि हैं जो यज्ञ कर रहे हैं। सात शीर्षण्य प्राण इस यज्ञके रक्षक हैं। जब सात यजनकर्ता ऋषि सो जाते हैं, तब भी यह शरीर रूपी वेदी सुरक्षित रहती है क्योंकि श्वास और प्रश्वास रूपी दो देव कभी नहीं सोते। निरन्तर जगते हुये ये इस वेदीकी रक्षा करते रहते हैं।

वेदमें सात होताओंका उल्लेख है। सात या आठ आदित्यदेव भी कहे गये हैं। होताके साथ ऋत्विज शब्द भी लगा है। सप्त होतार ऋत्विजः (ऋ० १०-३-४-१०) की भावना चलती है। गीताके शब्दोंमें ' सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा ', प्रजा यज्ञभावके साथही उत्पन्न हुई है। प्रत्येक शरीरमें यज्ञ हो रहा है। संपूर्ण ब्रह्माण्ड भी यज्ञकाही रूप है। ब्रह्माण्डके सभी अवयव वायु, अग्नि, जल, भूमि- यज्ञ रूप हैं। अग्निको लक्ष्य करके वेद कहता है- सप्त ते अग्ने समिधः सप्त जिह्वाः सप्त ऋषयः सप्त धाम प्रियाणि। सप्त होत्राः सप्तधा त्वायजन्ति सप्त योनी रापृणस्वघृतेन स्वाहा (यजु० १७।७९)

अग्निकी सात समाधियें क्या हैं? काष्ठ रूपमें आम्र, पलाश, पिप्पल, बड, उदुम्बर, चन्दन और देवदारुकी समिधायें यज्ञमे उपयोगी समझी गयी हैं। अभावमें देश-कालको देखकर अन्य कपास आदिकी समिधायें भी काममें आती है। बृहदारण्यक १-५ में सात अन्नोंका वर्णन है। ये अन्न मौसांत समिधायें कहे जा सकते हैं। सात अन्नोंमें एक अन्न सामान्य है- गेहूं, जौ, चना, मक्का, बाजरा, उर्द, मूंग आदि जिसे तृण भी कहा जाता है। इसका सेवन करनेवाला पापसे नहीं बच पाता। अतः यज्ञ करकेही इस अन्नका सेवन करना चाहिये। दो अन्नहुत और प्रहुत हैं जो दर्श (अमावस्या) और पूर्णिमाके दिन देवोंको खिलाये जाते हैं। तीन अन्न प्रजापतिके हैं। इन्हें मन, वाणी और प्राण कहा जाता है- यजु, ऋक् तथा सामका क्रमशः इनसे सम्बन्ध है। शरीरमें तीनोंही साधक हैं- यज्ञ करते हैं। सातवां अन्न दुग्ध है। सद्य जात वत्स इसी पर जीवित रहता है।

लेखक प्रा. ज. रा. कस्तुरे

म न

एक समय था कि राजामहाराजाओंके पास उनके मनोरंजनके लिये कोई खास व्यक्ति नियुक्त किये जाते थे। उनको विदूषक अथवा मैत्रेय नामसे पहचाना जाता था। संभाषणके विषयमें उनको पूरी स्वतंत्रता दी जाती थी। मध्ययुगीन युरोपमें इसी प्रकारकी पद्धति प्रचलित थी। उन्हे वहाँ फूल (Fool) अथवा क्लाऊन (Clown) नामसे पुकारा जाता था। ये लोग कागजकी टोपियाँ पहनते थे। एक टोपी बनानेके लिये जिस आकारका कागज लगता था उसी आकारके कागजको आगे चलकर 'फूलस्कॅपसाइज' नाम रूढ हुआ। अनेक संस्कृत तथा युरोपीय नाटकोंमें इनके उल्लेख प्रचुर मात्रामें मिलते है।

एक राजाके पास ऐसाही एक विदूषक था। अपने चतुरताके लिये वह बडा प्रसिद्ध था। राजाने उसे एक दिन एक टोपी प्रदान की और कहा 'जो सबसे बडा मूरख दिखाई देगा उसे यह टोपी ईनाम दे देना'। विदूषकने राजाकी बात मान्य की। दिन बीते जाने लगे परतु टोपीका असली हकदार नहीं मिला। बारबार राजा उसे पूछता था और प्रत्येक समय विदूषक उसे नम्रताके साथ नकारात्मक उत्तर देता रहा। राजाको इस बातसे बडी प्रसन्नता हुई की उसके दरबारमे कोई भी महामूरख नही है। कई महीने बीते गये। टोपीकी बात राजा स्वयं भूल गया। एक दिन राजा बीमार पडा। दिनबदिन उसकी बिमारी बढती गई। उसके बचनेकी कोई आशा तक न रही। लोग अंतिम दर्शनके लिये आने लगे। राजा भी अपने पश्चात् राज्य-व्यवहारकी व्यवस्थामें अधिक रुचि लेने लगा। विदूषक एक दिन राजाकी भेट करनेके लिये गया। राजाके पास जातेही उसने हाथ जोडकर बडी नम्रताके साथ उसे पूछा 'महाराज, आप कहाँ जा रहे हो ?

राजा– बहुत दूरके प्रवास पर।

विदूषक– आप कब जा रहे हो, स्वामी ?

राजा– मालूम नही।

विदूषक– वहाँसे कब वापस आओगे ?

राजा– मालूम नहीं।

विदूषक– वहाँ जानेका रास्ता किधर है ?

राजा– मालूम नहीं।

विदूषक– आप जहाँ जा रहे हो वहाँ आपने क्या व्यवस्था कर रखी है ?

राजा– कुछ भी नहीं।

राजाके इन सब बातोंको सुनकर विदूषकने अपने पास रखी हुई वह टोपी झटसे निकाली। राजाके हाथोंमें उसे सौंपकर उसने कहा 'महाराज, ऐसी बात है तो मुझे इस टोपीका असली हकदार आज मिल गया। आपने दी हुई यह टोपी में आपको ही वापस दे देता हूँ।' विदूषककी व्यंगभरी बाते सुनकर मरणासन्न राजाके मुखपर भी क्षणिक प्रसन्नता छा गई। वह अपनी बिमारी कुछ समयतक भूल गया।

यह कथा चाहे सत्य हो या असत्य, इस कथासे यही सार निकलता है जहाँ जानाहो उस स्थानके संबंधमें पूरी जानकारी रखना आवश्यक है, नहीं तो कही रास्तेमें धोका होनेके संभावना होती है। कथाके इस सारको ध्यानमें रखकर यदि हम मानवी जीवनका विचार करने लगेंगे तो यह बात और स्पष्ट होगी। मानवी जीवन एक रथके समान है। परमात्माके मंदिरसे निकला हुआ यह रथ फिरसे वहाँ जानेके लिये दौड रहा है। उसका मार्ग है इहलोक। इस रथके दो चक्र है। उनके नाम है प्रवृत्ति और निवृत्ति। इन दोनों चक्रोंमें समानता होना तथा इनपर रथका भार सम प्रमाण होना आवश्यक है। किसी एक चक्रके छोटे बडे होनेसे रथके गतीमें बाधा आनेकी संभावना होती है तथा अपघात होना अनिवार्य हो जाता है। इस रथमें आत्मा रथीके रूपमें है और मन उसका सारथी है। रथीको तथा

रथको सुरक्षित रखकर रथको निश्चित समयमें निश्चित स्थानपर पहुँचाना सारथीका प्रमुख कर्तव्य है। कर्मेन्द्रिय इस रथके घोडे हैं। प्रयत्नके चाबूकसे सारथी इन घोडोंको बडे तेजसे दौडाता है। परंतु घोडे अनियन्त्रित रूपसे भागे नहीं, रथको कहीं भलते रास्तेपर ले जाये नहीं, अपनी मर्यादाके साथही चले इनके मुखोंमें वैराग्यका कांटेरी लगाम फँसा देना आवश्यक है। इस लगामके आधारपरही मनचाही दौड करनेवाले घोडोंपर पूरापूरा काबू पा सकता है और अपने मुकामपर पहुँच सकता है।

सारथीको उन्मार्गगामी बनानेके लिये रास्तेमें अनेक प्रलोभन दिखाई देते हैं। उन्हे माया अथवा अविद्या कहना उचित होगा। इस प्रकारके मानव जीवनरूपी रथको इहलोकके रास्तेसे मोक्षप्राप्तिरूप मंदिरपर रथीरूपी आत्माको बिना किसी अपघातसे पहुँचानेका उत्तर दायित्व मनरूपी सारथीपरही निर्भर है। यदि यह सारथी अपने कर्तव्यमें तत्पर और सावध होगा, तो उतनेही शीघ्रतासे तथा सुरक्षित रूपमें वह अपना प्रवास पूरा कर सकेगा। इसमे रथीके साथ साथ सारथीका भी परम कल्याण होगा।

इसी दृष्टिसे परमार्थ मार्गमें मनको बहुत महत्व दिया गया है। मनको अनेक साधुसंतोंने उपदेश देकर अपने स्वाधीन रखनेका प्रयत्न किया है। पारमार्थिक कल्याणके लिये उसे कटिबद्ध कर उससे सहायता प्राप्त करके अपना अंतिम हेतु पूर्णरूपसे साध्य किया है। महाराष्ट्रके सुप्रसिद्ध संत समर्थ रामदासजीका मनोबोध (मनाचे श्लोक) सुचारु रूपसे सर्व दूर परिचित है। आत्मोन्नतिके लिये मनकी साथ लेना अनिवार्य है। परंतु मनको स्वाधीन रखना भी अत्यंत दुष्कर कर्म है। मनुष्यको मनुष्यत्व मनके कारण ही मिला है। मनके कारण मनुष्य बंधनोंमें पडता है और मनके कारणही वह बंधनोंसे मुक्त होता है। (मन एव मनुष्याणां कारणं बंध मोक्षयोः।) इसीलिये मनको स्वाधीन रखना केवल पारमार्थिक दृष्टीसे नहीं लौकिक दृष्टीसे भी आवश्यक है। परंतु यह कर्म उतनाही कठिन है।

श्री गीतामें भगवान श्रीकृष्णने अर्जुनको जब मनको ईश्वर पास स्थिर रखनेका उपदेश किया उस समय अर्जुनने कहा, ' भगवन्, मन अत्यंत चंचल है, उसे एक स्थानपर स्थिर रखना वायूको बांधनेके समान दुष्कर है। ' अर्जुनके इस कथनपर श्री भगवानने उत्तर दिया, ' हे अर्जुन तुम कहते हो उसी प्रकार मन अत्यंत चंचल और बलवान् है, परंतु अभ्यास तथा वैराग्य इन दोनों साधनोंसे उसका निग्रह करना शक्य होता है। (भ. गी अ ६-३४।३५) जिस मनको स्वयं भगवान भी बलवान् और दुनिग्रही मानते है, उस मन स्वाधीन रखना साधारण मनुष्यके लिये कितना कठिन कार्य होगा इसकी कल्पना आ सकती है।

महाराष्ट्रके एक प्रसिद्ध संतकविने लिखा, ' मन एक उच्छृंखल जानवरके समान है। उसे स्वैर गतीसे भटकने दिया तो स्वय वह कहाँ जायेगा और मनुष्यको कहाँ ले जायेगा इसका कोई भरोसा नहीं। वह हमेशा परधन और परस्त्रीके पीछे भागता है। इसिलिये उसके गलेमें विचारोंके रस्सीसे वैराग्यरूपी काष्ठ बांधना आवश्यक है। इस काष्ठसे उसके अप्रतिहत गतीमें रूकावट पैदा होगी। उसका वेग धीरे धीरे कम होगा और अंतमें उसपर काबू पाना संभव होगा। ' मनको स्वाधीन रखनेका यही एक प्रमुख मार्ग है।

मनकी शक्ति अनंत है। उस शक्तिका उपयोग आत्मोद्धारके लिये किया जायेगा, तो मन मनुष्यका सबसे बडा मित्र सिद्ध होगा। संकट तथा निराशाके कालमें वह मनुष्य को धैर्य देगा। अपने अंतिम ध्येयपर मनुष्यकी श्रद्धा दृढ रखनेमें सहायक होगा अंतिम सिद्धि प्राप्त करनेके लिये उसने दी गयी प्रेरणा लाभदायिनी होगी। मनुष्य नरका नारायण बन सकेगा। परंतु यदि मनको उसकी मूल प्रवृत्तिके अनुसार स्वैरसंचार करनेका स्वातंत्र्य दे दिया तो वही मन मनुष्यका सबसे बडा शत्रु सिद्ध होगा। शत्रुसे पराभूत व्यक्ति फिरसे यशस्वी होनेकी हिंमत रखता है। अनुकूल समय आनेपर अपने प्रयत्नोंसे अंतिम यश प्राप्त कर सकता है। परंतु मनसेही पराभूत व्यक्तिको तो उन्नतीकी आशा करनाही व्यर्थ है। वह सदाके लिये पराभूत माना गया है। उसके पुनरुत्थानकी कभी कोई अपेक्षा नहीं कर सकता। इसीलिये कहा गया है, मनके जीते जीत है, मनके हारे हार।'

इस प्रकार मानवी जीवनमे मनका स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण है। इसलिये जिस साधनसे मनुष्य अपनी जीवित-यात्रा सुचारू रूपसे पूर्ण कर सकता है, और ध्येयको प्राप्त कर सकता है, उस मनको अनेक उपायोंसे स्वाधीन रखनेका प्रयत्न करना मनुष्य मात्रके लिये लौकिक तथा पारलौकिक कल्याणका एक निश्चित मार्ग है। मनके इस शक्तिको देखकरही स्वयं श्रीभगवान्‌ने गीतामें दशम अध्यायमें विभूति योग स्पष्ट करते समय कहा है ' इंद्रियाणां मनश्चास्मि ' (इंद्रियोंमें मन मैं हूँ।)

श्री अरविन्दके पत्र—

अ व ता र त्व

(श्री अरविंद)

अजी, मेरे विचारमें यह बात नहीं आती कि नई जाति (अतिमानव) तर्कसे या तर्कके अनुसार बनाई जा सकती है या कोई जाति इस तरीकेसे बनी है किंतु नई जातिको उत्पत्तिका विचार अतार्किक क्यों हो ?... जहांतक प्राचीन द्रष्टाओंका संबंध है वे मुझे विक्षुब्ध नहीं करते। यदि प्राचीन द्रष्टाओं और मनीषियोंकी अनुभूतिके परे जाना इतना निन्दनीय है, तो प्रत्येक नये द्रष्टा या मनीषीने यह निन्दनीय कार्य किया है- बुद्ध, शंकर चैतन्य आदि, सबोंने यह कुकर्म किया। यदि नहीं, तो उनके नये दर्शन, नये धर्म, नई योग प्रणालियां चलानेको क्या आवश्यकता थी ? यदि वे जगत्में कोई नई वस्तुएं लाये बिना, केवल पुराने द्रष्टाओं और मनीषियोंकी ही बातें परखते और उनके जीवन और अनुभूतियोंको नम्र भावसे दुहराते रहे, तो फिर यह सारा हो- हल्ला और बक- झक क्यों ? हां, तुम कह सकते हो कि वे पुराने सत्यकी नही व्याख्या कर रहे थे- किंतु इसका अर्थ होगा, कि इसके पहले किसीने इसकी ठीक व्याख्या नही की थी या इसे ठीकसे समझा नहीं थी- जो फिर वही झुठलाना आदि ' होता है। अथवा तुम कह सकते हो कि सभी नये मनीषी .. जैसे कि शंकर, रामानुज, मध्व प्रत्येक केवल एक ही भली बातको दुहरा रहे थे, जिस प्रकार कि उनसे पहलेके द्रष्टा और मनीषी असे अथक एक रसतासे दुहराते आये थे। अच्छा, अच्छा, किंतु उसे इस तरीकेसे क्यों दुहराया जाय कि प्रत्येक एक-दूसरेको ' झुठला ' दे ? सचमुचमें, अतीतके प्रति यह घोर सम्मानका भाव आश्चर्य जनक और भयावह बात है ! आखिर भगवान् अनन्त हैं और सत्यका अनावरण एक अनन्त प्रक्रिया हो सकती है, अथवा यदि इतना अधिक नही, तो कमसे कम उसमें कुछ नई खोज, नये आवेदन, यहांतक कि नई उपलब्धिकी गुंजाइश रह सकती है, ऐसा नहीं कि वह किसी कठ्ठिलका वाले फलके भीतरकी वस्तु है, जिसे फाडकर सबसे पहले

×

वाले द्रष्टा या मनीषीने उसके भीतरकी सारी चीजें खलास कर दी और बाकी सबोंको बारबार वही कठ्ठिलका फोडना होगा, प्रत्येकको, भयसे थरथराते हुए कि कहीं ' अतीत 'के द्रष्टा और मनीषी झुठला न दिये जाय।

× × ×

प्रश्न था, कि क्या ऐसी नई क्षमताएं, जो इस जीवनमें व्यक्तित्वके भीतर अबतक सर्वथा अनभिव्यक्त थीं, योगकी शक्ति द्वारा प्रकट हो सकती है, यहांतक कि सहसा प्रकट हो सकती है। मैं कहता हूं कि वे हो सकती है, और प्रमाण स्वरूप मैंने अपना ही दृष्टान्त दिया। मैं अन्य उदाहरण भी दे सकता था। इसमें यह प्रश्न भी निहित है- क्या मनुष्य जिन चरित्रों और गुणोंको लेकर इस जीवनमें आया है, उनके साथ बधा हुआ है- क्या योग द्वारा वह नया मनुष्य नहीं हो जा सकता यह भी मैंने अपनी साधनामें सिद्ध कर दिया है, यह किया जा सकता है। जब तुम कहते हो, कि यह मैं केवल अपने लिये ही कर सकता था, क्योंकि मैं अवतार (!) हूं और किसी दूसरेके लिये यह असंभव है, तब तुम मेरी साधनाको बेतुका बना देते हो- और अवतारत्वको भी बेतुका बना देते हो क्योंकि मैं योग अपने लिये नहीं कर रहा हूं, मुझे किसी वस्तुकी आवश्यकता नहीं है, न मुक्तिकी और न अन्य कुछ की। मैं इसे कर रहा हूं पृथ्वी- चेतनाके लिये, पृथ्वी - चेतनाके रूपांतरकी राह खोलनेके लिये। क्या भगवान्को यह प्रमाणित करनेके लिये कि वह यह या वह कर सकता है, उतरकर यहां नीचे आनेकी आवश्यकता है ? तुम्हारी दलील यह प्रमाणित करती है कि मैं अवतार नहीं हूं, केवल एक बड़ा मानव व्यक्तित्व हूं। नथ्यत ऐसा हो सकता है, किंतु तुम अपनी दलील दूसरे आधारसे प्रारंभ करते हो। इसके अतिरिक्त, यदि मैं केवल एक बड़ा मानव व्यक्तित्व ही होऊं, तो जो कुछ मैं निष्पादित करता हूं वह यह दर्शाता है, कि उसे निष्पादित करना मानवके लिये संभव है। कोई राहका भिखारी इसे कर सकता है अथवा

किया है, यह गौण बात है; इतना ही पर्याप्त है कि जिन्हें राहका भिखारी होनेका आर्थिक दुर्भाग्य नहीं प्राप्त है, वे इसे कर सकें।

× × ×

मैं बतला रहा था कि सारतः सब कुछ संभव है - अतः तुम्हें यह नहीं कहना चाहिए कि भगवान् यह नहीं कर सकता या वह नहीं कर सकता। किंतु साथ ही मैं यह भी बतला रहा था कि भगवान् जब अपनी इच्छाके अनुसार किन्हीं शर्तोंके भीतर क्रिया कर रहा हो, तब वह बिना मतलबके अपनी सर्वशक्तिमता दिखानेके लिये बाध्य नहीं है। क्योंकि ऐसी दलीलसे, कि भगवान् नहीं कर सकता, भगवान् अशक्त है, कि जो कुछ अबतक नहीं हुआ, उसे वह नहीं कर सकता आदि, तुम वस्तुओंके परिवर्तनकी संभावनाको इनकारते हो और इस प्रकार विकास-क्रमकी अनुपलब्धकी उपलब्धिकी, भागवत शक्तिकी क्रिया की, भागवत कृपाकी भी और सब कुछको एक अनाम्य और अपरिवर्तनीय यथास्थिति: में परिणत कर देते हो, जो तथ्य और बुद्धि (!) दोनोंकी ही और अतिबुद्धिकी भी धृष्टतापूर्ण अवज्ञा है। समझे।

× × ×

मेरे और माताजीके विषयमें कितने लोग कहा करते हैं- ' यदि अतिमानसको उतरना है, तो वह सभीके भीतर उतर सकता है, तो फिर पहले उनके भीतर ही क्यों? उनके पहले वह हम लोगोंको क्यों न मिले? उनके माध्यमसे क्यों? सीधे क्यों नहीं? सुननेमें तो यह बहुत तर्कपूर्ण युक्तियुक्त, दलीलके बडा योग्य प्रतीत होता है। कठिनाई यह है कि यह तर्क शर्तोंकी अवहेलना करता है, और मूर्खतापूर्वक यह मान लेता है, कि कोई लेशमात्र भी बिना यह जाने कि अतिमानस क्या है, अपने भीतर अतिमानसको उतार ला सकता है और इस प्रकार यह एक औंधे चमत्कारको मान्यता देता है- प्रत्यक व्यक्ति जो ऐसी चेष्टा करेगा अपनेको एक महाभयावह स्थितिमें डाल देगा- जैसा कि उन सबोंने किया, जिन्होंने ऐसी चेष्टा की। यह इस प्रकारकी बात है जैसी कि यदि कोई यह सोचे, कि उसे किसी पथप्रदर्शककी आवश्यकता नहीं, कि, वह जिस खडी चट्टानके कगारके संकीर्ण पथसे जा रहा है, वहांसे केवल हवामें छलांग लगाकर पर्वतकी चोटीपर पहुंच जायगा। इसका जो परिणाम होगा वह अनिवार्य है।

× × ×

मेरे भीतर कोई आध्यात्मिक प्रवृत्ति नहीं थी, मैंने आध्यात्मिकताका विकास किया, मैं दर्शनशास्त्र समझनेमें असमर्थ था, मैं विकास कर दार्शनिक बन गया। मुझमें चित्रकारी समझने-परखनेकी दृष्टि नहीं थी, मैंने योगद्वारा इसे विकसित किया। मैंने अपनी प्रकृति, जैसी वह थी, उससे रूपांतरित कर, ऐसी बना दी जैसी वह नहीं थी। मैंने इसे एक विशेष तरीकेसे किया, चमत्कार द्वारा नहीं, और मैंने इसे यह दिखानेके लिये किया, कि क्या किया जा सकता है और उसे कैसे किया जा सकता है। मैंने इसे अपनी व्यक्तिगत आवश्यकतावश नहीं किया और न बिना किसी प्रक्रियाके चमत्कार द्वारा ही। मैं कहता हूं कि यदि यह ऐसा नहीं है, तो मेरा योग बेकार है और मेरा जीवन एक भूल रहा— प्रकृतिकी एक बेमानी सनक, जिसका न कोई अर्थ है न हेतु। लगता है कि तुम सभी यह सोचते हो कि यह कहना कि मैंने जो किया है उसका मेरे सिवाय और किसीके लिये कोई अर्थ नहीं, मेरी बहुत बडी प्रशंसा करना है- मेरे कर्मकी इससे अधिक हानिकारक कोई आलोचना नहीं हो सकती। मैंने भी यह अपनेही बूतेपर नहीं किया, यदि इस ' मैं ' से तुम्हारा मतलब उस अरविन्दसे है, जो वह पहले था। उसने इसे कृष्ण और भागवती शक्तिकी सहायतासे किया। मुझे मानवी स्रोतोंसे भी सहायता मिली।

× × ×

मुझे अवतारोंके बारेमें पता नहीं। वस्तुतः मैं जो जानता हूं वह यह, कि जब मैंने आरंभ किया उस समय मेरे पास सभी आवश्यक शक्तियां नहीं थीं मुझे उन्हें योग द्वारा विकसित करना पडा कमसे कम उन अनेकों शक्तियोंको जिनका आरंभ कालमें मेरे अंदर अस्तित्व नहीं था; और जो मुझमें थीं उन्हें मुझे प्रशिक्षित कर, अधिक उच्च कोटिका बनाना पडा। इस विषयमें मेरा अपना विचार है कि अवतारका जीवन और कर्म चमत्कार नहीं होते। यदि वे वैसा होते तो उसका अस्तित्व बिलकुल निरर्थक होता, प्रकृतिकी महज एक थोथी बेमानी सनक। वह पार्थिव स्थितियोंको स्वीकार करता है, वह साधनोंका प्रयोग करता है, वह मानव जातिको राह दिखाता है, और साथ साथ उसकी सहायता भी करता है, यदि नहीं तो वह किस कामका है, और वह यहां है ही क्यों?

× × ×

मैंने अवतारके विषयमें तुम्हें जो लिखा था, उसे याद करा दूं। अवतारके तत्त्वके दो पहलू हैं, भागवत चेतना और उपकरणरूप व्यक्तित्व। भागवत चेतना सर्वशक्तिमान है, किंतु इसने करणरूप व्यक्तित्वकी प्रकृतिमें प्रकृतिकी शर्तोंके अन्तर्गत प्रकट किया है और वह इसे खेलके नियमोंके अनुसार प्रयुक्त करती है- यद्यपि कभी कभी खेलके नियमोंको

परिवर्तित करनेके लिये भी। यदि अवतारत्व एक क्षणिक चमत्कार मात्र है तो वह मेरे किसी कामका नहीं। यदि वह प्रकृतिमें स्थित सर्व शक्तिमान् भगवान्की व्यवस्थाका एक संगत अंग है, तब मैं उसे समझ और स्वीकार सकता हूं।

× × ×

मैं किस प्रकार लोगोंको चुनता हूं, इसके विषयमें मैंने तो कभी कुछ नहीं कहा। मैं तो इस दलीलका उत्तर दे रहा था, कि जो कुछ अबतक नहीं हुआ अथवा अभिव्यक्तिमें नहीं है, वह नहीं हो सकता, अभिव्यक्तिमें नहीं आ सकता। बहुत स्पष्ट है, कि विवादका विषय-बिन्दु यही था, कि भगवान् किसी ऐसी वस्तुको अभिव्यक्त नहीं कर सकता जो अभी यहीं है — यहांतक, कि उसमें वैसा करनेकी शक्ति नहीं है। वह केवल वही अभिव्यक्त कर सकता है जो या तो अभिव्यक्त है अथवा जिस क्षेत्र (व्यक्ति) में वह क्रिया कर रहा है उसमें सुप्त अवस्थामें विद्यमान् है। मैं कहता हूं, कि नहीं— वह नई वस्तुएं ला सकता है। वह उसे वैश्वके भीतरसे निकाल ला सकता है अथवा परात्परसे उतार ला सकता है। क्योंकि भगवान्के भीतर वैश्व और परात्पर सभी वस्तुएं विद्यमान् हैं। वह किसी विशेष मामलेमें वैसा करेगा या नहीं, यह और बात है। मेरा तर्क इस ' नहीं हो सकता, नहीं हो सकता ' को मिटा देनेकी दिशामेंही प्रयुक्त हुआ था जिसके द्वारा लोग प्रगतिकी सभी संभावनाएं रोक देनेकी चेष्टा करते हैं।

× × ×

तब, तुम ऐसा सोचते हो कि मुझमें (मैं यहां माताजीके विषयमें नहीं कहता) कभी कोई संशय या निराशा थी ही नहीं, मुझपर इस प्रकारका कोई आक्रमण हुआही नहीं। मानव प्राणीने जिस किसी भी आघातको सहा है, मैंने उन सबोंको सहा है, वरना मैं किसीको यह निश्चय नहीं दिला सकता ' इसपर भी विजय प्राप्त किया जा सकता है। ' कमसे कम मुझे ऐसा कहनेका कोई अधिकार नहीं होता। तुम्हारा मनोविज्ञान भयंकर रूपसे रूढ है। मैं एकबार फिर कह देता हूं, भगवान् जब पार्थिव प्रकृतिका भार ग्रहण करता है, तब वह उसे पूरी सचाईके साथ और बिना किसी जादुई चालके या छल-कपटके ग्रहण करता है। यदि उसके पीछे कोई ऐसी वस्तु होती है जो सदा आवरणोंके भीतरसे निकल आती है, तो वह सारतः वही वस्तु होती है जो दूसरोंके पीछे है, भलेही मात्रामें वह उससे अधिक हो — और उसीको जगानेके लिये वह यहां विद्यमान् है।

आंतरात्मिक सत्ता यही काम उन सबोंके लिये करती है, जिनकी नियत आध्यात्मिक मार्गपर चलना है— इसे अनुसरण करनेके लिये किसीको असाधारण व्यक्ति होनेकी आवश्यकता नहीं। यही भूलकर रहे हो तुम— बड़प्पनकी रट लगानेकी, मानो केवल बड़े लोग ही आध्यात्मिक हो सकते है।

× × ×

एक बात मैं स्पष्ट कर दूं। मैंने जो कुछ लिखा, उसे यह प्रमाणित करनेके लिये नहीं लिखा कि मैं अवतार हूं! तुम व्यक्तिगत प्रश्नपर ही अपने तर्क लगानेमें व्यस्त हो, मैं इससे अधिक सार्वभौम पक्षमें व्यस्त हू। मैं भगवान्का वह कुछ अभिव्यक्त करनेकी चेष्टामें हू, जिसके प्रति मैं सचेतन हूं और जिसे मैं अनुभूत करता हूं— मैं इसकी कतई परवाह नहीं करता कि वह मुझे अवतार बनाता है या और कुछ। यह प्रश्न मेरी चिंताका विषय नहीं है। निस्संदेह, अभिव्यक्तिसे मेरा अभिप्राय है उस चेतनाको बाहर लाना और फैलाना, जिसमें कि अन्य लोग भी उसे अनुभूत कर सकें और उसमें प्रवेश कर सकें तथा निवास कर सकें।

× × ×

प्र० कैसे गुरुके कैसे शिष्य हैं हम लोग! काश! आप इससे कुछ अधिक अच्छे तत्त्व चुने होते या बुलाते— शायद ' क ' की तरह।

श्रीअरविन्द— जहांतक शिष्योंका सम्बध है, मैं तुम्हारी बातसे सहमत हू! — हां, किंतु अधिक अच्छे तत्त्व, यदि हम मान लें कि हैं भी, क्या मानव जातिके प्रतिरूप होंगे? केवल कुछ असाधारण कोटिके व्यक्तियोंसे ही सरोकार रखना समस्याका समाधान नहीं कर पायेगा। और क्या वे मेरे मार्गका अनुसरण करनेके लिये राजी होंगे— यह एक और प्रश्न है? और यदि उन्हें कसौटीपर कसा जाय तो क्या उनमेंसे सामान्य मानव सहसा उभटकर सामने नहीं आ जायगा— यह एक और प्रश्न है।

× × ×

प्र० लगता है कि जिधर भी हम निगाह डालते हैं, एक जैसा मानव प्राणी ही दृष्टिगोचर होता है— अपने सारे अज्ञान और अशक्तताके साथ।

श्रीअरविन्द— निःसंदेह। यही तो मैं सदा कहता आ रहा हूं। बिना किसी कारणके ही मैं इस सद्भावयुक्त पर दुःख-ग्रस्त ग्रहपर कुछ अधिक सुन्दर वस्तु देखनेको उत्सुक नहीं हूं।

लेखक : श्री आचार्य रामपालसिंह तेवतिया

वैदिक ऋषियोंके अन्वेषण और आविष्कार

खगोल विज्ञान सबधी द्वितीय लेख प्रस्तुत है। चन्द्रगति और चन्द्राकार एव चन्द्र कलाएं—

चन्द्रमा भी पृथ्वीके समान गोलाकार है। यह स्वयं प्रकाशित नहीं है अपितु सूर्यके प्रकाशसे प्रकाशित होता है। जब सूर्यके ठीक नीचे रहता है तब प्रायः तीन दिन तक दृष्टि गोचर नहीं होता है। कारण यह है कि पृथ्वीकी ओरका भाग सूर्यके प्रकाशसे रहित होता है। यह अमावस्याकी स्थिति है।

पृथ्वीके समान चन्द्रमा भी अपने अक्षपर घूमता है और पृथ्वीके चारों ओर भी पूर्वाभिमुख घूमता है और लगभग तीस दिनमें एक चक्कर पूरा कर लेता है। ज्यों ज्यों सूर्यसे पूर्वकी ओर दूर चलता जाता है प्रकाशकी कला बढती जाती है और अमावस्यासे सोलहवें दिन षोडश कला युक्त पूर्णिमा हो जाती है। तत्पश्चात् फिर चन्द्रमा ज्यो ज्यों सूर्यके निकट आता जाता है प्रकाशकी कला घटती जाती है और पूर्णिमासे सोलहवें दिन अमावस्याके दिन पृथ्वीकी ओरका चन्द्रमाका भाग प्रकाश रहित हो जाता है। एक चक्कर पूरा हो जानेपर यह दूसरी अमावस्याकी स्थिति आ जाती है।

ऋषिका सावित्रीने ज्ञात किया था कि चन्द्रमा सूर्यके प्रकाशसे प्रकाशित होता है जैसा कि उसके निम्न मंत्र प्रतीकसे सिद्ध है—

दिवि सोमो अधि श्रितः। (ऋ. १०।८५।१)

और त्रितऋषिने चन्द्रमाकी शुक्ल-कृष्ण पक्षकी कलाओंका अन्वेषण किया था और उसकी गति भी ज्ञात की थी। जैसा कि उसके निम्न मत्रसे प्रकट है—

चन्द्रमा अप्स्वऽन्तरा सुपर्णो धावते दिवि।
(ऋ. १।१०५।१)

आकाशमे गति करनेवाले सब ही पिंडगोलाकार होते हैं। अतः चन्द्रमा भी गोलाकार पिंड हैं।

(५) बुध, शुक्र आदि सब ही ग्रह सूर्यके चारों ओर घूमते हैं। यह अन्वेषण ऋषि दीर्घतमाने किया था। शब्द प्रमाणमें उसका निम्न मत्र द्रष्टव्य है—

सनेमि चक्रमजरं वि वावृत .. भुवनानि विश्वा।
(१।१६४।१४)

आशय— सूर्यको मध्यस्थ केन्द्र करके पृथ्वी एव बुध-शुक्रादि लोक दशों दिशाओंमें अर्थात् चारों ओर परिक्रमा करते हुए आकाशमे अवस्थित हैं।

सूर्यके चारों ओर क्रमशः बुध, शुक्र, पृथ्वी, मंगल, बृहस्पति एवं शनिकी परिक्रमाका अन्वेषण अन्य अनेक वैदिक ऋषियोंने भी किया था जो उन उनके मन्त्रोंसे प्रकट है— उदाहरणातः—

इमन्यिद्वपुषे वपुश्चक्रं ... रजांसि दीयथः।
(ऋ. ५।७३।३)

उपरोक्त मंत्रमें ऋषि पौरने अपनी खोज व्यक्त की है कि बृहस्पति ग्रह सूर्यके चारों ओर घूमकर बारह वर्षमें एक चक्कर पूरा करता है।

(६) बुध एवं शुक्रकी कलाएं- ऋषि वेनने यह अन्वेषण किया था कि चन्द्रमाकी घटती-बढती कलाओंके समानही बुध एवं वेनस् (Venus) अर्थात् शुक्र ग्रहोंकी कलाएं भी सूर्य प्रकाशसे घटती-बढती हैं जैसा कि उक्त ऋषिके निम्न मंत्रसे प्रकट है-

अयं वेनश्चोदयत पृश्निगर्भा...
विप्रा मतिभी रिहन्ति। (ऋ० १०।१२३।१)

(७) सूर्य-चन्द्र-ग्रहणके कारणोंका अन्वेषण- वैदिक ऋषि अत्रिने एक वेधयन्त्र चक्षुक (quadront अर्थात् तुरीय यन्त्र) का आविष्कार किया था जिसकी सहायतासे उक्त ऋषिने सूर्य-चन्द्र-ग्रहणके कारणोंका ठीक ठीक पता लगाया था जैसाकि उसके निम्नांकित मंत्रोंसे स्पष्ट ज्ञात है-

यत् त्वा सूर्य स्वर्भानुस्तमसाविध्यदासुरः। अक्षेत्र-विद् यथा...अशक्नुवन्। ऋ० ५।४०।५,६,७,८,९।

उपरोक्त पांच मन्त्रोंका आशय निम्न प्रकार है- जब चन्द्रमा अमावस्याके दिन ठीक सूर्यके नीचे होता है तब वह सूर्यके प्रकाशको पृथ्वीपर आनेसे रोक लेता है अतः पृथ्वीपर अन्धकार छा जाता है।

चन्द्रमा स्वयं प्रकाशक न होनेसे स्वय भी पृथ्वीस्थ लोगोंको नहीं दिखाई देता है एवं उसकी आडमें उतना भाग सूर्यका भी नहीं दिखाई देता है। यही सूर्यग्रहण है। अर्थापत्तिसे सिद्ध है कि जब (पूर्णिमाके दिन) पृथ्वी सूर्य और चन्द्रमाके बीचमें ठीक उनकी सीधमें होती है तब वह सूर्यके प्रकाशको रोककर अपनी छाया चन्द्रमा पर डालती है चन्द्रमा सूर्यके प्रकाशसे रहित हो जाता है और पृथ्वीके आकारानुसार चन्द्रमा ग्रस जाता है। यही चन्द्रग्रहण है। यही आशय ब्रह्माऋषिके निम्न मन्त्रसे व्यक्त होता है—

उपापतन्त मरुणो सुपर्णा मध्ये......
ज्योतिर्य विन्द्दत्रिः। अथर्व० १३।२।३६

शतपथादि ब्राह्मण ग्रन्थोंमें भी वेदके शब्द प्रमाणोंकी ही ताईद की गई है।

लेखक : श्री वशिष्ठ

भ व सा ग र का ना वि क

‘ विश्वनाथ ’ की पुरीमें खोजने एक नवीन मन, देह
और प्रतिष्ठित करने ‘ अनश्वर ’ को निज महिमा–मंदिरे
एवं ‘ अनन्तता ’ के साथ सान्तको करने एक।
अन्तरहित वत्सरोंके लवण-खिलके तीरान्तर
इसके सागर–समीर धकेलते उसकी भटकती तरिको,
सपसपाते जागतिक पाथस् जैसे वह करता गमन,
एक जनप्रवाव उस चहुं ओर तथा भीति व एक पुकार।
सदैव इसके प्रवेगके प्रवोध्रमें वह करता अनुसरण।
वह खेता जीवन व मृत्यु तथा अन्य जीवन सुं,
करता रहता जागरणसुं व निद्रा सुं यात्रा वह।
इसके गुह्य प्रवेग ओरसे है एक शक्ति उस ऊपर
जो बांधती उसे उसके निज स्टजनके भाग्य प्रति,
और कर न पाता प्रतापी पर्यटक विश्राम कभी
तथा कभी हो सकती स्थगित नहीं जलयात्रा गूढ़,
यावत् उठाई न जाय मनुज– अन्तरात्मासे संध्या प्रतिचेत
और विभात ईशके करलें विजित निशा उसकी।
जब तक अवस्थित है ‘ प्रकृति, ’ वह भी है वहां;
कारण यह है ध्रुव कि वह और यह हैं एक,
निश्चित है यह कि पुरुष और प्रकृति हैं एक।

तब भी जब सोता वह, रखता इसे निज वक्षपर;
जो कोई दे त्याग इसे, वह नहीं करेगा प्रस्थान
इसके बिना ‘ अज्ञेय ’ में करनेको विश्राम।
वहां है एक सत्य जाननेको, करनेको एक कार्य;
यथार्थ है लीला इसकी, एक ‘ रहस्य ’ परिपूरता वह;
गभीर जग-लहरीमें ‘ माता ’ की है एक सूत्रपात,
इसकी विशाल व आकस्मिक क्रीडामें एक उद्देश्य।
प्रथम प्रभातसे जीवनके यही सदा चाहती थी यह,
यह सतत सकल्प निज विहारसे दिया इसने छाप,
अव्यक्तिक ‘ शून्य ’ में एक व्यक्ति करनेको आहूत,
‘ सत्य ’ ‘ ज्योति ’ से चौंकाने क्षोणीकी समाधिके मूल सघन,
अचेतन गभीरताओंमें जगाने एक मूक आत्मन्
तथा जिसकी शेषनाम सुप्तिसे उठाने एक शक्ति विलुप्त
कि ‘ काल ’ से बाहर झांक सकें ‘ कालरहित ’ के नैन
और अनावृत भगवानको कर सके व्यक्त जगत्।
इस कारण दी त्याग उसने निज शुक्ल अनन्तता
और दिया लाद ‘ आत्मा ’ पर भार इस शरीरका,
कि फलसके निष्मन ‘ दिगन्त ’ में ‘ देवत्व ’ का बीज।

❀ श्री अरविन्दकृत अंगरेजी महाकाव्य ‘ सावित्री ’ से संकलित व अनूदित। —अनु० वशिष्ठ

इसके = माताके, तरि = नौका, पाथस् = जल, भीति = भय, विभात = प्रभात उषा, यह, इसे, इसे, इसके = प्रकृति; इसकी, इसकी, यह, इसने = माता, क्षोणी = पृथ्वी, निष्मन = भवरहित

यह समय ब्रह्मचारी उत्तंककी परीक्षाका था। उत्तंकके ब्रह्मचर्यव्रतकी परीक्षा निम्न प्रकार ली गई-

एक दिन उपाध्यायके घरकी स्त्रियां एकत्र होकर उत्तंकको बुलाकर बोलीं- ' उत्तंक ! तुम्हारी उपाध्यायिनी ऋतुमती हुई है, तुम्हारे उपाध्याय भी घरमें नहीं हैं, सो जिससे उनकी ऋतु खाली न जाय, तुम तिसका विधान करो। '

कितना कठोर प्रलोभन है ! इस समय ब्रह्मचारी उत्तंकके सामने एक ओर सहजप्राप्त विषयसुख और दूसरी ओर ब्रह्मचर्यव्रतके भंगका तथा वैदिक ' सप्त मर्यादा ' के उल्लंघनका पातक उपस्थित था। दुर्बल मनुष्य कदाचित् फंस भी जाता, परंतु उत्तंक बडा तपस्वी और नियमपालनमें दक्ष था, इसलिये उसने तत्क्षणहीमें कहा कि ' मैं स्त्रियोंकी बात सुनकर ऐसा कुकर्म नहीं करूंगा उपाध्यायने मुझे ऐसी आज्ञा नहीं दी, कि तुम कुकर्म भी करना। '

इस प्रकार ब्रह्मचारी उत्तंकके ब्रह्मचर्यव्रतकी पूर्ण परीक्षा हो गई और वह उत्तम प्रकार इस कठोर परीक्षामें उत्तीर्ण हुआ। ऐसे सद्गुणी ब्रह्मचारी पर कौनसा आचार्य प्रेम नहीं करेगा ? आचार्य वेदका भी प्रेम इसी रीतिसे उत्तंकने आकर्षित किया था। स्वल्प कालके पश्चात् उत्तंकके समावर्तनका समय आया, उस समय ' गुरुदक्षिणा ' देनेका विचार ब्रह्मचारी उत्तंकने अपने आचार्यजीसे कहा। आचार्यजी अत्यंत सत्त्वसंपन्न होनेके कारण गुरुदक्षिणा लेना भी नहीं चाहते थे. परंतु आचार्यस्त्री प्रलोभनको जीत नहीं सकी थी।

प्रायः स्त्रियां सुंदर आभूषणों और सुंदर वस्त्रोंपर इतना प्रेम करती हैं कि, उनके सामने अन्य श्रेष्ठ विचार कोई मूल्य नहीं रखते। आजकल भी स्वदेशी खद्दरका प्रचार पुरुषोंमें है और स्त्रियां विदेशी सूतके कपडे पहनती हैं ! स्वदेशीके प्रेमकी अपेक्षा नरम, सुंदर वस्त्रका स्पर्श उनको अधिक प्यारा है। यही अवस्था पूर्वोक्त उपाध्यायिनी की थी। इसलिये उत्तंकसे उपाध्यायिनी बोली- ' बेटा उत्तंक ! राजा पौष्यके स्त्रीके धारण किये हुए दोनों कुंडल मांग लाओ। '

राजाके स्त्रीके धारण किये हुए कुंडल लाना बडा कठिन कार्य था, परंतु विद्वान् पुरुषार्थी उत्तंक घबरा नहीं गया। वह पौष्य राजाके पास पहुंचा और उसने अपनी विद्वत्ताके बलसे उक्त कुंडल प्राप्त किये और उनको लेकर अपनी उपाध्यायिनीके पास आने लगा। इतनेमें मार्गमें एक सर्प जातिके नंगे साधुने किसी युक्तिसे पूर्वोक्त कुंडल चुराये और वह वेषधारी साधु भागने लगा। उत्तंक ब्रह्मचारी उसके पीछे दौडने लगे। जब पकडे जानेका समय आया, तब वेषधारी साधुने शीघ्रतासे अपना वेष बदलकर भागना आरंभ किया। तथापि ब्रह्मचारी उसका पीछा करतेही रहे। अंतमें नागलोगोंके देशमें ये दोनों पहुंचे, इतनेमें वह चोर किसी प्रकार गुम हो गया और अपरिचित देशमें अकेला ब्रह्मचारी उत्तंक असहाय अवस्थामें रह गया !! तथापि वह घबरा गया नहीं ! वहां उसने देखा कि एक विलक्षण खुड्डी पर काले और श्वेत धागे ताने गये है, दो स्त्रियां कपडा बुन रहीं हैं, उस खुड्डीका बडा चक्र छः बालक घूमा रहे हैं, एक पुरुष सूत्र ठीक करनेके कार्यमें दक्ष है और उनके पास एक सुंदर घोडा भी है। इसका वर्णन ब्रह्मचारी उत्तंक निम्न प्रकार करता है—

> त्रीण्यर्पितान्यत्र शतानि मध्ये षष्टिश्च
> नित्यं चरति ध्रुवेऽस्मिन्।
> चक्रे चतुर्विंशतिपर्वयोगे षड्
> वै कुमाराः परिवर्तयन्ति ॥ १४६ ॥
>
> तन्त्रं चेदं विश्वरूपे युवत्यौ।
> वयतस्तंतून्सततं वर्तयंत्यौ।
> कृष्णान् सितांश्चैव विवर्तयन्त्यौ
> भूतान्यजस्रं भुवनानि चैव ॥ १४७ ॥
>
> वज्रस्य भर्ता भुवनस्य गोप्ता
> वृत्रस्य हन्ता नमुचेर्निहन्ता।
> कृष्णे वसानो वसने महात्मा
> सत्यानृते यो विविनक्ति लोके ॥ १४८ ॥
> यो वाजिनं गर्भमपां पुराणं
> वैश्वानरं वाहनमभ्युपैति।

नमोऽस्तु तस्मै जगदीश्वराय
लोकत्रयेशाय पुरंदराय ॥ १४९ ॥
(म. भा. आदि अ. ३)

' इन चौवीस पर्वयुक्त स्थिर चक्रमें तीन सौ साठ ताने लगे हैं। इसको छः कुमार घुमा रहे हैं। विश्वरूपिणी दोनों युवती इस तानेमें श्वेत और काले सूत देकर सदा वस्त्र बनाती हुई संपूर्ण भूत और भुवनोंको घुमा रही हैं। जो एक महात्मा कृष्ण-वस्त्र पहननेवाला, वज्रधर, नमुचि और वृत्रका नाशक, भुवनरक्षक, तेजस्वी वैश्वानर अश्वका वाहन करनेवाला, त्रिलोकनाथ जगदीश्वर प्रभु है, उसको मैं नमन करता हूं। '

इसी प्रकार स्तुति करते ही, उस पुरुषने कहा कि, ' ऐ उत्तंक ! तुम्हें क्या चाहिये ?' ब्रह्मचारीने कहा कि, ' यह सर्पजाति मेरे वशमें होवे। ' पुरुषने फिर कहा कि, ' इस घोडेके मलद्वारमें फूंको। '

घोडेका मलद्वार फूंकनेसे अग्नि बढने लगी, उसकी ऊष्णतासे सर्पोंका देश तप गया, सर्प घबरा गये और इस प्रकार त्रस्त होनेके बाद उसको सर्पोंसे कुंडल प्राप्त हुए। ब्रह्मचारीने उनको प्राप्त कर उपाध्यायिनीको दे दिये और गुरुदक्षिणा देनेके पश्चात् उसका आशीर्वाद लेकर, कुंडल चुरा कर इतना कष्ट देनेवाले सर्प तथा उसको आश्रय देनेवाली सर्पजातिका बदला लेनेके उद्देश्यसे राजा जनमेजयके पास आ गये। इन्हीं उत्तंककी प्रेरणासे उत्साहित होकर राजा जनमेजयने सर्पजातिके नाशके लिये सर्पयज्ञ किया, क्योंकि, जनमेजयके पिता राजा परिक्षितका वध भी एक सर्पनेही किया था। इसलिये समदुःखी ब्राह्मण उत्तंक और समदुःखी क्षत्रिय जनमेजयकी मित्रता हुई और ब्राह्मणक्षत्रियोंके संयुक्त प्रयत्नसे आर्यजातिको विविध रीतिसे कष्ट देनेवाली सर्पजातिका नाश किया गया। (म. भा. आदि अ. ३)। इसी प्रकार जातीय संकट दूर करनेके लिये ब्राह्मणों और क्षत्रियोंको अपनी सब शक्ति इकट्ठी करनी चाहिये और उस संघटित शक्तिको राष्ट्रहितके कार्यमें लगाना चाहिये। वेद भी यही कहता है कि-

यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यंचौ चरतः सह ।
तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना ॥
(य० २०।२५)

' जिस राष्ट्रमें ब्राह्मण और क्षत्रिय मिलजुल कर कार्य करते हैं, वही पुण्यदेश है। ' आर्योंमें जिस समय तक ज्ञानी और शूर इस प्रकार मिलजुल कर जातीय उन्नतिके कार्य करते थे, उस समय तक ही आर्य जातिकी उन्नति थी। परंतु जब आपसमें फूट हुई और एक घरके भाई भाई ही आपसमें लड मरनेको तैयार हुए, तबसे आर्य जातिकी अधोगति शुरू हो गई है। महाभारतके प्रारंभमें ही यह एकताके महत्त्वका दिव्य उपदेश मिलता है, जो जातीय और राष्ट्रीय उन्नति चाहनेवालोंको स्मरण रखना आवश्यक है। इस कथासे निम्न लिखित बोध मिल सकते हैं—

(१) विद्यार्थिधर्म- कितना भी प्रलोभन आ गया तो भी प्रलोभनोंमें फंसकर ब्रह्मचर्यादि सुनियमोंकी उपेक्षा कदापि नहीं करनी चाहिये।

(२) आचार्य-धर्म- आचार्य ऐसा हो कि, जो गुरुदक्षिणाका विचार भी मनमें न लावे और शिष्यको पूर्णतासे अपनी विद्या अर्पण करे और सदा शिष्यका कल्याण ही चाहता रहे।

(३) स्त्रीधर्म- स्त्रियोंके आभूषणकी प्रीतिके कारण विद्वानोंको भी कितने कष्ट होते हैं, यह देखकर स्त्रियां भी आभूषणोंका अतिप्रेम छोड दें और विद्या तथा राष्ट्रप्रेमसे सुभूषित होकर श्रेष्ठ माताएं बननेका प्रयत्न करें।

(४) स्नातक-धर्म- जिस आचार्यके पाससे विद्या ग्रहण की है, उसको गुरुदक्षिणा देकर ही गुरुऋणसे मुक्त होना और गुरुके विषयमें उत्तम भक्ति सदा मनमें धारण करना।

(५) राष्ट्रधर्म- अपने राष्ट्रको सदा कष्ट देनेवाली जो कोई जाति हो, उस जातिको परास्त करनेके लिये राष्ट्रके सब लोग, विशेषतः ज्ञानी और शूर वीर मिल जुल कर ऐसा कार्य करें कि, विजातिके उपद्रवसे होनेवाले सब कष्ट दूर हो जांय।

इतने बोध उक्त कथामें स्पष्टतासे हैं। महाभारत आदिपर्वके तीसरे अध्यायमें यह कथा पाठक देखेंगे,

तो उनको वहां उक्त बोध स्पष्ट रीतिसे मिल सकते हैं। अब कथामें जिस विशाल चक्रका वर्णन है, उसका विचार करना है। वह चक्र, दो स्त्रियां, एक पुरुष, घोडा, छः कुमार, सूत और कपडा, इन पदार्थोंका जो वर्णन है, वह किस वैदिक अलंकारका सूचक है यह बात यहां देखनी है। इस विषयका स्पष्टीकरण होनेके लिये निम्न लिखित वेद-मंत्र देखिये—

पुमाँ एनं तनुत उत् कृणत्ति पुमान्
वि तत्ने अधि नाके अस्मिन्।
इमे मयूखा उप सेदुरू सदः
सामानि चक्रुस्तसराण्योतवे ॥
(ऋ. १०।१३०।२)

'(पुमान्) पुरुष (एनं तनुते) इसको फैलाता है, (पुमान्) पुरुष पुनः (उत्कृणत्ति) ढेर लगता है, वह (अस्मिन् नाके अधि) इस आकाशमें भी (वितत्ने) विशेष फैलाता है। (इमे मयूखाः) ये खूंटियां (सदः उप सेदुः) कार्यके स्थानमें हैं और (सामानि) सामोंको (ओतवे) बुननेके लिये (तसराणि) घडकियां बना लीं हैं।

इस मंत्रमें सूत्र फैलाना, उसका ढेर लगाना, उसको इकट्ठा करना, संपूर्ण आकाशमें सूतका ताना फैलाना, कार्यके स्थानमें खूंटियां लगाना और घडकियोंसे बुननेका काम लेनेका वर्णन है। यह ऋग्वेदका मंत्र है। प्रायः ऋग्वेदके मंत्रमें संक्षपसे वर्णन होता है और अथर्ववेदमें उसका विशेष स्पष्टीकरण दिखाई देता है। इसलिये इसी वर्णनके अथर्ववेदके मंत्र देखिये—

तन्त्रमेके युवती विरूपे अभ्याक्रामं
वयतः षण्मयूखम्।
प्रान्या तन्तूंस्तिरते धत्ते अन्या
नापवृञ्जाते न गमाते अन्तम्।
तयोरहं परिनृत्यन्त्योरिव न वि
जानामि यतरा परस्तात्।
पुमानेनद्वयत्युद्गृणत्ति पुमानेनद्विजभाराधि
नाके ॥ (अ. १०।७।४२-४३)

'(एके) अकेली अकेली (वि-रूपे युवती) विरुद्ध रूपवाली दो स्त्रियां (षट्-मयूखं तंत्रं) छः खूंटियोंवाले खुड्डीके पास (अभ्याक्रामन्) आती हैं और (वयतः) कपडा बुनती हैं। (अन्या) उनमेंसे एक (तंतून्) सूत्रोंके (प्र तिरते) फैलाती है और (अन्या) दूसरी (धत्ते) रखती है। वे (न अपवृञ्जाते) तोडती नहीं और (अन्तं न गमाते) कार्य समाप्त भी नहीं करती हैं। (अहं) मैं (तयोः परिनृत्यन्त्योः इव) उन नाचनेवाली जैसी स्त्रियोंमें (यतरा परस्तात्) कौनसी पहिली है, यह (न वि जानामि) नहीं जानता। (पुमान्) एक पुरुष (एनत्) इसको (वयति) बुनता है, (पुमान्) पुरुष (उद्गृणत्ति) अलग करता है और (नाके अधि) विस्तृत आकाशमें (एनत् विजभार) इसको फैलाता है।'

पाठक इन मंत्रोंमें देखेंगे, तो उनको स्पष्ट रूपसे पता लग जायगा कि ये अथर्व-वेदके मंत्र न केवल ऋग्वेदके पूर्वोक्त मंत्रका स्पष्टीकरण कर रहे हैं, प्रत्युत महाभारतके वर्णनका भी वैदिक मूल बता रहे हैं!! इन मंत्रोंका विचार करनेसे महाभारतके कथनका स्वरूप निश्चित होता है और महाभारतके स्पष्टीकरणसे मंत्रोंके अर्थ निश्चित हो सकते हैं। तुलनात्मक अध्ययनसे इस प्रकार हमें वेदार्थकी खोज करनेके लिये लाभ हो सकते है। महाभारत और वेद-मंत्रोंकी तुलना करनेके पूर्व हमें और भी वेद-मंत्र देखनेकी आवश्यकता है, वे पहले यहां देखेंगे। पहले पूर्वोक्त मंत्रोंमें जो दो स्त्रियां कहीं हैं, उनका स्वरूप वेद-मंत्रों द्वारा देखना चाहिये। इसलिये निम्न मंत्र देखिये—

उषासानक्ता बृहती बृहन्तं
पयस्वती सुदुघे शूरमिन्द्रम्।
तन्तुं ततं पेशसा संवयन्ती
देवानां देवं यजतः सुरुक्मे ॥ (य. २१।४१)
साध्वपांसि सनता न उक्षिते
उषासानक्ता वय्येव रण्विते।
तन्तुं ततं संवयन्ती समीची
यज्ञस्य पेशः सुदुघे पयस्वती (ऋ. २।३।६)

'(बृहती) बडी, (पयस्वती) रसयुक्त (सुदुघे) उत्तम दोहन देनेवाली (सुरुक्मे) सुंदर

(उषासानक्ता) उषा और सायंसंध्या ये दो स्त्रियें (ततं) फैले हुए (तंतुं) सूतको (पेशसा) सुंदरताके साथ (संवयन्ती) उत्तम प्रकारसे बुनती हुई (देवानां देवं) देवोंके देव शूर इंद्रकी (यजतः) पूजा करती है। ' तथा—

' (नः) हमारे (साधु अपांसि) उत्तम कर्मोंसे (सनता उक्षिते) सदा सुपूजित (उषासानक्ता) उषा और सायं-संध्या (वय्या इव) जुलाहीके समान (रण्विते) प्रशंसित (सुदुघे पयस्वती) उत्तम दोहन होनेसे रसयुक्त होकर (ततं तंतुं) फैले हुए सूत्रको (यज्ञस्य पेशः) यज्ञके सुंदर वस्त्रको (समीची संवयन्ती) उत्तम प्रकार बुनती है। '

इन दोनों मंत्रोंमें ' उषासानक्ता ' अर्थात् ' उषः-काल ' और ' सायंकाल ' इन दो समयोंकों दो स्त्रियोंका रूपक देकर काव्यमय वर्णन किया है। ' उषा और नक्ता ' ये दो ही स्त्रियां हैं जो ऊपरके मंत्रोंमें तथा महाभारतके वर्णनमें वर्णित हैं। ' उषा स्त्री ' दिनभर श्वेत रंगका कपडा बुनती है और ' नक्ता स्त्री ' रातभर काले रंगका कपडा बुनती रहती है। एकके पीछे एक आकर अपना अपना कार्य करती है, परंतु किसीका भी कार्य समाप्त नहीं होता। क्योंकि दिनके पीछे रात्री और रात्रीके पश्चात् दिन आता है और यह क्रम कभी समाप्त होनेवाला नहीं है।

दिन और रात्रीका समय ही श्वेत और काला वस्त्र है। यह अलंकार माननेपर सूर्यके कारण उत्पन्न होनेवाले कालके सूक्ष्म अवयव सूत हैं, यह बात स्पष्ट होती है। काल-रूपी यह सूत्र सूर्यरूपी गोल चर्खेपर देवोंका देव इंद्र भगवान् कात रहा है और उस सूत्रको लेकर उषा और नक्ता ये दो स्त्रियां कपडा बुन रहीं हैं।

' छः खूटीयोंवाली खुड्डीपर यह बुननेका कार्य चल रहा है। छः खूंटियां छः ऋतुओंका समय है। इन खूंटियोंको घुमानेवाले छः ऋतु हैं। तथा जिस खुड्डीपर यह समयका कपडा बुना जाता है, वह संवत्सर है। जो पुरुष है, वह देवाधिदेव ईश्वर है और जो उसका वाहन अश्वरूपसे वर्णन किया है, वह आग्नेय तत्त्व है। ' इस प्रकार यह संवत्सर-कालचक्रका वर्णन है। इसका विचार करनेके लिये निम्न लिखित वेद-मंत्र देखने योग्य हैं। इनका विचार करनेसे संपूर्ण अलंकार स्पष्ट रीतिसे खुल जाता है।

> द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि
> नभ्यानि क उ तच्चिकेत। तस्मिन्त्साकं
> त्रिशता न शंकवोऽर्पिताः
> षष्टिर्न चलाचलासः ॥ (ऋ. १।१६४।४८)
> तत्राहतास्त्रीणि शतानि शंकवः षष्टिश्च
> खीला अविचाचला ये ॥ (अ. १०।८।४)

' बारह (प्रधयः) परिधि हैं, जिनका एकही चक्र है, तीन (नभ्यानि) नाभी हैं, (कः) कौन (तत्) उस चक्रको (चिकेत) जानता है? (तस्मिन्) उस चक्रमें (साकं) साथ साथ (त्रिशताः षष्टिः) तीन सौ साठ (शंकवः) खील (अर्पिताः) रखे हैं, जो ढीले नहीं हैं। '

(१) एक चक्र, कालचक्र, संवत्सर। (२) उनके तीन नाभी तीन काल हैं, गर्मीका समय, वृष्टिका समय और शीतका समय। (३) बारह परिधि बारह महीने हैं। (४) तीन सौ साठ शंकु वर्षके तीन सौ साठ दिन हैं। इस प्रकार यह कालचक्र चल रहा है। इसीका वर्णन और देखिये—

> द्वादशारं न हि तज्जराय वर्वर्ति
> चक्रं परिद्यामृतस्य। आ पुत्रा
> अग्ने मिथुनासो अत्र सप्तशतानि
> विंशतिश्च तस्थुः ॥ ११ ॥
> पंचपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः
> परे अर्धे पुरिषिणम्। अथेमे अन्य उपरे
> विचक्षणं सप्तचक्रे षडर आहुरर्पितम् ॥ १२ ॥
> पंचारे चक्रे परिवर्तमाने तस्मिन्नातस्थु-
> र्भुवनानि विश्वा। तस्य नाक्षस्तप्यते
> भूरिभारः सनादेव न शीर्यते सनाभिः ॥ १३ ॥
> (ऋ. १।१६४।११-१३)

(द्वादशारं) बारह आरोंवाला एक चक्र (ऋतस्य द्यां) ऋतके द्युलोकके चारों ओर (परि वर्वर्ति) घूमता है, परंतु (तत्) वह चक्र (नहि जराय) क्षीण नहीं होता है। हे (अग्ने) तेजस्वी देव! (सप्त शतानि विंशतिः) सात सौ वीस (मिथुनासः) पुत्राः) जुडे हुए बालक उसमें (आ तस्थुः) रहे हैं। '

'(पंचपादं) पांच पांववाले (द्वादशाकृतिं) बारह आकृतियोंसे युक्त (दिवः पितरं) द्युलोकके पिताको (परे अर्धे पुरीषिणं) दूसरे अर्ध भागमें जल उत्पन्न करनेवाला (आहुः) कहते हैं। (इमे अन्ये) ये दूसरे विद्वान् (आहुः) कहते हैं कि, वह (सप्त चक्रे) सात चक्रोंसे युक्त (षडरे) छह आरोंवाले रथमें (अर्पित) रहता है।'

'(विश्वा भुवनानि) संपूर्ण भुवन (तस्मिन् परिवर्तमाने) उस घूमनेवाले (पंचारे चक्रे) पांच आरोंवाले चक्रमें (आ तस्थुः) रहते हैं। (तस्य) उस चक्रका (भूरिभारः अक्षः) बहुत बोझवाला अक्ष (न तप्यते) नहीं तप जाता। (सनभिः) नाभिके साथ वह (सनादेव) सनातन कालसे कार्य चलानेपर भी (न शीर्यते) क्षीण नहीं होता।

इस वर्णनके साथ निम्न लिखित मंत्र देखिये—

यस्मान्मासा निर्मितास्त्रिंशदराः
संवत्सरो यस्मान्निर्मितो द्वादशारः।
(अ० ४।३५।४)

'(यस्मात्) जिससे (त्रिंशत् अराः) तीस आरोंवाले (मासाः) महिने निर्माण किये हैं, तथा जिससे (द्वादशारः) बारह आरोंवाला (संवत्सरः) वर्ष बनाया है।'

ये मंत्र हैं कि जो पूर्वोक्त रूपकका स्पष्टीकरण कर रहे हैं। इन मंत्रोंके पदोंके संकेत ये हैं-

(१) द्वादशार-द्वादशाकृतिं बारह महीने
(२) पंचार, पंचपाद्-पांच ऋतु।
(३) षडर, षळर-छः ऋतु।
(४) सप्तार=सात ऋतु।
(५) त्रिंशदर-तीस दिनका एक मास।
(६) सप्तशतानि विंशतिः मिथुनासः पुत्राः-सात सौ वीस जुडे हुए पुत्र। वर्षके दिन ३६० प्रतिदिन दिवस और रात्री ये दो जुडे पुत्र होते हैं, इस हिसाबसे वर्षके ७२० होते हैं। ३६०×२=७२०
(७) परे अर्धे पुरीषिन्- द्वितीय अर्धमें जलकी वृष्टि करनेवाला वर्ष। वर्षमें छः मास वृष्टिके विना और दूसरे छः मास वृष्टिके साथ होते हैं।

ये सब सांकेतिक शब्द देखनेसे पता लगता है, कि यह वर्णन संवत्सरका ही है। इस वर्णनके साथ पूर्वोक्त महाभारतकी कथाका 'छः खूंटियोंवाले चक्र' का वर्णन देखिये, तो उसी समय पता लग जायगा, कि, महाभारतका वर्णन इन वैदिक मंत्रोंके आधारसे ही लिखा है। अथवा यों कहिये कि इन मंत्रोंके आशय सुबोध रीतिसे समझानेके उद्देश्यसही वह वर्णन वहां दिया है। वेदमंत्रोंके शब्द ले ले करके उक्त श्लोक महाभारतमें रचे गये हैं, इसका अनुभव पाठक ही करें। जो महाभारतके श्लोकोंमें आये हुए शब्द ऊपर दिये मंत्रोंमें नहीं हैं, वे इंद्रसूक्तोंमें अन्यत्र हैं। यहां विस्तार भयके कारण सब मंत्र देना उचित नहीं समझा है।

एक बात जो महाभारतमें वर्णित है, परंतु वेदमंत्रोंमें हमारे देखनेमें नहीं आई, वह यह है कि, 'छः कुमार उस कालचक्रका घुमा रहे हैं।' संभवतः किसी स्थानपर यह बात वदमें होगी अथवा न होगी, परंतु हमने परिश्रम करने पर भी अभीतक पाई नहीं है। पाठक इसका अधिक विचार करें।

'कुमार' शब्दका अर्थ साधारणतया बालक है। अग्नि भी उसका अर्थ होता है। (कुं पृथ्वीं आरयति) पृथ्वीके चलानेका हेतु जो हैं, उसको भी कुमार (कुं+आर) कहते हैं और यही अर्थ यहां अभिप्रेत है। छः ऋतु ये संवत्सरके छः कुमार हैं, जो संववत्सर-चक्रमें परिवर्तन करते हैं, यह बात अनुभवसिद्ध है।

इस रीतिसे हमने महाभारतके वर्णनकी तुलना वेदके साथ की है। अब इस वर्णनका स्पष्टीकरण जो स्वयं महाभारतमें दिया है, वह भी यहां देखिये

ये ते स्त्रियौ धाता विधाता च ये
च कृष्णाः सिताश्च तंतवस्ते
राऽयहनी यदपि तच्चक्रं द्वादशारं
षड् वै कुमाराः परिवर्तयन्ति तेऽपि
षड्ऋतवः संवत्सरचक्रम् ॥ १६६ ॥
यः पुरुषः स पर्जन्यो योऽश्वः सोऽग्निः
(म० भा० आदि० ३।१६७)

'धाता और विधाता ये दो स्त्रियां हैं, श्वेत और काले धागे दिन और रात्रीका समय है बारह आरोंवाला चक्र जो छः कुमारोंद्वारा घुमाया जाता है, वह संवत्सरचक्र है और घुमानवाले छः ऋतु हैं। जो पुरुष है वह पर्जन्य है और जो अश्व है, वह अग्नि है।'

इस कथामें कई अन्य बातें हैं, जो यहां स्थलाभाव से नहीं दीं हैं, परंतु उनका विचार इन मंत्रोंके विचारसे हो सकता है। इस महाभारतीय स्पष्टीकरणमें ऐसा कहा है कि, 'धाता और विधाता' ये दो स्त्रियां हैं, और मंत्रोंमें 'उषा और नक्ता' ये दो स्त्रियां होनेका वर्णन है। इस विषयमें यहां इतनाही कहना पर्याप्त है कि, 'उषःकाल और सायंकाल' का ही दूसरा नाम क्रमशः 'धाता और विधाता' है। इन शब्दोंके अन्य अर्थ हैं, परंतु इस कथा प्रसंग में ये ही इनके अर्थ हैं।

'धाता, विधाता' नामोंके प्रयोगसे, कई कथाएं पुराणोंमें वर्णित हैं, उन कथाओंका मूल वेदमें 'उषा और नक्ता' शब्दोंके देखनेसे मिल सकता है, यह लाभ इस ढंगसे की हुई तुलनासे होता है।

परंतु कई पाठक यहां पूछेंगे कि, 'इस प्रकार लिखे संवत्सरचक्रके वर्णनसे हमें क्या लाभ है? यह वर्णन वेदमें हो अथवा किसी अन्य ग्रंथमें हो।' प्रश्न ठीक है और इसीलिये इसका उत्तर यहां देना चाहिये।

यदि उक्त वर्णन केवल कालचक्रकाही है, तो काव्यरसास्वादको छोडकर किसी भी प्रकारका अन्य लाभ उससे होना संभव नहीं है। परंतु वेदमंत्रकी बातोंमें विशेष गूढता रहती है, इसका अनुभव कई बार पाठकोंको हो चुका है। वह गूढता अध्यात्म विषयकी है। जो वर्णन इस समय तक बाह्य कालके विषयमें हम देख रहे थे, वही अब अंदरके प्राणचक्रके विषयमें देखनेसे वैदिक गूढ आशयका पता लग जायगा। देखिये एक एक पूर्वोक्त तत्त्वका अध्यात्ममें संबंध कैसा है—

(१) ३६० शंकु = ३६० खील = शरीरकी ३६० हड्डियां। 'अस्थीनि च ह वै त्रीणि शतानि षष्टिश्च' (गर्भउप० ५॥) 'षष्टिश्च ह वै त्रीणि शतानि पुरुषस्यास्थीनि।' (शत० ब्रा० १०।५।४।१२) मनुष्यके देहमें ३६० हड्डियां हैं।

(२) ७२० मिथुन पुत्र = (३६० दिन और ३६० रात्री मिलकर ७२० पुत्र होते हैं।) ३६० हड्डियां ऊपर दिनोंके स्थानमें बता दीं हैं। रात्रिके स्थानमें ३६० मज्जाकेंद्र समझे जाते हैं। 'षष्टिश्च ह वै त्रीणि च शतानि पुरुषस्य मज्जानः।' (शत० ब्रा० १०।५।४।१२) हड्डियां और मज्जाकेंद्र दोनों मिलकर ७२० होते हैं। ३६०+३६० = ७२०

(३) एक चक्र = मुख्य प्राणचक्र।

(४) छः कुमार = छह ऋतु। (१) जन्म (२) अस्तित्व, (३) बुद्धि (४) मध्यावस्था, (५) परिणतावस्था, (६) नाश, ये मानवी जन्ममें छः अवस्थाएं ऋतु हैं।

(५) दो स्त्रियां = मति और प्रमति (बोध और प्रतिबोध, ज्ञान और विज्ञान)

(६) कृष्ण और श्वेत तंतु = अपान और प्राण (मारक और तारक शक्ति, जो शरीरमें कार्य कर रही है।)

(७) पुरुष = पुरुष, चैतन्य। वैद्युत् शक्ति जीवन-विद्युत्।

(८) अश्व = अग्नि। शरीरकी उष्णता, जो प्राणके श्वासोच्छ्वासके कारण रहती है। (पूर्वोक्त उत्तंककी कथामें घोडेका मलद्वार फूंकनेसे गर्मी बढनेका वर्णन है।) प्राणायामसे शरीरमें उष्णता बढ जाती है, यह अनुभव है।

(९) बारह परिधि = दस इंद्रियां, मन और आत्मिक तेज मिलकर बारह परिधि हैं। "मन एकादशं तेजो द्वादशं।" (गर्भ उ. ५) "द्वादशार, द्वादशाकृति" आदि शब्दका भाव यही है।

(१०) तीन नाभि = उर, सिर और कंठस्थानके तीन मुख्य केंद्र।

(११) पंचपाद (पंचारचक्र) = पंचप्राणोंके केंद्र।

(१२) षडर = षट्चक्र नामक मज्जाकेंद्र जो पृष्ठवंशमें है।

(१३) सप्तार = दो आंख, दो कान, दो नाक और एक मुख। "सप्तर्षि" आदि शब्द इसीके वाचक हैं।

बाह्य वर्णनमें और आंतरिक अध्यात्मके वर्णनमें किस रीतिसे एकरूपता देखनी चाहिये, इस विषयमें शतपथ ब्राह्मणमें स्थान स्थान पर अनेक संकेत हैं।

उनके अनुसंधानसे उक्त स्पष्टीकरण दिया है। पाठक भी इसका अधिक विचार करें।

अध्यात्मका वर्णन अपने अंदर देखना होता है। पूर्वोक्त वर्णन इस ढंगसे अपने अंदर देखकर अपने अंदरका सामर्थ्य पहले जानना और योगादि साधनोंद्वारा उसका अनुभव करना चाहिये।

इसीलिये वेद और उपनिषदोंमें स्थान स्थानमें अध्यात्म उपदेश दिया है।

अपने अंदर प्राणशक्ति किस प्रकार कार्य कर रही है, विषैले सर्प कौन हैं और उनका नाश किस प्रकार हो रहा है, यह सब विषय यहां देखना चाहिये। परतु यह स्पष्टीकरण किसी अन्य लेखमें विस्तारसे किया जायगा।

इस लेखमें महाभारतकी कथा और उसका वेदमंत्रोंसे संबंध बताया है। आगे विचार करनेके लिये जो साधन उपस्थित किये हैं, उनको लेकर यदि पाठक भी अधिक खोज करेंगे, तो बडा ही कार्य हो सकता है।

अस्तु। इस लेख-मालामें क्रमशः यही विचार होता रहेगा।

विवाहके समय राष्ट्रीयताका विचार।

१ सार्वभौमिक शिक्षा।

महाभारतकी शिक्षा सार्वभौमिक है। इस ग्रंथसे सामाजिक, राजकीय, नैतिक, आदि सब बातोंकी शिक्षा मिल सकती है। मानवजातिका सामाजिक इतिहास ही इस ग्रंथमें मिलता है। यहां तक दूर दूरकी बातें इस ग्रंथमें विद्यमान हैं कि जो मध्य एशिया, युरोप अमेरिका और उत्तर ध्रुवके विविध स्थानोंके साथ संबंध रखती हैं। यह सब वर्णन अत्यंत मनोरंजक है और इस पुस्तकमें इसका क्रमशः उल्लेख होगा।

(२) लो. तिलकका मत।

चिरस्मरणीय लोकमान्य महात्मा तिलक महोदयजी वारंवार कहा करते थे कि, ' महाभारत ग्रंथ अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इसमें धर्मराजाकी सत्य-निष्ठा, कर्णकी उदारता, भीमका बाहुबल, अर्जुनका युद्धकौशल इत्यादि अनेक अवर्णनीय गुणोंसे युक्त वीरोंका वर्णन है और इन वीरोंका चरित्र पठनीय तथा मननीय है। तथापि उन सबोंमें भीष्मपितामहका दृढ निश्चय और श्रीकृष्णचंद्रका राजनीतिपटुत्व विलक्षण महत्त्व रखता है। इनके सामने अन्योंके अन्यान्य गुण फीके हैं। इसलिये नव युवकोंसे मेरा यही कहना है कि, वे महाभारतका अध्ययन अवश्य ही करें और भीष्मपितामहका दृढ निश्चय तथा श्रीकृष्णचंद्रजीका राजनीतिपटुत्व अपने अंदर बढानेका प्रयत्न करें।'

(तिलकस्मरण, पृ. १४७)

महात्मा तिलक महोदयजीने स्वयं कई वार महाभारतका अध्ययन किया था और प्रायः वे प्रतिदिन महाभारतका पाठ थोडा या अधिक किया करते थे। इसलिये उनके मित्र कहा करते हैं कि स्वयं लोकमान्य तिलक महोदयजीने महाभारतका पाठ वारंवार कर करके, अपने सामने भीष्मपितामह और श्रीकृष्ण भगवान् ये ही दो आदर्श रखे थे। इसी कारण लोकमान्यजीका जीवन भी उनके समान ही बन गया!!

(३) मिश्रित विवाह।

अस्तु, इस प्रकार महाभारतकी अपूर्वता सर्वमान्य है और विशेष कर यह ग्रंथ तरुणोंको अवश्यही पढना चाहिये। आज इस लेखमें तरुणोंके उपयोगी एक विचारको प्रस्तुत करना चाहते हैं। तरुण विद्या प्राप्त करने और धन कमानेका प्रारम्भ करनेके पश्चात् स्त्री प्राप्त करनेकी अर्थात् विवाह करनेकी इच्छा करते हैं। इस समय वे प्रायः बाह्य दिखावटकी बातों पर ही ध्यान देते हैं। कई तरुण युरोप और अमेरिकामें जाकर वहांकी तरुण युवतियोंके साथ अपना प्रेमसम्बन्ध जमाते हैं।

इस प्रकारके मिश्रविवाह आज कई हो गये हैं। कई विद्वान् इन मिश्र विवाहोंको बडा पसंद करते

हैं। परंतु कई इनको घृणाकी दृष्टिसे देखते हैं। हमारे प्राचीन ग्रंथ इस विषयमें क्या संमति देते हैं, यह इस लेखमें देखना है। रामायण महाभारतके जो ग्रंथकार थे, उनकी दृष्टि जितनी दूर पहुंचती थी, उतना दृष्टिका विस्तार हमारा नहीं है। इसलिये उक्त ग्रंथोंका इस विषयमें उपदेश क्या है, वह यहां देखेंगे।

(४) धर्मशास्त्र और काव्य।

उपदेश देखनेके समय यह बात अवश्य ध्यानमें धारण करनी चाहिये कि भिन्न भिन्न ग्रंथोंसे उपदेश लेनेका प्रकार भिन्न भिन्न ही है। जैसा (१) कानूनके ग्रंथमें 'चोरी मत कर' ऐसा लिखा नहीं होता, परंतु चोरी करने पर यह दंड होगा, ऐसा लिखा होता है। इससे बोध मिलता है कि, चोरी करना ठीक नहीं। (२) स्मृति अर्थात् धर्मशास्त्रमें लिखा होता है कि, 'चोरी करना बडा पाप है।' इससे भी वही बोध होता है। (३) काव्यग्रंथोंमें किसी कथा-प्रसंगसे बताया होता है कि चोरी करनेसे किसी व्यक्ति-विशेषकी कैसी हानि हुई। इससे भी बोध वही होता है। रामायण, महाभारत ये दोनों बडे भारी काव्य-ग्रंथ हैं। इसलिये काव्य-ग्रंथोंसे उपदेश लेनेकी विधिसे ही इनसे बोध लेना उचित है। विवाह करनेके समय राष्ट्रीयताका विचार न रखनेसे किस प्रकार हानि अर्थात् अपने राष्ट्रकी हानि होती है, यह बात उक्त काव्य-ग्रंथोंमें लिखी है, यही बातें इस लेखमें बतानी हैं। इससे पूर्व वेदमंत्रोंका उपदेश इस विषयमें देखिये—

(५) राष्ट्रके साथ बढनेका उपदेश।

तेन भूतेन हविषायमाप्यायतां पुनः।
जायां यामस्मा आवाक्षुस्तां रसेनाभि वर्धताम् ॥ १ ॥
अभि वर्धतां पयसाभि राष्ट्रेण वर्धताम्।
रय्या सहस्रवर्चसेमौ स्तामनुपक्षितौ ॥ २ ॥
त्वष्टा जाया मजनयत्त्वष्टास्यै त्वां पतिम्।
त्वष्टा सहस्रमायूंषि दीर्घमायुः कृणोतु वाम् ॥ ३ ॥
(अथर्व० ६।७८)

'उस (भूतेन हविषा) सुसंस्कृत अन्नसे यह पति पुनः (आ प्यायतां) बढे। (अस्मै) इस पतिको जो (जायां) पत्नी (आवाक्षुः) प्राप्त कराई है, (तां) उस पत्नीको (रसेन) रसोंसे अन्नके रसोंसे (अभिवर्धतां) बढावे। (पयसा) दूधसे (अभिवर्धतां) बढे, राष्ट्रके साथ (अभिवर्धतां) बढे, (इमौ) ये दोनों पति और पत्नी सहस्र प्रकारके धनोंसे (अनुपक्षितौ) भरपूर (स्तां) हों। (त्वष्टा) ईश्वरने यह (जायां) स्त्री (अजनयत्) उत्पन्न की है, ईश्वरने ही तुझ पतिको यह पत्नी दी है। ईश्वर ही सहस्रोंसे शक्तियोंसे युक्त जीवन देकर आपकी दीर्घ आयु करे।'

इस दंपतीसूक्तमें (राष्ट्रेण अभिवर्धतां) अपने राष्ट्रके साथ बढो, यह उपदेश दिया है। विवाहित होकर जो बढना है, वह अपने राष्ट्रके साथ बढना है, अपनी जातिके साथ बढना है। न कि विवाहित होकर अपने राष्ट्रके विरुद्ध होकर बढनेका यत्न करना। पाठक इस सूक्तके इस उपदेशको अर्थात् अपने 'राष्ट्रके साथ बढने' को पूर्णतासे ध्यानमें धरें। अब हम बतायेंगे कि, यह वैदिक उपदेश ध्यानमें न रहनेसे क्या बन गया। देखिये वाल्मीकी रामायणकी साक्षी—

(६) रामायणकी साक्षी।

(१) ग्रामणी नामक गंधर्वने अपनी पुत्री देववती सुकेश नामक राक्षसको दी, उससे आगे जाकर सुमाली और माली इन राक्षसोंकी उत्पत्ति हो गई, जो लंकामें राज्य करने लगे। (रामायण उत्तर कां० स० ५)

(२) राक्षस अपने स्वाभावके अनुसारही ऋषि और देवोंको सताने लगे। इनसे त्रस्त होकर ऋषि-योंने और देवोंने एक विस्तारसे विष्णुकी सहायता लेकर राक्षसोंके साथ बडा युद्ध किया और सब राक्षसोंको पातालमें भगाया। (रामा० उ० कां० स० ६-८)

इस प्रकार बडा युद्ध करनेके पश्चात्‌ही देवों और ऋषियोंको शांति प्राप्त हुई।

(७) प्राचीन जातियोंके स्थान।

'असुर्य लोग' वह है कि जिसको आजकल 'असीरिया' कहते हैं। वहां असुर, राक्षस, रक्षः आदि नामके लोग रहते थे। 'सुरलोक' वह है कि जिसको आजकल 'तिब्बत' कहते हैं, यही 'त्रिवि-ष्टप' है। इस देशमें देवोंका राज्य था। 'गंधर्व-

(३८२) 'य एतत्... इतिहासं हरिं स्मृत्वा...।'
(भागवत० ६।१७।४१)

'एतत्' अशुद्ध है। 'इतिहास' पुल्लिङ्ग है अतः 'एतम्' शुद्ध रूप होगा।

(३८३) 'स्त्रिया भर्तरिसुप्रीतिकः काम इह चागमः।'
(भागवत ६।१८।३२)

'अगमः' अशुद्ध है। 'अगम्यः' शुद्ध है।

(३८४) '...सतधानापि मम्रिरे।'
(भागवत ६।१८।७२)

'मम्रिरे' अशुद्ध है।

'म्रियतेर्लुङ्लिङोश्च (अष्टा. १।३।६१) के अनुसार 'मम्रुः' शुद्ध है

(३८५) 'शुक्ले मार्ग शिरे पक्षे योषिद् भर्तुरनुज्ञया।'
(भागवत ६।१९।२)

'मार्गशिरे' अशुद्ध है। 'मार्गशिरसि' या 'मार्गशीर्षे' शुद्ध है।

(३८६) 'रजस्तमस्कान् प्रमिणोत्युरुश्रवाः।'
(भागवत ७।१।११)

'प्रमिणोति' अशुद्ध है।

'मीनातेर्निगमे' (अष्टा० ७।३।८१) के अनुसार 'प्रमीणाति' शुद्ध है।

(३८७) 'तत्रापि राघवो भूत्वा न्यहनच्छापमुक्तये।'
(भागवत ७।१।४४)

'न्यहनत्' अशुद्ध है। हन् धातुके लङ्में 'न्यहन्' शुद्ध है।

(३८८) 'तत्रानुयानं तव वीर पादयोः शुश्रूषतीनां दिश यत्र यास्यसि।'
(भागवत ७।२।३४)

'शुश्रूषतीनाम्' अशुद्ध है।

'ज्ञाश्रुस्मृदृशां सनः' (अष्टा० १।३।५७) के अनुसार 'शुश्रूषमाणानाम्' शुद्ध है। 'श्रु धातु आत्मनेपद है।

(३८९) 'ततः शोचत मा यूयं परं...।'
(भागवत ७।२।६०)

'अशोचत' में 'अडागम' कैसे?

(३९०) '...देवो भक्षिताङ्गं पिपीलिकैः।'
(भागवत ७।३।२२)

'पिपीलिका' सर्वदास्त्रीलिङ्ग है। यहा पुल्लिङ्गम प्रयोग अशुद्ध है।

(३९१) 'सिद्धचारणविद्याध्रानृषीन्...।'
(भागवत ७।४।६)

'विद्याध्रान्' अशुद्ध है। 'विद्याधरान्' होना चाहिए।

(३९२) 'मद्दर्शनंहि भूतानां सर्वश्रेयोपपत्तये'।
(भागवत ७।४।२५)

'श्रेयोपपत्तये' में सन्धिकार्य अपाणिनीय है।

'श्रेय उपपत्तये' होना चाहिए।

(३९३) 'यस्मिन् महद्गुणा राजन् गृह्यन्ते कविभिर्मुहुः।'
(भागवत ७।४।३४)

'महद्गुणाः' अशुद्ध है।

'आन्महतः समाना धिकरणजातीययोः' (अष्टाध्यायी ६।३।४६) के अनुसार "महागुणाः' होना चाहिए।

(३९४) '...यदशिक्षद् गुरोर्भवान्।'
(भागवत ७।५।२२)

'अशिक्षत्' अशुद्ध है

'शिक्ष' (धातुपाठ ६०५) आत्मनेपदी है इसलिए 'अशिक्षत' होना चाहिए

(३९५) 'नैसर्गिकीयं मतिरस्य राजन् नियच्छ मन्युं कदद्राः स्म मानः।'
(भागवत ७।५।२८)

(क) यहाँ 'स्म' के योगमें 'अडागम' कैसे?

(ख) 'कद्' अशुद्ध है। 'कु' शुद्ध है।

(३९६) 'वध्यतामश्वयं वध्यो निःसारयत नैर्ऋताः।'
(भागवत ७।५।३४)

'वध्यताम्' अशुद्ध है। 'हन्यताम्' होना चाहिए, क्योंकि अलग वध धातु नहीं है

'हनश्चवधः' (अष्टा० ३।३।७६) पर 'बालमनोरमा' का कथन है कि

'वस्तुतो वधिः स्वतन्त्रो नास्त्येव इति शब्देन्दुशेखरे।'

(३९७) 'सौहृदं दुस्त्यजंपित्रोरहाद्यः पञ्चहायनः।'
(भागवत ७।५।३६)

'अहात्' अशुद्ध है। 'अजहात्' शुद्ध है।

ओहाक् त्यागे 'जुहोत्यादि' है।

(३९८) 'आसीनं चाहनञ्छूलैः प्रह्लादं सर्वमर्मसु । (भागवत ७।५।४०)

'अहनन्' अशुद्ध है। 'अघ्नन्' शुद्ध है।

(३९९) 'स्नेहपाशैर्दृढैर्बद्धमुत्सहेत विमोचितुम्।' (भागवत ७।६।९)

'विमोचितुम्' अशुद्ध है। 'विमोचयितुम्' शुद्ध है, मुच् (चुरादि) १७४४ धातुपाठ सेट् है। यदि धातुको मुच्लृ तुदादि लिया जाय तब यह अनिट् है और 'विमोक्तुम्' होगा।

(४००) 'पुत्रान् स्मरंस्ता दुहितॄर्हृदय्या भ्रातॄन्।' (भागवत ७।६।१२)

'हृदय्याः' अशुद्ध है। 'हृद्याः' शुद्ध है।

(४०१) 'त्यजेत कोशस्कृदिवेहमानः ... ।' (भागवत ७।६।१३)

'कोशस्कृत्' अशुद्ध है। 'कोशकृत' शुद्ध है।

(४०२) '... स मुक्तसङ्गैरिषितोऽपवर्गः ।' (भागवत ७।६।१८)

'इषितः' अशुद्ध है। 'इष्टः' शुद्ध है।

इषु (तुदादि) सेट् है।

(४०३) 'स वै देहस्तु पारक्यो... ।' (भागवत ७।७।४३)

'पारक्यः' अशुद्ध है। 'पारक्य' शुद्ध है।

(४०४) '...येनाण्डकटाहमस्फुटत् ।' (भागवत ७।८।१६)

'कटाहम्' पुंल्लिग है। यहाँ नपुंसकलिङ्गमें प्रयोग अशुद्ध है।

(४०५) 'ततोऽभिपद्याभ्यहनन्महासुरो... ।' (भागवत ७।८।२५)

'अभ्यहनन' अशुद्ध है। 'अभ्यहन्' शुद्ध है।

(४०६) 'तद्दृष्टिविमुष्टरोचिषः ।' (भागवत ७।८।३२)

'मुष्ट' अशुद्ध है।

मुषस्तेये क्र्यादि धातु सेट् है इसलिए 'मुषित' शुद्ध है।

महाकवि भवभूतिने 'मुषिताः स्थ परिभूताः स्थ रामहतकेन' (उत्तररामचरितम् अंक १) में 'मुषिताः' प्रयोग किया है।

(४०७) 'प्रोत्सर्पत क्ष्मा च पदातिपीडिता ।' (भागवत ७।८।३३)

'प्रोत्सर्पत' अशुद्ध है।

(४०८) '...दिदृक्षतां सङ्कुलमास नाकिनाम्।' (भागवत ७।८।३६)

'दिदृक्षताम्' अशुद्ध है।

'ज्ञाश्रुस्मृदृशां सनः' (अष्टा० १।३।५७) के अनुसार 'दिदृक्षमाणानाम्' शुद्ध है।

(४०९) 'गन्धर्वाप्सरचारणाः ।' (भागवत ७।८।३८)

'अप्सर' अशुद्ध है।

(४१०) 'ईडिरे नरशार्दूलं नातिदूरचराः पृथक्।' (भागवत ७।८।३९)[२२]

'ईडिरे' अपाणिनीय है।

ईडस्तुतौ; अदादि है परन्तु रूप लिट्में होनेसे अशुद्ध है।

(४११) 'कालग्रस्तं कियदिदमहोनाथ शुश्रूषतां ते मुक्तिस्तेषां... ।' (भागवत ७।८।४२)

'शुश्रूषताम्' अशुद्ध है। 'शुश्रूषमाणानाम्' पाणिनीके 'ज्ञाश्रुस्मृदृशां सनः' (अष्टा० १।३।५७) के अनुसार शुद्ध है।

(४१२) '... येनेदमादिपुरुषात्मगतं ससर्ज ।' (भागवत ७।८।४३)

'ससर्ज' अशुद्ध है।

'विभाषा सृजिदृशोः' (अष्टा० ७।२।६५) के अनुसार 'ससर्जिथ' शुद्ध है।

(४१३) '...योगसिद्धामसाधुरहारषीद् योगतपोबलेन ।' (भागवत ७।८।४५)

'अहारषीत्' अशुद्ध है।

(४१४) '... प्रणताः स्म नित्यम् ।' (भागवत ७।८।४६)

'स्म' अशुद्ध है। 'स्मः' शुद्ध है।

(४१५) 'नाराधितुं पुरुगुणैरघुनापि पिप्रुः ।' (भागवत ७।९।८)

(क) 'आराधितुम्' अशुद्ध है। 'आराधयितुम् शुद्ध है। राध चुरादि है।

(ख) 'पिप्रुः' अशुद्ध है।

---

२२ मथुरा संस्करण, बालबोधिनी भा. टी., पृष्ठ ५३४ में श्लोक संख्या ४१ है जो अशुद्ध है। श्लो. ३९ सापयिकी भा. टी., पण्डित पुस्तकालय, काशी तथा अन्य संस्करणोंमें है। —(लेखक)

'भृद्ग्रहोस्त्योवा' (अष्टा० ७।४।१२) के अनुसार 'प्रग्र.' शुद्ध प्रयोग होगा।

(४१६) 'यस्मात् प्रियाप्रियवियोगसयोगजन्म-शोकाग्निना...।' (भागवत ७।९।१७)

'सयोग' अशुद्ध है। 'संयोग' होना चाहिए।

(४१७) 'कुत्राशिषः श्रुतिसुखा मृगतृष्णिरूपाः।' (भागवत ७।९।२५)

'मृगतृष्णि' अशुद्ध है। 'मृगतृष्णा' अथवा 'मृगतृष्णिका' शुद्ध है।

(४१८) '...कथंनुविसृजेतव भृत्यसेवाम्।' (भागवत ७।९।२८)

'विसृजे' अशुद्ध है। 'विसृजामि' शुद्ध है क्योंकि सृज (तुदादि) परस्मैपदी है।

(४१९) '...पारचर पीपृहि मूढमद्य।' (भागवत ७।९।४१)

'पीपृहि' अशुद्ध है। 'पिपृहि' शुद्ध है।

(४२०) 'मूढेषुवै महदनुग्रह आर्तबन्धोर्किं-तेनते प्रियजनानुसेवतांनः।' (भागवत ७।९।४२)

(क) 'महदनुग्रह' कर्मधारय समास अशुद्ध है।

'आन्महतः समानाधिकरणजातीययो (अष्टाध्यायी ६।३।४६) के अनुसार 'महानुग्रहः' शुद्ध है।

(ख) 'अनुसेवताम्' अशुद्ध है। 'अनुसेवमानानाम्' शुद्ध है।

(४२१) '...शरणं भ्रमतोऽनुपश्ये।' (भागवत ७।९।४४)

'अनुपश्ये' अशुद्ध है। 'अनुपश्यामि' शुद्ध है।

(४२२) 'कारणेपुन्यसेत् सम्यक् संघातं तु यथार्हतः।' (भागवत ७।१२।२४)

'न्यसेत्' अपाणिनीय है। 'न्यस्येत्' पाणिनीय है।

(४२३) 'दिक्षु श्रोत्रं सनादेन ..।' (भागवत ७।१२।२७)

'सनादेन' अशुद्ध है। 'सनादम्' शुद्ध है।

(४२४) 'आश्वाधान्तेवसायिभ्यः कामात्...।' (भागवत ७।१४।११)

'अन्तेवसायी'=चाण्डाल। यह अलुक समास है।

'अन्तावसायी' प्रयोग शुद्ध है।

(४२५) 'उपासत उपास्तापि नार्थदापुरुष-द्विषाम्।' (भागवत ७।१४।४०)

'उपास्ता' अशुद्ध है। 'उपासिता' शुद्ध है क्योंकि धातु 'सेट्' है।

(४२६) 'यथा हि यूयं नृपदेव...उत्तरतात्मनः प्रभोः।' (भागवत ७।१५।६८)

'उत्तरत' अशुद्ध है। 'उत्तरत' शुद्ध है।

स्कन्ध ८

(४२७) यामैः परिवृतो देवैर्हन्वाशासत् त्रिविष्टपम्।' (भागवत ८।१।१८)

'अशासत्' अशुद्ध है। 'अशात्' शुद्ध है।

(४२८) 'अष्टाशीतिसहस्राणि मुनयः...।' (भागवत ८।१।२२)

यह अशुद्ध प्रयोग है।

'अष्टाशीति सहस्रं मुनयः' शुद्ध है।

(४२९) 'यत्र सङ्गी तसत्रा दैर्नदद् गुहममर्षया।' (भागवत ८।२।१६)

'अमर्षया' स्त्रीलिङ्ग है। यहाँ 'पुल्लिङ्ग' में प्रयोग अशुद्ध है।

(४३०) '...यथाबलं सोऽतिबलो विचक्रमे।' (भागवत ८।२।२७)

'विचक्रमे' अशुद्ध है।

'विचक्राम' शुद्ध है।

(४३१) गजाः पार्ष्णिग्रहास्तारयितुं न चाशकन्। (भागवत ८।२।२८)

'पार्ष्णिग्रहा.' अशुद्ध है। 'पार्ष्णिग्राहा.' शुद्ध है।

(४३२) '...प्रभवन्ति मोचितुम्।' (भागवत ८।२।३२)

'मोचितुम्' अशुद्ध है। 'मोचयितुम्' शुद्ध है।

(४३३) 'यथा नटस्याकृतिभिर्विचेष्टतो...।' (भागवत ८।३।६)

'विचेष्टतः' अशुद्ध है।

'विचेष्टमानस्य' शुद्ध है, क्योंकि चेष्ट् आत्मनेपदी है।

(४३४) 'जिजीविषे नाहमिहामुया...।' (भागवत ८।३।२५)

'जिजीविषे' अशुद्ध है। 'जिजीविषामि' शुद्ध है।

(४३५) ग्राहाद् विपाटितमुखादरिणा गजेन्द्रं।' (भागवत ८।३।३३)

टीकाकार पं. श्रीधर 'अरि' का अर्थ 'चक्र' करते हैं। भागवत ८।१०।५७ में भी 'ऽरिणाऽऽद्य:' आया है जिसका अर्थ 'चक्र' है। 'आदि' का 'चक्र' अर्थ अन्यत्र लौकिक साहित्यमें दुर्लभ है। यहाँ 'अप्रसिद्ध शब्द अप्रसिद्ध अर्थ' में प्रयुक्त है

(४३६) '...यशोधाम कीर्तन्यगुणसत्कथम्।'
(भागवत ८।४।४)

'कीर्तन्य' अपशब्द है। 'कीर्तनीय' शुद्ध है।

(४३७) 'भ्रममाणोऽम्भसि धृतःकूर्मरूपेण मन्दरः।'
(भागवत ८।५।१०)

'भ्रममाणः' अशुद्ध है। 'भ्रमन्' अथवा 'भ्राम्यन्' शुद्ध है। भ्रम् परस्मैपदी है।

(४३८) 'अभिनन्द्यहरेर्वीर्यमभ्याचष्टुंपचक्रमे।'
(भागवत ८।५।१४)

'अभ्याचष्टुम्' अशुद्ध है।

'चक्षिङ्‌ख्याञ्' (अष्टाध्यायी २।४।५४) के अनुसार 'अभ्याख्यातुम्' शुद्ध है।

(४३९) '...श्मशाने ते नूनमूर्तिमविदंस्तव-हातलज्जाः।'
(भागवत ८।७।३३)

'हात' अशुद्ध है।

'ओदितश्च' (अष्टाध्यायी ८।२।४५) के अनुसार 'हीन' शुद्ध है।

(४४०) 'विसर्पदुरुसर्पदसह्यमप्रति।'
(भागवत ८।७।१९)

(क) यहाँ 'अप्रति' शब्दका प्रयोग अशुद्ध है।

(ख) 'अप्रति' शब्द अप्रतीकार अर्थ है। अपूर्वः शब्दका अपूर्व अर्थ है।

(४४१) '...श्वेताद्रेर्हरन् भगवतोमहिम्।'
(भागवत ८।८।४)

'महिम्' वैदिक शब्द है। यह नपुंसकलिंग है, परन्तु यहाँ पुंलिंगमें प्रयोग अशुद्ध है।

(४४२) 'गन्धर्व यक्षासुरसिद्धचारण त्रै विष्टपेयाविधु।' (भागवत ८।८।१९)

'त्रैविष्टपेय' अपाणिनीय है। 'त्रिविष्टप' पाणिनीय है।

(४४३) 'आभिषेचनिका भूमिराहरत् सकलौषधीः।'
(भागवत ८।८।११)

'आभिषेचनिका' अपाणिनीय प्रयोग है।

(४४४) '...आयुर्वेददृगिज्यभाक्।'
(भागवत ८।८।३५)

'इज्यभाक्' अशुद्ध है 'इज्याभाक्' शुद्ध है।

(४४५) 'लिप्सन्तः सर्वयस्तूनि कलशंतरसाहरन्
(भागवत ८।८।३६)

'लिप्सन्तः' अशुद्ध है।

'पूर्ववत् सनः' (अष्टाध्यायी १।३।६२) के अनुसार 'लिप्समानाः' शुद्ध है क्योंकि लभ, आत्मनेपद इसी सूत्रसे होगा।

(४४६) 'एवं सुरासुरगणाः समदेशकालहेत्वर्थकर्ममतयोऽपिफलेविकल्पाः।'
(भागवत ८।९।२८)

यहाँ 'फलेविकल्पाः' प्रयोगसे परोक्षप्रियता, अलौकिक समासकारिता, और कल्पितार्थ प्रयोजकता तीन दोष हैं।

(४४७) 'आह्वयन्तो विशन्तोऽग्रे युयुधुर्द्वन्द्व योधिनः।'
(भागवत ८।१०।२७)

'आह्वयन्तो, युयुधुः' अशुद्ध है।

'स्पर्धायामाङः' (अष्टाध्यायी १।३।३१) के अनुसार 'आह्वयमानाः' व 'युयुधिरे' शुद्ध है।

(४४८) '...तारकेण गुहोऽस्युत।'
(भागवत ८।१०।२८)

'अस्यत' अशुद्ध है। 'आस्यत' शुद्ध है।

(४४९) 'निशुम्भशुम्भयोर्देवी भद्रकाली तरस्विनी।'
(भागवत ८।१०।३१)

'निशुम्भशुम्भयोः' अशुद्ध है। 'निशुम्भशुम्भाभ्याम्' शुद्ध है।

(४५०) '...ततस्तोमरमृष्टयः।'
(भागवत ८।१०।४४)

'ऋष्टयः' अपाणिनीय प्रयोग है। 'ऋष्टीः' शुद्ध है।

(४५१) सांवर्तक इवात्युग्रो विबुधध्वजिनीं मघाक्।' (भागवत ८।१०।५०)

'अधाक्' अशुद्ध है। दह् धातुसे 'अधाक्षीत्' शुद्ध होगा।

(४५२) 'तेनाहन्नृप... '

'तिग्मगदयाहनदण्डजेन्द्रं।' (भागवत ८।१०।५६,५७)

'अहनत्' अशुद्ध है। हन् धातुसे 'अहन्' शुद्ध है।

(४५३) '...वणिक्पथा भिन्ननवो यथार्णवे।' (भागवत ८।११।२५)

(क) 'भिन्ननवः' अशुद्ध है। 'भिन्ननावः' शुद्ध है।

(ख) यहाँ पुराणोक्त अर्थको स्वीकार करनेपर 'पथिन्' शब्द व्यर्थ हो जाता है। यहाँ अतिरिक्त दोष है।

(४५४) 'कृतो निविशतां भारैः पतत्त्रैः पततां भुवि।' (भागवत ८।११।३४)

'निविशताम्' अशुद्ध है।

'नेर्विशः' (अष्टाध्यायी १।३।१७) के अनुसार 'निविशमानानाम्' शुद्ध है।

(४५५) 'समाजितो भगवता सादरं सोमया भवः।' (भागवत ८।१२।३)

'सोमया'='उमासहित' एक अशुद्ध स्पष्टीकरण है। यह 'भव' का विशेषण है इसलिए कर्त्ताकारक है। अतः 'सोमः' शुद्ध है, बहुव्रीहि समास।

(४५६) 'मध्यतश्चलत्पदप्रवालं नयतीं ततस्ततः।' (भागवत ८।१२।१९)

'नयतीम्' अशुद्ध है।

'शप्श्यनोर्नित्यम्' (अष्टाध्यायी ७।१।८१) के अनुसार 'नयन्तीम्' पाठ होना चाहिए।

(४५७) 'विच्युतां संनह्यतीं वामकरेण वल्गुना।' (भागवत ८।१२।२१)

'संनह्यतीम्' अशुद्ध है। 'संनह्यन्तीम्' शुद्ध है।

(४५८) '...कटाक्षमुष्ट।' (भागवत ८।१२।२२)

'मुष्टः' अशुद्ध है। 'मुषित' प्रयोग शुद्ध है।

धातु मुष् स्तेये (क्रयादि सेट्) से यह शब्द बना है। अन्यग्रन्थोंमें भी 'मुषित' प्रयोग है। यथा– 'मुषिताः स्थ परिभूताः स्थ रामहतकेन' (उत्तररामचरितम्, अङ्क १)

यहाँ स्वयं 'भवभूति' जैसे महान् कवि 'मुषित' का प्रयोग कर रहे हैं। स्वयं भागवतकारने 'भगवान् भवः प्रमुषितेन्द्रियः।' (भागवत ८।१२।२७) में 'मुषितका' प्रयोग किया है। क्या भागवतकार भंगकी तरंगमें लिखता था कि उससे 'वदतो व्याघात' बोध होता है।

(४५९) 'त्रिलोकीं भोक्ष्यतेऽद्भुतः।' (भागवत ८।१३।२०)

'भोक्ष्यते' अशुद्ध है। 'भोक्ष्यति' शुद्ध है क्योंकि पाणिनीके अनुसार परस्मैपद होना चाहिए।

(४६०) 'मनुर्वै धर्मसावर्णिरेकादशम् आत्मवन्।' (भागवत ८।१३।२४)

'एकादशम्' अशुद्ध है।

'नान्तादसंख्यादेर्मट्' (अष्टाध्यायी ५।२।४९) के अनुसार 'एकादशः' शुद्ध है।

इसीप्रकार भागवत ८।१३।२७ में 'द्वादशम', श्लोक ३३ में 'चतुर्दशम' प्रयोगकी उपर्युक्त पाणिनी सूत्रके अनुसार अशुद्ध हैं। 'द्वादशः' और 'चतुर्दशः' शुद्ध पाठ होना चाहिए।

(४६१) 'वदस्वमे।' (भागवत ८।१४।१)

'वदस्व' अशुद्ध है। 'वद' शुद्ध है। धातु वद् परस्मैपदी है।

(४६२) 'आकाशगङ्गया देव्या वृतां परिख-भूतया।' (भागवत ८।१५।१४)

'परिखभूतया' अपाणिनीय है।

'अस्यच्वौ' (अष्टाध्यायी ७।४।३२) के अनुसार 'परिखीभूतया' शुद्ध है।

(४६३) 'प्रयुञ्जन् भयमिन्द्रयोषिताम्।' (भागवत ८।१५।२३)

'प्रयुञ्जन्' अशुद्ध है।

'प्रोपाभ्यां युजेरयज्ञपात्रेषु' (अष्टाध्यायी १।३।६४) के अनुसार 'प्रयुञ्जानः' शुद्ध है।

(४६४) 'हिरण्यगर्भो विज्ञाय समीडे गुह्य-नामभिः।' (भागवत ८।१७।२४)

'समीडे' अपाणिनीय प्रयोग है।

'इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः' (अष्टाध्यायी ३।१।३६) के अनुसार 'समीडाञ्चक्रे' शुद्ध है।

(४६५) हतांहसो वार्भिरियं च भूरहो तथा पुनीता तनुभिः पदैस्तव। (भागवत ८।१८।३१)

'पुनीता' अशुद्ध है। हिन्दी भाषामें इसका प्रयोग होता है।

'पू' धातुसे 'पूता' होना चाहिए।

(४६६) ददौ कृष्णाजिनं भूमिर्दण्डं सोमो वनस्पतिः।

(भागवत ८।१८।१५)

'इहैव वनस्पतिरिति विशेषणं प्रयुक्तं कविना मयमर्थं मुए जानता।'

वनोंके पति (स्वामी) सोमः है। यहाँ वनस्पतिको विशेषण प्रयोग करना 'कवि प्रत्यनादर' है।

(४६७) शून्यमपश्यमानः।

(भागवत ८।१९।११)

'अपश्यमानः' अशुद्ध है। 'अपश्यन्' शुद्ध है।

(४६८) क्रमतो गां पदैकेन द्वितीयेन दिवं विभोः।

(भागवत ८।१९।३४)

'क्रमतः' अपाणिनीय है।

'क्रमः परस्मैपदेषु' (अष्टाध्यायी ७।३।७७) के अनुसार 'क्रामतः' पाठ शुद्ध है।

(४६९) निरयान्नाधन्यादसुखार्णवात्।

(भागवत ८।२०।५)

'अधन्यात' अपाणिनीय है।

'धनगणं लब्धा' (अष्टाध्यायी ४।४।८४) के अनुसार अशुद्ध है।

(४७०) आनिन्ये कलशं हैममवनेजन्यपां भृतम्।

(भागवत ८।२०।१७)

'अवनेअन्यपां' समास अशुद्ध है।

'पुंवत्कर्म धारयजातीयदेशीयेषु' (अष्टाध्यायी ६।३।४२) के अनुसार 'अवनेजनानाम्' शुद्ध है।

(४७१) ऐक्षत् प्रजापतीअघने आत्ममुख्यान्।

(भागवत ८।२०।२४)

'ऐक्षत् अशुद्ध है। 'ऐक्षत' (लङ्) शुद्ध है।

(४७२) 'प्रतिश्रुतस्यादानेन योऽर्थिनं विप्रलम्भते।' (भागवत ८।२१।३३)

'विप्रलम्भते' अपाणिनीय है।

'लभेश्च' (अष्टाध्यायी ७।१।६४) के अनुसार 'विप्रलभते' शुद्ध है।

(४७३) 'पाशैर्नातिव्रीडे न च व्यथे।'

(भागवत ८।२२।७)

'व्रीडे' अशुद्ध है।

'व्रीड चोदने लज्जायां च, परस्मैपदी, दिवादि है। अतः 'व्रीड्यामि' शुद्ध है।

(४७४) 'तद्विशो विधुनोम्यहम्।'

(भागवत ८।२२।२४)

'विश्' का अर्थ यहाँ 'धन' है। किसी कोष व संस्कृतमें ऐसा अर्थ नहीं है। यहाँ 'अप्रसिद्ध शब्द अप्रसिद्ध अर्थमें प्रयुक्त है।

(४७५) 'किं रिक्थहारैः स्वजनाख्यदस्युभिः।'

(भागवत ८।२२।९)

'रिक्थहारैः' अपाणिनीय है।

'हरतेरनुद्यमनेऽच्' (अष्टाध्यायी ३।२।९) के अनुसार 'रिक्थहरैः' शुद्ध है।

(४७६) 'पूरयित्वादितेः काममशासत् सकलं जगत्।' (भागवत ८।२३।४)

'अशासत्' अपाणिनीय है।

'तिप्यनस्ते (अष्टाध्यायी ८।२।७३) के अनुसार 'अशात्' पाठ होना चाहिए।

(४७७) 'चित्रं तवेहितमहोऽमितयोगमायालीलाविसृष्टभुवनस्यविशारदस्य।'

(भागवत ८।२३।८)

'महोऽमित' में सन्धि अशुद्ध है।

'ओत्' (अष्टाध्यायी १।१।१५) के अनुसार सन्धिका निषेध है।

(४७८) 'जग्मुरदितिं च शशंसिरे।'

(भागवत ८।२३।२७)

'शशंसिरे' अशुद्ध है। 'शशंसुः' शुद्ध है।

शंसु स्तुतौ: परस्मैपदी है।

(४७९) '...त्रैलोक्यं भूर्भुवादिकम्।'

(भागवत ८।२४।३२)

'भूर्भुवादिकम्' अशुद्ध है। 'भूर्भुव आदिकम्' शुद्ध है।

(४८०) 'उरस्थितस्य मे श्रृङ्गे निबध्नीहि महाहिना।' (भागवत ८।२४।३६)

'निबध्नीहि' अपाणिनीय है।

'हलः श्नः शानज्झौ' (अष्टाध्यायी ३।१।८३) के अनुसार 'निबधान' शुद्ध है।

(४८१) '...साकं सहनावमुदन्वति।'

(भागवत ८।२४।३७)

'सहनावम्' अपाणिनीय प्रयोग है।

'उरः प्रभृतिभ्यः कप्' (अष्टाध्यायी ५।४।१५१) के अनुसार 'सहनौकम्' शुद्ध है।

स्कन्ध ९

(४८२) '—कीर्तयस्व महाभाग नित्यं शुश्रूषतां हिनः।' (भागवत ९।१।४)

'शुश्रूषतां' अपाणिनीय प्रयोग है।

'ज्ञाश्रुस्मृदृशांसनः' (अष्टाध्यायी १।३।५७) के अनुसार 'शुश्रूषमाणानाम्' शुद्ध है।

(४८३) 'अप्रजस्य मनोः।' (भागवत ९।१।१३)

'अप्रजस्य' अपाणिनीय है।

'नित्यमसिच् प्रजामेधयोः' (अष्टाध्यायी ५।४।१२२) के अनुसार 'अप्रजसः' शुद्ध है।

(४८४) 'अस्तौषीदादिपुरुषमिलायाः पुंस्त्वकाम्यया।' (भागवत ९।१।२१)

'अस्तोषीदित्यपशब्दः'

'स्तुसुधूञ्भ्यः परस्मैपदेषु' (अष्टाध्यायी ७।२।७२) के अनुसार 'अस्तावीदित्येव रूपमिति पाणिनीयाः'

(४८५) 'सुद्युम्नस्याशयन् पुंस्त्वमुपाधावत।' (भागवत ९।१।३७)

'आशयन्' अपाणिनीय प्रयोग है।

'आशयानः' पाणिनीय है। क्योंकि शी आत्मनेपद (धातुपाठ १०३२) है

(४८६) 'अजानन्नहनद् बभ्रोः शिरः शार्दूलशङ्कया।' (भागवत ९।२।६ और ९।६।२२)

'अहनत्' अपाणिनीय प्रयोग है। 'अहन्' पाणिनीय है।

(४८७) 'न क्षत्रबन्धुः शूद्रस्त्वं कर्मणा भवितामुना। (भागवत ९।२।९)

'भविता' अशुद्ध है। 'भवितासि' शुद्ध है।

(४८८) 'भिषक्तमौ'। (भागवत ९।३।१३)

'भिषक्तमौ' अपाणिनीय है।

(४८९) '...पतिस्त्वया प्रलिम्भतो लोकनमस्कृतो मुनिः।' (भागवत ९।३।२०)

'प्रलम्भितः' अशुद्ध है। 'प्रलब्धः' पाणिनीके 'उपसर्गात् खल्घञोः' (अष्टा० ७।१।६७) के अनुसार शुद्ध है।

(४९०) 'भ्रातरोऽभाङ्क्त।' (भागवत ९।४।२)

'अभाङ्क्त' अशुद्ध है। 'अभाक्षुः भज (भ्वादि.) से शुद्ध है।

(४९१) '...अभिस्रोतमसौ सरस्वतीम्।' (भागवत ९।४।२२)

'अभिस्रोतम्' समास अशुद्ध है।

'लक्षणेनाभिप्रती आभिमुख्ये' (अष्टा० २।१।१४) के अनुसार यहाँ अव्ययीभाव समास लिया जा सकता है।

'अभिस्रोतः' शुद्ध है।

(४९२) 'मधुवनेऽर्चयत्।' (भागवत ९।४।३०)

'अर्चयत्' अशुद्ध है। 'आर्चयत्' शुद्ध है।

(४९३) 'गवां रुक्मविषाणीनां रूप्याङ्घ्रीणां सुवाससाम्।' (भागवत ९।४।३३)

'रुक्मविषाणीनाम्' अपाणिनीय प्रयोग है।

'अजाद्यतष्टाप्' (अष्टा० ४।१।४) के अनुसार 'रुक्मविषाणानाम्' पाणिनीय है।

(४९४) 'तिरोभविष्याति'। (भागवत ९।४।५३)

'तिरोभविष्यति' नियमबद्ध भविष्यत् (लृङ्) है, परन्तु यहाँ भविष्यत् (लृट्) में प्रयोग अशुद्ध है।

(४९५) 'तस्य सोद्यमनंवीक्ष्य।' (भागवत ९।५।२)

सोद्यमनम् = (सः + उद्यमनम्) सन्धि अशुद्ध है।

(४९६) 'बाहूदरोर्वङ्घ्रिशिरोधराणि वृकणस्रजस्रं प्रधने विराजसे।' (भागवत ९।५।८)

(क) 'शिरोधराणि' अपाणिनीय प्रयोग है।

'द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम्' (अष्टा० २।४।२) के अनुसार 'शिरोधरम्' शुद्ध है।

(ख) 'वृक्णन्' अशुद्ध है। यह पाठ गीताप्रेस गोरखपुर अष्टमसंस्करण. गुटका मूलमात्र, पृष्ठ ४४३, पंडित पुस्तकालय, वाराणसी, सामयिकी भा. टी. पृष्ठ ७५०, मथुरा संस्करण, बालबोधिनी भा. टी. द्वितीयखण्ड, पृष्ठ ९४ में है।

'वृश्चन्' शुद्ध है।

(४९७) मृगान् हत्वा क्रियार्हणान्। (भागवत ९।६।७)

'क्रियार्हणान् अशुद्ध है।

'क्रियार्हान्' शुद्ध होना चाहिए।

(४९८) ताः स्वपत्युर्महाराज...। (भागवत ९।६।५५)

'स्वपत्युः' अपाणिनीय प्रयोग है।

'पतिः समास एव' (अष्टा० १।४।८) के अनुसार 'स्वपतेः' शुद्ध है।

(४९९) यस्येरिता सांख्यमयी दृढेह नौर्यया मुमुक्षुस्तरते दुरत्ययम्।

(भागवत ९।८।१४)

'तरते' अपाणिनीय है, क्योंकि तॄ परस्मैपदी है।

(५००) दृष्ट्वा विसिस्मिरे राजन्।

(भागवत ९।८।१९)

'विसिस्मिरे' अपाणिनीय प्रयोग है।

'आदेशप्रत्यययोः' (अष्टा० ८।३।५९) के अनुसार 'विसिस्मियिरे' शुद्ध है।

(५०१) ...अटमान उवास कृच्छ्रम्।

(भागवत ९।१०।१९)

'अटमानः' अशुद्ध है। 'अटन्' शुद्ध है अट (धातुपाठ २९५) परस्मैपदी है।

(५०२) निर्मज्ज्यमानधिषणध्वजहेम कुम्भशृङ्गाटका।

(भागवत ९।१०।१७)

'धिषण' अशुद्ध है। 'धिष्ण्य' शुद्ध है।

(५०३) यत्रोऽन्तर्हृदयं विश्य तमो हंसि स्वरोचिषा।

(भागवत ९।११।६)

'विश्य' अशुद्ध है। 'विश्य' शुद्ध है।

(५०४) स्त्रीपुंप्रसङ्ग एतादृक् सर्वत्र त्रासमावहः।

(भागवत ९।११।१७)

'त्रासमावहः' अशुद्ध है। षष्ठीतत्पुरुष होना चाहिए और 'त्रासावहः' शुद्ध है।

(५०५) स्त्रीपुम्भिः।

(भागवत ९।११।३४)

'स्त्रीपुम्भिः' अपाणिनीय प्रयोग है।

स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात्' (अष्टा० ४।१।८७) के अनुसार 'स्त्रीपुंसैः' शुद्ध है।

(५०६) सासुरोडुपम्।

(भागवत ९।१४।६)

'सासुरः + उडुपम्' सन्धि अशुद्ध है।

(५०७) 'मातुरदत् स्वयम्।

(भागवत ९।१५।९)

'अदत् लङ्में अशुद्ध है। 'आदत्' शुद्ध है।

(५०८) 'तद्विज्ञाय मुनिः प्राहपत्नीं कष्टमकारषीः।'

(भागवत ९।१५।१०)

'अकारषीः' अशुद्ध है। 'अकार्षीः' शुद्ध है।

(५०९) 'समुपेत्याश्रमं पित्रे परिक्लिष्टां समर्पयत्।'

(भागवत ९।१५।३६)

'समर्पयत्' अशुद्ध है। 'समार्पयत् (लङ्)' शुद्ध है।

(५१०) 'भगवांस्तुष्यते हरिरीश्वरः।'

(भागवत ९।१५।४०)

'तुष्यते' अशुद्ध है। 'तुष्यति' शुद्ध है क्योंकि धातु तुष् परस्मैपदी है।

(५११) 'गन्धर्वराजंक्रीडन्तमप्सरोभिरपश्यत।

(भागवत ९।१६।२)

'अपश्यत' अशुद्ध है। 'अपश्यत्' शुद्ध है

(५१२) '...घ्नतैनां पुत्रका...।'

(भागवत ९।१६।५)

'घ्नत' अपाणिनीय प्रयोग है।

(५१३) 'ये मानं मेऽनुगृह्णन्तो वीरवन्तमकर्त माम्।'

(भागवत ९।१६।३५)

'अकर्त' अशुद्ध है। 'अकृषत' शुद्ध है।

(५१४) 'विजहुः सिञ्चतीर्मिथः।'

(भागवत ९।१८।८)

'सिञ्चतीः' अशुद्ध है।

'सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः' (अष्टा० ७।१।३९)के अनुसार 'सिञ्चन्त्य,' शुद्ध है।

(५१५) त्वांजरा विशतां मन्द विरूपकरणी नृणाम्।'

(भागवत ९।१८।३६)

'विशताम्' अशुद्ध है, क्योंकि विश् सदा परस्मैपदी है अतः 'विशतु' शुद्ध है।

(५१६) 'वह्वयोऽजाः कान्तकामिनीः।'

(भागवत ९।१९।५)

'कान्तकामिनीः' अपाणिनीय प्रयोग है।

'सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः' (अष्टा. ७।१।३९) के अनुसार 'कान्तकामिन्य' शुद्ध है।

(५१७) 'कृपणस्तांप्रसादितुम्।'

(भागवत ९।१९।९)

'प्रसादितुम्' अशुद्ध है। 'प्रसादयितुम्' शुद्ध है।

१९१ कण्वा॑स इन्द्र ते म॒तिं विश्वे॑ वर्धन्ति॒ पौंस्य॑म् । उ॒तो श॑विष्ठ वृष्ण्य॑म् ॥ ३१ ॥
१९२ इ॒मां मे॑ इन्द्र सुष्टु॒तिं जु॒षस्व॒ प्र सु माम॑व । उ॒त प्र व॑र्धया म॒तिम् ॥ ३२ ॥
१९३ उ॒त ब्र॑ह्म॒ण्या व॒यं तुभ्यं॑ प्रवृद्ध वज्रिवः । विप्रा॑ अतक्ष्म जी॒वसे॑ ॥ ३३ ॥
१९४ अ॒भि कण्वा॑ अनूषता॒ऽऽपो॒ न प्र॒वता॑ य॒तीः । इन्द्रं॒ वन॑न्वती म॒तिः ॥ ३४ ॥

अर्थ— [१९१] हे (इन्द्र) इन्द्र ! (विश्वे कण्वासः) सब ज्ञानी जन (ते मतिं पौंस्यं) तेरी बुद्धि और बलको (वर्धन्ति) बढाते हैं, (उत) और हे (शविष्ठ) बलशाली इन्द्र ! (वृष्ण्यं) तेरे पराक्रमको भी [बढाते हैं] ॥ ३१ ॥

१ विश्वे कण्वासः ते मतिं पौंस्यं वृष्ण्यं वर्धन्ति— सभी ज्ञानी जन तेरी बुद्धि, बल और वीर्यको बढाते हैं। पौंस्यं, वृष्ण्यं, शवः— बल, पराक्रम, वीर्य ' शवः पौंस्यं मिति बलनाम ' (निघं. २।९). बल बढाना मनुष्यका कर्तव्य है।

[१९२] हे (इन्द्र) इन्द्र ! (मे इमां सुष्टुतिं जुषस्व) मेरी इन स्तुतियोंको स्वीकार कर और (मां सु प्र अव) मेरा अच्छी तरह संरक्षण कर (उत) और (मतिं प्रवर्धय) मेरी बुद्धिको बढा ॥ ३२ ॥

१ मे सुष्टुतिं जुषस्व— मेरी इस उत्तम स्तुतिको स्वीकार कर।

२ मां सु प्र अव— मेरा उत्तम संरक्षण कर।

३ मतिं प्रवर्धय— मेरी बुद्धिका संरक्षण कर।

बुद्धिका संवर्धन करना और अपना संरक्षण करना चाहिये।

[१९३] हे (प्रवृद्ध वज्रिवः) सबसे बडे तथा वज्रको धारण करनेवाले इन्द्र ! (ब्रह्मण्याः विप्राः वयं) ब्रह्म ज्ञानी हम (जीवसे) अपने दीर्घ जीवनके लिए (तुभ्यं अतक्ष्म) तेरी स्तुति करते हैं ॥ ३३ ॥

१ प्रवृद्ध वज्रिवः— बडे और वज्रधारी शूर।

२ ब्रह्मण्याः विप्राः— ब्रह्मज्ञानी विप्र, ज्ञानी।

३ जीवसे तुभ्यं अतक्ष्म— हम दीर्घ जीवनके लिये और तेरी प्राप्तिके लिये स्तोत्र करते हैं।

[१९४] (कण्वाः) ज्ञानी जन (अभि अनूषत) [इन्द्रकी ही] स्तुति करते हैं, [उनके द्वारा की हुई] (मतिः) स्तुति (यतीः आपः प्रवता न) जैसे बहते हुए जल प्रवाह नीची भूमिकी ओर जाते हैं, उसी तरह (इन्द्रं वनन्वती) इन्द्रकोही प्राप्त होती है ॥ ३४ ॥

१ मतिः इन्द्रं वनन्वती— सारी स्तुतियां उसी एक परमात्माकोही प्राप्त होती हैं।

भावार्थ— सभी ज्ञानी अपनी अपनी स्तुतियोंसे इस इन्द्रके बल, बुद्धि, पराक्रम और उत्साहको बढाते हैं। राष्ट्रमें विद्वान ब्राह्मण भी अपने ओजस्वी वचनोंसे राजाके बल और पराक्रमको बढावे ॥ ३१ ॥

हे इन्द्र ! मेरी इन स्तुतियोंको स्वीकार कर और मेरी अच्छी तरह रक्षा कर तथा मेरी बुद्धिको बढा ॥ ३२ ॥

ब्रह्मज्ञानी और शूर होकर दीर्घ जीवनके लिये स्तोत्र गान करना योग्य है ॥ ३३ ॥

सभी ज्ञानी उसी एक ऐश्वर्यशाली परमात्माकी स्तुति करते हैं। जिस तरह विभिन्न दिशामें बहनेवाली सारी नदियां उसी एक समुद्रमें जाकर मिलती हैं, उसी तरह ज्ञानियोंके द्वारा अनेक तरहसे की गई स्तुतियां उसी एक प्रभुके पास जाती हैं ॥ ३४ ॥

१९५ इन्द्रमुक्थानि वावृधुः समुद्रमिव सिन्धवः । अनुत्तमन्युमजरम् ॥ ३५ ॥

१९६ आ नो याहि परावतो हरिभ्यां हर्यताभ्याम् । इममिन्द्र सुतं पिब ॥ ३६ ॥

१९७ त्वामिद् वृत्रहन्तम जनासो वृक्तबर्हिषः । हवन्ते वाजसातये ॥ ३७ ॥

१९८ अनु त्वा रोदसी उभे चक्रं न वर्त्येतशम् । अनु सुवानास इन्दवः ॥ ३८ ॥

१९९ मन्दस्वा सु स्वर्णर उतेन्द्र शर्यणावति । मत्स्वा विवस्वतो मती ॥ ३९ ॥

अर्थ— [१९५] (सिन्धवः समुद्रं इव) जैसे नदियां समुद्रको बढाती हैं, इसी प्रकार सब (उक्थानि) स्तोत्र (अनुत्तमन्युं अ-जरं इन्द्रं) सबसे अधिक उत्साहित, सदा तरुण इन्द्रको ही (वावृधुः) बढाते हैं ॥ ३५ ॥

१ अनुत्तमन्युः— जिसका उत्साह कभी कम नहीं होता। उत्साह कम नहीं होना चाहिये।

२ अ-जरः— क्षीण नहीं होना चाहिये। सदा तरुण रहना योग्य है।

३ उक्थानि अनुत्तमन्युं अजरं वावृधुः— स्तोत्र उत्साहित जरारहित वीरका सामर्थ्य बढाते हैं।

[१९६] हे (इन्द्र) इन्द्र ! (हर्यताभ्यां हरिभ्यां) तेजस्वी दो घोडोंसे (परावतः) दूर देशसे (नः आ याहि) हमारे पास आओ, और (इमं सुतं पिब) इस सोम रसको पिओ ॥ ३६ ॥

[१९७] हे (वृत्रहन्तम) वृत्रको मारनेवाले इन्द्र ! (वृक्तबर्हिषः जनासः) ऋत्विक् जन (वाजसातये) धन तथा अन्नकी प्राप्तिके लिए (त्वां इत्) तुझेही (हवन्ते) बुलाते हैं ॥ ३७ ॥

१ वृक्तबर्हिषः— ऋत्विग्, जिन्होंने आसन फैलाये हैं ' वृक्तबर्हिष इति ऋत्विङ्नाम ' (निघं ३।१८)

२ वाजसातये त्वां हवन्ते— अन्न प्राप्तिके लिए तेरी प्रार्थना करते हैं। परमात्माकी प्रार्थनासे धन तथा अन्नकी प्राप्ति होती है।

[१९८] हे इन्द्र ! (चक्रं न एतशं वर्ति) चक्र जैसे घोडेके पीछे चलता है, इसी प्रकार (उभे रोदसी त्वा अनु) ये दोनों द्यावापृथ्वी तेरे अनुकूल होकर चलते हैं, तथा (सुवानासः इन्दवः) निचोडे जानेवाले सोम भी (अनु) [तेरे] अनुकूल [चलते हैं] ॥ ३८ ॥

१ एतशः— घोडा ' एतश इति अश्व नाम ' (निघं. १।१४)

उभे रोदसी त्वा अनु— ये दोनों द्यावापृथिवी तेरे अनुकूल होकर चलते हैं।

[१९९] हे (इन्द्र) इन्द्र ! (शर्यणावति स्वर्ण-रे) शर्यणावत् प्रदेशमें होनेवाले यज्ञमें (सु मन्दस्व) अच्छी तरह आनन्दित हो, (उत) तथा (विवस्वतः) यज्ञ करनेवालेकी (मतीः) स्तुतिसे भी (मत्स्व) आनन्दित हो ॥ ३९ ॥

भावार्थ— जिस तरह नदियोंका पानी समुद्रको बढाता है इसी तरह सब स्तोत्र इन्द्रके उत्साह और पराक्रमको बढाते हैं ॥ ३५ ॥

हे इन्द्र ! तुम अपने तेजस्वी दो घोडोंसे दूर देशसे हमारे पास आओ ॥ ३६ ॥

आसनादि बिछाकर उत्तम रीतिसे सत्कार करनेवाले ऋत्विज अन्न तथा धनकी प्राप्तिके लिए इन्द्रकोही बुलाते हैं ॥ ३७ ॥

रथके घोडे जिस तरफ जाते हैं, इसी तरफ रथके पहिए भी जाते हैं, इसी तरह जिधर इन्द्र चाहता है, उधरही सारा विश्व जाता है। यह सारा विश्व इन्द्रके शासनमेंही चलता है ॥ ३८ ॥

हे इन्द्र ! तू उत्तम यज्ञोंमें जाकर आनन्दित हो और उन यज्ञोंमें की जानेवाली स्तुतियोंसे भी तू आनंदित हो ॥ ३९ ॥

२०० वावृधान उप द्यवि वृषा वज्र्यरोरवीत् । वृत्रहा सोमपातमः ॥ ४० ॥
२०१ ऋषिर्हि पूर्वजा अस्येक ईशान ओजसा । इन्द्र चोष्कूयसे वसु ॥ ४१ ॥
२०२ अस्माकं त्वा सुताँ उप वीतपृष्ठा अभि प्रयः । शतं वहन्तु हरयः ॥ ४२ ॥
२०३ इमां सु पूर्व्यां धियं मधोर्घृतस्य पिप्युषीम् । कण्वा उक्थेन वावृधुः ॥ ४३ ॥
२०४ इन्द्रमिद् विमहीनां मेधे वृणीत मर्त्यः । इन्द्रं सनिष्युरूतये ॥ ४४ ॥

अर्थ— [२००] (वावृधानः) सबसे बडे (वृषा) बलवान् (वज्री) वज्रको धारण करनेवाले (वृत्रहा) वृत्रको मारनेवाले, (सोम-पा-तमः) बहुत अधिक सोम पीनेवाले इस इन्द्रने (उप द्यवि) पासही द्युलोकसे (अरोरवीत्) शब्द किया ॥ ४० ॥

[२०१] हे (इन्द्र) इन्द्र ! (पूर्वजाः) सबसे पहले उत्पन्न होनेवाले तुम (ऋषिः असि) सर्वज्ञ हो, तथा (एकः) अकेले ही (ओजसा) अपने बलसे (ईशानः) सब पर शासन करनेवाले हो, तुम [मनुष्योंको] (वसु) धन (चोष्कूयसे) देते हो ॥ ४१ ॥

१ पूर्वजाः— इस इन्द्रकी सत्ता पहलेसे है।

२ एकः ओजसा ईशानः— वह अकेले ही अपने बलसे सब जगत् पर शासन करता है।

३ वसु चोष्कूयसे— वह धन भी देता है।

४ चोष्कूयसे— देना ' चोष्कूयमाण इन्द्र भूरिवामं ददादिन्द्र बहु वननीयम् (निरु. ६।२२)

५ इन्द्रः एकः पूर्वजाः ऋषिः ओजसा ईशानः— इन्द्र अकेलाही सबसे प्रथम था, वह ज्ञानी अपनी शक्तिसे सबका ईश्वर है।

[२०२] हे इन्द्र ! (त्वा) तुझे तेरे (वीत पृष्ठाः शतं हरयः) उत्तम पीठवाले सैंकडों घोडे (अस्माकं सुतान् प्रयः) अभि हमारे द्वारा तैयार किये सोम रसरूपी अन्नकी ओर (उप वहन्तु) ले आवें ॥ ४२ ॥

प्रयः— अन्न ' प्रय इति अन्न नाम ' (निघं. २।७)

[२०३] (सु-पूर्व्यां) अति प्राचीन, (मधोघृतस्य पिप्युषीं) मीठे जलको बढानेवाले (इमां धियं) इस [यज्ञ] कर्मको (कण्वाः) ज्ञानी जन (उक्थेन वावृधु) मंत्रोंसे बढाते हैं ॥ ४३ ॥

घृतं जल, घी ' घृतमिति उदक नाम ' (निघं. १।१२)

[२०४] (वि-महीनां) बडे बडे [देवों]के बीचमेंसे (इन्द्रं इत्) इन्द्रको ही (मेधे) यज्ञमें (मर्त्यः वृणीत) मनुष्य वरण करते हैं, चुनते हैं, तथा (सनिष्युः) युद्ध करनेकी इच्छावाला [मनुष्य] भी (ऊतये) संरक्षणके लिए [इन्द्रको ही चुनता है] ॥ ४४ ॥

भावार्थ— यह इन्द्र सबसे महान्, बलवान्, वज्रको धारण करनेवाला, वृत्रको मारनेवाला तथा सोमको पीनेवाला है। ऐसा यह इन्द्र अपने पराक्रमको सर्वत्र प्रकट करता है ॥ ४० ॥

यह इन्द्र– प्रभु सबसे पहला ऋषि मंत्रद्रष्टा ज्ञानी है और यह अकेले ही अपने बलसे सारे संसार पर शासन करता है। संसार पर शासन करनेके लिए इसे किसी दूसरेके बलकी आवश्यकता नहीं पडती ॥ ४१ ॥

हे इन्द्र ! तेरे उत्तम पीठवाले सैंकडो घोडे हमारे द्वारा तैय्यार किए गए सोमरसोंकी ओर तुझे ले आवें ॥ ४२ ॥

यज्ञके द्वारा जल बढता है। यज्ञसे बादल बनते हैं, और बादलोंसे वृष्टि होती है। (' यज्ञाद्भवति पर्जन्यः ' भ. गी.) अतः ज्ञानी जन यज्ञोंको अपने मंत्रोंसे प्रदीप्त करते हैं ॥ ४३ ॥

यज्ञमें इन्द्रको ही मनुष्य स्वीकारते हैं। संग्राममें भी संरक्षणके लिए इन्द्रको ही बुलाया जाता है। धनेच्छुक मनुष्य भी इन्द्रको ही पास बुलाते हैं ॥ ४४ ॥

२०५ अर्वाञ्चं त्वा पुरुष्टुत प्रियमेधस्तुता हरी । सोमपेयाय वक्षतः ॥ ४५ ॥
२०६ शतमहं तिरिन्दिरे सहस्रं पर्शावा ददे । राधांसि याद्वानाम् ॥ ४६ ॥
२०७ त्रीणि शतान्यर्वतां सहस्रा दश गोनाम् । ददुष्पज्राय साम्ने ॥ ४७ ॥
२०८ उदानट् ककुहो दिवमुष्ट्रांश्चतुर्युजो ददत् । श्रवसा याद्वं जनम् ॥ ४८ ॥

[७]

(ऋषिः- पुनर्वत्सः काण्वः। देवता- मरुतः। छन्दः- गायत्री।)

२०९ प्र यद् वस्त्रिष्टुभमिषं मरुतो विप्रो अक्षरत् । वि पर्वतेषु राजथ ॥ १ ॥
२१० यदङ्ग तविषीयवो यामं शुभ्रा अचिध्वम् । नि पर्वता अहासत ॥ २ ॥

अर्थ— [२०५] हे (पुरुस्तुतः) बहुतोंके द्वारा प्रशंसित (त्वा) तुझे (प्रियमेध स्तुता हरी) प्रियमेधके द्वारा प्रशंसित घोडे (अर्वाचं) हमारी ओर (सोमपेयाय वक्षतः) सोम पीनेके लिए ले आवें ॥ ४५ ॥

[२०६] (याद्वानां अहं) मनुष्योंमें उत्तम मैं (पर्शौ तिरिन्दिरे) परशुके पुत्र तिरिन्दिरके यज्ञमें (शतं सहस्रं राधांसि) सैंकडों और हजारों धन (आ ददे) स्वीकार करता हूँ ॥ ४६ ॥

[२०७] (साम्ने) यज्ञमें (पज्राय) पज्रको लोगोंमें (अर्वतां त्रीणि शतानि) तीन सौ घोडे तथा (गोनां दश सहस्रा) दस हजार गायें (ददुः) दीं ॥ ४७ ॥

[२०८] (याद्वं जनं) अनेक मनुष्योंका तथा (चतुर्युजः उष्ट्रान्) चार सोनेके भारोंसे लदे हुए ऊंटोंको देकर मनुष्य (श्रवसा) अपने यशसे (ककुहः) उन्नत होकर (दिवं उत् आनट्) द्युलोक तक पहुंच गया ॥ ४८ ॥

[७]

[२०९] हे (मरुतः) वीर मरुत गण ! (यत् विप्रः) जब ज्ञानी पुरुष (वः) तुम्हारे लिये (त्रिष्टुभं) त्रिष्टुभ् छन्दके बनाया हुआ स्तोत्र पढकर (इषं प्र अक्षरत्) अन्न अर्पण कर चुका, तब तुम (पर्वतेषु विराजथ) पर्वतोंमें विराजमान होते हो ॥ १ ॥

[२१०] (तविषी-यवः) बलवान् (शुभ्राः) सुहानेवाले (अङ्ग) प्रिय तथा वीर मरुतो ! (यत्) जब तुम अपना (यामं) गमनके लिए निश्चित किया हुआ रथ (अचिध्वं) सुसज्ज करते हो, तब (पर्वता नि अहासत) पर्वत भी चलायमान हो उठते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ— हे इन्द्र ! उत्तम मेधा बुद्धिवाले ज्ञानियोंके द्वारा प्रशंसित घोडे तुझे हमारे पास ले आवें ॥ ४५ ॥

मनुष्योंमें जो उत्तम होता है, उसेही सब तरहका ऐश्वर्य प्राप्त होता है ॥ ४६ ॥

यज्ञमें विद्वान् ज्ञानीको भरपूर प्रमाणमें धन और पशु आदि देने चाहिए ॥ ४७ ॥

उत्तम दान देनेसे मनुष्यका यश सर्वत्र फैलता है और उसका यश द्युलोक तक जा पहुंचता है ॥ ४८ ॥

एक समय जब ज्ञानी उपासकने मरुतोंको लक्ष्यमें रखकर त्रिष्टुभ छन्दका सामगायन किया और उन्हें अन्न प्रदान किया तब वे वीर पर्वत श्रेणियोंमें आनन्दपूर्वक दिन बिताने लगे थे ॥ १ ॥

बल बढानेवाले वीर जब शत्रु पर चढाई करनेकी लालसासे अपना रथ सुसज्जित कर देते हैं, तब ऐसा प्रतीत होने लगता है कि, मानों पहाड भी हिलने लगते हैं ॥ २ ॥

२११ उदीरयन्त वायुभि--र्वाश्रासः पृश्निमातरः । धुक्षन्त पिप्युषीमिषम् ॥ ३ ॥
२१२ वर्पन्ति मरुतो मिहं प्र वेपयन्ति पर्वतान् । यद् यामं यान्ति वायुभिः ॥ ४ ॥
२१३ नि यद् यामाय वो गिरि--र्नि सिन्धवो विधर्मणे । महे शुष्माय येमिरे ॥ ५ ॥
२१४ युष्माँ उ नक्तमूतये युष्मान् दिवा हवामहे । युष्मान् प्रयत्यध्वरे ॥ ६ ॥
२१५ उदु त्ये अरुणप्सव--श्चित्रा यामेभिरीरते । वाश्रा अधि ष्णुना दिवः ॥ ७ ॥
२१६ सृजन्ति रश्मिमोजसा पन्थां सूर्याय यातवे । ते भानुभिर्वि तस्थिरे ॥ ८ ॥

अर्थ— [२११] (वाश्रासः) गर्जना करनेवाले (पृश्नि-मातरः) भूमिको माता माननेवाले वीर मरुत् (वायुभिः) वायु-प्रवाहोंकी सहायतासे (उद् ईरयन्त) मेघोंको इधर-उधर ले चलते हैं और तदनुसार (पिप्युषीं इषं धुक्षन्त) पुष्टिकारक अन्नका सृजन करते हैं ॥ ३ ॥

[२१२] (मरुतः) वीर मरुतोंका यह दल (यत् वायुभिः) जब वायुओंके साथ (यामं यान्ति) दौडने लगते हैं, तब (मिहं वर्षन्ति) वे वर्षा करने लगते हैं, और (पर्वतान् प्र वेपयन्ति) पर्वतश्रेणियोंको कंपायमान कर देते हैं ॥ ४ ॥

[२१३] (यद्) जब (वः यामाय) तुम्हारी गतिशीलता एवं प्रगतिसे भयभीत होकर (गिरिः नि) पर्वत एवं (वि-धर्मणे) विशेष ढंगसे अपना धारण करनेवाले तुम्हारे (महे) बडे एवं महनीय (शुष्माय) बलसे डरकर (सिन्धवः) नदियाँ (नि येमिरे) अपने आपको नियंत्रित कर देती हैं, [अर्थात् रुक जाती हैं, तब तुम यथेष्ट वर्षा करते हो ।] ॥ ५ ॥

[२१४] हमारी (ऊतये) रक्षाके लिए (युष्मान् उ) तुम्हें ही हम (नक्तं) रात्रीके समय (हवामहे) बुलाते हैं, (दिवा) दिनकी वेलामें भी (युष्मान्) तुम्हेंही हम पुकारते हैं (प्रयति अध्वरे) प्रारंभित हिंसारहित कर्मोंके समय भी हम (युष्मान्) तुम्हींको बुलाते हैं ॥ ६ ॥

[२१५] (त्ये) वे (अरुण-प्सवः) लालिमायुक्त (चित्राः) आश्चर्यकारक (वाश्राः) गर्जना करनेवाले वीर मरुत् (यामेभिः) अपने रथोंमेंसे (दिवः अधि) द्युलोकके ऊपर (स्नुना) पर्वतोंकी ऊँची चोटियों परसे (उद् ईरते उ) उडान लेने लगते हैं ॥ ७ ॥

[२१६] (सूर्याय यातवे) सूर्यके जानेके लिए (रश्मिं पन्थां) किरणरूपी मार्गको (ओजसा सृजन्ति) जो अपनी शक्तिसे बना देते हैं, (ते) वे (भानुभिः वि तस्थिरे) तेजद्वारा संसारको व्याप्त कर देते हैं ॥ ८ ॥

भावार्थ— पवनकी झकोरोंसे बादल इधर-उधर जाने लगते हैं और कुछ कालके उपरान्त उनसे वर्षा होती है, तथा अन्न भी यथेष्ट मात्रामें उत्पन्न होता है। इसी अन्नसे जीवसृष्टिका भरणपोषण होता है। निस्संदेह मरुतोंका यह कार्य वर्णनीय है ॥ ३-४॥

मरुतोंमें विद्यमान वेग तथा बलसे भयभीत होकर पर्वत स्थिर हुए और नदियाँ धीमी चालसे चलने लगी ॥ ५ ॥

कार्य करते समय, दिन एवं रात्रीकी वेलामें अपने संरक्षणके लिए परम पिता परमात्मासे प्रार्थना करनी चाहिए ६ ॥

लाल वर्णवाला गणवेश पहनकर और रथ पर बैठकर ये वीर पर्वतों परसे भी संचार करने लगते हैं ॥ ७ ॥

मरुतोंमें यह शक्ति विद्यमान है कि, वे सूर्यको भी प्रकाशका मार्ग बतलाते हैं और सभी जगह तेजस्वी किरणोंको फैला देते हैं ॥ ८ ॥

२१७ इमां मे मरुतो गिर—मिमं स्तोमम्भुक्षणः । इमं मे वनता हवम् ॥ ९ ॥
२१८ त्रीणि सरांसि पृश्नयो दुदुह्रे वज्रिणे मधु । उत्सं कवन्धमुद्रिणम् ॥ १० ॥
२१९ मरुतो यद्ध वो दिवः सुम्नायन्तो हवामहे । आ तू न उप गन्तन ॥ ११ ॥
२२० यूयं हि ष्ठा सुदानवो रुद्रा ऋभुक्षणो दमे । उत प्रचेतसो मदे ॥ १२ ॥
२२१ आ नो रयिं मदच्युतं पुरुक्षुं विश्वधायसम् । इयर्ता मरुतो दिवः ॥ १३ ॥
२२२ अधीव यद् गिरीणां यामं शुभ्रा अचिध्वम् । सुवानैर्मन्दध्व इन्दुभिः ॥ १४ ॥

अर्थ— [२१७] हे (मरुतः) वीर मरुतो ! (इमां मे गिरं) इस मेरी स्तुतिपूर्ण वाणीको (वनत) स्वीकार करो; हे (ऋभु-क्षणः) शस्त्रास्त्रोंसे सुसज्ज वीरो ! तुम (इमं स्तोमं) इस मेरे स्तोत्रका और (मे इमं हवं) मेरी इस प्रार्थनाका स्वीकार करो ॥ ९ ॥

[२१८] (पृश्नयः) मरुतोंकी माताओंने (वज्रिणे) इन्द्रके लिए (त्रीणि सरांसि) तीन झीलें, (मधु) मिठासभरा (उत्सं) जलपूर्ण कुंड और (उद्रिणं) पानीसे भरा हुआ (कवन्धं) जल धारण करनेवाला बृहदाकार पात्र या मेघ (दुदुह्रे) दोहन कर भरा है ॥ १० ॥

[२१९] हे (मरुतः) वीर मरुद्गण ! (यत् ह) जब (वः) तुम्हें, (सुम्नायन्तः) सुखी होनेकी लालसा करनेवाले हम (दिवः हवामहे) द्युलोकसे बुलाते हैं, उस समय (आ तु) तुरन्त ही तुम (नः उप गन्तन) हमारे समीप आ जाओ ॥ ११ ॥

[२२०] हे (सु-दानवः !) भली प्रकार दान देनेवाले (रुद्राः) शत्रुसंघको रुलानेवाले तथा (ऋभु-क्षणः) शस्त्र धारण करनेवाले वीरो ! (यूयं उत हि) तुम सचमुचही जब अपने (दमे) घरमें या यज्ञमें (मदे) आनन्दमें रहते हो, एवं सोमरसका सेवन करते हो, तब (प्र-चेतसः स्थ) तुम्हारी बुद्धि अधिक चेतनायुक्त बन जाती है ॥ १२ ॥

[२२१] हे (मरुतः) मरुत् संघ ! (नः) हमारे लिए (मद-च्युतं) शत्रुओंके गर्वका भंग करनेवाले, (पुरु-क्षुं) सबके लिए पर्याप्त (विश्व-धायसं) तथा सबके पोषणकी क्षमता रखनेवाले (रयिं) धनको (दिवः आ इयर्त) द्युलोकसे ला दो ॥ १३ ॥

[२२२] हे (शुभ्राः) तेजस्वी वीरो ! (गिरीणां अधिइव) पर्वतमय प्रदेश पर चढ जानेके समय जिस ढंगसे सुसज्ज कर रखते हैं वैसेही (यत्) जब तुम (यामं अचिध्वं) रथको तैयार कर चुकते हो, उस समय (सुवानैः इन्दुभिः) निचोडे हुए सोमरसकी धाराओंसे (मन्दध्वे) तुम हर्षित होते हो ॥ १४ ॥

भावार्थ— भूमि, गौ तथा वाणी मरुतोंकी माताएँ हैं । भूमिसे अन्न तथा जल, गौसे दुग्ध और वाणीसे ज्ञानकी प्राप्ति होती है । तीनोंके तीन सेवनीय तथा उपादेय वस्तुएँ हैं । मरुतोंकी माताओंने त्रिविध दुग्धसे तीन झीलें भरकर तैयार कर रखी हैं ताकि वीर मरुतोंका भरणपोषण सुचारु रूपसे एवं भली भाँति हो जाए ॥ ९–१० ॥

ये वीर बडे उदार, शत्रुओंका नाश करनेवाले सदैव शस्त्रास्त्रोंसे सुसज्ज हैं और जिस समय ये अपने प्रासादोंमें तथा निवासस्थलोंमें सुखपूर्वक दिन बिताते हैं अथवा यज्ञभूमिमें सोमरसका सेवन करते हैं, तब इनकी बुद्धि अतीव चेतनाशील होती है ॥ ११–१२ ॥

हमें जो धन मिले वह, इस भाँतिका हो कि (१) उस धनसे शत्रुदलका गर्व विनष्ट हो जाए, (२) वह इतनी मात्रामें उपलब्ध हो कि, सब सुखपूर्वक रह सकें, (३) सबकी पुष्टि हो जाए, सभी बलिष्ठ बनें । यदि ये तीन बातें हो जाएँ, तो ही वह धन समीप रखनेयोग्य समझना उचित है, अन्य किसी प्रकारका नहीं ॥ १३ ॥

पर्वतोंपर चढते समय जैसे रथको तैयार करना पडता है, वैसेही वीर मरुत् जब रथको पूर्णतया सिद्ध या लैस बना रखते हैं, तब वे सोमरसके सेवनसे प्रसन्न एवं हर्षित हो उठते हैं । प्रथमतः सोमरस पीकर पश्चात् रथको तैयार रखकर पार्वतीय सडकों परसे शत्रुदलपर धावा करके, उनकी धज्जियाँ उडानेके लिए मरुत् गमन करते हैं ॥ १४ ॥

२२३ एतावतश्चिदेषां सुम्नं भिक्षेत मर्त्यः । अदाभ्यस्य मन्मभिः ॥ १५ ॥
२२४ ये द्रप्सा इव रोदसी धमन्त्यनु वृष्टिभिः । उत्सं दुहन्तो अक्षितम् ॥ १६ ॥
२२५ उदु स्वानेभिरीरत उद् रथैरुदु वायुभिः । उत् स्तोमैः पृश्निमातरः ॥ १७ ॥
२२६ येनाव तुर्वशं यदुं येन कण्वं धनस्पृतम् । राये सु तस्य धीमहि ॥ १८ ॥
२२७ इमा उ वः सुदानवो घृतं न पिप्युषीरिषः । वर्धान् काण्वस्य मन्मभिः ॥ १९ ॥
२२८ क्व नूनं सुदानवो मदथा वृक्तबर्हिषः । ब्रह्मा को वः सपर्यति ॥ २० ॥

अर्थ— [२२३] (मर्त्यः) मानव (एतावतः चित्) इस प्रकार सबसुखी (अ-दाभ्यस्य) न दबाये जानेवाले प्रभुके (मन्मभिः) मननीय काव्योंसे (एषां) इनसे (सुम्नं भिक्षेत) उत्तम सुखकी याचना करे ॥ १५ ॥

[२२४] (ये) जो (अ-क्षितं उत्सं) कभी न घटनेवाले झरनेको-मेघको (दुहन्तः) दुहते हैं, वे वीर (वृष्टिभिः) वर्षाओंकी सहायतासे (द्रप्साः इव) मानों बारिशकी बूँदोंसे (रोदसी अनु धमन्ति) समूचे आकाश एवं भूमंडलको व्याप्त कर देते हैं ॥ १६ ॥

[२२५] (पृश्नि-मातरः) भूमिको माता माननेवाले वीर (स्वानेभिः उ) अपने शब्दों तथा अभिभाषणोंसे (उत् ईरते) ऊपर चढते हैं, (रथैः उत्) रथोंसे ऊर्ध्वगामी बनते हैं, (वायुभिः उ उत्) वायुओंसे ऊंचे पदपर आरूढ होते हैं, (स्तोमैः उत्) यज्ञोंसे भी ऊपर उठ जाते हैं ॥ १७ ॥

[२२६] (येन) जिस शक्तिके सहारे (तुर्वशं यदुं) तुर्वश उपाधिधारी यदुनरेशका तुमने (आव) प्रतिपालन किया, (येन) जिससे (धन-स्पृतं कण्वं) धनको चाहनेवाले कण्वका संरक्षण किया, (तस्य) उस तुम्हारी संरक्षणक्षम शक्तिका हम (राये) धनकी प्राप्तिके लिये (सु धीमहि) भली भाँति ध्यान करते हैं ॥ १८ ॥

[२२७] हे (सु-दानवः) उत्तम दानी वीरो ! (घृतं न) घीके समान (इमाः पिप्युषीः इषः) ये पुष्टिकारक अन्न (कण्वस्य मन्मभिः) कण्वपुत्रके मनन करनेयोग्य काव्य या स्तोत्रद्वारा (वः वर्धान्) तुम्हारे यशकी वृद्धि करें ॥ १९ ॥

[२२८] हे (सु-दानवः) सुचारु रूपसे दान देनेवाले तथा (वृक्त-बर्हिषः) कुशासनोंपर बैठनेवाले वीरो ! (क्व नूनं मदथ) भला तुम किधर हर्षित हो रहे थे ? (कः ब्रह्मा) भला वह कौन ब्राह्मण है, जो (वः सपर्यति) तुम्हारी पूजा उपासना करता है ? ॥ २० ॥

भावार्थ— परम पिता परमात्मा किसी भी शत्रुके दबावसे दबनेवाला नहीं है, क्योंकि वह असीम सामर्थ्यवान् है। मानव उसके सम्बन्धमें मननीय काव्यकी निर्मिति करें तथा तल्लीनचेता बन गायन करें। मनकी उन्नत दशामें जो सुख मिल सकता है, उसे पानेकी चेष्टा करनी चाहिए ॥ १५ ॥

मरुत् मेघोंसे वर्षा करते हैं और वर्षाकी बूँदोंसे अखिल विश्वको परिपूर्ण कर डालते हैं ॥ १६ ॥

ये वीर भूमिको अपनी माता समझकर उसकी सेवा करनेवाले हैं और अपने अभिभाषणों, रथों, वायुयानों एवं यज्ञोंसे ऊंची दशा पाते हैं। इन्हीं साधनोंद्वारा वे अपनी प्रगति करनेमें पर्याप्त सफलता पाते हैं ॥ १७ ॥

इन वीरोंने तुर्वश यदु तथा धनेच्छुक कण्वकी यथावत् रक्षा की। हमारी इच्छा है कि वे वीर उसी तरह हमें बचा दें, ताकि हम उनकी छत्रछायामें अधिकाधिक धनधान्यसंपन्न हों और उस वैभव एवं संपत्तिके बलबूतेपर विविध यज्ञ संपन्न कर समूची जनताका कल्याण करेंगे ॥ १८ ॥

इस कोटिके पुष्टिकारक अन्नोंके प्रदान एवं मननीय काव्योंके गायनसे वीरोंका यश बढने लगता है ॥ १९ ॥

हे वीरो ! चूँकि तुम शीघ्र मेरे समीप नहीं आ सके, अतः यह सवाल हठात् मेरे मनमें उठ खडा होता है कि किस जगह भला वे आनन्दोल्लासमें चूर हो बैठे हों और शायद ऐसा कौन उपासक इनसे प्रार्थना करता होगा कि, वहांसे शीघ्र प्रस्थान करना इन वीरोंको दूभर प्रतीत होता हो ॥ २० ॥

२२९ नहि ष्म यद्ध वः पुरा स्तोमेभिर्वृक्तबर्हिषः । शर्धाँ ऋतस्य जिन्वथ ॥ २१ ॥
२३० समु त्ये महतीरपः सं क्षोणी समु सूर्यम् । सं वज्रं पर्वशो दधुः ॥ २२ ॥
२३१ वि वृत्रं पर्वशो ययुर्वि पर्वताँ अराजिनः । चक्राणा वृष्णि पौंस्यम् ॥ २३ ॥
२३२ अनु त्रितस्य युध्यतः शुष्ममावन्नुत क्रतुम् । अन्विन्द्रं वृत्रतूर्ये ॥ २४ ॥
२३३ विद्युद्धस्ता अभिद्यवः शिप्राः शीर्षन् हिरण्ययीः । शुभ्रा व्यञ्जत श्रिये ॥ २५ ॥

अर्थ— [२२९] (वृक्त-बर्हिषः) हे दर्भासनपर बैठनेवाले वीरो ! (नहि स्म) क्या यह सच नहीं है कि (यत् ह) सचमुच यहाँपर (पुरा) पहले तुम (वः स्तोमेभिः) अपने प्रशंसा करनेवाले अभिभाषणोंसे (ऋतस्य शर्धान्) सत्यके सैनिकोंको अर्थात् धर्मके लिए लडनेवाले सिपाहियोंको (जिन्वथ) प्रोत्साहित कर चुके हो ॥ २१ ॥

[२३०] (त्ये) इन वीरोंने (महतीः आपः) बहुतसा जल (उ सं दधुः) धारण किया, (क्षोणी सं [दधुः]) पृथ्वीको धर दिया और (सूर्यं उ सं [दधुः]) सूर्यको भी आधार दिया; उन्होंनेही (वज्रं पर्वशः सं [दधुः]) अपने वज्रको हर पोरमें या गांठमें सुदृढ बना दिया है ॥ २२ ॥

[२३१] (वृष्णि) बलशाली (पौंस्यं) पौरुषपूर्ण कार्य (चक्राणाः) करनेवाले इन (अ-राजिनः) संघशासक वीरोंने (वृत्रं पर्वशः वि ययुः) वृत्रके हर गांठके टुकडे टुकडे किये और (पर्वतान् वि [ययुः]) पहाडोंको भी विभिन्न कर राह बना डाली ॥ २३ ॥

[२३२] (युध्यतः त्रितस्य) लडते हुये त्रितके (शुष्मं उत क्रतुं) बल एवं कार्यशक्तिका तुमने (अनु आवन्) संरक्षण किया और (वृत्र-तूर्ये) वृत्रहत्याके अवसरपर (इन्द्रं अनु) इन्द्रको भी सहायता दी ॥ २४ ॥

[२३३] (विद्युत्-हस्ताः) बिजलीकी नाईं चमकनेवाले हथियार हाथमें धारण करनेवाले (अभि-द्यवः) तेजस्वी तथा (शुभ्राः) गौरवर्णवाले ये वीर (शीर्षन्) अपने सरपर (हिरण्ययीः शिप्राः) सुवर्णके बने साफे (श्रिये) शोभाके लिये (वि अञ्जत) रख देते हैं ॥ २५ ॥

भावार्थ— सद्धर्मके लिए लडनेवाले सैनिकोंको प्रोत्साहन मिले, इसलिए वीर उत्तम प्रभावोत्पादक भाषणों द्वारा उनका उत्साह बढाते हैं ॥ २१ ॥

इन मरुतोंने मेघोंको, द्यावापृथिवीको, सूर्यको अपनी अपनी जगह भली भाँति धर दिया है और उनका स्थान अटल तथा स्थिर किया है । इन्हीं वीर मरुतोंने अपने वज्र नामक शस्त्रको स्थानस्थानपर ठीक तरह जोडकर उसे बलिष्ठ बना डाला है । अन्य वीर भी अपने हथियार अच्छी तरह तैयार करनेमें सतर्क रहें और शत्रुके हथियारोंसे भी अत्यधिक मात्रामें उन्हें प्रबल तथा कार्यक्षम बना दें ॥ २२ ॥

ये वीर ऐसे पराक्रमपूर्ण कार्य कर दिखलाते हैं कि, जिनमें बल, वीर्य तथा शूरताकी अतीव आवश्यकता प्रतीत होती है । ये किसी एक नियामक राजाकी छत्रछायामें नहीं रहते हैं । [इन्हें संघशासक नाम दिया जा सकता है, अर्थात् इनका समूचा संघही इनपर शासन करता है । ऐसे] इन वीरोंने वृत्रके टुकडे टुकडे कर डाले और पर्वतोंका भेदन कर आगे बढनेके लिए सडक बना दी ॥ २३ ॥

इन वीरोंने त्रित नरेशको लडाईमें सहायता पहुंचाकर उसके बल, उत्साह तथा कर्तृत्वशक्तिको अक्षुण्ण बना रखा, अतः त्रित विजयी बन गया और इसी भाँति इन्द्रको भी वृत्रवधके मौकेपर मदद करके उसे भी विजयी बना दिया ॥२४॥

ये वीर चमकीले शस्त्र हाथोंमें रखते हैं । ये तेजस्वी तथा गौरकाय हैं और उनके सिरपर स्वर्णमय शिरस्त्राण सुहाते हैं । अन्य वीर भी इसी भाँति अपने शस्त्रोंको पुराने या जीर्ण होने न दें, सदैव विद्युल्लताके समान प्रकाशमान एवं चमकीले रूपमें रख दें ॥ २५ ॥

वैदिक धर्म

जून १९७४

३० पैसे



[illegible] जन्मतिथि

[illegible]

राजा शिव छत्रपति महाराजके चरणकमलोंमें

विनम्र अभिवादन



वैदिक धर्म

वर्ष ५५ : अंक ६ : ज्येष्ठ : २०३०

स्वामी— स्वाध्याय-मंडल, पारडी [जि. बलसाड]

ंस्थापक एवं आद्यसंपादक
ीपाद दामोदर सातवलेकर

संपादक
वसंत श्रीपाद सातवलेकर

विषयानुक्रमणिका

' वैदिक धर्म ' वार्षिक मूल्य म. आ. से ६) रु.

वी. पी. से रु. ७.५०, विदेशके लिए रु. ८.००, डाक व्यय अलग रहेगा।

इस अंकमें प्रसिद्ध किये गये लेखकोंके लेखोंमेंके मतों और विचारोंसे संपादक सहमत है ऐसा नहीं है। उन लेखोंमेंके विचारोंके लिये केवल लेखकही व्यक्तिशः उत्तरदायी हैं।

मंत्री— स्वाध्याय-मण्डल, पो.- ' स्वाध्याय-मण्डल (पारडी) ' पारडी [जि. बलसाड]



वैदिक धर्म

पूर्वजोंका आदर



यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे
यस्यां देवा असुरानभ्यवर्तयन् ।
गवामश्वानां वयसश्च विष्ठा भगं
वर्चः पृथिवी नो दधातु ॥

(अथर्व. १२-१-५)

(यस्यां) जिस हमारी मातृभूमिमें (पूर्वजना) बल, बुद्धि, वीर्य और ऐश्वर्यसे सम्पन्न पुराने समयके आर्य लोग (विचक्रिरे) विक्रम, पराक्रमयुक्त कर्तव्य अच्छी तरह करते आए हैं (यस्यां देवा:) जिसमें विद्वान् और वीर (असुरान्) हिंसानिरत शत्रु अर्थात् राक्षसी स्वभाववाले लोगोंको (अभ्यवर्तयन्) जीतते आए हैं । जो (गवां अश्वानां वयस: च) गौवें, घोडे और पशुपक्षियोंको (वि-ष्ठा:) विशेष सुख देनेका स्थान है, (सा न: पृथिवी) वह हमारी मातृभूमि हमको (भगं) ऐश्वर्य और (वर्चः) तेज, वीर्य, शौर्य, विज्ञान (दधातु) देवे ।

जिस हमारी मातृभूमिमें हमारे प्राचीन पूर्वजोंने- ब्राह्मणोंने अपने ज्ञानद्वारा, क्षत्रियोंने अपनी वीरता द्वारा, वैश्योंने अपनी वाणिज्य-कुशलता द्वारा और कारीगरोंने अपनी कारीगरीसे अनेक बडे बडे पराक्रम किये थे; जिस हमारे देशके विद्वान्, शूर, वीर, व्यापारी और कारीगर लोगोंने मिलकर सम्पूर्ण हिंसक, आततायी, घातकी और दुष्ट लोगोंको नष्ट किया था और जो सुन्दर भूमि सब पशुपक्षियोंको भी उत्तम निवास-स्थान देती है वह हमारी मातृभूमि हमारा ज्ञान, विज्ञान, शौर्य, तेज, वीर्य और ऐश्वर्य पूर्ण रूपसे बढानेवाली होवे ।

लेखक : श्री आचार्य मुंशीराम शर्मा

वे दा र्थ प्र क्रि या

अग्निकी सात जिह्वाओंका वर्णन मुण्डक १-२-४ में है जिसके अनुसार काली, कराली, मनोजवा, सुलोहिता या सुधूम्रवर्णा, विस्फुलिंगिनी और विश्वरूपी नामकी सात लेलायमाना-लपलपाती हुई जिह्वायें अग्निकी हैं। इन्हींमें आहुति दी जाती है। मुण्डक २-१-८ में सात प्राण, सात अर्चिया (ज्वालायें), सात समिधायें, सात होम और सात लोकोंका वर्णन है। सात प्राण पांच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा मन और वाणीकी शक्तियां हैं। इनकी सात प्रकारकी वृत्तियांही अर्चियाँ हैं। इनके सात विषयही समिधायें हैं। इन विषयोंका वृत्तियोंके साथ एक हो जानाही सात प्रकारका हवन है। इनके सात द्वार या धामही लोक हैं। वाणीका लोक कण्ठ तथा मनका लोक हृदय है। मंत्रमें सात ऋषि यही सात इन्द्रियां हैं। सात होता सात प्राण हैं जो मनन, वचन, श्रवण, दर्शन, जिघ्रन, रसन तथा स्पर्शन द्वारा सात प्रकारोंसे शरीर यज्ञका सम्पादन करते हैं। इस यज्ञसे जो घृत या रस उत्पन्न होता है उससे सात योनियां पुष्ट होती हैं, पोषण पाती हैं। ये सात योनियां शरीरमें सात धातु हैं और ब्रह्माण्डमें सात भू० भुवः आदि लोक हैं।

शरीरमें एक एक प्राणके सात सात भेद हो जानेसे ४९ प्राण हो जाते हैं। ब्रह्माण्डीय अंतरिक्षमें भी इसी प्रकार ४९ पवन माने गये हैं 'सप्त सप्तहि मारुतो गणः' (शत० २-५१-१३) कहीं कहीं यह संख्या ५० भी है—शतार्ध अरोंके रूपमें जो दश प्राणोंके पांच पांच इन्द्रिय-भेदोंसे अथवा दश इन्द्रियोंके पांच पाच प्राणोंके भेदसे उत्पन्न होती है। वेदके सप्त संसद (यजु. २६-१) सात सिन्धून् (यजु० ३४-२४) सप्त मातर (ऋ० १०-१३-३) सप्त स्वसारः (ऋ० ९।९६।३६) सप्तापः (ऋ० १०।१०४।८) आदि पद भी शरीर तथा ब्रह्माण्ड दोनों पर घटते हैं। अथर्व ८-९-१८ मे सात होम, सात समिधा सात मधु, सात ऋतु और सात गृध्रोंका वर्णन है। सात छन्दोंका उल्लेख भी वेदमें आया है। इसी प्रकार तीन, छः पांच संख्यावाचक शब्द वेदमें निश्चित क्षेत्रों तथा स्थितियोंके द्योतक हैं।

अघमर्षण सूक्तमें जिन ऋत एवं सत्य तत्वोंका नाम आया है, उनमें ऋत वीर्यात्मक तथा सत्य सतात्मक है। इन्हींको पिता और माता भी कहा गया है। ऋतसे द्यौ और सत्यसे पृथिवी उत्पन्न हुई। द्यौ प्राण-प्रधान, पितृत्वगुणसे सम्पन्न और पृथिवी रयिप्रधान, मातृत्वगुणसे सम्पन्न है। वेद द्यौर्नः पिता पृथिवी माता (ऋ. १-१९१-६) तन्माता पृथिवी तत् पिता द्यौः (१-८९-४) कह कर इसी तथ्यका समर्थन करता है। जैसे पति-पत्नीका संयुक्त नाम दम्पति है, वैसेही द्यावा पृथिवीका संयुक्त नाम रोदसी, चमू, पुरन्धि, उरुची, आदि विशिष्ट स्थितियोंके कारण है। इन्हें परः अवरः, परस्तात् अवस्तात् द्वे स्रुती, द्वे समीची आदि नाम भी प्राप्त हैं।

द्वे स्रुती देवयान और पितृयान हैं। इनमें प्रथम ऋतसे और द्वितीय सत्यसे सम्बन्धित है। इन्हींको दिन-रात्रि, शुक्ल पक्ष-कृष्णपक्ष, उत्तरायण, दक्षिणायन, पूर्वार्ध उत्तरार्ध, अग्नि-धूम्र आदिसे भी संबंधित किया जाता है। सृष्टि और प्रलय भी इन्हींके अपर नाम हैं। देव और असुर तत्व भी यही हैं। सात व्याहृतियोंसे द्योतित सप्त लोक भी इन्हींके अन्तर्गत हैं।

सृष्टिकी कल्पना एक वृक्षके रूपमें भी की गयी है। पर इस वृक्षका मूल ऊपर है और शाखायें नीचे की ओर हैं। हम पुरुषोंका जैसा रूप है, वैसाही इस सृष्टिका भी है। अतः पुरुष रूपमें भी इसकी कल्पना की जाती है। पुरुष सूक्त तथा ज्येष्ठ ब्रह्म सूक्त दोनोंमें इसके अंगोंका वर्णन है। पुरुष सूक्तके अनुसार तो पुरुषही इस ब्रह्माण्डीय यज्ञमें

आहुत हो गया है। बृहदारण्यकके शब्दोंमें य एष एतस्मिन मण्डले पुरुषः तस्य भूरितिशिरः। एकं शिरः एकमेतत् अक्षरं भुवः इति बाहू द्वौ बाहू द्वे एते अक्षरे। स्वः इति प्रतिष्ठा। द्वे प्रतिष्ठे द्वे एते अक्षरे (५-५-३)

यह जो इस मण्डलमें पुरुष है उसका शिर भू: है। एक शिर है, एकही यह अक्षर है। भुवः इसकी दोनों भुजायें हैं। दो भुजायें हैं, दो ही ये अक्षर है। स्वः इसकी प्रतिष्ठा आधार है, पैर हैं। दो पैर है, दो ही ये अक्षर हैं।

मार्जनमें भी भूः पुनातुशिरसि कहते हैं। ब्रह्मभूः है। यह हमें शिरमें पवित्र करे। परन्तु भुवः पुनातु नेत्रयो कह कर भुवःका सम्बन्ध दो नेत्रोंसे जोडते है, भुजाओंसे नहीं। इसी प्रकार स्व पुनातु कण्ठे कहते हुये स्वःका सम्बन्ध कण्ठसे जोडते हैं। बृहदारण्यक भुवसे बाहु और स्वसे पैरको सम्बन्ध करके कर्मकाण्डकी ओर हमारा ध्यान ले जाती है। हाथ और पैर कर्मेन्द्रियां है। यह सम्बन्ध उपयुक्त है, क्योंकि भूः शिरके रूपमें ज्ञानेन्द्र मस्तिष्कसे संयुक्त होकर ज्ञानेन्द्रियोंका कार्य कर रही है। बृहदारण्यक भूः भुवः स्वः द्वारा शरीरका या शरीरी पुरुषका और साथही ब्रह्माण्डीय यज्ञ पुरुषका पूरा ढाचा खड़ा कर देती है। मार्जन मन्त्रोंमें यह ढांचा सपूर्ण व्याहृतियों द्वारा सपन्न होता है जिसमें शिरसे प्रारम्भ करके शिर परही समाप्ति है। भूः का सम्बन्ध भी शिरसे है और सत्यमका भी। भूः सता है, सत है, अस्तित्व है जो समस्त सत्ताओंका कारण है। शिर भी समस्त शरीरकी सत्ताका हेतु है। अन्य अवयव कट जावें, शिर बना रहे, तो पुरुषकी सत्ता बनी रहेगी। शिर कट जाने पर तो मृत्युही है। इसी प्रकार भूः ब्रह्माण्डका शिर है। उसीसे ब्रह्माण्डकी सत्ता है। इसी हेतु भूः को ब्रह्म भी कहा गया है।

स्वः को प्रतिष्ठा या आधाररूप पैर बनानेका क्या अर्थ है? इसे समझनेके लिये हमें व्याहृतियोंके त्रिक पर ध्यान देना होगा। मार्जनमें ऊपरसे चलते हे तो भूः भुवः, स्वः क्रमशः शिर, नेत्र और कण्ठ तक आते है। कण्ठ उत्तमांगका आधार है, शिर कण्ठ परही टिका है। भुवःको जब नेत्र तक लाते हैं तो दोनों नेत्र बृहदारण्यकके दो बाहु बन जाते हैं। कण्ठसे शिर तक उत्तमांगके पैर, बाहु तथा मस्तिष्क तीनों बन जाते हैं। यही स्थिति मध्यम तथा अवम शरीर-भागोंकी है। यह त्रिक जैसे शरीरमें है, वैसेही ब्राह्माण्डीय सप्त लोकोंमें अभिव्यक्त पुरुषमें भी है।

गायत्रीके प्रारम्भमें तीनों व्याहृतियां सृष्टिके आविर्भाव, स्थिति तथा तिरोभावके साथ जीवोंके ब्रह्मपार्थक्य, विरह तथा उत्क्रमण द्वारा ब्रह्मसायुज्य पर भी प्रकाश डालती है। हम शरीरसे प्राण-मनको अतिक्रान्त करते हुये बुद्धिके प्रकाशमें पहुचते है और वहींसे आत्मस्थ होकर ब्रह्मसायुज्य प्राप्त करते है। गायत्रीमें इसी हेतु प्रेरणामयी बुद्धिके लिये प्रार्थना की गयी है। दोनोंही स्थितियोंका उल्लेख वेदमन्त्रोंमें है।

जो तथ्य सृष्टि विज्ञानमें है, वही हमारे कर्मकाण्डीय आनुष्ठानिक विज्ञानमें हैं। ऊपर हमने जिन तीन व्याहृतियों और तीन क्षेत्रोंका उल्लेख किया है, उनकी व्याख्यामें बृहदारण्यक (६-२) गौतम आरुणि तथा राजा प्रवाहणके संवादमें कहती है कि द्यावा एक कुण्ड है। उसकी ज्योतिही अग्नि है। इस अग्निमें सूर्य समिधा बनकर आहुत हो रहा है। किरणें धुआं बनकर निकल रही हैं। दिन ज्वाला है, दिशाये अगार हैं, उपदिशायें चिनगारियां है। यह देवयज्ञ है जिसमें देव श्रद्धाकी आहुति दे रहे हैं। इस आहुतिसे राजा सोमकी उत्पत्ति होती है।

द्युलोकसे नीचे सृष्टिमें अन्तरिक्ष है जिसमें वर्षा अग्नि है। वर्षाऋतु ही समिधा है। मेघ धुआं है, बिजली ज्वाला है वज्र अगारे है और गर्जन चिनगारियां है। यह भी देवयज्ञ है जिसमे देव सोमको आहुति देते हैं और वृष्टि उत्पन्न होती है।

अन्तरिक्षसे नीचे हमारा मानव लोक है। यहां अग्नि है पृथ्वी समिधा है, आग धुआं है, रात्रि ज्वाला है, चंद्रमा अगारे हे और नक्षत्र चिनगारियां है। यह भी देवयज्ञ है जिसमें देव वर्षाकी आहुति देते हैं जिससे अन्न उत्पन्न होता है।

पृथिवी पर पुरुष अग्नि है। उसका मुख समिधा है, प्राण धुआं है, वाणी ज्वाला है, नेत्र अंगारे है कान चिनगारियां है। यह भी देवयज्ञ है जिसमें देव अन्नकी आहुति देते हैं। इससे वीर्य पैदा होता है। पत्नी भी अग्नि रूपा है जिसमें वीर्यकी आहुति पड़ती है और पुरुष पैदा होता है।

यह पुरुष स्वयं अन्तमें देह कुण्डकी आहुति बन जाता है। ऊपर देव-यज्ञमें जितनी वस्तुएं परिगणित हुयी हैं, वे सब हमारे कर्मकाण्डीय विधानमें पायी जाती हैं। गोमेध, अश्वमेध आदिमें जो पशु यूपसे बांधा जाता है, वह भी

आन्तरिक पशुताके दमनका द्योतक है। गोमेध कृषि यज्ञ है। गोका अर्थ गाय बैल भी होता है और किरण, इन्द्रिय, वाणी आदि भी। गाय, बैल कृषि कर्मके साधक हैं। इन्द्रिय दमनमें गो बुद्धि वाचक भी है, : बुद्धि अन्त:करण, आन्तरिक इन्द्रिय है। इनकी शुद्धि दिव्यतामें प्रवेश कराती है और आसुरी या तामसी वृत्तिको दूर करती है। हमारे इतिहासने एक समय ऐसा भी आया था जब इन पशुओंका मांस यज्ञके अन्तमें खाया जाने लगा था। यह वास्तवमें आसुर प्रभाव था, आर्योंकी दिनचर्याका भाग नहीं था। वेद गो, अश्व आदि पशुओंके वधका निषेध करता है। जो इन पशुओंको मारे, उसे आततायी कहा जाता है। और वेद उसे सीसेकी गोलीसे विद्ध करनेका आदेश देता है। ब्राह्मण ग्रन्थ भी वेदका अनुसरण करते हुये कहते है- नाग्नीषोमीयस्य पशोः अश्नीयात (ऐत० २-१-३) एतेषां पशूनां नाशितव्यम् अपक्रान्तमेधा ह एते पशवः (शत० १-२-१-९) यह देखा भी गया है कि जो इन पशुओंका मास खाता है, उसकी बुद्धि नष्ट-भ्रष्ट हो जाती है। पुरुषमेधमें यज्ञकर्ता नरमांस भी खाने लगे थे। नृमेध या पुरुष मेध वास्तवमें मानवताके विकासका हेतु है। उसे अतिथि यज्ञ भी कहा जाता है। यजुर्वेद कहता है- स्वयं वाजिन तन्वं कल्पयस्व स्वयं यजस्व, स्वयं जुषस्व महिमाते अन्येन न सन्नशे। इसी प्रकार पितृ मेघ पितरोंको तृप्त करनेका साधन है।

यज्ञ बलिके समर्थनमें विद्वान प्राय: शुन:शेपआख्यानको उद्धृत करते रहे है। ऋग्वेद १-२४ का ऋषि शुन:शेप आजीगर्तिः है। अजीगर्तका अर्थ दरिद्र है। शुनः शेपका अर्थ कुत्ते कीसी इन्द्रिय वाला किया जाता है। शुन: शेपके दो भाई और थे- शुनः पुच्छ तथा शुनः लागूल। अजीगर्त दरिद्र था, परन्तु क्या कोई व्यक्ति धनहीन होकर अपने पुत्रोके ऐसे नाम रखेगा? ऋ १-२४-१२ तथा १३ में शुन: शेप शब्द आया है। शुन शब्द शुन धातुसे क्विप प्रत्यय लगा कर बन सकता है जिसका अर्थ होगा ज्ञान। शेप शब्दको निरुक्त २-२१ में शप धातुसे निष्पन्न माना गया है जिसका अर्थ होता है स्पर्श करना। अत: शुन: शेपका अर्थ होगा ज्ञानका स्पर्श करने वाला।

ऐतरेय ब्राह्मण ३३-६ में शौन: शेपम् आख्यानम् कहकर एक काल्पनिक कहानी दी गयी है। आश्वलायन श्रौत. ९-३ के व्याख्याकार नारायण भट्टने इस आख्यानको ऐतरेय ब्राह्मणका आख्यान माना है। सायणने कात्यायनका अनुसरण करते हुये राजसूयमें अभिषेकके दिन होता राजाको ऋ. १-२४ से ३० तक ७ सूक्तोंको सुनावे- ऐसा लिखा है। ऐतरेय ३३-६ में सूक्तोके पाठ तथा आख्यानका फल लिखा है- पापका नाश तथा पुत्र कामना वालेको पुत्रकी प्राप्ति। ऐसा ज्ञात होता है कि सूक्तोंके पाठको महत्ताप्रदान करनेके लिये किसीने शुनः शेपकी कहानी गढी। ऐसी कहानियां प्राय: सूक्तो द्वारा कही जाती थीं जो मनोरंजनके साथ शिक्षाप्रद भी होती थीं। ऐसे आख्यान इतिहास नहीं माने जाते।

आख्यानके अनुसार राजा हरिश्चन्द्र संतानहीन था। पुत्र-प्राप्तिके लिये उसने यज्ञ किया और फलस्वरूप उसे रोहित नामका पुत्र प्राप्त हुआ। इस पुत्रकी वरुणको बलि देनी थी जिसे पुत्रने स्वीकार नहीं किया और वह भवनको छोडकर धनुष बाण ले वनमें निकल गया। वरुणने कोप किया। राजा जलोदर रोगसे पीडित हो गया। पुत्रने सुना तो उसने अजीगर्तको धन देकर अपने स्थान पर उसके पुत्र शुनः शेपकी बलि देनेके लिये तैयार कर लिया। अन्तमें बलिका समय आया तो विश्वामित्रके कहनेसे शुनः शेपने प्रजापति, अग्नि, सविता, भग और वरुणकी स्तुति की। वरुणने प्रसन्न होकर यूपमें बंधे शुन: शेपके बन्धन काट दिये। वह मुक्त होकर विश्वामित्र तथा अजीगर्त दोनोकी सम्पत्तिका स्वामी बना। राजा हरिश्चन्द्र भी जलोदर रोगसे मुक्त हो गया।

आख्यानमें शुन. शेपकी बलि नही दी जाती पर इस बलिका संकेत तो है ही हमारी समझमें ऐसे मनगढंत आख्यानोको अधिक महत्व नही मिलना चाहिये सम्भव है कि जिन असुरोंके यहा ऐसी बलियां होती रही हों, उन्होंने अपनी प्रथाओंको स्वीकार करानेके लिये ऐसी कथाओंका प्रचार कराया हो। राक्षसोंके कुलोंमें ऐसी बलियां निहित थी। शाक्तोंमें भी ऐसी बलियोंका प्रचार हुआ, परन्तु आर्य ऋषि इन प्रथाओंको अपनी स्वीकृति न दे सके। महर्षि दयानन्दने तथा अन्य समस्त सुधी मंडलीकोने यज्ञ बलिका सबल शब्दोंमें प्रत्याख्यान किया है।

आख्यानोंका एक वैज्ञानिक रूप भी है। कहानियां कल्पित है, परन्तु उनके माध्यमसे किसी वैज्ञानिक सत्यका उद्घाटन करनाही अभीष्ट रहा है। शुनः शेप अज्ञानी

व्यक्ति है। आख्यानमें हरिश्चन्द्रका अर्थ है हरित दीप्ति और रोहितका अर्थ है लोहित या लाल रंगका रजोगुण। इनमेंसे कोई भी नाम व्यक्ति विशेषका नहीं है। अजीगर्त नामवेद-मन्त्रोंमें कहीं भी नहीं आया। हरित दीप्तिके दो अर्थ हैं- जिसकी दीप्ति चुरा ली गई है अथवा जो हरित आशापन्न है। जिसकी दीप्ति हरित है वह रजोगुण रूपी पुत्रको उत्पन्न करता है। क्रोधमें आखें लाल हो जाती हैं। रजोगुणका बलिदान सत्व दीप्तिकी उपलब्धिके लिये आवश्यक है। यह रजोगुण अज्ञानका बलिदान चाहता है, ज्ञानोदय होतेही क्रोध या रक्त रजोगुण दूर हो जाता है। अजीगर्त क्षुधित धन-हीन अवस्थाका प्रतीक है। यह क्षुधाके शमनार्थ अपनीही संतति अज्ञान या मोहको मार देनेके लिये तत्पर होता है। दर्शनमें सभी भावनायें अपना अस्तित्व रखती हैं। कहीं उनका उन्नयन हो जाता है और कहीं अपनयन आख्यानमें भी यही प्रदर्शित हुआ है। शुन. शेपको विश्वामित्र और अजीगर्त दोनोंका रिक्थ प्राप्त होता है। यह अज्ञानका उन्नयन है जो विश्वकी मैत्री बनकर निर्धनकी दैन्यापन्न अनिकेत स्थितिको स्थिरमति और वसुधैव कुटुम्बककी उन्नत विभूतिमें परिणत कर देता है। आख्यान पद्धति सर्वत्र इसी रूपमें प्रयुक्त हुई है। पुराण विशुद्ध इतिहास नहीं है। उनमे आख्यान शैली सम्मिलित है। परन्तु वह सोद्देश्य है, ऐसा सभी विपश्चित अनुभव करते रहे हैं। यह पद्धति हमारे साहित्यमें संस्कृतसे लेकर पद्मावत, मानस आदि हिन्दीके ग्रन्थों तक ज्योंकी त्यों चली आयी है। जो इन ग्रन्थोंको ऐतिहासिक कहता है, वह साहित्यके मर्मसे अनभिज्ञ है।

इन्द्र और वृत्रकी कथामें वृत्रमेघ है और इन्द्र सूर्य है इसे यास्कने निरुक्तमें स्पष्ट कर दिया है। ब्राह्मण ग्रन्थोंमें भी ऐसे आख्यानोंका स्पष्टीकरण है। वेद स्वयं कहता है कि इन्द्रका शत्रु न कोई है न कोई था। इन्द्रका वृत्रसे युद्ध होता माया है, काल्पनिक आख्यान मात्र है। शरीरमें इन्द्र इन्द्रियोंके स्वामीका नाम है और ब्रह्माण्डमें इन्द्र विद्युत तथा सूर्य है। शरीरमें वृत्र आसुरी भाव है। स्थूल सूक्ष्म कारण तीनो शरीर स्वयं वृत्र है, वारक या आच्छादक है। ब्रह्माण्डमें सूर्य किरणोंके वारक निरोधकको वृत्र कहेंगे। इसी प्रकार आख्यानोंका क्षीरसागर सत्वका प्रवाह है और विष्णु व्यापक ब्रह्मतत्व है।

वेदान्त दर्शन १-१-२४में ज्योतिः चरणाभिधानात् सूत्र द्वारा ब्रह्मको ज्योति चरणाभिधानके कारण कहा गया है। ब्रह्म चरण, मुख आदि नहीं रखता। वह अकायम् है, फिर भी उसे चतुष्पाद कहा जाता है। छन्दमें जैसे चार चरण होते हैं, पशुओंके भी चार चरण होते हैं, वैसे ब्रह्मके चरण नहीं हैं। यह कथनकी शैली विशेष है, वास्तविकता नहीं।

वेदत्रयी त्रिकाण्डात्मक है। ऋग्वेदमें सृष्टिविद्या है तो यजुर्वेदमें कर्मकाण्डका विधान है। सामवेद गीत्यात्मकतथा भक्तिपरक है तो अथर्ववेदमें तीनोंका समाहार है और अध्यात्मकी विशेषता। वैदिकोंको वेदार्थ करनेमें इन तथ्योंका ध्यान रखना ही होगा। महर्षियास्कके समयमें वेदार्थ प्रक्रिया ऐतिहासिक, याज्ञिक तथा नैरुक्तिक तीनों प्रकारकी चलती थी। कुछ ऐसे भी मनीषी थे जो कौत्सकी भांति मंत्रोंको अनर्थक मानते थे। उनके मतमें मंत्रका वैशिष्ट्य शब्द-ध्वनियोंमें है, अर्थमें नहीं। दाक्षिणात्योंका एक वर्ग इसी वैशिष्ठ्यको ध्यानमें रखकर मंत्रोंका सस्वर पाठ करता रहा है। मीमांसक भी इसी वशिष्ठ्यको महत्ता देते हैं। शाक्तसंप्रदायका पवर्तन भी इसी विश्वासको लेकर हुआ। गायत्रीका जाप इस वैशिष्ठ्यकी सत्यताका ज्ञापक है। वैदिकोंके दोनों ही वर्ग प्रतिष्ठाको प्राप्त हुए, यद्यपि यास्कने अर्थ न जाननेवाले मंत्र-अध्येताको स्थाणु तथा भारहार कह दिया है।

वेदका पढना पढना, सुनना सुनाना सब आर्योंका परम धर्म है- यह उद्घोष इस युगमें सर्वप्रथम महर्षि दयानंदने किया। हम वेदोंका परम नाम तो लेते थे, पर उन्हें पढना तो दूर देखते भी न थे। भागवतका सप्ताह चलता था, वाल्मीकीय रामायण भी पढी जाती थी, पुराणोंकी कथायें होती थीं, साधुओंमें गीताका प्रचार था, उपनिषदोंको भी कुछ विद्वान पढ लेते थे, परन्तु वेद एक प्रकारसे विस्मृत हो था। इस वेदको, आर्योंके मूल तथा निखिल वाङ्मयके स्रोतको पुन: जनताका कण्ठहार बनानेके लिये महर्षिने जो उद्योग किया, वह सर्वतोभावेन सराहनीय है। महर्षि मनु कह गये थे- यो अनधीत्य द्विजोवेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्। सजीवन्नेव शूद्रत्वमाशुगच्छति सान्वय:। आर्योंमें शूद्र वर्ग ही ऐसा था जो वेद-विहीन रहता था। असंस्कारी व्यक्ति हाथ-पैरसे सेवा कर सकता है, ज्ञान-विज्ञानकी ओर नहीं बढ पाता। समाजमें उसकी भी उपादेयता है, पर संस्कृति-विकासमें उसका कोई योगदान नहीं है। विकास वैश्यत्वसे प्रारम्भ होता है और ज्ञान-विज्ञानके प्रकाशमें अन्तिम परिणति पाता है। वेदमें विकासके सभी स्तर विद्यमान हैं।

अतः संस्कृत आर्योंको, सभ्य मानवोंको वेदका अध्ययन करना ही चाहिये। वेद शूद्रके लिये भी है। उसे भी शूद्र कोटिसे ऊपर उठानेमें वेद सहायता दे सकते है। वेद मानव मात्रका है। वह किसी वर्ग, जाति, देश या कालविशेषके लिये नहीं सार्वभौम और सार्वकालिक है। वेदार्थ प्रक्रिया हमें उसके रहस्योंसे अवगत करानेके लिये है। यही उसकी सार्थकता है।

वेदके कतिपय स्थल अवश्य दुरूह हैं, परन्तु 'करत करत अभ्यासके जड मति होत सुजान' की उक्तिको अपनाकर अभ्यास द्वारा हमारा उन स्थलोंमें भी प्रवेश हो सकता है। अभ्यासकी प्रवृत्ति बनानी होगी, वेदका स्वाध्याय करना होगा। यदि वेंकट, स्कन्द, उद्गीथ, माधव, सायण, उव्वट, महीधर आदि भाष्य करनेमें प्रवृत्त हो सके, तो हम भी हो सकते हैं। वेदमाताकी अर्चना करनी है– स्तुतामया वरदा वेदमाता– के वाक्यको जीवनमें चरितार्थ करना है। और यह भी ध्रुव सत्य है कि वेद है तो हम है, विश्व है। वेदकी अनुपस्थितिमें तो असत ही असत है, विनाशही विनाश है। वेदोऽखिलो धर्ममूलम्– उचित सत्य है– इसका जितना अधिक प्रचार एवं प्रसार होगा– वेदकी शिक्षायें जितना ही अधिक स्थान हमारे हृदयोंमें बनायेंगी, उतना ही अधिक हमारा कल्याण– पथ प्रशस्त होगा।

लेखक : श्री मनोहर हरकरे

सन्त और संकट

ऐसा देखा गया है की सन्त और संकट यह अविच्छिन्न है। सारे सन्त फिर वह किसी भी कालके हो संकटोंसे घिरे हुवे रहते है। संकट सभीपर आते है फिर वे दुर्जन रहे या सज्जन। दुर्जनोंके संकट उन्हीके करतूतोंके कारण आते है इसलिये इन संकटोंसे मुकाबला करनेके लिये दुर्जन चाहि उन बूरे मार्गोंका प्रयोग कर उसके ऊपर संवार होते है या उसीमें खतम हो जाते है। ऐसे संकटोंका मुकाबला करनेमें दुर्जनोंका एक प्रकारका पुरुषार्थ लगता है जैसाकी एक देशभक्तको देशके लिये फासी जाते समय लगता हो। फिर भी दुष्टोंपर संकट कमहि आते है कारण उनके दुर्व्यवहारोंसे डरकर इतरेजन उनको विरोध नही करते। व्यवहारमें यदि दुष्टजन अन्याय या दुष्टता करे तो कुछ लोग उनके अन्यायोंको देखते हुवे समझते है की भगवान उनके दुष्ट कर्मोंका उन्हें अवश्य दण्ड देंगे और आज नही कल ऐसे दुष्ट अपने कर्मोंका फल इसी जगतमें अवश्य भोगेंगे। परन्तु यह साधारण कल्पनातुष्टो प्रत्यक्ष देखने कम मिलती है। दुनियादारीमें सदाहि दुष्टोंकी जय बनी रही है। हरएक देशका इतिहास, विशेषकर भारत देशका इतिहास, यही दिखाता है की सुष्टोंपर दुष्टोंने सदा जय पायी है, राज्य मिलाये है और अपने मजबका छलबलसे प्रसार किया है। मारे जाते है सज्जन, सन्त और सुष्ट जन क्या फिर भगवान दुष्टोंको सहाय्य कर सज्जनोंको सदा दुख देते है ?

भगवान श्रीगीतामें कहते है—

‘ नादत्ते कस्यचित् पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥
१५, अ. ५ ॥

इससे यह स्पष्ट है की भगवान किसीके लेनेदेनेमें नही है। उसी अध्यायके १४ वे श्लोकमें भगवान कहते है,

‘ न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफल संयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते
॥ १४, अ. ५ ॥

यह सारा विश्व स्वभावसे प्रवर्तित हो रहा है यह इसका अर्थ है। यह यदि माना जाय तो दुर्जनोंको उनके दुष्ट कर्मोंका फल इसी जीवनमें क्यों नही मिलता ? सज्जनोंको कौनसे कर्मोंके कारण दुख और संकटोंसे सदा मुकाबला करना पडता है ? सज्जन तो किसीको दुख नही देते और न तो किसीपर अन्याय करते। फिर सज्जनोंपर हि दुख और अन्यायकी बोछार क्यों होनी चाहिये ? भगवान श्री गीतामें फिर कहते है—

‘ परित्राणाय साधूनां विनाशायच दुष्कृताम्।
धर्म संस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥

क्या सज्जनोंके सत्कर्महि उनके दुख और अन्यायोंसे तारण नही कर सकते ? क्या उनके दुख और अन्यायोंको नष्ट करनेके लिये किसीके लेनेदेनेमें न रहनेवाले भगवानको हि युग युगमें अवतार लेना पडता है ? क्या तबतक सज्जन दुर्जनोंका अन्याय सहतेहि रहेंगे ? आखिर इन वचनोंका अर्थ क्या है ? क्या यह परस्पर विरोधी वचन सत्य है या ये केवल शब्दछल है ?

ईश्वरनिष्ठा और साधारणजन

कुछ भी रहे परन्तु साधारण जन भगवानपर निष्ठा रखकर सब कार्य करते रहते है और संकटोंका मुकाबला करते है। भगवानकी निष्ठा यदि निकाली जांय तो साधारण व्यक्तिके लिये जीना या कर्म करना असम्भव हो जायगा। हर व्यक्ति समझता है कि उसके कार्यको भगवानका सहारा रहता है। सज्जन अपना सारा कर्मव्यवहार भगवानको समर्पित कर भगवान भरोसे चलाताहि है परन्तु चोर डाकू

जैसे अत्याचारी जन भी भगवान या भगवतीका आदेश लेकर या भरोसा कर अपने अपने कार्यको लग जाते है । वेश्या भी अपने देहविक्रयके धंदेमे बरकत मिले इसलिये प्रतिदिन भगवतीकी आरती कर प्रार्थना करती है । क्या भगवान ऐसे दुष्ट और दुर्जनोंको अनेक बूरे कर्मोंमें साथ देते है ? हां, ऐसा तो दिख पडता है । डाकू चोर वेश्याओंके धंदे अच्छे चलते हैं और पतिव्रता, सज्जन और सन्त भूखे मरते है । क्या सत् व्यवहारके कारण उन्हें भूखे रहना पडता है और अपमान और अन्याय सहना पडता है ? उत्तर कठीण है । निष्ठा यदि छोडी जाय तो यही दिखता है की सज्जनोंकोहि सारा जीवन भूखे रहने पडता है और अन्याय सहना पडता है । फिर सतकर्म करनेका फल क्या है ? अन्याय, अपमान और भूख ? यह यदि सत्य है तो अच्छे कर्म कोई क्यों करें यह एक मूलगामी प्रश्न खडा होता है । हरसमय दुर्जनोंकी जीत और सज्जनोंकी हार दिखाई देती है । फिर भी सज्जन आज भी अपना सत् कर्म और दयाभाव नही छोड रहे है, यह क्यों ? कौनसी बातके कारण सज्जन अपना सत्कर्म नही छोडते ? उत्तर एकहि है, 'स्वभावस्तु प्रवर्तते'। ऐसी धारणा लेकर कितने सज्जन अपने अच्छे मार्गपर डटे हुवे रहेंगे ? बहुत कम ! इसीलिये आजकल अधिकांश जन बूरे मार्गकी ओर आकर्षित होते है, हो रहे है ।

मा फलेषु कदाचन

भगवान श्री गीताके अध्याय २ में ४७ श्लोकमें कहते है की तूं कर्म कर फलकी वासना न रख । परन्तु साधारण जन तो फलकी वासना रखकरहि अपना जीवन यापन कर सकते है अन्यथा उनके लिये जीवन दुष्कर हो जायेगा। अच्छा कर्म करनेपर भगवान अच्छा फल देंगे यह उनकी जीवन निष्ठा रहती है । इतनाहि नहीं तो प्रवचन देनेवाले महात्मा या बाबाजी उनके उपदेशका श्रोताओंपर अच्छा परिणाम हो यही चाहते हैं । फलकी वासना किसीको छूटी नही है । भगवानकी भक्ति करनेसे भगवत्प्राप्ति होती है यह फल मनमें रखकरहि भक्त अपने भक्तिमें मस्त रहता है । यह यदि सत्य है तो अच्छे कर्म करनेपर अन्याय या दुःख कौन सहेगा और क्यों ? 'सुखदुःखे समेकृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।' यह बात एक उच्च साधकके लिये ठीक है परन्तु साधारण जन अच्छे कर्मोंका अच्छाहि फल चाहते है । और ऐसी अपेक्षा करना उनके लिये स्वाभाविक है । परन्तु प्रत्यक्ष जीवनमें लोग जो देखते है वह बिलकुल सत्य मार्गसे विश्वास उठानेवाली बात देखते है । इसलिये साधारण जनोंका सत्यमार्गसे विश्वास हट जाता है वे भी अपना जीवन येनकेन प्रकारेण चलाना सीखते है । आज ऐसे लोगोंकी संख्या अधिक है । परन्तु आज भी समाजमें अल्पांशमें कुछ ऐसे लोग अवश्य है की जो सब दुःख और दैन्य सहते हुए भी अपने सत्य मार्गसे नहीं हटते है । ऐसे प्रकार निष्ठावान महात्माओंको सारा जीवन दुःख, दारिद्र्य, अपमान, अन्याय और इस प्रकारकी अवहेलना सहनी पडती है । फिर उनके अच्छे कर्मोंका फल क्या है ? कर्म है तो उसका फल अवश्य मिलना चाहिये फिर वह फल कभी भी मिले, इह जीवनमें या परजीवनमे । कई लोग परलोकमें अच्छा जीवन मिलेगा इसी भोली आशासे इहजीवनमें दुःख, दैन्य, दारिद्र्य और अन्याय सहते रहते है ।

इहलोक और परलोक

हर कोई इहलोक देखता है परन्तु परलोक देखनेवाले नगण्यहि रहते है । कईबार प्रश्न उठता है की परलोक वास्तवमें है या नही और यदि है तो कहा और कैसे प्राप्त किया जाय ? लेखकके अनुभवके अनुसार परलोक यह एक अनुभवजन्य परंतु मानसिक अवस्था है और वह यहीं है, बर्फमें पानी रहता है वैसे । श्रीमद्भागवतके ३ रे स्कंद, अध्याय ३० और २९ वे श्लोकमें कपिलदेव कहते है, 'अत्रैव नरकः स्वर्ग इति प्रातः प्रचक्षते'। यानी नरक और स्वर्ग सब यही है । नरक और स्वर्ग यदि कर्मका फल माना जाय तो दुष्ट और दुर्जन सारा जीवन सुख और समाधानमें रहते है और सज्जन सारा जीवन दुःख और दैन्यमें । क्या यह अवस्था उनके कर्मोंका फल है ? लौकिक दृष्टीसे उत्तर 'हां' आता है । दुष्ट दुर्जन जड लोकके सुख पानेके लिये चाहे सो बात करते है और किसीप्रकार उस प्रकारकी अवस्था प्राप्त कर लेते है । उनके दुष्ट या अन्याय कर्मोंका उन्हे इह जीवनमें कोई खराब फल नही मिलता । उलटे उन्हे लोग देशभक्त और महात्मा समझते है । उनके लिये बूरे कर्मका फल अच्छाहि रहता है । हम लेश ऐसे कर्मोंको बूरा समझते है परन्तु बूरा कर्म करनेवाले अपने कर्मोंको बूरा नही मानते । झोटी की खरी करनेवाले वकील समाजमे अच्छा स्थान पाकर बुद्धिमान समझे जाते

हैं और उन्हें फीस भी अधिक दियी जाती है। सच्चे ढगसे चलनेवाला वकील भूखे मरता है। बेपारमें उल्लू सीधे करनेवाले बडी बडी धर्मशालायें बांधकर धर्मात्मा माने जाते हैं। किसी प्रकारसे मंत्री बननेवालोंके गलेमें मालायें पहनी जाती हैं। हरकोई मंत्री बननेमें- सौभाग्य मानता है। लोगोंके श्रद्धाका लाभ उठाकर अपने प्रसिद्धि कलाके द्वारा उन्हें अपने पीछे लगानेवालेको लोग महात्मा या योगी मानते है। ऐसे लोग सारा जीवन सुख समृद्धिमें और कीर्तिमें मस्त रहते है। यह सुख समृद्धि या कीर्ति उनके कौनसे कर्मोंका फल है ?

कर्म और पुनर्जन्म

अपने निजी अनुभवोंके कारण लेखक इस निर्णय पर आया है की इहलोकमें न बूरे कर्मोंका फल बूरा मिलता है और न तो अच्छे कर्मोंका फल अच्छा मिलता है। ' जिसकी लाठी उसकी भैंस ' यह इह जीवनका न्याय है। अच्छे या बूरे कर्मोंका फल पुनरजन्मके समय मिलता है। अच्छा कर्म करनेसे अच्छा देह और बूरा कर्म करनेसे बूरा देह प्राप्त होता है। चुंबकत्व लानेसे लोहा चुंबक बन जाता है और चुंबकको ठोकने पीटनेसे उसका लोहा बन जाता है। लोहेके लिये चुंबकत्व और चुंबकके लिये लोहा एक नया जन्म है क्योंकी लोहा या चुंबकको अन्तर्गत अणु रचना जबतक न बदले तबतक उससे लोहा या चुंबक नही बनता है। उसी प्रकार मानवी जीवनमें है। बूरे कर्म करनेवालोंके शरीरमें कर्मोंद्वारा अणुरचना बदलती रहती है। कुछ समय बाद उसके बदले हुवे रचनाः शरीरको पुर्व जैसा सम्हालना उस बूरे कर्म करनेवाले व्यक्तीके जीवात्माको कठीण हो जाता है। जडशरीर और जीवात्मामें खींचतान शुरू हो जाती है और फलस्वरूप उस जीवात्माके योग्य वह शरीर न रहनेके कारण वह जीवात्मा उस शरीरको छोडकर अपने योग्य बूरे शरीरकी खोजमें चली जाती है। इसी शरीर त्यागको हम मृत्यू कहते है तथा योग्य देहधारण यानी पुनर्जन्म है। जो व्यक्ति नरदेह पाकर सूकर जैसे कर्म करेगा उसके कर्मोंके द्वारा उसके जीवात्माके योग्य वह नरदेह नही रहता है। उसके कर्मोंको सम्हालने और चलानेके लिये सूकरका देह आवश्यक है। कर्मोंके कारण जडशरीर और जीवात्मामें खींचतान शुरू होकर उस व्यक्ति को नरदेहका त्याग कर फिर दूसरे जन्ममें उसके कर्मोंके योग्य सूकरका देह धारण करना पडता है। जैसा कर्म वैसा देहरूपी उपकरण यह प्रकृतीका न्याय है। परंतु वह फल शरीर त्याग यानी मृत्यूके बादहि मिलता है न की इह जीवन में। इह जीवनमें बूरा व्यक्ति बूरे कर्महि करते रहता है।

उस प्रकार अच्छे कर्म करनेपर इह शरीरमें सुयोग्य परिवर्तन होते होते जब वह शरीर उस परिवर्तनको नही सम्हाल सकता है जब जीवात्मा उस शरीरका त्याग कर पुनरजन्ममें अच्छे कुल और शरीरमें जन्म लेता है। ' शुचिनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽपि जायते। ' भगवान् श्री गीतामें कहते हैं। साधना करते करते साधकके शरीरको बहुत कष्ट होते है। यह कष्ट यानी सुयोग्य शरीरबदल है। यह बदल या परिवर्तन जब असह्य हो जाता है तब साधक जीवात्मा उस बदलते हुए शरीरमें नही रह सकती है और अपने उन्नत अवस्थाके योग्य अन्य शरीरकी खोजमें चली जाती है। इसी घटनाकी हम मृत्यू समझते हैं। इस प्रकार मृत्यू दो फलोंके लिये होती हैं। नीच योनि प्राप्तिके लिये और शुचि योनी प्राप्तीके लिये, कर्मोंका फल शरीर त्यागके बाद मिलता है न की केवल इह जीवनके जड व्यवहारोंमें। कुंडलिनी जागृतिका आवेग न सहकर कुछ साधक मरते हैं तो कुछ और उच्च साधनाद्वारा प्राप्त अवस्थाके कारण। भक्तिका उच्च आवेग न सहकर कई भक्तोंको जीवन समाप्त करना पडता है। इस प्रकार मृत्यू अच्छे फल प्राप्तिके लिये भी होती है। परन्तु अज्ञानके कारण हम लोग मृत्युमे डरते है, और मार्गस्थ जीवात्माको माया मोहमें फंसाकर बांध देते है। ऐसी जीवात्मा जल्दि जन्म नही ले सकती है। इसीलिये मृत्यूके बाद शरीरको शीघ्र नष्ट करना चाहिये। परंतु आज उलटा देखा जाता है। मृत शरीरको अधिक समय रखनेके लिये हम बर्फका उपयोग कर रहे है। मृत्यु अच्छे या बूरे कर्मोंका द्वार है। उस द्वारसे जाकर जीवात्मा अपने कृत कर्मोंके अनुसार नया देह ग्रहण करती है। इसलिये भले या बूरे कर्मोंका फल इष्ट जीवनमें नहीं वरन परजीवनमें पाया जाता है इस अनुभवपर हम आते है। अच्छे बूरे कर्मोंका फल इसी जीवनमें अच्छा बूरा मिल सकता है परन्तु वह शतांश भी नही है।

आघात और सज्जन

अच्छे कर्मोंका फल यदि दुर्जनों द्वारा जीवनभर आघात सहनेमें हि है तो सज्जन कैसे जीवित रहे और अपनी जीवन

नौका कैसी चलाये यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न खडा होता है। आघात सहते सहते सज्जनके मनपर इहजीवनके बारेमें कोई माया या आकर्षण नही रहता है। मृत्यूके समय सज्जनके सामने उसपर किये हुवे आघात और दुर्जनोंके चित्र खडे हो जाते है। उसको जीवात्मा उसे उस समय पूछती है, 'कहो भैया, ऐसे दुष्ट जगतमें फिर जन्म लेना है ? सज्जन जीवात्मा कहती है 'नही नही'। इसलिये सज्जनोंका पुनर्जन्म शीघ्र नही होता है। वे विलंबसे जन्म लेते है। लेखकका इहजन्म सात सौ वर्षोंके बाद हुआ है। जो सज्जन तुरंत जन्म लेते है वह अच्छे देहधारणाके लिये न की मायाके कारण। कुछ साधक तो उनपर हुवे अत्याचारोंका मृत्यू-समयमें स्मरण कर जन्म लेनाहि इन्कार करते है। ऐसे मायातीत साधक अमर है अजन्मा है अव्यक्त है। इसलिये सारा जीवन अत्याचार, अन्याय और दुख सहनेवाले साधक और सज्जनोंने कायर न बनकर धीरजसे मृत्यूकी राह देखनी चाहिये। मृत्यू समय चित्त वृत्तियां एकाग्र बनती है इसलिये उस समय जीवात्मा जो चाहेगी उस प्रकार उसे फल मिलता है। बूरे कर्म करते करते सारा जीवन धन्य माननेवाले दुष्ट व्यक्ति मृत्यू समय उसी लालचमें पडकर उसी प्रकारके दुष्ट जीवनमें पुनर्जन्म लेते है।

'अधायुः इन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति।' भगवान गीतामें कहते है। सारा जीवन अच्छे कर्म करनेवाले संत, सज्जन और महात्मा मृत्यू समय अपनेपर हुवे अत्याचारोंका स्मरण कर इस दुखमय संसारमें पुनर्-जन्म लेना नही चाहते है। वे भगवानका स्मरण कर भगवत स्वरूप बन जाते है, और ऐसे स्थानपर जाते है की जहांसे फिर वापिस न आना पडे। 'यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम' भगवान कहते है।

सारा जीवन दुःखमय, अन्यायपूर्वक और अत्याचार पूर्ण रहना सज्जन और साधकके लिये अच्छा है। इसीलिये भगवान् या सत्यजीवन सज्जन या साधकका जीवन दुःख, अन्याय, अत्याचार भरा रखते होंगे। फिर ऐसे दुःखमय, अत्याचार अन्याय भरे जीवनको साधक और सज्जन क्यों डरे ? इसलिये भगवान् कहते हैं—

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतराग भयक्रोधः स्थितधिर्मुनिरूच्यते ॥

(५६। अ. २)

सन्त और संकट यह अविछिन्न जीवन परंपरा है। सन्त है तहां संकट है और संकट है इसीलिये पुनर्जन्म नही है।

लेखक : श्री आचार्य रामपालसिंह तेवतिया

वैदिक ऋषियोंके अन्वेषण और आविष्कार

खगोल विज्ञान संबंधी तृतीय लेख प्रस्तुत है।

(८) सत्ताईस अपितु अठ्ठाईस नक्षत्रों एवं बारह राशियोंका अन्वेषण-

गार्ग्य ऋषिने अपने निम्न छह मंत्रोमें २८ नक्षत्रोंके नाम कृत्तिकासे भरणी तक दिए हैं। निम्न मंत्र द्रष्टव्य है—

सुहवमग्ने कृत्तिका रोहिणी चास्तु भद्रं
मृगशिरः शमार्द्रा...भरण्य आ वहन्तु।
अथर्व० १९।७।२-५

अष्टाविंशानि शिवानि...सह योगं भजन्तु मे।
अथर्व० १९।८।२

तापस ऋषिने अपने निम्नांकित मंत्रमें १२ राशियां बताई हैं—

विश्वे देवा द्वादशाक्षरेण जगतीमुदजयँस्तामुज्जेषम्।
यजु० ९।३३

इसीप्रकार अथर्वाऋषिने अपने निम्नांकित मंत्रमें भी १२ राशियां बताई हैं—

वैश्वानरस्य... अग्निः। ततः षष्ठादामुतो यन्ति...
यन्त्यभि पष्ठमहः अथर्व० ८।९।६

उपरोक्त मंत्रका आशय निम्न प्रकार है—

वैश्वानर अर्थात् राशिचक्रके छह भागोंमें सूर्य उत्तरायण रहता है और गर्मीके बडे दिन और छोटी रात करता है तथा छह भागोंमें दक्षिणायन रहता है और जाडेके छोटे दिन और बडी रात करता है। मेधातिथि ऋषिने यह ज्ञात किया था कि २७ नक्षत्रोंमेंसे प्रत्येक नक्षत्रका भोगांश १३ अंश २० कला है। यही भोगांश प्रत्येक दिन चन्द्रमाका है। १३ अंश व २० कलाकी कुल ४८००० विकला (चार अयुत अर्थात् ४० सहस्र और ८ सहस्र कुल अडतालीस सहस्र विकला) होती हैं जैसा कि उसके निम्न मंत्रसे स्पष्ट व्यक्त है—

शिक्षा विभिन्दो अस्मै चत्वार्ययुता ददत्।
अष्टा परः सहस्रा। ऋ० ८।२।४१

उपरोक्तसे यह भी सिद्ध है कि चन्द्रमा नक्षत्रोंकी अपेक्षासे पृथिवीकी पूरी परिक्रमा २७ दिनमें पूरी कर लेता है। यही २७ (सत्ताईस) दिनका नाक्षत्र मास कहलाता है।

(९) धूमकेतु (Comet) तथा उल्कापिण्ड (meteoror, shooting star) का अन्वेषण—

ब्रह्मा ऋषिने धूमकेतुओंका पता लगाया था जैसाकि उसके निम्न मंत्रसे ज्ञात है।

शं नो मृत्युर्धूमकेतुः शं रुद्रास्तिग्मतेजसः।
अथर्व० १९।९।१०

और ब्रह्माऋषिनेही उल्का पिण्डोंका भी पता लगाया था जैसा कि उसके निम्न मंत्रसे स्पष्ट व्यक्त है—

शं नो भूमिर्वेप्यमाना शमुल्का निर्हतं च यत्।
(अथर्व० १९।९।८)

(१०) सप्तर्षि तारागण (Ursa major-great beor) की खोज-

सप्तर्षि तारागण अथवा ज्येष्ठ ऋक्ष (Ursa major) की खोज शुनःशेप ऋषिने की थी जैसा कि उसके निम्नसे ज्ञात है—

अमी य ऋक्षा (Ursa) निहितास उच्चा नक्तं
ददृश्रे कुह चिद् दिवेयुः। (ऋ० १।२४।१०)

और इस सप्तर्षि तारागणकी खोज अथर्वा ऋषिने भी अपने निम्न मंत्रमें व्यक्त की है—

विश्वकर्मा मा सप्तऋषिभिरुदीच्या दिशः पातु।
(अथर्व० १९।१७।७)

(११) अन्य अनेक तारा पुञ्जोंकी खोज अन्य अनेक वैदिक ऋषियोंने की थी—

आकाशके उत्तरी खण्डमें निम्नांकित तारापुंजोंकी खोज निम्न प्रकार हैं—

ब्रह्माऋषिने ज्ञात किया था कि विराट् (हंस नामक नक्षत्र पुंज), परमेष्टी (ब्रह्म हृदय नामक नक्षत्रपुंज), प्रजापति एवं अग्नि नाम नक्षत्रपुंजमे चारों राशिचक्रके उत्तरमें हैं।

उसका निम्न मंत्र द्रष्टव्य है—

विराट परमेष्ठी प्रजापतिरग्निर्वैश्वानरः सह पङ्क्त्या श्रितः। अथर्व १३।३।५

शन्ताति ऋषिने आप नामक नक्षत्र एवं प्रजापति नामका नक्षत्र ज्ञात किए— यथा

सप्तर्षीन्वा इदं ब्रूमोऽपो देवीः प्रजापतिम्।

अथर्व. ११।६।११

और यमऋषिने अपांवत्स नामक नक्षत्र ज्ञात किया जो राशिचक्रके निकट उत्तरमे है— यथा

आपस्पुत्रासो अभि सं विशध्वमिमं जीव जीवधन्याः समेत्य। अथर्व. १२।३।४

अथर्वा ऋषिने ध्रुवतारा (Polestar) अर्थात् श्वेत तारा एवं ध्रुवमत्स्य (नौघस) और सप्तर्षिको जाना यथा

स उदतिष्ठत्स उदीचीं...तं श्यतं च नौघसं च सप्तर्षयश्च...राजानुव्यचलन्। अथर्व १५।२ २२

ब्रह्माऋषिने ज्ञात करके यह भी बताया है कि ३३ गन्धर्व अर्थात् २७ राशिचक्रान्तर्गत नक्षत्रपुंज एवं ६ कृत्तिका नक्षत्रकी योग तारा आकाशके मध्य खण्डमें है एवं ६३०० नक्षत्र आकाशके उत्तरखण्डमें हैं। मंत्रद्रष्टव्य है—

गन्धर्वा एनमन्वायन्त्रयस्त्रिंशात्त्रिशताः
षट्सहस्राः सर्वान्त्स देवांस्तपसा पिपर्ति।

अथर्व. ११।५।२

इसी प्रकार आकाशके दक्षिणी खण्डमें निम्नांकित तारापुंजोंका अन्वेषण निम्न प्रकारसे है।

(१) अथर्वा ऋषिके मंत्र—

शुनो दिव्यस्य यन्महस्तेना ते हविषा विधेम।
ये त्रयः कालकाञ्जा दिवि देवा इव श्रिताः।

अथर्व. ६।८०।१-२

(२) यम ऋषिका मंत्र—

यौ ते श्वानौ यम रक्षितारौ चतुरक्षौ पथिरक्षी नृचक्षसौ। ऋ. १०। १४।११

(३) गय ऋषिका मंत्र—

दैवीं नावं स्वरित्रामनागसमस्रवन्तीमा रुहेमा स्वस्तये। ऋ. १०।६३।१०

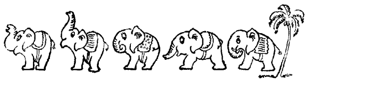
(४) भृग्वांगिरा ऋषीका मंत्र—

हिरण्ययी नौरचरद्धिरण्यबन्धना दिवि।
तत्रामृतस्य पुष्पं देवाः कुष्ठमवन्वत॥

अथर्व. ५।४।४

उपरोक्त ऋषियों द्वारा उनके मत्रोंमें वर्णित तारापुंजोंकी खोज हुई थी जिनका आशय निम्न प्रकार है— राशिचक्रसे दक्षिण खण्डको यमलोक संज्ञा है क्योंकि वहां एक यम संज्ञक नक्षत्र है। इस नक्षत्रके पास दो कुत्तेके आकृतिके नक्षत्र हैं। जो यमनक्षत्रके पासमें होनेके कारण 'यमदूत' (सरमा-देवशुनी) भी कहलाते हैं। दृश्य खगोलके दक्षिणी खण्डके अन्तिम भागमें उत्तरी ध्रुवके निकटके सप्तर्षि आदि नक्षत्रपुंजके समान यहां भी उसी प्रकार त्रयकालकंजा (त्रिशंकु) नक्षत्रपुंज है।

दो 'दिव्यश्वान' (Canis minor) नामक नक्षत्र पुंज दक्षिणपथमें है 'नौकापुंज' नक्षत्रपुंज (अंग्रेजीमें नेविस navis or Argo-navis) 'पुष्य' नक्षत्रके पासमें है। इस खंडमें भी असख्य नक्षत्र हैं जिनका वर्णन वेदमें यत्र तत्र अनेक स्थानोंमें है। सबका उल्लेख न करते हुए केवल इतना यहां कहा जा सकता है कि आकाशके मध्य खंडमें मेषादि १२ राशियोंका राशिचक्र है जिसके अन्तर्गत सामान्यत: १०१६ नक्षत्र हैं। उत्तरखंडमें ३५ तारापुंज हैं जिनके अंतर्गत १४५६ नक्षत्र हैं। दक्षिण खंडमें ४६ तारापुंज हैं जिनके अंतर्गत ९९५ नक्षत्र हैं। उपरोक्तमेंसे बहुत कुछ वैदिक ऋषियोंने खोज निकाला था। ब्रह्मा ऋषिकी खोजानुसार तो उत्तर खंडमें ६३०० नक्षत्र हैं।



लेखक : श्री वशिष्ठ

अवश्य उतार फेंके दिव्य
' हृत् पुरुष ' निज आवरण

सत्य-सचेत ' विराट् ' में एक निरतिशय सर्वोपरि प्रकाश,
करता प्रतीक्षा हमारी, ज्ञानका हमारा बृहत्तर आत्मन्;
विमर्शशील मनसे पार शिखरोंसे यह करता अवलोकन,
यह विचरता भासुर व्योममें कर जीवनको अतिक्रमण।
करेगा अवतरण यह व बनायेगा जगती-जीवनको दिव्य।
रचा सत्यने न कि एक अन्ध ' निसर्ग-प्रलेग ' ने जग।
कारण नहीं है यहां हमारे दिव्यतर उत्कर्ष विस्तीर्ण;
अतिसचेतकी दीप्त ज्योति ज्वालामें हमारे शिखर
भगवान्के यथार्थ आननसे हैं महोज्ज्वल प्रशस्त;
वहां है हमारा आकार, नित्यताका अलस्थान,
वहां है प्रतिमा, देह उस देवताकी जो हैं हम,
अनश्वर वस्तुओं पर उसकी अजर किशोर चितवन,
मृत्यु व ' काल ' से हमारे विस्तारमें उसका हर्ष,
उसकी अनश्वरता और आलोक एवं आनन्द।
गुहागृहकी भीतों पीछे बैठता हमारा बृहत्तर पुरुष;
वहां हैं महत्ताएं हमारे अलख अंगोंमें अन्तरित
जीवन-अग्रे पग रखनेको जो जोहतीं निज मुहूर्त;
अगाध अन्तर्वासी ' देवों ' से एक कुमक करते अनुभव हम;
कोई करता कथन अन्तरे, ऊपरसे हम प्रति आता ' प्रकाश '।
निज रहस्यशालासे हमारे अन्तरात्मा करता कार्य;
सतत कर प्रेरित हमारे हृदय और मनको तिसका प्रभाव
धकेलता उन्हें निज नश्वर आत्मनोंको करने अतिक्रान्त।
' शिव ' हेतु, ' शोभा ' व ' ईश ' हेतु यह करता अन्वेष;

हम देखते आत्मन् की भीतों पीछे निज आत्मन् निःसीम,
हम निरखते निज जग-मुकुर सुं साभि-गोचर विराट्,
प्रत्यक्ष वस्तुओं पीछे ' ऋता ' हेतु हम करते खोज।
निवसना एक बृहत्तर प्रकाशमें हमारा आन्तर ' मावस ',
प्रच्छन्न प्रतिहारों सुं देखता हमें तिसका भासुरत्व;
होते तेजोमय अवयव हमारे तथा ' मनीषा ' का आनन
रहस्यमय रक्षा-विभागके द्वारमार्गमें होता प्रकट;
बाह्य अनुबोधके हमारे गेहमें जब यह करती प्रवेश,
तब हम खोजते और देखते, ऊर्ध्व, इसका भास्कर।
निज आन्तर शक्तियोंसे एक प्रबल प्राण-पुरुष
सहारता खर्वाकार अल्पांश हम कहते जिसे जीवन;
हमारे मसकन पर यह चढ़ा सकता दो प्रबल पंखोंकी कलम।
जो है ' ईश '-विचारोंके उज्ज्वल प्रतिबिम्ब
उन लक्ष्य-निरूपक स्वप्नोंके निज अगोचर प्रासादमें
हमारे शरीरका सूक्ष्म पुरुष है अन्दर सिंहासन-आरूढ़।
जातिके अधोमुख तमोवृत आरम्भोंमें
अवनत् कपिवत् मनुजमें मानव त्रया वर्धमान।
वह खड़ा हुआ उत्तान, एक ' देवतुल्य ' प्रतिमा व प्रवेग,
और जगतीजात नेत्रोंसे किया एक आत्माके विचारोंने
अवलोकन;
मनुज खड़ा हुआ उत्तान, कियाधारण विचारकका उसने ललाट;
उसने लखा गगन पर और देखे निज सहचर नक्षत्र;
हृदयके आलोकमय देवालयसे वाने. उभर*

श्री अरविन्दकृत अंगरेजी महाकाव्य ' सावित्री ' से संकलित व अनूदित। —अनु० वशिष्ठ

लोक ' यह है कि जो हिमालयकी उतराईका स्थान है। यहीं अप्सराओं अर्थात् सुंदर स्त्रियोंका प्रदेश है।

यहांसे तिब्बतमें तथा भारतमें अप्सराएं आती थीं और तिब्बतके देवों और भारतीय आर्योंके साथ संबंध करती थीं हिमालयसे नीचे जो सम प्रदेश है, वही ' आर्य लोक ' है। इसमें आर्योंकी अथवा मनुष्योंकी वस्ती थी। और दाक्षिण भारतमें ' सर्पजाति ' के लोग रहते थे।

इस प्रकार कल्पना करनेसे मनुष्यलोक, गंधर्व-लोक, सुर-लोक, असुर-लोक और सर्पजन इन देशोंकी कल्पना होगी। आजकलके स्थानों और प्राचीन स्थानोंमें थोडा भेद भी हुआ होगा, परंतु साधारण कल्पना आने और रामायण, महाभारत तथा अन्य पुराणोंकी कथाएं समझनेके लिये उक्त प्रकार की हुई कल्पना भी पर्याप्त हो जायगी।

असुर और राक्षस ये बलवान, क्रूर मनुष्यखादक और मांसाहारी थे। सुर और देव ये बुद्धिमान, सभ्य और शाकाहारी थे, कमसे कम नरमांसभक्षक तो नहीं थे। और भारतीय मनुष्य मरियल, दुर्बल तथा राक्षसों और देवोंसे भी डरनेवाले थे। इस सर्वसाधारण नियममें कई अपवाद भी हैं, इसी-लिये भारतीय सम्राट् देवासुर युद्धोंमें कई वार देवोंकी सहायता करते थे और राक्षसोंको भगा देते थे। परंतु अत्यंत स्थूल भाव देखनेके लिये पूर्वोक्त वर्णन पर्याप्त है।

राक्षस अपनी शक्तिके गर्वसे देवों और मनुष्योंको कोई चीज समझते ही नहीं थे! जिस प्रकार इस समय आफ्रीडी पठाण दुर्बल हिन्दुओंके साथ जैसा जबरदस्तीका व्यवहार करते हैं, उससे भी भयंकर अत्याचार राक्षस देवों और आर्योंपर करते थे। यह उस समयकी राजकीय और सामाजिक परिस्थिति समझ लीजिये।

पहाडकी उतराईपर गंधर्व-लोग भी बडे प्रबल थे। परंतु गाना, बजाना और नाचना करनेवाले ये ' मौजी ' लोग थे। तथापि चित्रसेन गंधर्व जैसे कई वीर इनमें भी बडे पराक्रमी थे।

(८) गंधर्वोंके साथ असुरका विवाह।

अब पूर्वोक्त कथाकी बात ध्यानसे देखिये। इस प्रकारके उपद्रवी सुकेश राक्षसको ग्रामणी गंधर्व अपनी पुत्रीको दिया, इस दम्पतीसे होनेवाली संतान लंकाराज्यकी ' जन्मसे हकदार ' बन गयी और लंकाका राज्य प्राप्त होतेही इन्होंने भारतीय आर्यों और तत्त्वज्ञानी ऋषियों, हिमालयके गंधर्वों और तिब्बतके देवोंको बहुतही सताया। अंतमें उक्त तीनों राष्ट्रोंकी जातियोंने मिलकर अपना संघ बनाकर लंका द्वीपके राक्षसोंको परास्त किया और उनको पातालमें भगाया। उस समय लंकासे सब राक्षस (पाताल) अमेरिकाके मेक्सिको नामक देशमें भाग गये।

विदेशी अथवा दूसरे राष्ट्रके मनुष्यको अपनी लडकी विवाहित करनेसे इतने कष्ट होना संभव है। इसलिये विवाहके समय अपनी राष्ट्रीयताके साथ रहनेका अवश्यही यत्न करना चाहिये। अब दूसरी कथा सुनिये—

(९) असुर कन्यासे विश्रवाका विवाह।

(३) पातालमें भगा हुआ सुमाली कुछ नीति द्वारा राज्य कमानेके उद्देश्यसे आर्यावर्तमें बडे गुप्त रूपसे आया और अपने साथ अपनी पुत्री कैकसी-को भी लाया प्रयत्न करके उन्होंने अपनी पुत्रीका विवाह विश्रवाके साथ किया और विश्रवाने भी राष्ट्रीयताका विचार न करते हुए उस राक्षस-कन्याका स्वीकार किया। इसी कैकसीसे रावण, कुम्भकर्ण, शूर्पणखा और बिभीषण उत्पन्न हो गये।

इस समय लंकाका राज्य, कुबेर वैश्रवण, जो रावणका सापत्न भाई था, उसके आधीन था। जब रावण जवान हुआ, उस समय लंकाद्वीपके राज्यपर अपना अधिकार कह कर कुबेरके साथ विरोध करने लगा। राक्षसको राज्य प्राप्त होनेपर रावणके कारण आर्यावर्त, गंधर्वलोक और देवलोकको कितना कष्ट हुआ और उक्त सबोंने अपनी संघशक्तिसे किस प्रकार राक्षसोंको परास्त करके भारतकी स्वाधीनता प्राप्त की, यह बात रामायणमें है, जो सब जानतेही हैं।

इस कथामें राजकीय घटनाएं बहुत हुई हैं, परंतु यहां उनका विचार करनेके लिये स्थान नहीं है। यहां इतना ही देखना है कि राक्षस-कन्याके साथ विवाह करनेकी गलती विश्रवाने करनेके कारण जन्मसेही राक्षसोंका अधिकार भारतीय प्रदेशपर हुआ और जनताको कुटिल राक्षस-नीतिके कारण अत्यंत कष्ट हुआ।

पहिले उदाहरणमें भारतके ऊपरके गंधर्व-लोकके किसी प्रतिष्ठित गंधर्वकन्यासे एक श्रेष्ठ राक्षसका विवाह हुआ, और इस दूसरे उदाहरणमें राक्षस-कन्याके साथ प्रतिष्ठित आर्यका विवाह हुआ। दोनों उदाहरणोंमें भारतको दास्यमें जाकर अनंत क्लेश भोगने पडे और बडे युद्धके साथही भारतमें स्वतंत्र स्वराज्य पुनः स्थापित हुआ।

देखिए, साधारण विवाहमें राष्ट्रीयताका विचार न करनेके कारण कैसे और कितने बडे राष्ट्रीय कष्ट खडे होते हैं। इसीलिये वेदने कहा है कि विवाह करनेके समय 'राष्ट्रके साथ बढो।' अब इस विषयमें महाभारकी साक्षी देखिये—

(१०) महा-भारतकी साक्षी।

आर्यपुरुषका सर्पकन्यासे विवाह।

(१) जरत्कारुका विवाह नहीं होता था, क्योंकि वह निर्धन था, इसलिये कोई मनुष्य उसको कन्या देना नहीं चाहता था। जब जरत्कारु संतान उत्पन्न करनेका अत्यंत अभिलाषी हुआ, तब कन्या करनेके लिये इतस्ततः भ्रमण करने लगा!! पश्चात् इसका विवाह सर्पराज वासुकिकी बहिनके साथ हुआ। इससे "आस्तीक मुनि" की उत्पत्ति हो गई। सर्पजातिकी स्त्री और आर्यजातिका पुरुष इनका यह मिश्र-विवाह है और इसकी मिश्र संतान 'आस्तीक मुनि' है।

आर्यजाति उत्तर भारतमें और सर्पजाति दक्षिण भारतमें वसती थी। इन दोनों जातियोंमें बडा वैमनस्य था। यह वैमनस्य इतना बढ गया था कि, एक समय सर्पजातिके कई वीर संन्यासीके वेषमें फलपुष्पोंकी भेंट करनेके मिषसे सम्राट् परिक्षितके राजदरबारमें गये और शामके समय कपटसे राजा का वध उन्होंने किया!!! इसके अनंतर राजाका वध करनेवाली सर्पजातिके संपूर्ण जनोंका नाश करनेका प्रण आर्यजातिने ठान लिया, इसीका नाम महाभारत में 'सर्पसत्र' है। इस सर्पसत्रमें सर्पजातिके लोगों की सर्वसाधारण कतलही शूरू की गई। इसमें छोटे बडे अनंत सर्पलोग नष्ट—भ्रष्ट हो गये। अंतमें आस्तीक मुनिकी माताके पास जाकर अन्य सर्पोंने कहा कि—

तद्भत्से ब्रूहि वत्सं स्वं कुमारं वृद्धसंमतम्।
ममाद्य त्वं सभृत्यस्य मोक्षार्थं वेदवित्तमम्॥
(म० भा० आदि० अ० ५३।२६)

वासुकि अपनी भगिनींसे बोला कि, 'हे बहिन! अब मेरी और मेरे परिवारोंकी रक्षाके निमित्त वृद्ध संमत, वेदनिपुण अपने बालक पुत्रसे कहो।' यह अपने भाईका भाषण श्रवण कर सर्पकी बहिन अपने पुत्र आस्तीकको बुलाकर बोली—

अयं स कालः संप्राप्तो भयान्नस्त्रातुमर्हसि।
भ्रातरं चापि मे तस्मात्त्रातुमर्हसि पावकात्॥
(म० भा० आदि० अ० ५४।१६)

सर्पभगिनी अपने पुत्र आस्तीकसे बोली कि, 'हे पुत्र! अब वह कठोर काल आ पहुंचा है, इसलिये तुम हमको भयसे बचाओ, मेरे भाईकी रक्षा करो।' इसपर मातृस्नेहवश आस्तीकमुनिने उत्तर दिया—

अहं त्वां मोक्षयिष्यामि वासुके पन्नगोत्तम॥१९॥
भव स्वस्थमना नाग नहि ते विद्यते भयम्।
प्रयतिष्ये तथा राजन्यथा श्रेयो भविष्यति॥ २०॥
(म० भा० आदि० अ० ५४)

आस्तीक मुनि बोले- 'हे सर्पराज वासुकि! मैं सच कहता हूं कि, तुमको मैं बचाऊंगा। हे राजन्! तुम शांत चित्तसे स्वस्थ रहो। अब तुम्हें भय नहीं है। मैं ऐसा यत्न करूंगा कि, जिससे तुम्हारा मंगल होगा।'

इस प्रकार मातासे और मातुलोंसे कह कर आस्तीक मुनि जनमेजयके सर्पयज्ञमें गये और राजासे लेकर संपूर्ण कार्यकर्ताओंकी खूब प्रशंसा करने लगे!! स्तुतिसे राजा प्रसन्न हुआ और बोला कि, "हे ब्राह्मण! जो चाहे सो मांग लो।"

वहांके कई कार्यकर्ताओंने राजासे कहा कि 'अभी थोडे सर्पोंका वध होना शेष है, इसलिये इस ब्राह्मणको मनमाना वर न देना।' बहुधा ये ज्ञानी

ब्राह्मण जानते ही होंगे कि यह आस्तीक मुनि सर्पों और आर्यके संयोगसे जन्मी हुई मिश्र संतान है। संभवतः यह मुनि महाराजका स्तुतिपाठ करते करते राजासे वर लेकर अपनी माताकी जातिको बचायेंगे और हमारा इतना बना बनाया कार्य निष्फल हो जायगा। और वैसाही अंतमें हुआ। राजाने उदार भावसे वर दिया और आस्तीकने उस समय पिताकी जातिके आर्योंका हित करनेके स्थानपर अपनी माताकी जातिके सर्पोंका हित किया!!!

यह इतिहास महाभारतमें पाठक देख सकते हैं। कविका अलंकार हटानेसे यह इतिहासिक बात स्पष्ट नजर आती है। आर्यजातिको जैसा राक्षस-जातिसे कष्ट होता था, उसी प्रकार सर्पजातिके लोग भी बहुत सताते थे। यह वैर इतना बढ गया था कि, एक प्रतिष्ठित आर्यराजाका वध सर्पजातीके 'अराजक' युवकोंने राजमंदिरमें मंत्रियोंकी उपस्थितिमें किया! उत्तंक जैसे सात्विक ब्रह्मचारीको भी अत्यंत कष्ट दिया!! इसलिये सर्पजातिके कारण जैसे क्षत्रिय वैसेही ब्राह्मण भी बडे क्रोधित हो गये थे। अतमें ब्राह्मण और क्षत्रियोंने मिलकर सर्पजातिका पूर्ण नाश करनेका निश्चय किया। यह सर्पजाति पर आर्यजातिका दिग्विजय था। युद्धमें सर्पजाति पूर्ण परास्त और आर्य करीब विजयी हुए थे। इतनेमें एक आस्तीक नामक युवक जो सर्प-स्त्री और आर्य पतिसे उत्पन्न हुआ था, उसने अपनी माताके मोहके कारण आर्योंके दिग्विजयमें बाधा डाली और आर्योंके शत्रुओंको मदद की। यह घोर अनर्थ राष्ट्रीयताका विचार विवाह करनेके समय जरत्कारूने न करनेसे हुआ था। इसलिये वेद कहता है' कि, 'पतिपत्नी राष्ट्रीयताके साथ उन्नत हों और विवाहमें राष्ट्रीयताका विचार अवश्य हो। नहीं तो राष्ट्रके विविध प्रसंगोंमें किस समय कितनी हानि राष्ट्रको उठानी होगी, इसका कोई ठिकाणा नहीं है।

माताका परिणाम संतान पर अत्यधिक होता है, पिताकी अपेक्षा माताका प्रभाव संतान पर होता है, इसलिये विवाह करनेके समय राष्ट्रीयताका विचार अवश्यही होना चाहिये। इस विषयमें महाभारतमें दिया हुआ एक उदाहरण यहां और देखिये—

(११) आर्यराजाका अप्सरासे गांधर्व-विवाह।

(२) राजा विश्वामित्र स्वर्गपद अर्थात् स्वर्गका राज्य प्राप्त करनेकी अभिलाषासे बडा प्रयत्न कर रहा था। आर्यावर्तके प्रतापी राजे तिब्बतके राजाओं पर हमला किया करते थे और प्रसंग विशेषमें उनको सहायता भी करते थे। राजा विश्वामित्र मंत्रज्ञ और अस्त्रशस्त्रज्ञ होनेके कारण बडा प्रतापी था और यदि उनका कार्य सफल हो जाता, तो स्वर्गपद पर अर्थात् तिब्बतके राज्य पर आरूढ होना, उनके लिये कोई अशक्य बात नहीं थी।

जो आर्य सम्राट् तिब्बत पर चढाई करनेकी तैयारी करते थे, उनके ऊपर तिब्बतके राजा सबसे पहिले 'स्त्री-प्रयोग' करते थे! प्रायः हिमाचलकी सुंदर अप्सरायें आर्यावर्तमें आकर आर्य राजाओंको मोहित कर उनको उस चढाइके कार्यसे परावृत्त करती थीं। इसी प्रकार देवराज इंद्र महाराजने राजा विश्वामित्रके ऊपर 'स्त्रीप्रयोग' किया, अप्सरा मेनका इस कार्यके लिये भेजी गई। उसका सुंदर रूप देखकर विश्वामित्र स्व-कार्य-विमुख हो गया और वह उस अप्सराके साथही रमने लगा। देखिये, साम्राज्य-रक्षामें स्त्रियोंका महत्त्व कितना है। जापान और रूसके युद्धके पूर्व इसीप्रकार जापानी युवतियां रूसमें जाकर रूसी सरदारोंकी पत्नियां बनकर रहीं थीं और वहांसे गुप्त सन्देश अपने जापानी युद्ध-मंत्रीके पास भेजती थीं। इसी प्रकार फ्रांस और जर्मनीके युद्ध पूर्व कई जर्मन स्त्रियें भिन्न भिन्न मिषसे फ्रांसमें आकर रहीं थीं। इसी प्रकार तिब्बतके राजा लोग अपने राज्य-संरक्षणके लिये भारतीय बलवान् आर्यराजाओंके ऊपर 'स्त्री-प्रयोग' ही किया करते थे। वीरके कठोर शस्त्रकी अपेक्षा स्त्रियोंका सुकोमल दिखावटी प्रेमका अस्त्र बडाही प्रभावशाली होता है, यह बात हरएकके समझमें आ सकती है। इसलिये इस विषयमें अधिक लिखना आवश्यक नहीं है। अस्तु। इस प्रकार राजा विश्वामित्र मेनकासे पराजित हुआ और इस गांधर्व-विवाहसे शकुंतलाका जन्म हुआ। यह भी मिश्र संतान ही है, पिता आर्य और माता गंधर्वी, इससे यह मिश्रित संतान शकुंतला उत्पन्न हो गई। मिश्रसंततिमें

समय समय पर माताका सौंदर्य विशेष उतरता है, विशेष कर बालिकामें तो अवश्यही उतरा है। अप्सरा शीत प्रदेशकी होनेके कारण गौरवर्ण थी। आर्य राजाओंका वर्ण गव्हमी होता था। वह पिताका वर्ण स्त्री-संतानमें न आकर माताका वर्ण शकुंतलामें आनेके कारण शकुंतला गौरवर्णकी थी। अब इसका वृत्तांत देखिये—

(१२) आर्यराजाका मिश्रित कन्यासे विवाह।

(३) राजा दुष्यंत एक समय मृगया करते करते वनमें बहुत भ्रमण होनेके कारण अंतमें थक गये और कुछ विश्राम लेनेकी इच्छासे कण्वऋषिके आश्रममें गये। उस समय आचार्य कण्व कुछ कार्यके लिये वनमें गये थे और दोचार घंटोंमें वापस आनेवाले थे। इतनेमें वहां दुष्यंत पहुचा। उद्यानमें आचार्यकी कन्यायें फुल बाडीको पानी दे रहीं थीं अथवा कुछ कार्य कर रहीं थीं। उन सब कन्याओंमें शकुंतला गौरवर्ण और रूपसम्पन्न होनेके कारण दुष्यंत राजाने शकुंतलाके साथ गांधर्व विवाह किया। विवाहका सब प्रयोजन सिद्ध होनेके पश्चात् आचार्य कण्वका दर्शन करनेका भी साहस राजा दुष्यंतको नहीं हुआ, क्योंकि उन्होंने अनुचित कार्य किया था। राजा इस प्रकार आश्रमसे चला गया।

पश्चात् कण्व आश्रममें आ गये, उनको सब बात विदित हुई। तब उसने यही समझा कि 'क्षत्रियकी लडकी क्षत्रियके पास गयी, यह अच्छा ही हुआ।' क्योंकि अब कोई दूसरी बात बन नहीं सकती थी। पश्चात् शकुंतला प्रसूत होकर पुत्रवती हो गई। कुछ दिन होनेके पश्चात् कण्वने शकुंतलाको राजाके पास भेजा। राजा बडा लज्जित हो गया, और मूढ होकर उसने शकुंतलाके साथ गांधर्वपद्धतिसे विवाहित होनेका इन्कार किया। यह शकुंतलाका सचमुच बडा अपमान हुआ इसमें कोई संदेह नहीं। अपमानके साथ साथ शकुंतला निर्दोषी होने पर भी राजाने उसका 'व्यभिचारिणी मेनकाकी पुत्री' कह कर धिक्कार किया!! इससे अत्यंत क्रोधित होकर शकुंतलाने जो भाषण किया, वह हरएक तरुणको ध्यानसे पढना चाहिये—

(१३) पतिको धमकी

राजन् सर्षपमात्राणि परच्छिद्राणि पश्यसि।
आत्मनो बिल्वमात्राणि पश्यन्नपि न पश्यसि ॥ ८३ ॥
मेनका त्रिदशेष्वेव त्रिदशाश्चानुमेनकाम्।
ममैवोद्रिच्यते जन्म दुष्यंत तव जन्मनः ॥ ८४ ॥
क्षितावटसि राजेन्द्र अन्तरिक्षे चराम्यहम्।
आवयोरन्तरं पश्य मेरुसर्षपयोरिव ॥ ८५ ॥
महेन्द्रस्य कुबेरस्य यमस्य वरुणस्य च।
भवनान्यनु संयामि प्रभावं पश्य मे नृप ॥ ८६ ॥
विरूपो यावदादर्शे नात्मनः पश्यते मुखम्।
मन्यते तावदात्मानमन्येभ्यो रूपवत्तरम् ॥ ८८ ॥
अनृते चेत्प्रसंगस्ते श्रद्दधासि न चेत्स्वयम्।
आत्मनो हंत गच्छामि त्वादृशे नास्ति संगतम् ॥ १०९ ॥
त्वामृते चापि दुष्यन्त शैलराजावतंसिकाम्।
चतुरन्तामिमामुर्वीं पुत्रो मे पालयिष्यति ॥ ११० ॥
(म. भा. आदि. अ. ७४)

शकुंतला बोली कि 'हे राजन्! पराया दोष ससोंके समान होनेपर भी देख लेते हैं, पर अपना दोष बेलफलके समान बडा होनेपर भी नहीं देखते। हे दुष्यंत! मेनका देवोंकी प्रेमी है और देवगण मेनकाके प्रेमी हैं, सो आपके जन्मसे मेरा जन्म श्रेष्ठ है। देखिये, मेरु और सर्सोंके समान हम दोनोंमें भेद है, आप धरती पर चलते हैं और मैं अन्तरिक्षमें चलती हूं। मेरा प्रभाव कितना है देखिये; मैं महेन्द्र, कुबेर, यम और वरुण इसके मंदिरोंमें जा सकती हूं। कुरूप जन जबतक दर्पणमें अपना मुख नहीं देखता, तबतक औरोंसे अपनेको सुंदर समझता है, पर जब दर्पणमें अपना मुख बुरा देखता है, तब जानता है, कि औरोंसे अपना कितना प्रभेद है। अस्तु। अंतमें इतना ही कहना है कि यदि मिथ्याही पर आपको प्रेम हो और उससे आप मेरी सत्य बातकी परतीत न करें, तो मैं स्वयं चली जाती हूं; आपसे मेरे मिलनका कोई प्रयोजन नहीं है। हे दुष्यंत! आपके न लेनेसे भी मेरा यह पुत्र शैलराजसे अलंकृता इस पृथ्वीका चारों समुद्रांतक शासन करेगा।'

यह शकुंतलाका भाषण विचार करने योग्य है। परराष्ट्रकी और विशेषतः विजयी परराष्ट्रकी पुत्री इसी प्रकार बोल सकती है। यदि शकुंतलाका

भाषण आजकलकी परिस्थितिमें बोला जाय, तो निम्न प्रकार हो सकता है—

यूरोप अमेरिकाकी गोरी तरुणी अपने काले पतिके उपर क्रोधित होकर बोलती है कि- 'ए काले आदमी! तू क्या समझता है? तू मुझे दोष लगाता है, परन्तु तू अपना दोष देखता नहीं! मेरी माता ऐसे विजयी देशकी रहनेवाली और मेरी माताका पहचान बडे बडे ओहदेदारोंके साथ है। इसलिये मैं जिस समय चाहे किसी भी ओहदेदारको मिल सकती हूं। बडे लाट और छोटे लाटसाहेबके घरोंमें भी मैं जा सकती हूं, तुझ तो वहां कोई पूछेगा भी नहीं। तू पैदल चलता है, मनमें आया तो मैं उनकी मोटारमें भी जा सकती हूं। तू सर्पोंके समान क्षुद्र है, मैं पहाडीके समान बडी हूं। तेरेमें और मरेमें यह अंतर है, देख। तू अपना काला मुख तो शीशेमें देख और मेरा मुख कैसा है देख, तो तुझ पता लग जायगा कि तू कितना कुरूप है और मैं कैसी रमणी हूं। यदि तू मेरा कथन नहीं मानता, तो मैं इसी समय दूसरे स्थान पर चली जाती हूं। यह मत ख्याल कर कि तेरी क्षुद्र सहायताके विना मेरा गुजारा नहीं चलेगा। मेरा जाना आना बडे ओहदेदारोंके पास सहज हो सकता है, इसलिये मेरी आजीविका सुगमतासे हो सकती है, यह भी मत ख्याल कर कि तेरे सहारेके विना मेरा पुत्र अनाथ होगा। कदापि नहीं, वह 'मेरा पुत्र' होनेके कारण उसका बडे ओहदे पर कार्य प्राप्त होना सुगम है। इसलिये यह खूब ध्यानमें धर कि तेरा त्याग करनेसे मेरा कुछ भी बिगडता नहीं, परन्तु मैं तेरे साथ रहनेसे ही तेरा महत्त्व बढ सकता है।'

युरोप अमेरिकाकी तरुणियोंके साथ, अपनी राष्ट्रीयताका विचार छोडकर, विवाह करनेवाले यह शकुंतलाका भाषण वारंवार पढें। हमने कई झगडे, युरोपीयन पत्नी और हिंदी पतिके बीचमें हुए देखे हैं। उनकी भी भाषा इसी प्रकार होती थी। कई बार अंतमें डरके मारे पतिको अपमान सहन करते हुए गोरी पत्नीका कहना मानना ही पडता था। दुष्यंतके बारेमें भी यही बात हुई। कुबेर आदि देवोंके नाम निकालतेही, दुष्यंतने भी शकुंतलाकी बात तत्काल मान ली और अपनी पट्टराणी शकुंतलाको बनाई। अर्थात् पहिली राणीका-एक आर्य स्त्रीका-अधिकार छीना गया और दूसरे अनधिकारी स्त्रीको वह अधिकार दिया गया। इसका परिणाम यह हुवा कि राज्यका अधिकारी शकुंतलाका बेटा हुवा, न कि पहिला पट्टराणीका। यह अन्याय इसलिये हुआ कि शकुंतला मिश्र जाती-की परराष्ट्रीय स्त्री में जन्मी हुई था, और समय आनेपर गंधर्व राजाओंके द्वारा दुष्यंतको भी डरा सकती थी।

देखिये, कैसे कैसे अनर्थ विजयी राष्ट्रीकी तरुणीके साथ विवाह करनेमें हो सकते हैं। जिस प्रकार शकुंतलाने कहा कि मैं बडे बडे देवोंके मंदिरों-में जा सकती हूं, वही बात पूर्वोक्त आस्तीक मुनिकी थी। वह आर्य मुनि होनेके कारण जनमेजयके यज्ञमें विना रोकटोक जा सकता था, उसी प्रकार बडे बडे सर्पराजाओंके घरोंमें भी जा सकता था। आर्य जाती और सर्प जातीका वीर होनेपर भी आस्तीक-को कोई रोक नहीं सकता था। वह पिताके कारण आर्य था और माताके कारण सर्प था। इसीलिये सुगमतासे जनमेजयके यज्ञमें पहुंच कर उसने अपने मातुलोंका हित-साधन किया और पिताकी जातिके लोगोंके अहितका कारण बना!!!

(१४) नीतिका साधन।

इस प्रकारके मिश्र विवाह करनेसे घरमें फूट भी हो सकती है, क्योंकि पत्नीका मत स्वजातिके हित-में होना स्वाभाविक है और उनके पीछे उनकी विजयी जाति होनेसे उनका बल जन्मसिद्धही अधिक होता है। परंतु पतिके पीछे कोई न होनेसे और सर्वदा वह 'काला आदमी अथवा निगर' होनेके कारण सदा भयभीतही रहता है। कई आर्य राजाओंके घरमें इस कारण फूट होनेका भी इतिहास हमारे ग्रंथोंमें विद्यमान है।

(१५) आर्य राजाका पारसी स्त्रीके साथ विवाह

इस विषयमें यहां एकही उदाहरण देखिये। दशरथ राजाकी धर्म-पत्नियाँ कौसल्या, सुमित्रा और कैकेयी रामायणमें प्रसिद्ध हैं। युवराज राम-

चंद्रजीके राज्याभिषेकके समय कैकेयी राणीने कितना विघ्न किया था और उनके आग्रहके कारण रामचंद्रजीको चौदह वर्ष वनवास भोगना पडा, यह इतिहास सुप्रसिद्ध है। यह कैकेयी भी भारतीय आर्य स्त्री नहीं थी। रावणकी माता 'कैकसी,' दशरथकी स्त्री 'कैकेयी' और आजकलके पारसीयोंके नामोंमें 'कैकश्रु' आदि नाम होते हैं—

(१) कैक- सी

(२) कैके-यी

(३) कैक- श्रु

इन नामोंके प्रारंभमें 'कैक' य अक्षर हैं, इन अक्षरोंसे नामोंका प्रारंभ केवल पारसी लोगोंकी भाषामें होता है। संस्कृतमें इन नामोंकी कोई व्युत्पत्ति ही नहीं है इसलिये स्पष्ट है कि, कैकेयी भारतीय आर्य कन्या नहीं थी, परंतु इराणी असुरोपासकोंकी कैकय देशमें जन्मी हुई कन्या थी। पारसी स्त्रियोंके समान कैकेयी भी कौसल्यादि गव्हमी रंगवाली आर्य स्त्रियोंसे विशेष गोरवर्ण और अधिक सुंदर थी। इसीलिये वृद्ध परंतु कामी दशरथ राजा कैकेयीके मंदिरमेंही हमश पडा रहता था और कैकयी परही उसका अधिक प्रेम था। परंतु इस परराष्ट्रीय स्त्रीके कारण दशरथके घरमें कितना विप्लव हुआ, अंतमें दशरथको भी स्वयं पुत्रशोकसे मरना पडा और धर्मपरायण आर्यस्त्रियोंको भी कितना दुःख भोगना पडा, यह रामायणमें प्रसिद्ध है। जो फूटका कार्य दशरथके घरमें कैकेयीने किया, वह कौसल्यासे अथवा सुमित्रासे होना संभवही नहीं था, क्योंकि कैकेयीको अपने सौंदर्यका गर्व था। मेरे अधीन राजा है, उससे जो चाहे मैं करवा सकती हूं, यह उसका विश्वास था, तथा अपने पीछे सहायक असुरोपासक सब राजा लोग हैं, यह भी घमंड थी, इस कारण इतना साहस कैकेयीने किया।

घरमें फूट कैसी हो सकती है, यह इस उदाहरणमें देखिये।

विदेशी और परराष्ट्रीय स्त्रीके साथ विवाह करनेपर कितने अनर्थ हो सकते हैं, इनका थोडासा वर्णन यहाँ किया है। वह स्त्री सदा अपने देशका विचार करती रहती है, पुत्रको भी दूध पिलाते पिलाते अपने देशका गौरव सिखाती है, अपने साथ कभी कभी अपने मातापिताके पास ले जाती है, इस कारण उस पुत्रके मनमें भी माताके संबंधियों और माताके देशके साथ प्रेम उत्पन्न होता है। जब कभी माताके देशवालोंके साथ पिताके देशवालोंका विप्लव होगा, उस समय यह संभव बहुत अधिक है, जैसा कि आस्तीक आदिके उदाहरणोंमें हमने देखा है, कि वह मिश्रित संतान माताके देशवालोंकाही हित देख कर पिताके देशका अहित करनेके लिये भी उद्युक्त हो सकती है, क्योंकि माताका प्रभाव संतान पर अधिक हुआ करता है।

महाभारतमें ऐसे मिश्रित विवाह कई हैं। परंतु सबमें बात यही है। जबतक माताकी जातिवालोंके साथ पिताकी जातिवालोंका कोई विप्लव नहीं होता, तबतक वे पिताके साथ रहते और बहुत कार्य करते हैं। परंतु जिस समय उक्त प्रकार जाति जातिमें विप्लव हुआ, उस समय वह मिश्रित संतान माताकी जातिका हित करनेमें दक्ष होती है। उदाहरणके लिये भीमसेनका हिडिंबा राक्षसीसे जन्मा हुआ घटोत्कच लीजिये। पांडवोंके भाई कौरवोंके साथकी आपसकी लडाईमें वह पांडवोंके साथ ही रहा, क्योंकि कौरव राक्षस जातिके नहीं थे। परंतु यदि पांडवोंका युद्ध राक्षसोंके साथ होता, तो यह संभव कम ही था, कि घटोत्कच उस समय पांडवोंकी सहायता करता। इसी दृष्टिसे महाभारतके मिश्रविवाहोंका परीक्षण करना चाहिये।

महाभारतमें जो वर्णन है, वह स्पष्ट बताता है कि सुंदरता आदिसे मोहित होकर परराष्ट्रकी तरुणीसे विवाह कर लेना, अपने राष्ट्र पर आपत्ति ही लाना है। पाठक इसका अधिक विचार करें।

(१६) कौरव-पांडवोंके वैमनस्यका कारण।

अब इसी प्रसंगमें कौरव-पांडवोंके वैमनस्यका कारण देखनेयोग्य है। देखनेके लिये, तो द्रौपदीके छलके कारण तथा राज्यका भाग न मिलनेके कारण कौरवपांडवोंका घोर युद्ध हुआ। परन्तु इनका मूल कारण उनकी उत्पत्तिमें और जन्मकथामें है। राष्ट्रीय

युद्धादिके लिये बाह्य कारण और आन्तरिक कारण भिन्न भिन्न होते हैं। उदाहरणके लिये देखिये- ' गत युरोपके युद्धका बाह्य निमित्त तो एक छोटेसे राजाके युवराजका वध ' हुआ। परन्तु आन्तरिक मुख्य कारण युरोपके विभिन्न राज्योंकी व्यापारकी स्पर्धाही था।

इसी रीतिसे कौरव-पांडवोंके महायुद्धका कारण कौनसा है, यह विचारकी आंखसे देखना चाहिये। (१) सतीद्रौपदीका छल और (२) राज्यका अर्ध भाग न मिलना, ये दो कारण बाहर बतानेके लिये पर्याप्त हैं। परन्तु वास्तविक जो आन्तरिक कारण है, वह दोनोंकी ' मनःप्रवृत्तिकी विषमता ' है। यह मनःप्रवृत्तिकी विषमता उनके जन्मके साथ सम्बन्ध रखती है।

एक वीर्यसे उत्पन्न हुए दो भाई राजा पांडु और राजा धृतराष्ट्र थे। वीर्यमें किसी प्रकारका दोष नहीं था, क्योंकि श्री वेदव्यासजीका परिशुद्ध वीर्य था। परंतु क्षेत्र भिन्न था और क्षेत्रमें कुछ दोष भी था। इस कारण एक अंधा और दूसरा पंडुरोगी बना था। तथापि वीर्यकी एकता होनेके कारण धृतराष्ट्र और पंडुमें बंधुप्रेम अत्यंत उज्ज्वल था। वीर्यकी एकताका यह परिणाम पाठक अवश्य देखें।

इसके पश्चात् धृतराष्ट्रके वीर्यसे आर्य स्त्री गांधारीके क्षेत्रमें सौ पुत्र हुए। इसमें ध्यानमें रखनेकी यह बात है कि सबमें एकही वीर्यका संबंध था।

परंतु पांडवोंके विषयमें यह बात नहीं है। जिस वीर्यसे पांडवोंकी उत्पत्ति हुई थी, वह वीर्य पंडुका नहीं था। कुंतीके साथ पंडु हिमालयकी पहाडीपर रहता था, क्षयरोगी होनेके कारण हस्तिनापुरमें रहना उसके लिये हानिकारक था। तथा अत्यंत रोगी होनेके कारण स्ववीर्यसे संतान उत्पन्न करना, उसके लिये अशक्य था। इसलिये उसकी अनुमतिसे कुंतिका नियोग तिब्बत देशनिवासी तीन देवलोगोंसे हुआ और माद्रीका नियोग उसी देशके अश्विनी कुमारोंसे हुआ। इस नियोगसे कुंतीको तीन और माद्रीको दो संतान हुए। अर्थात् पांडवोंकी उत्पत्तिमें वीर्यकी विभिन्नता कितनी है, यह पाठक देखें।

तिब्बतके लोगोंके वीर्यसे जन्मे पांडव और भारतीय आर्य राजाके औरस पुत्र कौरव इनमें वीर्यकी विषमताके कारण बंधुप्रेम होना अशक्य था। यदि पंडुके निज वीर्यसे पांडव उत्पन्न होते, तो प्रायः भारतीय महा युद्ध होनाही असंभव था।

इसमें और भी विचारणीय बात यह है कि, जिस समय पांडव जन्मे, उस समय तिब्बतके इंद्रादि देवसम्राट् बलवीर्यादिसे अधिक संपन्न थे। उनके वीर्यसे उत्पन्न होनेके कारण रंगरूपमें भी पांडवोंकी विशेषता होना संभव है, तथा वीर्यसे जो मनःप्रवृत्ति बनती है, वह भी भिन्नही होगी। जिस प्रकार आजकल विजयी युरोपियन पुरुष और जित भारतीय स्त्रीसे जन्मी हुई ' युरेशियन ' मिश्र संतति अपने आपको वीर्यके गर्वसे ' बडे साबों ' में संमिलित करती है और अन्य काले आदमियों पर हुकुमत करनेको प्रवृत्त होती है, उसी प्रकार महाभारतमें भीम और अर्जुन ये दो पांडव-कौरवोंको तथा किसी भी अन्य आर्यराजाका कुछ भी मूल्य देतेही नहीं थे। देवलोगोंके वीर्यके साथ आई हुई दूसरोंसे अपने आपको विशेष समझनेकी प्रवृत्ति पांडवोंमें थी।

साथही साथ पिताके औरस पुत्र कौरव होनेसे उनमें ' राज्यका मद ' जन्मसेही था। जिस प्रकार आजकलके रियासती राजाओंके बेटे अपने आपको जन्मसे राज्य धिकारी व अन्य साधारण जनोंसे ' उच्च ' मानते हैं, ठीक उसी प्रकार कौरव भी अपने आपको जन्मसे हकदार समझते थे।

इसमें और भी एक बात है। वह यह है कि कौरव जन्मसे अपने राज्यमें पले थे, इसलिये राज्यका मद उनमें था। कौरव साम्राज्यवादी (Imperialist) इसी कारण बने थे। दुर्योधन साम्राज्य अथवा मृत्यु दोनोंमेंसे एक पसंद करता था, बीचकी अवस्था इसको इसी कारण पसंद नहीं थी।

परंतु पांडवोंको देखिये, वे धार्मिक वृत्तिवाले दिखाई देते हैं। ऐसा क्यों हुआ? देखिये इसका कारण- कुंती और माद्रीके साथ पंडु साधुवृत्तिसे तपस्वी ऋषियोंके आश्रमके बीचमें रहता था। तपोभूमिमें सदा धर्मविचारही चलता था, इसका

परिणाम कुंती और माद्रीके ऊपर बहुत हुआ था, क्योंकि धर्मभावनाकी ग्राहकता पुरुषकी अपेक्षा स्त्रियोंमें अधिक होती है। धर्म-भीमादि पांडव जन्म लेनेके पश्चात् बारह वर्षतक ऋषिआश्रमोंमेंही रहे थे। यह वास्तविक कारण है कि, जिससे पांडवोंकी निसर्गप्रवृत्तिही धर्मकी ओर हो गई थी।

जिनका बालपन ऋषिआश्रममें व्यतीत हुआ है, उनकी मित्रता राजधानीके साम्राज्यैश्वर्यमें पले हुए कौरवोंसे होनाही असंभव है। इसका हेतु मनःप्रवृत्तिकी भिन्नता ही है।

वीर्यका परिणाम देखनेके लिये यहां यह बात भी देखिये कि, सब कौरवोंका स्वभाव करीब एक जैसाही है, क्योंकि उन सबोंमें वीर्यकी एकता है। परन्तु पांडवोंमें स्वभाववैचित्र्य है, देखिये–

(१) धर्मराज युधिष्ठिरकी प्रवृत्ति सत्याग्रह करनेमें, (२) भीमसेनका स्वभाव मारपीटमें, (३) अर्जुनकी वृत्ति क्षात्र भावनामें, (४) नकुल-सहदवोंकी प्रवृत्ति अन्योंके अनुगामी होनेमें प्रसिद्ध है।

इस भिन्न प्रवृत्तिका कारण भिन्न वीर्य ही है। यमधर्मका धार्मिक वीर्य युधिष्ठिरमें, वायुदेवका पहलवानी वीर्य भीममें, देव-सम्राट् इन्द्रका वीर्य अर्जुनमें और औषधकी गोलियां बनानेवाले अश्विनी-देवोंका वीर्य नकुल-सहदवोंमें कार्य कर रहा था। इस वीर्य-भेदके कारण मनःप्रवृत्तिका भेद पांडवोंमें दिखाई देता है।

वीर्यकी भिन्नता होने पर भी माताकी एकता थी, इसलिये सब पांडव एक मनसे रहे थे। तथा (Common Cause) समान परिस्थितिके कारण भी उनमें एकता रही थी। अस्तु।

इस विचारसे पाठकोंके मनमें आ जायगा कि कौरवपांडवोंका महायुद्ध होनेमें आंतरिक गुप्त कारण कौनसा था, इसीका सार निम्नलिखित कोष्टकमें देखिये—

कौरव–पांडवोंके युद्धका मूल कारण।

पांडव।

(१) मातापिता वनमें रहते थे।

(२) एक माता और अनेक पिताओंसे नियोग-नियमानुसार उत्पत्ति।

(३) भिन्न वीर्यके कारण स्वभावभेद और रुचिभेद।

(४) ऋषिआश्रमोंमें बालपन व्यतीत होनेके कारण सबोंकी धार्मिक वृत्ति।

(५) न्याय्य मार्गसे अपनी उन्नति करनेकी इच्छा।

(६) नियोगसे संतति।

कौरव

(१) मातापिता शहरमें रहते थे।

(२) एक ही मातापितासे उत्पत्ति।

(३) समान वीर्य होनेके कारण स्वभावकी समानता।

(४) शहरमें पले जानेके कारण भोगी प्रवृत्ति।

(५) किसी रीतिसे साम्राज्य बढानेकी इच्छा।

(६) पितासे औरस संतति।

माता पिताकी परिस्थिति, जन्मके समयकी स्थिति, बालपनके समयकी अवस्था, वन अथवा नगरका रहना, संगति, सामाजिक तथा राजकीय घटनाएं, तथा अपना पुरुषार्थ इतना मिलकर स्वभाव बनता है। इस विषयका अधिक विचार महाभारत पढते पढते पाठक करें और उचित बोध लें।

विवाह करनेके समय 'अपनी राष्ट्रीयताके साथ बढो' यह जो उपदेश वेदने बताया है, वह कितना आवश्यक है और वीर्य तथा क्षेत्रका महत्त्व मानवी स्वभाव बननेमें कितना है, तथा वीर्यभेद और क्षेत्रभेदसे राष्ट्रमें किस प्रकार विपत्ति उत्पन्न होती है, इत्यादि बातोंका निश्चय महाभारतादि ग्रंथोंमें वर्णित कथाओंका मनन करनेसे उक्त प्रकार हो सकता है।

महाभारतमें जो इतिहास है, वह काव्यमय वर्णनके अंदर है। विचार और मनन करनेसे काव्यका परदा हटाना सुगम है। वह परदा दूर करनेसे उस कालका भारत तथा आसपासके अन्य देशोंका सच्चा इतिहास दिखाई देता है। वही देखना चाहिये और इतिहाससे प्राप्त होनेवाला उचित बोध लेना चाहिये।

आशा है कि इतिहास–दृष्टिसे अपने ग्रंथोंका विचार और मनन पाठक करेंगे और उससे योग्य बोध लेंगे और तदनुसार अपना सुधार करेंगे।

(५१८) 'लम्बन्तं वृषणं भूयः।'
(भागवत ९।१९।१०)

'लम्बन्तं' अशुद्ध है, क्योंकि 'लबि' धातु आत्मनेपदी है। अतः 'लम्बमानम्' शुद्ध है।

(५१९) तथाहं कृपणः सुभ्रु भवत्याः प्रेमयन्त्रितः।
(भागवत ९।१९।१२)

'सुभ्रु' अपाणिनीय प्रयोग है।

(५२०) 'न दुह्यन्ति मनः प्रीतिं...।'
(भागवत ९।१९।१३)[२३]

'दुह्यन्ति' दुह प्रपूरणेसे अपाणिनीय है। 'दुहन्ति' शुद्ध है।

दिवादि और अदादि गणोंका क्रम भंग है।

(५२१) 'समदृष्टेस्तदा पुंसः सर्वाः सुखमया दिशः।' (भागवत ९।१९।१५)

'सुखमय' अपाणिनीय प्रयोग है।

'सुखमय्य' पाणिनीय है।

(५२२) 'सेवतोऽसकृत्।'
(भागवत ९।१९।१८)

'सेवतः' अशुद्ध है। 'सेवमानस्य' शुद्ध है।

(५२३) 'वशे स्थाप्यवनं ययौ।'
(भागवत ९।१९।२३)

'स्थाप्य' अशुद्ध है। 'स्थापयित्वा' शुद्ध है।

(५२४) 'मरुतोऽबिभ्रन्।'
(भागवत ९।२०।३९।१०।२९।४०)

'अबिभ्रन्' अपाणिनीय प्रयोग है।

(५२५) विचित्र वीर्यश्चावरजो नाम्ना चित्राङ्गदो हतः। (भागवत ९।२२।२१)

इस श्लोकमें 'नाम्ना' पदकी 'सनाम्ना' अर्थमें प्रयुक्त है। ये दोनों पद समानार्थक नहीं है। यहाँ 'अप्रसिद्ध शब्द अप्रसिद्ध अर्थ' में प्रयोग दोष है।

(५२६) 'शिबिर्वनः शमिर्दक्षश्चत्वारोशीनरात्मजाः।' (भागवत ९।२३।३)

'चत्वारोशीनरात्मजाः' अपाणिनीय प्रयोग है। यह सन्धि कैसे?

(५२७) 'कन्यामहारषीत्।'
(भागवत ९।२३।३६)

'अहारषीत्' अशुद्ध है। 'अहार्षीत्' शुद्ध है।

(५२८) 'स्नुषा तवेत्यभिहिते स्मयन्ती पतिमब्रवीत्।' (भागवत ९।२३।३७)

'स्मयन्ती' अशुद्ध है। 'स्मयमाना' शुद्ध है।

(५२९) '...युधि भूपचम्वः।'
(भागवत ९।२४।६७)

'चम्वः' अशुद्ध है। 'चमूः' शुद्ध है।

स्कन्ध १० (पूर्वार्धः)

(५३०) 'कथितो वंश विस्तारो भवतासोमसूर्ययोः।' (भागवत १०।१।१)

यहाँ 'प्रथमेवावशब्दे' अष्टाध्यायी ३।३।३३) इस पाणिनीय सूत्रसे शब्द अभिधेय होने पर 'विस्तर' और अन्यत्र 'विस्तार' [शब्दही साधु होता है]। यहाँ कौनसी शब्दोपाधि है? कथन और श्रवण [यहाँ सोम और सूर्यवंशका कथन और श्रवण इष्ट है, अतः 'विस्तार' शब्दका प्रयोग अशुद्ध है]

'विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं चजनार्दनः। भूयः कथय०'
(गीता १०।१८)

'विभूतेर्विस्तरोमया' (गीता १०।४०)।

'प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्यमे'
(गीता १०।१९)।

'देवो विस्तरशः प्रोक्त आसुर पार्थमे शृणु'
(गीता १६।६)।

गीतामें वेदव्यासने 'विस्तर' शब्द ही प्रयुक्त किया है। गीता महाभारतका ही एक अंश है। भागवतसे पूर्व 'महाभारत' की रचना वेदव्यासने की थी (भागवत १।४।२६)। जब गीतामें उन्होंने 'विस्तर' शब्दका प्रयोग किया है तब भागवतमें उन्होंने 'विस्तार' का प्रयोग कैसे किया?

(५३१) 'पुरैव पुंसावधृतो धराज्वरो...।'
(भागवत १०।१।२२)

---

२३ पण्डित-पुस्तकालय, काशी संस्करण, सान्वयिकी भा. टी; पृष्ठ ८०२ में 'द्रुह्यन्ति' पाठ अशुद्ध है। गीता-प्रेस गोरखपुर (अष्टम संस्करण, मूल) पृष्ठ ४६६ और मथुरा संस्करण, बालबोधिनी भा. टी. द्वि. ख०, पृष्ठ १३३ में पाठ 'दुह्यन्ति' है जो शुद्ध है। —(लेखक)

'अवधृतः' अशुद्ध है। 'अवधारितः' शुद्ध है।

(५३२) 'देवक्यासूर्यया सार्धं प्रयाणेरथमारुहत्
(भागवत १०।१।२९)

'आरुहत्' अशुद्ध है। 'आरोहत्' अथवा 'आरुक्षत्' शुद्ध है।

(५३३) 'ते पीडितानिविविशुः।'
(भागवत १०।२।३)

'निविविशुः' अपाणिनीय प्रयोग है।

'नेर्विशः' (अष्टा० १।३।१७) के अनुसार 'निविविशिरे' पाणिनीय है।

(५३४) 'आस्ते प्रतीक्षंस्तजन्म...।'
(भागवत १०।२।२३)

'प्रतीक्षन्' अशुद्ध है। 'प्रतीक्षमाणः' शुद्ध है।

(५३५) 'याताः सदनुग्रहोभवान्।'
(भागवत १०।२।३१)

'सदनुग्रहः एक विचित्र निर्माण है।

'सतो भक्ताननुगृह्णतीति अनु + ग्रह् + अप् एक उपपद समास है। व्याकरणसे यह अशुद्ध है।

(५३६) 'न नामरूपे गुणजन्मकर्मभिर्निरूपितव्ये...।' (भागवत १०।२।३६)

'निरूपितव्ये' अशुद्ध है। 'निरूपयितव्ये' शुद्ध है क्योंकि 'निरूप' चुरादि है।

(५३७) 'सुशोभनै द्रक्ष्याम गां द्यां च।'
(भागवत १०।२।३८)

'द्रक्ष्याम' अशुद्ध है। 'द्रक्ष्यामः' शुद्ध है।

(५३८) 'अग्नयश्च द्विजातीनां शान्तास्तत्र समन्धित।' (भागवत १०।३।४)

(क) 'समन्धित' अशुद्ध है।

'समैन्धत' शुद्ध है।

(ख) यहाँ 'अवऽभाव' कैसे ?

(५३९) 'मर्त्यो मृत्युव्याल भीतः पलायन्।'
(भागवत १०।३।२७)

'पलायन्' अशुद्ध है।

'पलायमानः' साधु है,। क्योंकि धातु आत्मनेपदी है।

(५४०) 'यास्येथे मद्‌गतिं पराम्।'
(भागवत १०।३।४५)

'यास्येथे' अशुद्ध है। 'यास्यथः' शुद्ध है।

(५४१) 'ताः कृष्णवाहे वसुदेव आगते स्वयं व्यवर्यन्त यथा तमोरवेः।'
(भागवत १०।३।४९)

'व्यवर्यन्त' अशुद्ध है। 'व्यव्रियन्त' शुद्ध है।

(५४२) '...भग्नचापानयुध्यतः।'
(भागवत १०।४।३५)

'अयुध्यतः' अशुद्ध है। 'अयुध्यमानान्' शुद्ध है।

(५४३) 'नन्दालयं सवलया व्रजतीर्विरेजुर्व्यालोलकुण्डलपयोधरहारशोभाः।'
(भागवत १०।५।११)

'व्रजती:' अशुद्ध है।

'सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः' (अष्टा० ७।१।३९) के द्वारा 'पूर्वसवर्णदीर्घः' है। 'व्रजन्त्यः' साधु शब्द है।

(५४४) अव्याद्जोऽङ्घ्रि मणिमांस्तवजानु।
(भागवत १०।६।२२)

(क) 'अङ्घ्रि' अशुद्ध है। 'अङ्घ्री' शुद्ध है।

(ख) 'जानु' अशुद्ध है। 'जानुनी' शुद्ध है।

(५४५) न्यदहन् काष्ठधिष्ठितम्।
(भागवत १०।६।३३)

'धिष्ठितम्' अशुद्ध है। 'अधिष्ठितम्' शुद्ध है।

(५४६) गावः सर्वगुणोपेता...।
(भागवत १०।७।१६)

श्लोक १६ गीताप्रेस और मथुरा संस्करणमें है, परन्तु पण्डित-पुस्तकालय, काशी संस्करण, सामयिकी भा. टी. (सजिल्द) पृष्ठ २७ में श्लोक १६ अमुद्रित है।

'गावः' अशुद्ध है। 'गाः' शुद्ध है।

(५४७) पथवः श्रेय आधास्यद् गोप गोकुलनन्दनः। (भागवत १०।८।१६)

'आधास्यत्' अशुद्ध है। 'आधास्यति' शुद्ध है।

(५४८) सरीसृपन्तौ। (भागवत १०।८।२२)

'सरीसृपन्तौ' अशुद्ध है। 'सरीसृप्यमाणौ' शुद्ध है।

(५४९) अघृष्टजानुभिः पद्भिर्विचक्रमतुरञ्जसा।
(भागवत १०।८।२६)

'विचक्रमतुः' अशुद्ध है।

वेः पादविहरणे' (अष्टा० १।३।४१) के अनुसार 'विचक्रमते' शुद्ध है।

(५५०) यर्थेवंतर्हि व्यादेहीत्युक्तः स भगवान् हरिः। (भागवत १०।८।३६)

'व्यादेहि' अशुद्ध है।

'आङोदोऽनास्यविहरणे' (अष्टा० १।३।२०) के अनुसार 'व्याददस्व' शुद्ध है।

(५५१) ध्वान्तागारे धृतमणि गणं स्वाङ्गमर्थं
प्रदीपं काले गोप्यो यर्हि गृहकृत्येषु
सुव्यग्रचित्ताः। (भागवत १०।८।३०)

इस श्लोकमें 'छन्दोभङ्ग है।

(५५२) इत्थं स्त्रीभिः सभमनयन श्री मुखा
लोकिनी भिव्याख्यातार्था प्रहसित
मुखी न ह्युपालब्धुमैच्छत्॥
(भागवत १०।८।३१)

इस श्लोकमें भी 'छन्दोभङ्ग' है।

(५५३) 'तं चापि न तत्र पश्यती।'
(भागवत १०।९।७)

'पश्यती' अशुद्ध है।

'शप्श्यनोर्नित्यम्' (अष्टा० ७।१।८१) के अनुसार 'पश्यन्ती' शुद्ध है।

(५५४) जघास हैयङ्गवमन्तरं गतः।'
(भागवत १०।९।६)

'हैयङ्गवीनं संज्ञायाम्' (अष्टा० ५।२।२३) इति निपातनाद् 'हैयङ्गवम' साधु।'

(५५५) 'गृहीत्वा भिषयन्त्यवागुरत्।'
(भागवत १०।९।११)

'भिषयन्ती' अशुद्ध है। यहाँ 'ह्रस्व' कैसे ?

'भीषयन्ती' शुद्ध है। छन्दोभङ्गभयसे ह्रस्व किया गया प्रतीत होता है।

(५५६) नेमं विरिञ्चो न भवो न श्रीरप्यङ्गसंश्रया।
प्रसादं लेभिरे गोपीयत्तत् प्राप विमुक्तिदात्।
(भागवत १०।९।२०)

इसमें एक 'नकार' सार्थक है और दो अनर्थक है।

(५५७) 'दृष्टिः सतां दर्शनेऽस्तु भवत्तनूनाम्।
(भागवत १०।१०।३८)[२४]

'दर्शने' से 'छन्दोभंग' होता है। अतः यहाँ 'छन्दोभंग' दोष है।

(५५८) कृष्णकृष्णाविन्दाक्षतातएहिस्तनं पिव।'
(भागवत १०।११।१५)

'तातएहि' अशुद्ध है।

अनुष्टुप छन्दोभङ्गके भयके कारण यह अशुद्धि है।

(५५९) '...ध्मान्तः शृङ्गाणि केचन।'
(भागवत १०।१२।७)

'ध्मान्तः' अशुद्ध है। 'धमन्तः' शुद्ध है।

(५६०) 'साकं प्लवन्तश्च पलाशिषु।'
(भागवत १०।१२।९)

'प्लवन्तः' अशुद्ध है। 'प्लवमानाः' शुद्ध है।

'प्लु' आत्मनेपद है।

(५६१) 'स्वकृतोऽकृतार्हणं पुष्पैः सुरा अप्स-
रसश्चनर्तनैः।' (भागवत १०।१२।३४)

'अकृत' अपाणिनीय प्रयोग है।

'ह्रस्वादङ्गात्' (अष्टा० ८।२।२७) के अनुसार 'अकृषत' शुद्ध है। 'कृ' धातु आत्मनेपद है।

(५६२) 'तत्कालीनं कथं भवेत्।'
(भागवत १०।१२।४१)

'तत्कालीनम्' अपाणिनीय प्रयोग है।

(५६३) अहोऽतिरम्यं पुलिनं वयस्याः।'
(भागवत १०।१३।५)

'अहोऽतिरम्यम्' में सन्धिकार्य अशुद्ध है।

(५६४) 'मुक्त्वा शिक्यानि बुभुजुः समं भग-
वता मुदा।' (भागवत १०।१३।७)

'बुभुजुः' अपाणिनीय प्रयोग है।

'भुजोऽनवने' (अष्टा० १।३।६६) के अनुसार 'बुभुजिरे' शुद्ध है। भुज् धातु है।

(५६५) 'वत्सान् सवयसानपि।'
(भागवत १०।१३।३८)

'सवयसान्' अशुद्ध है। 'सवयस.' शुद्ध है।

(५६६) 'ततोऽतिकुतुकोद्वृत्तास्ति...।'
(भागवत १०।१३।५६)

---

२४ गीताप्रेस गोरखपुर (अष्टम संस्करण। पण्डित पुस्तकालय, काशी संस्करण, मथुरासंस्करणमें 'दर्शने' पाठ है। —(लेखक)

यहाँ 'तृतीया लुक्' कैसे ?

(५६७) 'दृष्ट्वा त्वरेण...।'

(भागवत १०।१३।६२)

'त्वरेण' अशुद्ध है। लौकिक संस्कृतमें इसका प्रयोग नहीं पाया जाता है।

(५६८) 'यत्र नैसर्गदुर्वैराः सहासन् नृमृगादयः।' (भागवत १०।१३।६०)

स्वार्थेणि नैसर्गः साधु है, परन्तु अन्यत्र व्यवहृत नहीं है। यहाँ 'अप्रसिद्ध शब्द अप्रसिद्ध अर्थ' में प्रयोग है।

(५६९) 'क्षितिराक्षसध्रुगाकल्पमार्कमर्हन् भगवन् नमस्ते।' (भागवत १०।१४।४०)[२५]

'अर्हन्' के प्रयोगसे छन्दोभङ्ग होता है।

(५७०) 'यदपाङ्गमोक्षम्।'

(भागवत १०।१५।४३)

'मोक्षम्' में लिङ्ग अशुद्ध है।

'मोक्षः' पुल्लिङ्ग है।

(५७१) 'गताध्वानश्रमौ।'

(भागवत १०।१५।४५)

'गताध्वानश्रमौ' में समास अशुद्ध है।

'अध्वनो यत्खौ' (अष्टा० ५।२।१६)के अनुसार 'गताध्वन्यश्रमौ' शुद्ध है।

यद्यपि यहाँ दूसरे अर्थमें पाणिनीने लिखा है तथापि यह 'आश्रम' के विशेषणमें प्रयुक्त हो सकता है।

(५७२) 'तन्मूर्धरत्ननिकरस्पर्शातिताम्र...।' (भागवत १०।१६।२६)[२६]

'स्पर्श' प्रयोगसे छन्दोभङ्ग होता है।

(५७३) 'अनुगीयमानोन्यविशद् व्रजं गोकुलमण्डितम्।' (भागवत १०।१८।१)

'न्यविशत्' अपाणिनीय है।

'नेर्विशः (अष्टा० १।३।१७)के अनुसार 'न्यविशत' (आत्मनेपद) शुद्ध है।

(५७४) कदाचित् स्पन्दोलिकया...।

(भागवत १०।१८।१५)[२७]

'स्पन्दोलिकया' पाठ अशुद्ध है।

'सन्दोलिका शुद्ध है।

(५७५) 'क्रीडालकेषु गोपेषु तद्गावो दूरचारिणी।'

(भागवत १०।१९।१)

'दूरचारिणीः' अशुद्ध है।

'सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः' (अष्टा० ७।१।३९) के अनुसार 'दूरचारिण्यः' शुद्ध है।

(५७६) 'क्षुद्रनद्योऽनुशुष्यतीः।'

(भागवत १०।२०।१०)

'अनुशुष्यतीः' अपाणिनीय प्रयोग है।

'अनुशुष्यन्त्यः' साधु शब्द है।

(५७७) 'यथाऽऽयुरन्वहं क्षय्यं नरा मूढाः कुटुम्बिनः।' (भागवत १०।२०।३७)

'क्षय्यजय्यौ शक्यार्थे' (अष्टा० ६।१।७८)[२८] के अनुसार 'क्षय्यम्' अपाणिनीय प्रयोग है।

(५७८) 'देहाभिमानजंबोधो मुकुन्दो व्रजयोषिताम्।' (भागवत १०।२०।४२)

'बोधः' अशुद्ध है। 'बोधम्' शुद्ध है जो 'देहाभिमानजम्' का गुण प्रकट करता है।

(५७९) 'अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदामः।'

(भागवत १०।२१।७)

'विदाम' अशुद्ध है। 'विद्मः' शुद्ध है। विद्ज्ञाने धातुसे बनता है।

(५८०) 'नटवरौक्व च गायमानौ।'

(भागवत १०।२१।८)

'गायमानौ' अशुद्ध है। 'गायन्तौ' शुद्ध है क्योंकि गै धातु परस्मैपदी है।

(५८१) देहि वासांसि धर्मज्ञ नो चेद् राज्ञे ब्रुवामहे।' (भागवत १०।२२।१५)

'ब्रुवामहे' अशुद्ध है। 'ब्रूमहे' (आत्मनेपद) शुद्ध है।

(५८२) 'साक्षात्कृतं नेमुरवद्यमृग् यतः।'

(भागवत १०।२२।२०)

---

२५ गीताप्रेस, गोरखपुर, पण्डितपुस्तकालय, काशी संस्करण, मथुरा संस्करणमें 'अर्हन्' पाठ है। —(लेखक)

२६ गीताप्रेस गोरखपुर, पण्डित पुस्तकालय, काशी व मथुरा संस्करणमें 'स्पर्श' ही पाठ है। —(लेखक)

२७ 'स्पन्दोलिका' गीताप्रेस, गोरखपुर, पण्डित-पुस्तकालय, काशी तथा मथुरा संस्करणमें यह पाठ है। —(लेखक)

२८ पं० ब्रह्मदत्तजिज्ञासु द्वारा संशोधित 'अष्टाध्यायी सूत्र पाठ' द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ५७ —(लेखक)

'अवद्यमुक्' अपाणिनीय प्रयोग है। अन्यत्र इसका प्रयोग अप्राप्य है।

'अवद्यमुट्' साधु शब्द है।

(५८३) 'चेरुरार्याचिनंसतीः।'

(भागवत १०।२२।२७)

'सती,' अशुद्ध है। 'सत्यः' शुद्ध है।

(५८४) 'सहन्तो वारयन्ति नः।'

(भागवत १०।२२।३२)

'सहन्तः' अशुद्ध है। 'सहमानाः' शुद्ध है।

(५८५) 'अहैतुक्यव्यवहितां भक्तिमात्मप्रिये यथा।' (भागवत १०।२३।२६)

'अहैतुक्यव्यवहितां' में 'कर्मधारय समास' अपाणिनीय प्रयोग है।

'पुंवत्कर्मधारयजातीयदेशीयेषु' (अष्टाध्यायी ६।३।४२) के अनुसार 'अहैतुकाव्यवहिताम्' शुद्ध है।

(५८६) 'अहो वयं धन्यतमा येषां नस्तादृशीः स्त्रियः।' (भागवत १०।२३।५०)[२९]

'तादृशीः' अशुद्ध है। 'तादृश्यः' शुद्ध है।

(५८७) 'अस्त्यस्वपरदृष्टीनाममित्रोदास्त-विद्विषाम्!' (भागवत १०।२४।५)

'उदास्त' अशुद्ध है। 'उदासित' शुद्ध है क्योंकि आस् सेट् है।

(५८८) 'सुराणामीशविस्मयः।'

(भागवत १०।२५।१७)

'विस्मयः' अशुद्ध है। 'स्मयः' शुद्ध है।

'विस्मय' का अर्थ 'विचित्र' है। इससे 'अभिमान' अर्थ प्रकट नहीं होता है जैसा टीकाकारोंने किया है।

लौकिक संस्कृतमें ऐसा अर्थ नहीं है जैसे 'स्मयो मदः' (अमरकोष १।६)से 'स्मयः' प्रयोग उचित है।

(५८९) 'क्वचिद् हैयङ्गवस्तन्यै मात्रा बद्ध उलूखले।' (भागवत १०।२६।७)

'हैयङ्गव' पाणिनीय सूत्र 'हैयंगवीनं संज्ञायाम्' (अष्टा० ५।२।२३) के अनुसार असाधु है। वेदोंमें भी अप्राप्य है।

(५९०) 'वज्राश्मवर्षानिलैः।'

(भागवत १०।२६।२५)[३०]

'वर्ष' अशुद्ध है। 'पुरुष' शुद्ध है। छन्दोभगके कारण व्याकरणका गला घोंटा गया है।

(५९१) 'गिरयोऽबिभ्रदुन्मर्णान्।'

(भागवत १०।२७।२६)

'अबिभ्रत्' अशुद्ध है। 'अबिभरुः' शुद्ध है।

डुभृञ् धारणपोषणयोः (जुहोत्यादि)।

(५९२) 'तान् पाययत दुह्यत।'

(भागवत १० २९।२२)

'दुह्यत' अशुद्ध है। 'दुग्ध' शुद्ध है। दुह प्रपूरणे लोट् त। यह अदादिगण है। भागवतकारने दुहको दिवादिमें प्रयोग किया है जो अशुद्ध है।

(५९३) 'कुर्वन्तिहि त्वयि रतिं कुशलाः स्व आत्मन्...।'

(भागवत १०।२९।३३ & १०।३८।११)

'आत्मन्' अशुद्ध है।

'सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः' (अष्टा० ७।१।३९)के अनुसार 'आत्मनि' शुद्ध है।

(५९४) 'किं ते कृतं क्षिति तपोवत।'

(भागवत १०।३०।१०)

'क्षिति' अशुद्ध है। 'क्षिते' शुद्ध है।

(५९५) कस्याश्चित् पूतनायन्त्याः कृष्णायन्त्य-पिबत् स्तनम्।
लोकायित्वा रुदत्यन्या पदाहञ्छकटा-यतीम्।

(भागवत १०।३०।१५)

'पूतनायन्त्याः', कृष्णायन्ती, 'शकटायतीम्' अपाणिनीय प्रयोग है।

---

२९ मथुरा संस्करण, बालबोधिनी भा. टी., द्वि. खं, द्वि सं. पृष्ठ २४७ में श्लोक सं ५० है, परन्तु गीताप्रेस, गोरखपुर, अष्टम संस्करण, (गुटकामूल) पृष्ठ ५२७ और पण्डित पुस्तकालय, काशी संस्करण, सामयिकी भा. टी. पृष्ठ ९२ में श्लोक संख्या ४९ में है। —(लेखक)

३० उक्त पाठ 'गीताप्रेस, गोरखपुर संस्करण, पृष्ठ ५३१ में है। पण्डित पुस्तकालय काशी तथा मथुरा संस्करणमें 'वज्राश्मवर्षानिलैः' पाठ है जो अशुद्ध है। —(लेखक)

'कर्त्तुः क्यङ् सलोपश्च' (अष्टाध्यायी ३।१।११) के अनुसार 'पूतनायमानाया., कृष्णायमाना व शकटायमानाम्' शुद्ध है।

'क्यङ्' आत्मनेपद है।

(५९६) 'कृष्णरामायिते द्वे तु गोपायन्त्यश्च काश्चन।
वत्सायतीं हन्ति चान्या तत्रैका तु वकायतीम्॥'
(भागवत १०।३०।१७)

'कृष्णरामायिते, गोपायन्त्यः, वत्सायतीम्, बकायतीम्। सब अशुद्ध हैं।

धातुपाठमें रिगि भ्वादि है चुरादि नहीं है।

(५९७) 'आहूय दूरगा यद्वत् कृष्णस्तमनुवर्त-तीम्।' (भागवत १०।३०।१८)[31]

'अनुवर्ततीम्' अशुद्ध है। 'अनुवर्तमानाम्' शुद्ध है।

(५९८) 'यतन्त्युन्निदधेऽम्बरम्।'
(भागवत १०।३०।२०)

'यतन्ती' अशुद्ध है। 'यतमाना' शुद्ध है, क्योंकि यत् आत्मनेपद है।

(५९९) 'एवंकृष्णं पृच्छमाना वृन्दावनलता-स्तरून्।' (भागवत १०।३०।२४)

'पृच्छमानाः' अशुद्ध है। 'पृच्छन्त्यः' शुद्ध है।

(६००) 'ततोनिववृतुः स्त्रियः।'
(भागवत १०।३०।४२)[32]

'निववृतुः' अशुद्ध है। 'निववृतिरे' शुद्ध है, धातु वृत् आत्मनेपदी है।

(६०१) ते जड उदीक्षतां पक्ष्मकृद् दृशाम्।'
(भागवत १०।३१।१५)

'उदीक्षताम्' अशुद्ध है।

'उदीक्षमाणानाम्' शुद्ध है, क्योंकि धातु ईक्ष आत्मने-पदी है।

(६०२) 'प्रलपन्त्यश्च चित्रधा।'
(भागवत १०।३२।१)

'चित्रधा' अपाणिनीय प्रयोग है।

यह लौकिक संस्कृत व अन्यत्र कहीं भी नहीं पाया जाता है।

(६०३) 'प्रतीवैक्षत् कटाक्षेपैः संदष्टदशनच्छदा।'
(भागवत १०।३२।६)

'ऐक्षत्' अशुद्ध है। 'ऐक्षत' शुद्ध है। ईक्ष (आत्मनेपद) लङ्, एकवचन।

(६०४) 'तं काचिन्नेत्ररन्ध्रेण हृदिकृत्य निमील्य च।' (भागवत १०।३२।८)

'हृदिकृत्य' अशुद्ध है।

'हृदिकृत्वा' शुद्ध है, क्योंकि यहाँ गति समास हृदिके साथ नहीं हो सकता है।

'साक्षात्प्रभृतीनि च' (अष्टा० १।४।७४)[33] के अनुसार हृदिकृत्वा' ही साधु है।

(६०५) 'मया परोक्षं भजता तिरोहितं।'
(भागवत १०।३२।२१)

'तिरोहितम्' अशुद्ध है।

धातु तिरोधा अकर्मक है।

'गत्यर्थाकर्मकश्लिषशीङ्स्थासवसजनरुहजीर्यतिभ्यश्च।' (अष्टा० ३।४।७२)[34] के अनुसार 'अहं भजन् तिरोहितः' (कर्तरिक्तः) होना चाहिए।

(६०६) 'उच्चैर्जगुर्नृत्यमाना रक्तकण्ठयो रति प्रियाः।' (भागवत १०।३३।९)

'नृत्यमानाः' अशुद्ध है।

'नृत्यन्त्यः' शुद्ध है, क्योंकि नृती धातु विक्षेपे परस्मै-पदी है।

---

३१ गीताप्रेस, गोरखपुर, अष्टमसंस्करण, पृष्ठ ५३७में उक्त पाठ सही है; परन्तु पण्डित पुस्तकालय, काशी, संस्करण, सामयिकी भा. टी. पृष्ठ ११० और मथुरा संस्करण, बालबोधिनी भा. टी; द्वि० खण्ड द्वि. सं., पृष्ठ २६५ में 'कृष्णास्तमनुकुर्वतीम्' पाठ अशुद्ध मुद्रित है। —(लेखक)

३२ मथुरा संस्करण, बालबोधिनी भा. टी., पृष्ठ २६७ में श्लोक संख्या४२ है जब कि गीताप्रेस, गोरखपुर, व पण्डित पुस्तकालय, काशी संस्करणमें श्लोक संख्या ४३ है। —(लेखक)

३३ पं. ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु द्वारा संशोधित 'अष्टाध्यायी सूत्र पाठः' द्वितीयसंस्करण, पृष्ठ ८ में सूत्र सं. ७३ है। —(लेखक)

३४ वही, पृष्ठ २८

(६०७) 'उच्छिन्ये पूजिता तेन प्रीयता साधु साध्विति।' (भागवत १०।३३।१०)
'प्रीयता' अशुद्ध है।
प्रीङ् विबाविषण, आत्मनेपदसे 'प्रीयमाणेन' शुद्ध है।

(६०८) 'यावतीर्गोपयोषितः।'
(भागवत १०।३३।२०)
'यावती:' अपाणिनीय प्रयोग है।
'पूर्वसवर्णदीर्घः' पाणिनीयसूत्रसे 'यावत्य:' साधु है।

(६०९) '...मूर्छितानविदन् नृप।'
(भागवत १०।३४।२४)
'अविदन्' अपाणिनीय प्रयोग है।

(६१०) 'स्पृह्यतीर्वयमिवाबहुपुण्याः।'
(भागवत १०।३५।७)
'स्पृह्यतीः' अशुद्ध है। 'स्पृह्यन्त्यः' शुद्ध है।

(६११) 'अलिकुलैरलघुगीतमभीष्टमाद्रियन् यर्हि सन्धितवेणु।'
(भागवत १०।३५।१०)
'आद्रियन्' अशुद्ध है।
'आद्रियमाणः' शुद्ध है। धातु दृङ् आदरे (आत्मनेपदम्)।

(६१२) '...उपरम्भति विश्वम्।'
(भागवत १०।३५।१२)
'उपरम्भति' अपाणिनीय प्रयोग है।

(६१३) '...कश्मलेन कबरं वसनं वा।'
(भागवत १०।३५।१७)
'कबर:' अपाणिनीय प्रयोग है।
'कबरी' (स्त्रीलिङ्ग) शुद्ध है।

(६१४) 'कृष्णमन्वसत कृष्णगृहिण्यः।'
(भागवत १०।३५।१९)
'अन्वसत' अशुद्ध है। 'अन्वासत' शुद्ध है।

(६१५) 'कृष्णलीला जुगायतीः।'
(भागवत १०।३५।२६)
'गायतीः' अशुद्ध है। 'गायन्त्यः' शुद्ध है।

(६१६) 'निर्विशन्तिघना यस्य ककुद्य चल शङ्कया।' (भागवत १०।३६।४)
यहाँ 'निविशन्ति' पाठ है जो अपाणिनीय प्रयोग है।
'नेर्विशः' (अष्टा० १।३।१७) के अनुसार निविशन्ते साधु है।
गीताप्रेस, गोरखपुर, काशी व मथुरा संस्करणमें 'निर्विशन्ति' पाठ है।

व्याकरणसे यह शब्द शुद्ध है, परन्तु इसका अर्थ 'प्रवेश' नहीं होगा, वरन् 'आनन्द उठाना' होगा, इसलिए यहाँ 'निर्विशन्ति' असंगत है।

(६१७) 'वृषासुरमुपाह्वयत्।'
(भागवत १०।३६।७)
'उपाह्वयत्' अपाणिनीय है।
'निसमुपविभ्योह्वः' व 'स्पर्धायामाङः' (अष्टा० १।३।३०-३१) के अनुसार 'उपाह्वयत' होना चाहिए।

(६१८) 'प्रहस्य नन्दं पितरं राज्ञाऽऽदिष्टं विजज्ञतुः।' (भागवत १०।३९।१०)
'विजज्ञतुः' अशुद्ध है। 'विज्ञपयामासतुः' शुद्ध है।

(६१९) 'तांश्चाकृतार्थान् वियुनङ्क्ष्यपार्थकं...'
(भागवत १०।३९।१९)
'वियनङ्क्षि' अशुद्ध है। 'वियुङ्क्षे' शुद्ध है। परस्मैपदीमें प्रयोग उचित नहीं है।

(६२०) 'अद्य ध्रुवंतत्रदृशो भविष्यते... महोत्सवः।' (भागवत १०।३९।२५)
टीकाकार पं. श्रीधरजी 'भविष्यते' का स्पष्टीकरण करते हैं कि—
'प्राप्स्यति (दृश इति द्वितीया, तेषां दृशो नेत्राणि महोत्सवो भविष्यते प्राप्स्यति, प्राप्त्यर्थस्य भवतेरात्मनेपदित्वात्) जो अनुचित है।
धातु 'भू' आत्मनेपदमें कभी नहीं पाया जाता है और धातुपाठमें भू सत्तायाम् है और अकर्मक है।
छन्दोभंगके भयसे 'भविष्यते' का प्रयोग भागवतकारने किया है।

(६२१) 'सान्त्वयामाससप्रेमैरायास्य।'
(भागवत १०।३९।३५)
'सप्रेमैः' अशुद्ध है। 'सप्रेमभिः' शुद्ध है।

(६२२) 'ता निराशा निववृतुर्गोविन्दविनिवर्तने।' (भागवत १०।३९।३७)
'निववृतुः' अशुद्ध है। 'निववृतिरे' शुद्ध है।

(६२३) 'नमो भृगूणां पतये...'
(भागवत १०।४०।२०)
'पतये,' चतुर्थीकारक अपाणिनीय है।
'पत्ये' शुद्ध है, क्योंकि कोई समास नहीं है

(६२४) 'वसुदेवसुतौ वीक्ष्य प्रीता दृष्टिं न चाददुः।' (भागवत १०।४१।७)

'आददुः' अपाणिनीय प्रयोग है।

'आङो दोऽनास्यविहरणे' (अष्टा० १।३।२०) के अनुसार 'आददिरे' शुद्ध है।

(६२५) 'सहाग्रजः सगोपालैः।' (भागवत १०।४१।१२)

'सगोपालैः' बहुव्रीहि समास है अतः 'सगोपालः' होना चाहिए।

(६२६) 'शुशुभातेऽनुरञ्जितौ।' (भागवत १०।४२।५)

यहाँ सन्धिकार्य अशुद्ध है।

(६२७) 'हृदयेन विदूयता।' (भागवत १०।४२।३५)

'विदूयता' अशुद्ध है। 'विदूयमानेन' शुद्ध है, क्योंकि दूङ् परितापे (दिवादि) आत्मनेपदी है।

(६२८) 'दन्ताभ्यां सोऽहनत् क्षितिम्।' (भागवत १०।४३।११)

'अहनत्' अशुद्ध है। 'अहन्' शुद्ध है।

(६२९) 'अन्योन्यं प्रत्यरुन्धताम्।' (भागवत १०।४४।४)

'प्रत्यरुन्धताम्' अशुद्ध है। 'प्रत्यरुधताम्' अथवा 'प्रत्यरुन्द्धाम्' शुद्ध है।

छन्दोभंग भयके कारण है।

(६३०) 'शयानान् वीरशय्यायां पतीनालिङ्ग्य शोचतीः।' (भागवत १०।४४।४४)

'शोचतीः' अशुद्ध है। 'शोचन्त्यः' शुद्ध है।

(६३१) प्रश्रयावनतः प्रीणन्नम्ब तातेति सादरम्। (भागवत १०।४५।२)

'प्रीणन्' अशुद्ध है। 'प्रीणयन्' शुद्ध है, क्योंकि प्रीञ् तर्पणे (चुरादि) है।

(६३२) यो पुष्णीतां स्वपुत्रवत्। (भागवत १०।४५।२२)

'पुष्णीताम्' अशुद्ध है। 'पुष्णीयाताम्' (विधिलिङ्) शुद्ध है।

(६३३) एवं सान्त्वय्य भगवान् नन्दं सव्रजमच्युतः। (भागवत १०।४५।२४)

'सान्त्वय्य' अशुद्ध है। 'सान्त्वयित्वा' शुद्ध है। सान्त्व सामप्रयोगे, (चुरादि) है।

(६३४) तेभ्योऽदाद् दक्षिणागावो रुक्ममाला। (भागवत १०।४५।२७ & १०।८६।१८)

'गावः' अशुद्ध है। 'गाः' शुद्ध है।

(६३५) मृगयुरिव कपीन्द्रं विव्यधे लुब्धधर्मा। (भागवत १०।४७।१७)

'विव्यधे' अशुद्ध है। 'विव्याध' (व्यध) धातुसे शुद्ध है

(६३६) भुजमगुरुसुगन्धं मूर्ध्न्यधास्यत् कदा नु। (भागवत १०।४७।२१)

'सुगन्धम्' अपाणिनीय प्रयोग है।

टीकाकार पं० श्रीधर कहते हैं:– 'अगरुवत् सुगन्धम्' जो अशुद्ध है।

'गन्धस्येदुत्पूतिसुसुरभिभ्यः' (अष्टा० ५।४।१३५) और वार्तिक 'गन्धस्येत्वे तदेकान्त ग्रहणम्' के अनुसार 'सुगन्धिम्' साधु है

(६३७) हित्वावृणीत यूयं यत्। (भागवत १०।४७।२६)

'अवृणीत' अशुद्ध है। 'अवृणीध्वम्' शुद्ध है। वृञ् वरणे क्र्यादि लङ् में।

(६३८) अनुभाजितः। (भागवत १०।४७।४१)

धातु भज उपसर्ग 'अनु' के साथ लौकिक साहित्यमें प्रचलित नहीं है। अतः अनु + भाज् अव्यवहारिक है।

(६३९) 'यास्यन्नारुरुहे रथम्।' (भागवत १०।४७।६४)

'रुहे' को आत्मनेपदमें प्रयोग भूल है, क्योंकि रुहं (भ्वादि) परस्मैपदी है।

(६४०) 'वाचोऽभिधायिनीर्नाम्नां।' (भागवत १०।४७।६६)

'अभिधायिनीः' अशुद्ध है। 'अभिधायिन्यः' शुद्ध है।

(६४१) 'सुरेतरांशराज्ञामसुख्य।' (भागवत १०।४८।२४)

'राज्ञाम्' अपाणिनीय प्रयोग है।

'राजाहस्सखिभ्यष्टच्' (अष्टा० ५।४।९१) के अनुसार 'राजानाम्' पाणिनीय है।

(६४२) 'आनीताः स्वपुरं राज्ञा वसन्त इति शुश्रुम।' (भागवत १०।४८।३३)

'वसन्ते' अशुद्ध है। 'वसन्ति' (परस्मैपद) शुद्ध है।

२३४ उशना यत् परावत उक्ष्णो रन्ध्रमयातन । द्यौर्न चक्रदद् भिया ॥ २६ ॥
२३५ आ नो मखस्य दावनेऽश्वैर्हिरण्यपाणिभिः । देवास उप गन्तन ॥ २७ ॥
२३६ यदेषां पृषती रथे प्रष्टिर्वहति रोहितः । यान्ति शुभ्रा रिणन्नपः ॥ २८ ॥
२३७ सुषोमे शर्यणावत्यार्जीके पस्त्यावति । ययुर्निचक्रया नरः ॥ २९ ॥
२३८ कदा गच्छाथ मरुत इत्था विप्रं हवमानम् । मार्डीकेभिर्नाधमानम् ॥ ३० ॥

अर्थ— [२३४] तुम हित करनेकी (उशनाः) इच्छा करनेवाले (यत्) जब (परावतः) दूरके प्रदेशोंसे (उक्ष्णः रन्ध्रं) मेघोंमें (अयातन) आते हो, तब (द्यौः न) द्युलोकके समानही अन्य सभी लोग (भिया चक्रदत्) डरके मारे विकंपित हो उठते हैं ॥ २६ ॥

[२३५] हे (देवासः) देवतागण ! तुम (नः मखस्य दावने) हमारे यज्ञकी दान देनेके समय (हिरण्य-पाणिभिः) हाथों एवं पैरोंमें सुवर्णके अलंकार पहने हुए (अश्वैः) घोडोंके साथ (उप आ गन्तन) हमारे समीप आओ ॥ २७ ॥

[२३६] (यत् एषां रथे) जब इनके रथमें (पृषतीः) धब्बे धारण करनेवाली हरिणियाँ लगाई जाती हैं, तब (प्रष्टिः) धुराको कंधेपर धारण करनेवाला (रोहितः) एक लाल रंगका हिरन भी आगे (वहति) खींचने लगता है, उस समय अति वेगके कारण (अपः रिणन्) पसीनेका जल बहने लगता है और (शुभ्राः यान्ति) वे गौरवर्णके वीर आगे बढने लगते हैं ॥ २८ ॥

[२३७] (सु-सोमे) उत्कृष्ट सोमवल्लियोंसे युक्त (आर्जीके) ऋजीक नामक भूविभागमें (शर्यणावति) शर्यणावत् नामक झीलके समीप विद्यमान (पस्त्या-वति) गृहमें (नरः) नेतृत्वगुणयुक्त वीर (निचक्रया) पहियोंसे रहित रथमें बैठकर (ययुः) चले जाते हैं ॥ २९ ॥

[२३८] हे (मरुतः) वीर मरुतो ! (इत्था) इस ढंगसे (हवमानं) प्रार्थना करते हुए, पुकारते हुये तथा (नाधमानं) सहायताकी लालसा रखनेवाले (विप्रं) ज्ञानी पुरुषके समीप भला तुम (कदा) कब (मार्डीकेभिः) सुखवर्धक धनवैभवोंके साथ (गच्छाथ) जानेवाले हो ? ॥ ३० ॥

भावार्थ— सबका कल्याण करनेकी इच्छासे जब मरुत् वर्षाका प्रारम्भ करनेके लिये मेघोंमें संचार करने लगते हैं, उस समय आकाशमें भीषण दहाड शुरू होती है, जिससे हरएकके दिलमें भयका संचार होता है ॥ २६ ॥

इन वीरोंके घोडे सुनहले आभूषणोंसे विभूषित होते हैं। ऐसे अश्वोंपर बैठ इस हमारे यज्ञमें वीर मरुत् आ उप-स्थित हों ॥ २७ ॥

वीर मरुतोंका रंग गोरा है और उनके रथमें धब्बेवाली हरिणियाँ लगी रहती हैं। उनके आगे एक लाल रंगका हरिण जोता जाता है। इस भाँति उनका रथ सज्ज हो जाए, तो अति वेगसे वह आगे बढने लगता है, जिससे उसे खींचने-वाले पसीनेसे तर हो जाते हैं। ऐसे रथोंपर बैठकर मरुत् जाने लगते हैं ॥ २८ ॥

ऋजीक देशके एक सूबेको ' आर्जीक ' कहते हैं। ' शर्यणावत् ' शर्यणा नदी या बडे झीलके तटपर अवस्थित भूविभाग। ' पस्त्यावत् ' जहाँ रहनेके लिए मकान हों, उस जगह ये शूर मरुत् चक्ररहित रथमें बैठकर जाते हैं ॥ २९ ॥

प्रार्थना करनेवाले तथा सहायता पानेके सुतरां लालायित ज्ञानी लोगोंको ये वीर सहायता पहुंचाते हैं और अपने साथ सुखको वृद्धिंगत करनेवाले धनोंको लेकर गमन करते हैं ॥ ३० ॥

२३९ कद्ध नूनं कधप्रियो यदिन्द्रमजहातन । को वः सखित्व ओहते ॥ ३१ ॥
२४० सहो षु णो वज्रहस्तैः कण्वासो अग्निं मरुद्भिः । स्तुषे हिरण्यवाशीभिः ॥ ३२ ॥
२४१ ओ षु वृष्णः प्रयज्यूना नव्यसे सुविताय । ववृत्यां चित्रवाजान् ॥ ३३ ॥
२४२ गिरयश्चिन्नि जिहते पर्शानासो मन्यमानाः । पर्वताश्चिन्नि येमिरे ॥ ३४ ॥
२४३ आक्ष्णयावानो वहन्त्यन्तरिक्षेण पततः । धातारः स्तुवते वयः ॥ ३५ ॥
२४४ अग्निर्हि जानि पूर्व्यश्छन्दो न सूरो अर्चिषा । ते भानुभिर्वि तस्थिरे ॥ ३६ ॥

अर्थ— [२३९] हे (कध-प्रियः) कथाप्रिय वीर मरुतो ! (इन्द्रं) इन्द्रको (नूनं) सचमुच (अजहातन) तुम छोड चुके हो, (यत् कत् ह) भला कभी ऐसा भी हुआ होगा ? (कभी नहीं) तो फिर (वः सखित्वे) तुम्हारी मित्रता पानेके लिए (कः ओहते) कौन भला दूसरा लालायित हो उठा है ? ॥ ३१ ॥

[२४०] हे (नः कण्वासः) हमारे कण्वो ! (वज्र-हस्तैः हिरण्य-वाशीभिः) हाथमें वज्र धारण करनेवाले तथा सुवर्णरंजित कुल्हाडियोंका उपयोग करनेवाले (मरुद्भिः सहो) मरुतोंके साथ विद्यमान (अग्निं) अग्निकी (सु स्तुषे) भली भाँति सराहना करो ॥ ३२ ॥

[२४१] (वृष्णः) वीर्यवान् (प्र-यज्यून्) अत्यंत पूजनीय तथा (चित्र-वाजान्) आश्चर्यजनक बलसे युक्त ऐसे तुम्हें (नव्यसे सुविताय) नये धनकी प्राप्तिके लिए (सु आ ववृत्यां उ) मेरे निकट आनेके लिए आकर्षित करता हूँ ॥ ३३ ॥

[२४२] (मन्यमानाः पर्शानासः) अभिमान करनेवाले शिखरोंके साथ (गिरयः चित्) बडे पर्वत भी इन वीरोंके आगे (नि जिहते) अपने स्थानसे विचलित होते हैं और (पर्वताः चित्) पहाड भी (नि येमिरे) नियमपूर्वक रहते हैं ॥ ३४ ॥

[२४३] (अक्ष्ण-यावानः) नेत्रोंकी निगाहकी नाईं अति वेगसे दौडनेवाले और (अन्तरिक्षेण पततः) आकाशमेंसे उडनेवाले साधन (स्तुवते) उपासकके लिए (वयः धातारः) अन्नकी समृद्धि करनेवाले इन वीरोंको (आ वहन्ति) ढोते हैं ॥ ३५ ॥

[२४४] (अग्निः हि) अग्नि सचमुच (अर्चिषा) तेजसे (छन्दः) ढका हुआ है और (सूरः न) सूर्यके समान वह (पूर्व्यः जानि) पहले प्रकट हुआ तथा पश्चात् (ते भानुभिः) वे वीर मरुत अपने तेजोंसे (वि तस्थिरे) स्थिर हो गये ॥ ३६ ॥

भावार्थ— ये वीर बहुतही कथाप्रिय हैं, अर्थात् ऐतिहासिक वीरगाथाओंको सुनना इन्हें अत्यधिक प्रिय प्रतीत होता है। इन्द्रको इन्होंने कभी छोडा नहीं। एक वार यदि वे वीर किसीको अपना लें, तो उसे ये कभी त्यागने या छोडनेके लिए तैयार नहीं होते हैं। वीरोंको इसी भाँति बर्ताव रखना चाहिए। जो सत्यधर्मके अनुसार कार्य करने लगता है, वह शीघ्र ही मरुतोंका प्रेमपात्र बनता है ॥ ३१ ॥

ये वीर वज्र एवं कुठारको काममें लाते हैं और अग्निके उपासक तथा सहायक हैं ॥ ३२ ॥

ये वीर अतीव वीर्यवान्, पूजनीय तथा भाँति भाँतिकी विलक्षण शक्तियोंसे युक्त हैं। वे हमारे निकट आ जायँ और हमें नया धन प्रदान करें ॥ ३३ ॥

इन वीरोंके आगे बडे बडे शिखरोंवाले पर्वत एवं छोटेमोटे पहाड भी मानों झुक जाते हैं। इन वीरोंका पराक्रम इतना महान् है और इनमें इतना प्रचंड पुरुषार्थ समाया हुआ है कि, बडे बडे पर्वतोंको लाँघना इनके लिए कोई असंभव तथा दुरूह बात नहीं है, क्योंकि ये बडी सुगमतासे सभी कठिनाइयोंको हटा देते हैं ॥ ३४ ॥

इन वीरोंके वाहन बडे वेगवान् तथा शीघ्रगामी होते हैं और उन पर चढकर ये आकाशपथमेंसे विहार करते हैं, तथा भक्तोंको पर्याप्त अन्न देते हैं ॥ ३५ ॥

सूर्यके समानही अग्नि अपने तेजसे प्रकाशमान होता है और यज्ञमें पहले पहले व्यक्त हो जाता है। पश्चात् वीर मरुतोंका समुदाय अपने अपने स्थान पर आ बैठ जाता है। (अध्यात्म) व्यक्तिके शरीरमें भी प्रथम उष्णता संचारित हुआ करती है और पश्चात् प्राणोंका आगमन होता है। ध्यानमें रहे कि, व्यक्तिमें प्राण मरुत् ही हैं ॥ ३६ ॥

[८]

(ऋषिः- सध्वंसः काण्वः । देवता- अश्विनौ । छन्दः- अनुष्टुप् ।)

२४५ आ नो विश्वाभिरूतिभि-रश्विना गच्छतं युवम् ।
दस्रा हिरण्यवर्तनी पिबतं सोम्यं मधु ॥ १ ॥
२४६ आ नूनं यातमश्विना रथेन सूर्यत्वचा ।
भुजी हिरण्यपेशसा कवी गम्भीरचेतसा ॥ २ ॥
२४७ आ यातं नहुषस्पर्या ऽऽन्तरिक्षात् सुवृक्तिभिः ।
पिबाथो अश्विना मधु कण्वानां सवने सुतम् ॥ ३ ॥
२४८ आ नो यातं दिवस्पर्या ऽन्तरिक्षादधप्रिया ।
पुत्रः कण्वस्य वामिह सुषाव सोम्यं मधु ॥ ४ ॥

---

[८]

अर्थ— [२४५] हे (अश्विना) अश्विदेवो ! हे (दस्रा) शत्रुविध्वंसक ! हे (हिरण्यवर्तनी) सुवर्णमय रथवाले ! (युवं) तुम दोनों (विश्वाभिः ऊतिभिः) सभी संरक्षण आयोजनाओंके साथ (नः आगच्छतं) हमारे समीप आओ और (सोम्यं मधु पिबतं) सोमरसरूपी मीठे रसका पान करो ॥ १ ॥

[२४६] हे (भुजी) भोगयोग्य साधनोंसे पूर्ण ! हे (हिरण्यपेशसा) सुवर्णके बने अलंकार धारण करनेहारे ! हे (कवी गंभीरचेतसा) क्रांतदर्शी विशाल मनवाले अश्विदेवों ! (नूनं) अब सचमुच (सूर्यत्वचा रथेन आ यातं) सूर्यसदृश कांतिवाले रथपर चढकर इधर पधारो ॥ २ ॥

[२४७] हे (अश्विना) अश्विदेवों ! (सुवृक्तिभिः) सुन्दर स्तुतियोंके कारण आकर्षित होकर (अन्तरिक्षात् नहुषः परि) अन्तरिक्षमेंसे या मानवी लोकमेंसे भी (आ यातं) आओ और कण्वोंके (सवने सुतं) यज्ञमें निष्पादित (मधु पिबाथः) मीठे सोमरसको पी जाओ ॥ ३ ॥

[२४८] (दिवः परि) द्युलोकसे तथा (आ अन्तरिक्षात्) अन्तरिक्षसे भी (नः आ यातं) हमारे समीप आओ; हे (अधप्रिया) अधोभाग अर्थात् भूलोकको चाहनेवालो ! (कण्वस्य पुत्रः) कण्वके पुत्रने (इह) इस जगह (वां) तुम्हारे लिए (सोम्यं मधु सुषाव) सोमसे युक्त शहदका सृजन किया है ॥ ४ ॥

भावार्थ— हे अश्विदेवो ! तुम अपने सुवर्णमय रथपर चढकर तथा संरक्षणके अपने उत्तम साधनोंसे युक्त होकर हमारे पास आओ और मीठे सोमरसका पान करो ॥ १ ॥

ये दोनों देव सभी तरहके उपभोगके साधनोंसे युक्त और ज्ञानी तथा उदार मनवाले हैं। वे इन भोगसाधनोंका वितरण करनेके लिए सर्वत्र संचार करते हैं ॥ २ ॥

हे देवो ! तुम चाहे अन्तरिक्षमें होओ या उससे भी परे और किसीलोकमें, वहींसे तुम हमारी इन प्रार्थनाओंको सुनो और यहां आकर मीठे सोमरसोंको पीओ ॥ ३ ॥

हे देवो ! तुम द्युलोक या अन्तरिक्षलोकमें जहांपर भी हो, वहींसे हमारे पास आओ और मीठे सोमरसोंका पान करो ॥ ४ ॥

×

२४९ आ नो यातमुपश्रुत्यश्विना सोमपीतये ।
स्वाहा स्तोमस्य वर्धना प्र कवी धीतिभिर्नरा ॥ ५ ॥
२५० यच्चिद्धि वां पुर ऋषयो जुहूरेऽवसे नरा ।
आ यातमश्विना गतमुपेमां सुष्टुतिं मम ॥ ६ ॥
२५१ दिवश्चिद् रोचनादध्या नो गन्तं स्वर्विदा ।
धीभिर्वत्सप्रचेतसा स्तोमेभिर्हवनश्रुता ॥ ७ ॥
२५२ किमन्ये पर्यासतेऽस्मत् स्तोमेभिरश्विना ।
पुत्रः कण्वस्य वामृषिर्गीर्भिर्वत्सो अवीवृधत् ॥ ८ ॥
२५३ आ वां विप्र इहावसेऽह्वत् स्तोमेभिरश्विना ।
अरिप्रा वृत्रहन्तमा ता नो भूतं मयोभुवा ॥ ९ ॥

अर्थ— [२४९] हे (नरा कवी) नेता और क्रान्तदर्शी अश्विदेवो ! तुम (स्वाहा स्तोमस्य प्र वर्धना) सर्वस्व त्यागद्वारा स्तोत्रके बढानेहारे हो, इसलिए (नः उपश्रुति) हमारे यज्ञमें (धीतिभिः सोम-पीतये आ यातं) कर्मोंके साथ किये जानेवाले सोमपानके लिए आओ ॥ ५ ॥

[२५०] हे (नरा) नेता अश्विदेवो ! (पुरा ऋषयः) पहले ऋषियोंने (यत् चित्) जब कभी (अवसे) रक्षाके लिए (वां हि जुहूरे) तुम्हेंही पुकारा था तब तुमने उसे सुन लिया था, इसलिए अब भी (आ यातं) आओ; (मम इमां सुस्तुतिं) मेरी इस अच्छी स्तुतिको सुनकर (उप आ गतं) समीप आजाओ ॥ ६ ॥

[२५१] (स्वः-विदा) हे स्वकीय शक्तिको जाननेवाले ! (हवनश्रुता) हमारी पुकारको सुननेवालो ! (वत्स-प्रचेतसा) पुत्रपर करनेयोग्य प्रेम करनेवाले ! (स्तोमेभिः धीभिः) स्तोत्रोंसे और कर्मोंसे (रोचनात् दिवः चित्) जगमगाते द्युलोकसे भी (नः अधि आ गन्तम्) हमारे समीप आओ ॥ ७ ॥

[२५२] (अस्मत् अन्ये) हमे छोडकर दूसरे लोग (किं स्तोमेभिः) क्या स्तोत्रोंसे (अश्विना परि आसते) अश्विदेवोंके चारों ओर प्रार्थना करनेके लिए बैठते हैं ? (कण्वस्य पुत्रः) कण्वके पुत्र वत्स ऋषिने (वां) तुम्हें (गीर्भिः अवीवृधत्) स्तुतिसे खूब बढाया है- प्रोत्साहित किया है ॥ ८ ॥

[२५३] हे (अ-रिप्रा) दोषरहित तथा (वृत्रहन्तमा) वृत्रके अत्यन्त विनाशकर्ता अश्विदेवो ! (इह अवसे) इधर रक्षाके लिए (विप्रः) ज्ञानी पुरुष (वां आ अह्वत्) तुम्हें बुलाता है (ता) वे विख्यात तुम दोनों (नः मयोभुवा भूतं) हमारे लिये सुखदायक बनो ॥ ९ ॥

भावार्थ— ये दोनोंही देव लोगोंको सन्मार्ग पर ले जानेवाले तथा ज्ञानी हैं। जो इनकी स्तुति करता है, उसके सामर्थ्यको ये बढाते हैं ॥ ५ ॥

ऋषियोंने जब जब इन्हें अपनी रक्षाके लिए पुकारा तब तब ये देव उनकी रक्षाके लिए उनके पास गए। ये स्तुति करनेवालोंकी रक्षा करनेके लिए सदा तैय्यार रहते हैं ॥ ६ ॥

अश्विदेव सदा अपने सामर्थ्यसे परिचित रहते हैं, भक्तोंकी पुकार सुननेवाले हैं और अपने उत्तम कर्मोंके कारण ये तेजस्वी हैं। उत्तम कर्म करनेवाला सदा तेजस्वी होता है ॥ ७ ॥

ज्ञानीयोंसे ज्ञान प्राप्त किए बिना ही जो अश्विदेवोंकी स्तुति करता है, वह उनकी यथार्थ स्तुति नहीं कर पाता, अतः वे देव उनकी स्तुति सुनते भी नहीं। अतः प्रथम ज्ञान प्राप्त करके स्तुति करनी चाहिए। ज्ञानपूर्वक की गई स्तुतिसे देवोंका बल बढता है ॥ ८ ॥

हे दोष रहित तथा शत्रुके संहारक अश्विदेवो ! जो तुम्हें भक्तिसे अपनी रक्षाके लिए तुम्हें बुलाता है, उसके लिए तुम सुख देने वाले बनो ॥ ९ ॥

२५४ आ यद् वां योषणा रथ—मतिष्ठद् वाजिनीवसू ।
विश्वान्यश्विना युवं प्र धीतान्यगच्छतम् ॥ १० ॥
२५५ अतः सहस्रनिर्णिजा रथेना यातमश्विना ।
वत्सो वां मधुमद् वचो ऽशंसीत् काव्यः कविः ॥ ११ ॥
२५६ पुरुमन्द्रा पुरूवसू मनोतरा रयीणाम् ।
स्तोमं मे अश्विनाविम—मभि वह्नी अनूषाताम् ॥ १२ ॥
२५७ आ नो विश्वान्यश्विना धत्तं राधांस्यह्रया ।
कृतं न ऋत्वियावतो मा नो रीरधतं निदे ॥ १३ ॥
२५८ यन्नासत्या परावति यद् वा स्थो अध्यम्बरे ।
अतः सहस्रनिर्णिजा रथेना यातमश्विना ॥ १४ ॥

अर्थ— [२५४] हे (वाजिनी वसू ! बलशाली धनवाले अश्विदेवो ! (यत् वां रथं) जब तुम्हारे रथपर (योषणा आ अतिष्ठत्) महिला पूर्णतया चढ गयी थी, तब (युवं) तुम दोनों (विश्वानि धीतानि) सभी ध्यानमें रखे हुए विषयोंके समीप (प्र अगच्छतं) प्रकर्षसे चले गये थे ॥ १० ॥

[२५५] (कविः) विद्वान् (काव्यः वत्सः) कविका पुत्र ऋषि वत्स (वां) तुम दोनोंके लिए (मधुमत् वचः अशंसीत्) मधुर भाषण कर चुका, (अतः) इसलिए हे (अश्विना) अश्विदेवों ! (सहस्र—निर्णिजा रथेन आ यातं) सहस्र प्रकारसे तेजस्वी रथपर चढकर आओ ॥ ११ ॥

[२५६] हे (रयीणां मनोतरा) धनसंपदाओंके मनःपूर्वक देनेवाले ! (पुरुमन्द्रा) बहुत आनन्द देनेवाले ! (पुरूवसू) अधिक धनवाले अश्विदेवों ! तुम (वह्नी) दानवाले हो और (मे इमं स्तोमं) मेरे इस स्तोत्रको (अभि अनूषातां) सुनकर प्रशंसित करो ॥ १२ ॥

[२५७] हे (अश्विना) अश्विदेवों ! (नः) हमें (विश्वानि अह्रया राधांसि) सभी प्रकारके लज्जा न करनेवाले धन (आ धत्तं) लाओ, (नः ऋत्वियावतः कृतं) हमें ऋतुके अनुकूल कार्य करनेवाले बना दो और (निदे) निन्दकके लिए (नः मा रीरधतं) हमें न दे डालो [अर्थात् हम निन्दकसे कोसों दूर रह सकें ऐसा प्रबंध कर डालो] ॥ १३ ॥

[२५८] हे (सहस्रनिर्णिजा = नासत्या अश्विना) हजारों तरहके धन रखनेवाले तथा असत्यका पालन न करनेवाले अश्विदेवो ! तुम चाहे (परावति) दूर देशमें हो, (यद् वा) अथवा तो (अम्बरे अधिस्थ) द्युलोकमें हो, (अतः) इस स्थानसे तुम (रथेन आ यातं) रथके द्वारा आ जाओ ॥ १४ ॥

भावार्थ— ये अश्विदेव सबके रक्षक होनेके कारण स्त्रियोंकी भी रक्षा करनेवाले हैं ॥ १० ॥

ज्ञानीकी तरह उसका पुत्र भी इन देवोंकी उपासना करता है। अर्थात् घरके सभी जन इन देवोंकी उपासना करें ॥ ११ ॥

ये देव जिसे भी धनसंपत्ति देते हैं, उसे प्रेमपूर्वक ही देते हैं, साथ ही बहुत आनंदके देनेवाले हैं ॥ १२ ॥

हम पवित्रता और उत्तम मार्गसे धन कमायें, ताकि हमें उस धनके कारण लज्जा न उठानी पडे, उसी तरह हम समयके अनुकूल कार्य करें और हम किसीकी निन्दा न करें, और जो हमारी निन्दा करनेवाला हो, उससे हम सदा दूर रहें ॥ १३ ॥

हे देवो ! तुम चाहे कहीं भी रहो, पर हमारी प्रार्थना सुनकर हमारे पास आ जाओ और हमें सुखी करो ॥ १४ ॥

२५९ यो वां नासत्यावृषि–र्गीर्भिर्वत्सो अवीवृधत् ।
तस्मै सहस्रनिर्णिज–मिषं धत्तं घृतश्चुतम् ॥ १५ ॥
२६० प्रास्मा ऊर्जं घृतश्चुत–मश्विना यच्छतं युवम् ।
यो वां सुम्नाय तुष्टवद् वसूयाद् दानुनस्पती ॥ १६ ॥
२६१ आ नो गन्तं रिशादसे–मं स्तोमं पुरुभुजा ।
कृतं नः सुश्रियो नरे–मा दातमभिष्टये ॥ १७ ॥
२६२ आ वां विश्वाभिरूतिभिः प्रियमेधा अहूषत ।
राजन्तावध्वराणा–मश्विना यामहूतिषु ॥ १८ ॥
२६३ आ नो गन्तं मयोभुवा ऽश्विना शंभुवा युवम् ।
यो वां विपन्यू धीतिभि–र्गीर्भिर्वत्सो अवीवृधत् ॥ १९ ॥

अर्थ— [२५९] हे (नासत्या) सत्यके पालक देवो ! (यः ऋषिः वत्सः) जिस ज्ञानी और सबको प्रिय मनुष्यने (वां गीर्भिः अवीवृधत्) तुम दोनोंको स्तुतियोंसे बढाया, (तस्मै) उस मनुष्यको तुम (सहस्रनिर्णिजं) हजारों बल बढानेवाला (घृतश्चुतं) घीसे युक्त (इषं धत्तं) अन्न प्रदान करो ॥ १५ ॥

[२६०] हे (दानुनःपती) दानके अधिपति अश्विदेवो ! (यः सुम्नाय) जो सुखके लिए (वां तुष्टवत्) तुम्हारी स्तुति कर चुका है और (वसू-यात्) धनकी कामना करने लगे, (अस्मै) इसके लिए (युवं) तुम दोनों (घृतश्चुतं ऊर्जं प्र यच्छतं) घी टपकानेवाले बलकारी अन्न देओ ॥ १६ ॥

[२६१] हे (नरा) नेता ! (रिशादसा पुरुभुजा) हिंसकोंके विनाशकर्ता और बहुत भोगवाले ! (नः इमं स्तोमं) हमारे इस स्तोत्रको सुनकर (आ गन्तं) आओ, (नः सुश्रियः कृतं) हमें सुन्दर शोभासे युक्त करो और (अभिष्टये इमा दातं) सुखकी प्राप्तिके लिए इन आवश्यक वस्तुओंको दे दो ॥ १७ ॥

[२६२] हे (अश्विना) अश्विदेवों ! (अध्वराणां राजन्तौ वां) हिंसारहित कार्योंमें विराजमान तुम्हें (यामहूतिषु) यात्रामें सम्मिलित होनेके लिए किये जानेवाले स्तोत्रपाठोंमें (विश्वाभिः ऊतिभिः) सभी संरक्षण आयोजनाओंके साथ आनेके लिये (प्रियमेधाः आ अहूषत) प्रियमेध लोगोंने पूर्णतया तुम्हें बुलाया है ॥ १८ ॥

[२६३] हे (विपन्यू) प्रशंसनीय (अश्विना) अश्विदेवों ! (युवं नः आ गन्तं) तुम दोनों हमारे समीप आओ; (यः वत्सः) जो वह वत्स ऋषि (मयो-भुवा शंभुवा वां) सुखदायक एवं शान्तिदायक तुम्हें (धीतिभीः गीर्भिः अवीवृधत्) कर्मोंसे तथा भाषणोंसे प्रशंसित करता है ॥ १९ ॥

भावार्थ— हे सत्यके पालक अश्विदेवो ! जो ज्ञानी तथा सबसे स्नेह करनेवाला मनुष्य तुम्हें स्तुतियोंसे बढाता है, ऐसे मनुष्यको तुम उत्तम अन्न तथा घी दूधसे बढाओ ॥ १५ ॥

अश्विदेव दानके स्वामी हैं । अतः जो उनकी स्तुति करता है और धनकी कामना करता है, उसे ये देव धन प्रदान करते हैं ॥ १६ ॥

हे शत्रुओंके संहारक तथा उत्तम नेता अश्विदेवो । हम तुम्हारी स्तुति करते हैं, अतः हमें सुखकी प्राप्तिके लिए सभी आवश्यक साधन प्रदान करो ॥ १७ ॥

उत्तम मेधा बुद्धिवाले लोग इन दोनों देवोंको हिंसारहित कार्योंमें, स्तोत्रपाठोंमें तथा सभी संरक्षणकी आयोजनाओंमें बुलाते हैं ॥ १८ ॥

ज्ञानी तथा सबसे स्नेह करनेवाले हम, हे देवो ! तुम्हें बुलाते हैं, अतः तुम आकर हमें सुख और शान्ति प्रदान करो ॥ १९ ॥

२६४ याभिः कण्वं मेधातिथिं याभिर्वशं दशव्रजम् ।
याभिर्गोशर्यमावतं ताभिर्नोऽवतं नरा ॥ २० ॥

२६५ याभिर्नरा त्रसदस्यु—मावतं कृत्व्ये धने ।
ताभिः ष्व१स्माँ अश्विना प्रावतं वाजसातये ॥ २१ ॥

२६६ प्र वां स्तोमाः सुवृक्तयो गिरो वर्धन्त्वश्विना
पुरुत्रा वृत्रहन्तमा ता नो भूतं पुरुस्पृहा ॥ २२ ॥

२६७ त्रीणि पदान्यश्विनो—राविः सान्ति गुहा परः ।
कवी ऋतस्य पत्मभि—रर्वाग्जीवेभ्यस्परि ॥ २३ ॥

[९]

(ऋषिः- शशकर्णः काण्वः । देवता- अश्विनौ । छन्दः- अनुष्टुप्; १, ४, ६, १४-१५ बृहती; २, ३, २०, २१ गायत्री; ५ ककुप्; १० त्रिष्टुप्; ११ विराट्; १२ जगती ।)

२६८ आ नूनमश्विना युवं वत्सस्य गन्तमवसे ।
प्रास्मै यच्छतमवृकं पृथु च्छर्दि—र्युयुतं या अरातयः ॥ १ ॥

अर्थ— [२६४] हे (नरा) नेता अश्विदेवो ! (याभिः) जिनकी सहायतासे मेधातिथि कण्वकी (याभिः दशव्रजं वशं) जिनसे दस बाडे रखनेवाले वश की और (याभिः गो-शर्यं आवतं) जिनसे जीर्णशीर्ण गायें रखनेवालेकी रक्षा की थी, (ताभिः नः अवतं) उनसे हमारी रक्षा करो ॥ २० ॥

[२६५] (कृत्व्ये धन) निष्पादनीय धनके बारेमें जिनसे त्रसदस्युकी (आवतं) रक्षा की थी, (ताभिः) उनसे (अस्मान्) हमें (वाजसातये) धनका बँटवारा करनेके लिए (सु प्र अवतं) भलीभाँति सुरक्षित रखो ॥ २१ ॥

[२६६] हे (पुरुत्रा) बहुत लोगोंके त्राणकर्ता और (वृत्रहन्तमा) वृत्रके अत्यन्त विनाशकर्ता अश्विदेवो ! (वां सुवृक्तयः गिरः) तुम दोनोंको भलीभाँति रचे हुए भाषण और (स्तोमाः प्र वर्धयन्तु) स्तोत्र खूब बढावें, (ता) वे विख्यात तुम दोनों (नः पुरुस्पृहा भूतं) हमारे लिए अत्यन्त स्पृहणीय बनो ॥ २२ ॥

[२६७] अश्विदेवोंके (गुहा) गुहामें रखे हुए (त्रीणि पदानि) तीन पद (परः आविः सन्ति) परके स्थानमें प्रकट हुए हैं; (ऋतस्य पत्मभिः) ऋतके मार्गोंसे (कवी) विद्वान् अश्विदेव (जीवेभ्यः अर्वाक्) जीवोंके लिए अभिमुख होकर (परि) ऊपरसे आते हैं ॥ २३ ॥

[९]

[२६८] हे अश्विदेवो ! (युवं) तुम दोनों (नूनं) अब सचमुच (वत्सस्य अवसे आगतं) वत्सकी रक्षाके लिए आओ (अस्मै) इसे (पृथु) विस्तीर्ण (अवृक छर्दिः प्र यच्छतं) वृक-भेडिये जैसे क्रोधी लोगोंसे रहित घर देओ; पश्चात् (याः अरातयः युयुतं) जो शत्रु हैं, उन्हें दूर कर दो ॥ १ ॥

भावार्थ— हे देवो ! तुमने जिन सुरक्षाके साधनोंसे उत्तम मेधावाले ज्ञानीके पशुओंकी रक्षा की थी, उन्हीं साधनोंसे हमारी भी रक्षा करो ॥ २० ॥

हे देवो ! तुम दुष्टोंको भयभीत करनेवाले वीरकी हर तरहसे रक्षा करते हो, अतः तुम हमारी भी रक्षा करो ॥ २१ ॥

हे देवो ! हमारे द्वारा भलीप्रकार बोले गए स्तोत्र तुम्हारे सामर्थ्यको बढावें तथा तुम दोनों हमारे लिए बहुत पूज्य बनो ॥ २२ ॥

अश्विदेवोंके तीन पद आंखोंसे ओझल रहते हैं, और उनका चौथा पद सत्यके मार्गसे जीवोंके सामने प्रकट होता है । विराट् परमात्माके तीन पद अप्रकटही रहते हैं और चौथे पदसे वह इस संसारके रूपमें प्रकट होता है ॥ २३ ॥

हे देवो ! जो सबसे प्यार करनेवाला है, उसे ऐसा विस्तीर्ण घर दो, जो क्रोधी मनुष्योंसे रहित हो । तथा उसके जो शत्रु हों, उन्हें तुम दूर करो ॥ १ ॥

२६९ यदुन्तरिक्षे यद् दिवि यत् पञ्च मानुषाँ अनु । नृम्णं तद् धत्तमश्विना ॥ २ ॥

२७० ये वां दंसांस्यश्विना विप्रासः परिमामृशुः । एवेत् काण्वस्य बोधतम् ॥ ३ ॥

२७१ अयं वां घर्मो अश्विना स्तोमेन परि षिच्यते ।
अयं सोमो मधुमान् वाजिनीवसू येन वृत्रं चिकेतथः ॥ ४ ॥

२७२ यदप्सु यद् वनस्पतौ यदोषधीषु पुरुदंससा कृतम् ।
तेन माविष्टमश्विना ॥ ५ ॥

२७३ यन्नासत्या भुरण्यथो यद् वा देव भिषज्यथः ।
अयं वां वत्सो मतिभिर्न विन्धते हविष्मन्तं हि गच्छथः ॥ ६ ॥

अर्थ— [२६९] हे अश्विदेवों! (यत् नृम्णं अन्तरिक्षे) जो धन अन्तरिक्षमें (यत् दिवि) जो द्युलोकमें (यत् पञ्च मानुषान् अनु) जो पांच तरहके मानव-वर्गोंके पास पाया जाता है, (तत् धत्तं) उसे हमारे लिए धर दो ॥ २ ॥

[२७०] हे अश्विदेवों ! (ये विप्रासः) जो ज्ञानी (वां दंसांसि) तुम्हारे कर्मोंको (परि ममृशुः) पूर्णतया सोच चुके हैं, (एव इत्) इसी प्रकार (कण्वस्य बोधतं) कण्व पुत्रकी प्रार्थनाको जान लो ॥ ३ ॥

[२७१] हे (वाजिनी-वसू) सेनारूपी धनवाले ! (वां) तुम्हारेलिए (अयं घर्मः) यह यज्ञ (स्तोमेन) स्तोत्रपाठके साथ (परि सिच्यते) पूर्णतया सींचा जाता है; (मधुमान् अयं सोमः) मधुरिमामय यह सोम है (येन) जिससे, तुम (वृत्रं चिकेतथः) वृत्रको पहचान लेते हो ॥ ४ ॥

[२७२] हे (पुरु-दंससा) विविध कार्यवाले ! (यत् ओषधीषु) जो औषधियोंमें (यत् वनस्पतौ) जो बडे भारी पेडमें तथा (यत् अप्सु) जो जलोंमें (कृतं) तुमने कार्य किया है, (तेन) उसीसे (मा अविष्ट) मेरी भी रक्षा करो ॥ ५ ॥

[२७३] हे (देवा) दानी या द्योतमान सत्यपूर्ण अश्विदेवों ! (यत् भुरण्यथः) जो तुम भरणका कार्य करते हो, (यत् वा) या जो तुम (भिषज्यथः) औषध देकर वैद्यका कार्य करते हो (अयं वत्सः) यह वत्स (वां) तुम्हें (मतिभिः न विन्धते) बुद्धियोंसे नहीं पाता है, क्योंकि तुम (हविष्मन्तं हि गच्छथः) हवि साथ रखनेवालेके पासही जाते हो ॥ ६ ॥

भावार्थ— हे देवो ! जो धन अन्तरिक्ष, द्युलोक तथा अन्य लोगोंके पास पाया जाता है, उस धनसे हमें समृद्ध बनाओ ॥ २ ॥

ज्ञानीजन इन देवोंके सभी कर्मोंको जान जाते हैं, अतः वे उसके अनुकूल ही प्रार्थना करते हैं ॥ ३ ॥

जब ये देव स्तुतिके साथ साथ निचोडे जानेवाले सोमरसका पान करते हैं, तब वे सामर्थ्यसे युक्त हो जाते हैं और अपने शत्रुओंका संहार करते हैं ॥ ४ ॥

हे देवो ! जिस सामर्थ्यसे तुम औषधी, पेड तथा जल आदिकी रक्षा करते हो, उसी सामर्थ्यसे हमारी रक्षा करो ॥५॥

सबका भरणपोषण करनेवाले तथा सबको स्वस्थ रखनेवाले इन अश्विदेवोंको केवल ज्ञानके द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता, इन्हें तो स्तुति या भक्तिके द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है ॥ ६ ॥

वैदिक धर्म

जुलै १९७४

३० पैसे



' रामचरित मानस ' निर्माता

संत गोस्वामी तुलसीदासजी



वैदिक धर्म

वर्ष ५५ : अंक ७ : आषाढ : २०३१

स्वामी— स्वाध्याय-मंडल, पारडी [जि. वलसाड]

संस्थापक एवं आद्यसंपादक
श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

संपादक
वसंत श्रीपाद सातवलेकर

विषयानुक्रमणिका

卐

'वैदिक धर्म' वार्षिक मूल्य म. आ. से ६) रु.

वी. पी. से रु. ७.५० विदेशके लिए रु. ८.००, डाक व्यय अलग रहेगा।

इस अंकमें प्रसिद्ध किये गये लेखकोंके लेखोंमेंके मतों और विचारोंसे संपादक सहमत है ऐसा नहीं है। उन लेखोंमेंके विचारोंके लिये केवल लेखकही व्यक्तिशः उत्तरदायी हैं।

मंत्री— स्वाध्याय-मण्डल, पो.- 'स्वाध्याय-मण्डल (पारडी)' पारडी [जि. वलसाड]

वैदिक धर्म

मातृभूमिके हम सुपुत्र

त्वज्जातास्त्वयि चरन्ति मर्त्यास्
त्वं बिभर्षि द्विपदस्त्वं चतुष्पदः ।
तवेमे पृथिवि पञ्च मानवा
येभ्यो ज्योतिरमृतं मर्त्येभ्य
उद्यन्त्सूर्यो रश्मिभिरातनोति ॥

(अथर्व. १२-१-१५)



हे (पृथिवि) हमारी मातृभूमि ! जो (मर्त्याः) मनुष्य (त्वज्जाताः) तुझमें ही पैदा हुए हैं, (त्वयि चरन्ति) तुझ पर ही चलते हैं, जिन (द्विपदः) दो पांववाले अर्थात् मनुष्योंको (चतुष्पदः) चौपायोंको (त्वं बिभर्षि) धारण करती है (येभ्यः मर्त्येभ्यः) जिन मनुष्योंके लिये (अमृतं) जीवनका हेतुभूत (ज्योतिः) तेज (उद्यन् सूर्यः रश्मिभिः) उदित हुआ सूर्य अपनी किरणोंसे (आतनोति) फैलाता है, (इमे) ये हम लोग (पंच मानवाः) पांच प्रकारके मनुष्य (तव) तेरी सेवा करनेकी इच्छा करते हैं ।

हे हमारी मातृभूमि ! हम लोग तुझसे उत्पन्न होकर तेरेही आधारसे अपने सम्पूर्ण व्यवहार करते हैं; सम्पूर्ण पशु, पक्षी, मनुष्य और अन्य सम्पूर्ण प्राणिमात्रको तू आधार देकर पालती पोषती है; जिस हमारे जीवनके लिये यह देदीप्यमान् सूर्य अपनी अमृतमय किरणोंको चारों ओर फैलाता है; वे हम पांच प्रकारके मनुष्य विद्वान्, शूरवीर, व्यापारी, कारीगर और सेवावृत्तिवाले मनुष्य तेरी सेवा करनेकी इच्छा करते हैं ।

श्री माताजीकी बातचीत—

देवता और असुर; आधुनिक आसुरी यंत्र

प्रश्न– देवता लोग कहांसे आये ?

उत्तर– ' कहांसे आये ' का क्या अर्थ ? उनका उद्भव कहांसे हुआ ? उन्हें किसने बनाया ..? किंतु सब कुछका उद्भव एक ' मूल स्रोत ' से, परमोच्च सत्तासे ही हुआ है, देवताओंका भी ।

एक अत्यंत प्राचीन परंपरामें इसकी गाथा है । बच्चोंकी कहानीके समान मैं इसे तुम्हें सुनाऊंगी, क्योंकि इसी तरह तुम इसे समझ पाओगे ।

एक दिन ' भगवान् ' ने अपनेको अपनेसे बाहर निकालने, दृश्य रूप देनेका निर्णय लिया, जिसमें वे अपने आपको पूरे ब्योरेमें जाननेका आनंद ले सकें । अतः उन्होंने सबसे पहले अपनी चेतनाको बाहर निकाला (अर्थात् उसे अभिव्यक्त किया), यह आदेश देकर, कि वह एक विश्वको मूर्त रूप दे । उस चेतनाने अपने अंदरसे चार सत्ताएं, चार व्यक्तित्व निकालकर अपना कार्य आरंभ किया । ये परमोच्च सत्यकी सचमुचमें बड़ी ही उच्च कोटिकी सत्ताएं थीं । ये थीं :– (१) चेतना, (२) प्रेम और आनन्द, (३) जीवन और (४) सत्य । और स्वभावतः, ये परम शक्तिशाली सत्ताएं थीं । इन्हें इस परंपरामें प्रथम विभूतियां अर्थात् प्रथम रचनाएं कहते हैं । और प्रत्येक अपने गुण, शक्ति, क्षमता, सभाव्यताके विषयमें अत्यंत सचेतन हो उठीं, तथा प्रत्येक एकाएक अपने अपने ढंगसे यह भूल गयी कि वे परमोच्च सत्ताकी केवल एक विभूति और मूर्त रूप हैं । और तब जो घटा वह यह: जब ज्योति या चेतनाने (ज्योति और चेतना एक ही वस्तु है) भागवत चेतनासे अपनेको अलगा लिया, अर्थात् जब उसने यह सोचना आरंभ किया कि वह भागवत चेतना है और उसके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं, तब वह सहसा अंधकार और अचेतना बन गयी । और जब जीवनने सोचा कि सारा जीवन उसीके अंदर निहित है और, कि उसके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं और, कि वह परमोच्च सत्तापर बिलकुल ही आश्रित नहीं है, तब उसका जीवन मृत्यु बन गया । और जब सत्यने सोचा कि उसके भीतर सभी सत्य अवस्थित हैं और, कि उसके अतिरिक्त और कोई सत्य है ही नहीं, तब वह सत्य मिथ्यात्व बन गया । और जब प्रेम और आनन्द विश्वस्त हो गया, कि वह परमोच्च आनन्द है और, कि उसके और उसके आनन्दके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं, तब वह पीड़ा बन गया । और इसी प्रकार जगत्, जिसे कितना सुंदर बनना था, ऐसा विकृत बन गया । जब उस चेतनाने (यदि चाहो तो तुम उसे भगवती माता, परमोच्च सत्ता कह सकते हो) यह देखा, तब उसे बड़े संताप हुआ । उसने सोचा : " अरे, यह तो सचमुचमें सफल नहीं हुआ । " तब वह भगवान्की ओर, परमोच्च सत्ताकी ओर मुड़ी और उनसे सहाय होनेकी याचना की । उसने उनसे कहा : " यही हुआ है ! अब क्या किया जाय ? " भगवान्ने उत्तर दिया : ' फिरसे आरंभ करो, किंतु ऐसी व्यवस्था करो कि वे वैसी स्वाधीन सत्ताएं न बन जायं । उन्हें तुम्हारे साथ संपर्क बनाये रखना होगा, और तुम्हारे माध्यमसे, मुझसे भी । " और इस प्रकार उसने देवताओंकी रचना की, जो बड़े आज्ञाकारी थे तथा उतने घमंडी नहीं थे । इन्होंने जगत्की सृष्टिका कार्य आरंभ किया । किंतु, क्योंकि इनसे पहले अन्य सत्ताएं आ चुकी थीं, प्रति पगपर देवताओंकी उनसे भिड़ंत हुई । और इस प्रकार जगत् लड़ाई, युद्ध,

संघर्ष, दुःख-कष्ट, अंधकार और ऐसे सब कुछका क्षेत्र बन गया। प्रत्येक नयी सृष्टिके लिये यह आवश्यक हो गया कि देवगण उन दूसरी सत्ताओंके साथ युद्ध करें जो उनसे आगे आयी थीं : वे उनसे पहले आ चुकी थीं, वे जड़-तत्वमें अधःपतित हो गयी थीं; और उन्होंने यह सारी गड़बड़ी सृष्ट की थी। देवताओंके लिये यह आवश्यक था कि वे सारी गड़बड़ी सुधारें। इस प्रकार देवताओंकी सृष्टि हुई। ये दूसरी बारकी विभूतियां थीं।

प्रश्न– मां वे चार पहली विभूतियां जो बदल गयीं वह संयोगवश हुआ या इच्छित था?

उत्तर– नहीं संयोगवश क्या?

कहानी यह भी बतलाती है– वह आगे कहानीमें है, बल्कि उसके आरंभमें ही– कि भगवान्‌की इच्छा थी कि सृष्टि स्वच्छंद हो। उनकी इच्छा थी कि जो कुछ उनके भीतरसे निकले वह बिलकुल स्वतन्त्र और स्वच्छंद हो, जिसमें वह उनके साथ स्वेच्छासे संयुक्त हो सके, न कि दबावके कारण। उनकी यह इच्छा नहीं थी, कि वफादार होनेके लिये, सचेतन होनेके लिये, आज्ञाकारी होनेके लिये उनपर दबाव डाला जाय। आवश्यक था कि वे यह इस ज्ञान और विश्वासके साथ करे कि यही अधिक अच्छा है। सो, यह जगत पूर्ण स्वतंत्रताके चुनावकी स्वतंत्रताके जगत्‌के रूपमें सृष्ट हुआ। और इस प्रकार प्रत्येक व्यक्तिको प्रतिक्षण चुनावकी स्वतंत्रता प्राप्त है– किंतु इसके सारे परिणामोंके साथ। यदि कोई भला चुने, तो वह अच्छी बात है, किंतु यदि कोई बुरा चुने; तो फिर जो होना है वह होता है– वही हुआ है!

इस कहानीको अत्यधिक गुह्य और आध्यात्मिक अर्थमें समझा जा सकता है। किंतु विश्वकी सभी गाथाओंकी तरह यदि कोई इसे इस प्रकार कहना चाहे जिसमें लोग इसे समझ सकें, तो वह बच्चोंकी कहानी बन जाती है। यह बच्चोंकी एक छोटी कहानी–सी लगनेवाली बात, जो मैंने तुमसे कही, इस तरीकेसे भी, यदि तुम मेरी कही बातोंको और उसके अर्थको समझ जाओ, तो तुम्हें वस्तुओंका रहस्य प्राप्त हो जायगा।

कई परम्पराएं बतलाती हैं कि यह एक "आकस्मिक घटना" थी, इस अर्थमें, कि इससे कुछ दूसरी तरहकी बात भी हो सकती थी। किंतु हुआ ऐसा ही। यह सच है कि यह इसी प्रकार हुआ। हां, तब यह खूब समझमें आनेवाली बात है कि ये प्रत्येक अंशक, जिनका मूल परमोच्च सत्ता थी, उस क्षण आदि विभूति, आदि स्रोतसे एकदम निकट रहनेके कारण, अवश्य ही अपने अदर अपनी दिव्यता और श्रेष्ठताकी चेतना धारण किये थे, क्योंकि यह कोई ऐसी सृष्टि नहीं है जो भगवान्‌से भिन्न किसी वस्तुसे निर्मित हुई : यह तो बस भगवान् ही हैं जिन्होंने अपने आपको अपनेसे बाहर निकाला है, मानो वे अपने आपको देख रहे हों– उन्होंने अपने आपको अपनेसे बाहर निकाला है, मानो वे अपने आपको देख रहे हों– उन्होंने अपने आपको दृश्य वस्तु बनाया, जिसमें वे जो कुछ हैं, उस सब कुछको जान सकें; एक स्थितिशील आंतरिक एकाग्रतामें निवास करनेकी जगह, जहां सब कुछ अनभिव्यक्त है, वे उसे "देखनेके लिये" बाहर निकालते हैं, मानो उनके अदर जो सारी वस्तुएं हैं, अर्थात् अनन्त संभावनाओंको वे देखना चाहते हों। अतः, सब कुछ संभव है। यह हुआ इस प्रकार– यह कुछ और तरीकेसे भी हो सकता था। इसके अतिरिक्त, ऐसा कुछ भी नहीं जो यह बतलावे, कि हमारा विश्व जैसा है, उसके साथ-साथ अन्य विश्व नहीं हैं, जो इतने भिन्न हैं, कि एक विश्वका दूसरे विश्वके साथ कोई संबंध न हो सके। यह खूब सम्भव है कि हमारा विश्व ही भगवान्‌का एक मात्र बाह्य प्रक्षिप्त रूप न हो। हमारा विश्व, जैसा वह है, उसे हम जानते हैं; दूसरे विश्व भी हो सकते हैं, जो इससे बहुत कम शोचनीय अवस्थामें हों! इसके अतिरिक्त, हमारा विश्व भी केवल ऊपरसे देखनेमें शोचनीय है। यदि कोई इसके बाहरी रूपके पीछे जाय, तो वह देखेगा कि यह बिलकुल ही शोचनीय नहीं है। यह केवल देखनेका एक तरीका है।

प्र० भगवान्‌के ये अदृश्य शत्रु ('मातृवाणी' पुस्तकमें चर्चित) कौन हैं?

उ०– ये वही चार सत्ताएं हैं, जिन्होंने स्वभावतः अनगिनत विभूतियां बनायीं, और इन अन्योंने रचनाएं बनायीं। इस प्रकार इनकी संख्या लाखों-करोडों है, और इनके बीचही वे हैं, जिन्होंने कुछ विशेष स्वभाव पकड़ लिया है और इस स्वभावको बनाये रखनेका तर्क भी इनके पास है, और ये अपने नियमके अतिरिक्त किसी औरका शासन न होनेका अपना संकल्प भी बनाये हुए हैं। इन्हेंही भारतमें असुर कहते हैं, ये अंधकारकी सत्ताएं हैं। ये ऐसी हैं, यह भी तर्कपर आश्रित है। इन्होंने आरंभसेही कुटिल मार्ग पकड़ा और उसीपर चली आ रही हैं। हां, अब इनमेंसे कुछ अपना मत बदल रही हैं। किंतु इनकी चर्चा गीतामें भी है; मेरा ख्याल है कि ऐसी सत्ताओंकी बात कही गई है जो बदल

जायेगी, और फिर ऐसोंको भी जो बदलना बिलकुल नहीं चाहतीं, जो बदलना न चाहकर, मिट जाना, नष्ट हो जाना ही पसंद करती है, कुछ एक तरहकी हैं, कुछ अन्य दूसरी तरहकी।

प्रश्न– वे ' दूसरी तरहकी ' जो बदल गयीं, वे कौन हैं ?

उत्तर– उनमेंसे एक बदल गयी है और यहांतक, कि सहयोग भी देती है, वह है चेतना और ज्योतिकी सत्ता।

प्रश्न– यदि वह बदल गयी है, तो कठिनाईको अपने आप दूर हो जाना चाहिए।

उत्तर– स्पष्टही, और उसकी शक्ति बनी हुई है। वह एक दुर्धर्ष सत्ता बन गयी है।

प्रश्न– आपने कहा कि चेतना अचेतनामें बदल गयी थी। किंतु चेतनाके बदल जानेपर अचेतना दूर हो जानी चाहिए ?

उत्तर– वह पुनः चेतना और ज्योति बन जाती है– वह जो थी वही फिर हो जाती है।

प्रश्न– तो क्या वह फिरसे वैसा हुई नहीं ?

उत्तर– किंतु अभी मिनिट भर पहले मैंने कहा न, कि जब वह निश्चेतना या अंधकार बन गयी तब उसने अनगिनत रचनाएं निर्मित कीं– विभूतियां, रचनाएं, कृतियां। और उसके परिवर्तनका यह अर्थ नहीं निकलता कि बाकी सारी भी वही करें। वे स्वतन्त्रताके उसी नियमका पालन करती हैं– चुनावकी स्वतंत्रताका वे बदल भी सकती हैं और नहीं भी। उनमेंसे कुछ बदल गयी हैं, कुछ बदलनेसे इनकार करती हैं। और मेरा खयाल है कि वास्तवमें ऐसा इनकार करनेवाली बहुत अधिक हैं।

किंतु इनमेंसे सबसे अधिक हानिकर है ' मिथ्यात्वका प्रभु ' यही, सत्यका सतत नकारही वस्तुतः विश्वमें सबसे बडी बाधा है। और पार्थिव जगतपर, भौतिक जगत्पर इसकी पकड बडी मजबूत है। इसके अतिरिक्त, यहां (पृथ्वीपर) जो लोग उसे देखते हैं, वे उसे एक बिलकुल अद्भुत भव्य सत्ताके रूपमें देखते हैं। वह अपनेको ' राष्ट्रोंका प्रभु ' कहता है, और वह देखनेमें दुर्धर्ष, दीप्तिमान सशक्त और बडाही प्रभाववान् प्रतीत होता है...। ऐतिहासिक दृष्टिसे वह राष्ट्रोंके कई प्रमुखोंका प्रेरक रहा है, और वह अपनेको ' राष्ट्रोंका प्रभु ' इसलिये घोषित करता है, क्योंकि यह वही है जो राष्ट्रोंकी जनतापर शासन करता है। स्वभावतः, पिछले दो युद्धोंका मूल स्रोत, परम संगठनकर्ता यही रहा है। इसी अवसरपर इसने अपनेको राष्ट्रोंके प्रभुके रूपमें अभिव्यक्त किया। और इसके अतिरिक्त उसने एलान किया कि वह कभी भी परिवर्तित नहीं होगा। और वह जानता है कि उसका अंत होगा– स्वभावतः, वह चेष्टा करेगा कि यह यथासंभव देरसे हो। और उसने यह घोषित किया है कि अपने नष्ट होनेके पहले वह जो कुछ भी नष्ट कर सकेगा, उसे नष्ट कर देगा...। हम सब प्रकारकी विपत्तियोंके आनेकी आशा कर सकते हैं।

आपने फरवरी (२१–२–'५३) में एक संदेश दिया था, जिसमें कहा गया था, ' एक नयी ज्योति पृथ्वीपर उतर पडेगी ' (वस्तुतः वह संदेश था ' ' सत्यका प्रकाश आजसे सदाके लिये पृथ्वीपर उदित हो '), और उसके ठीक बाद (५–३–'५३) स्तालिनकी मृत्यु हो गयी। क्या यह किसी रहस्यका द्योतक है ?

उत्तर– यह तो वस्तुतः एक छोटा-सा परिणाम होगा स्तालिनकी मृत्यु (दुर्भाग्यवश हिटलरकी मृत्युसे अधिक नहीं) से वर्तमान जगत्की स्थितिमें कोई परिवर्तन नहीं आया है। इससे कुछ अधिककी आवश्यकता पडेगी। क्योंकि यह तो फांसीपर चढनेवाले हत्यारे जैसा हुआ। जब उसका सिर काटा जाता है, उस क्षण उसका प्रेत रह जाता है और उससे बाहर निकल आता है। वह एक प्राणिक रचना है, और किसी धर्मचिन्तक दर्शकके भीतर आश्रय ले लेता है, जो एकाएक अपराध करनेकी प्रवृत्तिका बोध करने लगता है। ऐसे बहुतसे लोग हैं, विशेषतः बहुत कच्ची उम्रके अपराधी, जिन्होंने पूछनेपर यह स्वीकार किया। उनसे पूछा गया। ' तुम्हारे अंदर हत्याकी भावना कब जगी ? ' और उत्तर प्रायशः यह होता है। ' इसने मुझे तब पकडा जब मैंने अमुक व्यक्तिको फांसीपर चढते देखा। '

तो, इसकी या उसकी मृत्युसे कोई काम नहीं बनता। इससे कोई बडा कार्य नहीं सिद्ध होता। वह केवल एक बाहरी रूप है। यह ऐसा है मानो तुमने एक कमीज पहनकर कोई बडा बुरा कर्म किया और तब तुम उसी कमीजको उतार फेंकते हो और कहते हो। ' अब मैं कोई कुकर्म नहीं करूंगा। ' और तुम एक दूसरी कमीज पहनकर अपना काम जारी रखते हो ?

प्रश्न– यदि जीवन मृत्युमें परिवर्तित हो गया, तो वह स्वयं क्यों नहीं मर जाता ?

उत्तर– क्योंकि वह बडा सावधान रहता है। तुमने जो कहा वह बहुत ही ठीक है, किंतु वह बडी सावधानी बरतता है जिसमें वह पृथ्वीपर जन्म न ले। और प्राण-जगत्में मृत्यु नहीं है, वहां उसका अस्तित्व नहीं है। मृत्युका अस्तित्व

भौतिक जगत्‌में ही है, और वह यहां जन्म न लेनेके लिये बड़ी सावधानी बरतता है।

प्रश्न– क्या स्तालिनको वही होना था, जो वह हुआ ?

उत्तर– स्तालिन ? मुझे इस बातका पूरा निश्चय नहीं कि वह मनुष्य था... इस अर्थमें, कि मेरा ख्याल है कि उसमें आंतरात्मिक सत्ता नहीं थी। अथवा हो सकता है कि उसमें रही भी हो– सारे बड़ तत्त्वमें, प्रत्येक अणुमें एक भागवत केन्द्र है– किंतु मेरा मतलब एक गठित, व्यक्तिगत रूप लिये आंतरात्मिक सत्तासे है। मेरा ख्याल है कि यह वहां नहीं थी। मेरा विश्वास है कि वह प्राण जगत्‌की किसी सत्ताका प्रत्यक्ष अवतार था। और उसमें तथा हिटलरमें यही बड़ा अंतर था। हिटलर महज एक मनुष्य था, और मनुष्यकी दृष्टिसे, उसका मस्तिष्क बड़ा दुर्बल, भावुक था– उसकी चेतना एक क्षुद्र कामगर जैसी थी (कोई कोई कहते हैं कि एक क्षुद्र चमार जैसी), अंततः एक क्षुद्र कामगर जैसी या किसी पाठशालाके एक छोटेसे अध्यापक जैसी, ऐसी ही किसी वस्तु–सी एक अत्यंत छोटी चेतना और अत्यंत नाजुक, जिसे फ्रांसिसीमें ' फ्लर ब्ल ' (नीला फूल) कहते हैं, बड़ा ही दुर्बल।

किंतु वह पिशाच–ग्रस्त था। उसका आचरण अत्यंत सामान्य कोटिका था, अत्यंत सामान्य कोटिका। वह एक माध्यम था, बहुत अच्छा माध्यम था– इसके अतिरिक्त प्रेत बुलानेवाली गोष्ठियोंमें ही वह (पैशाचिक सत्ता) उसपर हावी हो जाती थी। इसी क्षण उसपर वे दौरे आते थे, जिसे लोग मिरगी कहते हैं। वे मिरगीके दौरे नहीं थे। वे पिशाच–ग्रस्तताके दौरे थे। इसी तरहसे प्राप्त उसके पास एक शक्ति थी, जो कोई बहुत बड़ी शक्ति भी नहीं थी। किंतु जब वह उस शक्तिसे कोई बात जानना चाहता था, तब वह अपने महलमें चला जाता था, और वहां ' ध्यान ' में वह बड़ी तीव्रतासे उसे पुकारता था जिसे वह अपना भगवान्, अपना परमेश्वर कहता था, जो ' राष्ट्रोंका प्रभु ' था। और तब उसे सब कुछ बड़ा भव्य प्रतीत होने लगता था। वह एक सत्ता थी... वह छोटा–सा था– वह इसके सामने चांदीका पूरा कवच पहने, चांदीका शिरस्त्राण और सोनेकी कलगी लगाये प्रकट होता था। वह ' भव्य ' था ! और उसमेंसे एक ऐसा चुंधिया देनेवाला प्रकाश निकलता था, कि आंखोंके लिये उसे देखना और सहना बड़ा कठिन होता था। स्वभावतः, वह भौतिक रूपमें नहीं प्रकट होता था, हिटलर माध्यम था और उसे देखता था। उसमें एक प्रकारकी परोक्ष दर्शनकी शक्ति थी। और इन्हीं क्षणोंमें उसे दौरे आया करते थे। वह जमीनपर लोटने लगता था, उसकी लार टपकने लगती थी, वह फर्शी कालीनोंको दांतसे काटने लगता था, उस समय उसकी अवस्था बड़ी भयंकर हो जाती थी। उसके पास रहनेवाले यह जानते थे। वही है ' राष्ट्रोंका प्रभु। ' और वह राष्ट्रोंका प्रभु अपने मूल रूपमें भी नहीं है, वह उसकी एक विभूति है, एक बड़ी शक्तिशाली विभूति।

प्रश्न– यदि वह लुप्त हो जाना स्वीकार कर ले, तो क्या वह भगवान्‌के लिये एक शक्तिका खो देना होगा ?

उत्तर– क्या कहा तुमने ? कहां लुप्त हो जाना ? लुप्त हो जाना तुम किसे कहते हो ? कहां लुप्त होजाना ? तुम्हें रावणकी कथा मालूम है ? रावणने क्या चुना था ? जानते हो तुम ? सो, इसीको लुप्त हो जाना स्वीकार करना कहते हैं। अर्थात् उसका कोई व्यक्तित्व नहीं रह गया।

प्रश्न– मृत्युके बाद रावणका क्या हुआ, यह तो कहानीमें नहीं कहा गया है।

उत्तर– यह नहीं कहा गया है ? मुझे तो यह कहा गया है। कहा गया है कि रावणने सर्वोच्च सत्तामें विलीन हो जाना चुना, और वह उसमें पूर्णतः घुल–मिल गया, वह कोई पृथक् सत्ता नहीं रह गया, वह आदि स्रोतमें लौट गया, वह सर्वोच्च सत्तामें विलीन हो गया। और उसे करनेके पहले ही उसने यह भूमिका चुनी थी, विरोधीकी भूमिका, क्योंकि यह भक्तोंकी ओर, जो आज्ञाकारी हैं उनकी राहसे बहुत अधिक छोटा है। उस राहसे बहुत अधिक तेजीसे जाया जा सकता है, क्योंकि एक दिन भगवान् निर्णय ले लेते हैं कि अब काफी हो चुका और बस, वे उन्हें नष्ट कर देते हैं। वह भगवान्‌के बाहर नहीं जा सकता, क्योंकि सब कुछ भगवान् ही है ! वह अपना व्यक्तित्व खो दे सकता है, अर्थात् परमोच्च सत्तामें विलीन हो जा सकता है, उसमें घुल–मिल जा सकता है।

इसके अतिरिक्त कोई भी वस्तु लुप्त नहीं हो जाती, लुप्त होता है रूप, किंतु जिन तत्त्वोंसे उसका (रूपका) निर्माण हुआ होता है, वे बने रहते हैं। सब कुछ शाश्वत है, क्योंकि सब कुछ भगवान् है और कोई भी वस्तु भगवान्‌से बाहर नहीं जा सकती, क्योंकि सब कुछ भगवान् है। किंतु रूप लुप्त हो जाते हैं। रूपके साथ इस तादात्म्यके कारण ही किसीको मृत्युका आभास होता है; किंतु संघटक तत्त्व सनातन हैं, क्योंकि सब कुछ सनातन है।

जो, इनमेंसे कुछ सत्ताएं, इस प्रकार पूर्ण रूपसे अनन्तमें, एकत्वमें विलीन हो जाना, उसमें पूर्णतः घुल-मिल जाना पसंद करती हैं (अर्थात् वे अपनी वैयक्तिक चेतना खो देना चाहती हैं, उनकी वैयक्तिक चेतना नहीं रह जाती, वैयक्तिक चेतनाके रूपमें उनका अस्तित्व नहीं रह जाता), वे उस वैयक्तिक चेतनाकी अपेक्षा, जो अपने आपको भगवान्को समर्पित कर देती है, और इस क्रिया द्वारा अमर हो जाती है, यही अधिक पसंद करती हैं। परिवर्तनकी अपेक्षा, वैयक्तिक विनष्टि और विलोपन उन्हें अधिक भाता है।

प्रश्न- क्यों ?

उत्तर- मेरा अनुमान है, कि अहंकारवश। यह सदा अहंकार ही है। वस्तुतः आरंभसे ही, यह सारा अहंकार है किंतु प्रायः सभीधर्मोंने यह कहा है। यह अहंकार है, अर्थात् अपनी शक्ति और महत्वकी एक प्रकारकी चेतना।

प्रश्न- आपने कहा, कि ये चारों विभूतियां सर्वोच्च सत्ताकी विभूतियां थीं, तब इनमें उनकी चेतनासे भिन्न कोई दूसरी चेतना कसे हो सकती है ?

उत्तर- दूसरी चेतना ? किंतु कोई दूसरी चेतना तो है ही नहीं। विभूतिका सिद्धान्त ही यह है, कि वह विभूति अपने बनानेवालेके एक अंशका बाह्यकरण है, जो संभाव्य रूपमें अपने भीतर अपने निष्क्रांताके गुणोंको बनाये रखती है। किंतु यदि ये विभूतियां चुनावकी स्वतंत्रताके संकल्पके साथ निर्मित हुई हों (जैसे कि उनका निर्माण हुआ था), तो जैसा कि मैंने कहा, ये विभूतियां चाहे तो उस स्वाधीनता और उस स्वतंत्रताका अनुसरण कर सकती हैं, अथवा अपने निष्क्रांतके साथ संबंध बनाये रख सकती हैं, क्योंकि यहां चुनावकी स्वतंत्रता है। वह बल और शक्ति जो उनके भीतर होती है, वह उन्हें अपने महत्व और बलका आभास देनेके लिये बिलकुल पर्याप्त होती हैं। यदि वे यह चुनें, कि वे परमोच्च सत्ताके साथ स्वेच्छित संबंध, शरणागतिका संबंध नहीं रखेंगी, यदि वे यह चुनें कि वे अपने भीतरके बल और चेतना और शक्ति द्वारा स्वतंत्र रूपसे, जो कुछ उन्हें करना है, उसे करेंगी, तो इस तथ्य द्वारा ही वे अपने मूल स्रोतसे अपनेको काट लेती हैं- किंतु इस प्रकार मूल स्रोतसे कट जानेपर भी, जिन तत्वोंसे उनका निर्माण हुआ है, वे तो मूल स्रोतके तत्व ही हैं। और इसीलिये, यदि वे स्वेच्छासे भी अपना संबंध काट लेती हैं, तो भी, चेतनाकी बिलकुल गहराईमें एक ऐसी कड़ी बनी रहती है जो कभी टूट नहीं सकती। यह है तादात्म्यकी कड़ी। किंतु बाह्य अभिव्यक्तिमें, क्योंकि वे चुनावकी स्वतंत्रताके मूलभूत गुणके साथ निष्क्रांत हुई थीं, वे यह अथवा वह करनेके चुनावमें स्वतंत्र हैं। इसीलिये बुरेसे बुरे अपराधीमें भी, कहीं, उसके भीतर भागवत ज्योति वर्तमान होती है।

लेखक : श्री श्रीराम माधव चिंगले, एम. ए.

छत्रपति श्री शिवाजी महाराजके पूर्णतया सफल जीवनमें ऋतसत्यका महत्त्व

यतो धर्मस्ततो जयः

आजसे तीनसौ वर्ष पूर्व श्री शिवाजी महाराजका राज्याभिषेक समारोह संपन्न हुआ था। उस महान् पर्वका त्रिशताब्दि महोत्सव वर्ष आज मनाया जा रहा है। सौभाग्यसे इसकी पार्श्वभूमि भी बहुत ही सुंदर मिली है। स्वनामधन्य राणाप्रतापके द्वारा पावन की हुई राजस्थानकी भूमिमें भारतने रचनात्मक कार्यके हेतु अणुविस्फोटका सफल प्रयोग करके अणुशक्तिधारी शक्तिशाली राष्ट्रोंकी पंक्तिमें स्थान प्राप्त किया है। निस्सन्देह यह भारतके लिये गौरवास्पद बात है। छत्रपति श्री शिवाजी महाराजने जिस हिंदवी स्वराज्यका स्वप्न देखा था और छोटे परिमाण पर उसे साकार भी कर दिखाया था, उन्हींकी अखंड प्रेरणासे वह पूर्णतया साकार हुआ है। उन्हींके कंधों पर खडे रह कर हम यह कर सके हैं। अतएव उनके प्रति कृतज्ञता बुद्धिरखना और उनके सफल जीवनका रहस्य समझ कर उनके द्वारा प्रस्थापित आदर्शोंके अनुसार आचरण करना हमारा कर्तव्य है।

पुण्यश्लोक श्री शिवाजी महाराजका नाम भारतके इतिहासमें स्वर्णाक्षरोंमें लिखा जानेके योग्य है। अत्यंत विपरीत परिस्थितिमें भी उन्होंने प्रबल तथा प्रचंड स्वविरोधी शक्तियोंपर मात करके भारतीय स्वराज्य और सुराज्यका सूत्रपात किया। उनका जीवन विराट् पुरुषके समान अगणित पहलुओंसे युक्त है। प्रस्तुत स्थलमें हम इनमेंसे एकही महत्त्वपूर्ण पहलूपर प्रकाश डालना चाहते हैं। वह है उनके सर्वथैव सफल जीवनका रहस्य। इतिहासकारोंकी बहिर्दृष्टिमें उनकी सफलताके तथा उनके विरोधियोंकी असफलताके बाह्यपरिस्थिति मूलक अनेक कारण कहे जाते हैं। किन्तु अध्यात्मशास्त्रकी यथार्थ दृष्टिसे इसका मुख्य कारण है उनके जीवनमें ओतप्रोत रूपसे पाया जाने वाला ऋतसत्यका अधिष्ठान, तथा उनके विरोधियोंमें पाया जानेवाला इसका अभाव। प्रचलित इतिहास लेखनकी मर्यादामें ऐतिहासिक महापुरुषोंके जयपराजयकी मीमांसा बहुतही अपूर्ण तथा छिछली होती है। अधिकतर स्थूल दृष्टिके द्वारा बाह्य घटनाओंके आधार पर ही इसका विचार किया जाता है। उसमें ऐतिहासिक महापुरुषोंकी आंतरिक अवस्था पर ध्यान नहीं दिया जाता। किन्तु आध्यात्मिक दृष्टिसे यह आंतरिक अवस्था ही महत्त्वपूर्ण होती है। इनकी जयपराजयका सच्चा रहस्य इसीमें पाया जा सकता है क्योंकि बाह्य परिस्थिति इनकी आंतरिक अवस्थाके अनुसार ही प्राप्त होती है। जय पराजयके सच्चे कारण अंदरही पाये जाते हैं। बाहर उनके दृष्टफल ही देखनेको मिलते हैं। इस संबधमें मुख्य सूत्र है ऋत सत्यका अधिष्ठान या उसका अभाव। जितने अंशमें जानते या अजानते इसका पालन या उल्लघन किया जाता है उतने ही अंशमें जय या पराजय पल्ले पडती है। इस मानदंडको लेकर हम श्री शिवाजी महाराजके, उनके विरोधियोंके, तथा विश्वेतिहासके अन्य महापुरुषोंके चरित्रों को परख सकते हैं।

हम देखते हैं कि इनमेंसे कुछ लोगोंको पहले अल्प साधनोंको लेकरही, बाह्य परिस्थितिके सर्वथैव विपरीत तथा अननुकूल होते हुए भी, विजय पर विजय मिलती चली गई। किन्तु आगे चलकर अनुकूल परिस्थिति और विपुल साधनोंके उपलब्ध होते हुए भी इनके पल्ले पराजय

पड़कर इनकी दुर्गति हुई। इसका क्या कारण है? क्या निरी बाह्य परिस्थिति इसका समाधानकारक उत्तर दे सकती है? भारतका अध्यात्मशास्त्र डंकेकी चोट पर कहता है– नहीं, कदापि नहीं क्योंकि 'सत्यमेव जयते नानृतम्' यह मनुष्य जीवनका या कहिये कि विश्व जीवनकाही शाश्वत, त्रिकालाबाधित सिद्धान्त है। ऋतसत्य साक्षात् परब्रह्म स्वरूप है 'ऋतं सत्यं परं ब्रह्म।' 'सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितम् तस्मात् सत्यं परमं वदन्ति।' आध्यात्मिक दृष्टिसे बाह्य परिस्थिति संबंधित व्यक्तियोंकी आंतरिक अवस्थाकीही प्रतिकृति होती है। इन लोगोंके जीवनमें जब तक और जितने अंशमें ऋतसत्यका अधिष्ठान अचल था, तब तक उन्हें उतनेही अंशमें सफलता मिली। किन्तु जब वे उससे विचलित हुए और उनका आध्यात्मिक दृष्टिसे अधःपतन हुआ, तब बाह्यतः भी इनकी दुर्गति होते देर न लगी। अब हम इस तथ्यको इन लोगोंके जीवनमें परख लें।

श्री शिवाजी महाराजका ध्येय अत्यंत शुद्ध था। विदेशी तथा धर्मांध विधर्मी शासकोंने भारतीय धर्म तथा संस्कृति समूल नष्ट करनेकी ठान ली थी। यह देखकर बाल्यकालमेंही शिवाजीने श्री रोहिरेश्वर महादेवजीके सामने धर्मरक्षा तथा गोब्राह्मण प्रतिपालनार्थ अपने कुछ चुने हुए साथियोंके सहित स्वराज्य स्थापन करनेकी शपथ ग्रहण की। इस विषयमें उनके सामने भारतीय संस्कृतिके आकर ग्रंथ रामायण–महाभारतके आदर्श थे। अपनी इस प्रतिज्ञापूर्तिके लिये उन्होंने मावला लोगों जैसे सर्वसाधारण लोगोंमें जागृति निर्माण करके उनकी महत्त्वाकांक्षाको जगाया और स्वधर्मकी रक्षा तथा स्वराज्यकी प्राप्तिके लिये सर्वस्वका त्याग करनेके लिये कटिबद्ध किया। श्री शिवछत्रपतिके इस ध्येयमें अहंकार मूलक स्वार्थकी गंध भी नहीं थी। इसीलिये उन्हें हथेलीपर जान लेकर लड़नेवाले और अपने सर्वस्वकी आहुति देनेवाले साथी मिले। इसीलिये वे सामान्य जनोंमेंसे असामान्य वीर निर्माण कर सके।

ओतप्रोत धर्म निष्ठा श्री शिवाजीके जीवनका स्वरूप लक्षण था। क्या अपने वैयक्तिक जीवनमें, क्या सामाजिक जीवनमें, और क्या राजकीय जीवनमें वे सोलहो आना धर्मभावनासे प्रेरित थे। वे गोब्राह्मण प्रतिपालक थे, महान् ईश्वरभक्त थे, जातिधर्म निरपेक्ष साधुसंतोंके और जनता जनार्दनके सेवक थे। राजकीय जीवनमें उन्हें अवसर आनेपर चाणक्यनीतिका अवलंब करना पड़ा। किन्तु यह भी उन्होंने आत्म रक्षा तथा देश और धर्मकी रक्षाके लिये ही किया। इसका समर्थन मन्वादि स्मृतियों तथा कौटिलीय अर्थशास्त्र सदृश ग्रंथोंमें पूर्णरूपेण पाया जाता है। उदाहरणार्थ शास्त्रकारोंने आततायीको मारना ही धर्म बतलाया है। आततायीके लक्षण और उसको मारनेकी स्पष्ट अनुज्ञा निम्न श्लोकोंमें दी गई है:—

अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रोन्मत्तो धनापहः।
क्षेत्रदार हरश्चैतान् षड्विद्यादाततायिनः॥
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्।
नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन॥

छः प्रकारके आततायी होते हैं:– (१) आग लगानेवाला (२) विष देनेवाला (३) उन्मत्त शस्त्रधारी (४) दूसरोंका धन (५) खेत जमीन तथा (६) स्त्रियोंका अपहरण करनेवाला। आततायीको आते देखकर निस्संकोच भावसे मारना चाहिये। आततायीके वधके कारण कोई दोष नहीं लगता।

श्री शिवाजीके कालमें शासनकी आततायी वृत्ति और अत्याचार चरम सीमा पर पहुँच चुके थे। प्रजामें त्राहि त्राहि मच रही थी। शिवाजीने इसका सफल प्रतिकार करके अधर्म नही, महान् धर्मकार्य ही किया। शिवाजीके विरोधी छल, छिद्र, कपट, धर्मद्वेष, प्रजापीडन इत्यादि सभी प्रकारकी आसुरी वृत्तिसे ग्रस्त थे। उनके जीवनमें ऋत सत्यका पूर्णतया अभाव था। कोई आश्चर्य नहीं कि ऋतसत्यके अधिष्ठानसे संपन्न शिवाजीके हाथों उन्हें पराजय स्वीकार करना पड़े।

श्री शिवाजीका जीवन पूर्णतया धर्ममय था। उन्होंने धर्म तथा धर्मयुद्धमें अपने शत्रुओंका पराजय करने पर भी उनकी सुंदर युवती स्त्रियोंको 'परतिय मात समान' समझा और उन्हें आदरपूर्वक उनके संबंधियोंके पास पहुँचा दिया। अपने राज्यमें किसी भी तरहका अनैतिक आचरण वे सहन नहीं कर सकते थे। इस प्रकारके प्रमादके लिये कठोर दण्ड दिया जाता था। 'यथा राजा तथा प्रजा' इस न्यायसे शासनाधिकारी तथा प्रजा सभी नीतिमान थे। प्रजापालनमें भी वे उतनेही दक्ष थे। अपनी प्रजाको किसी भी तरहका कष्ट न हो और वह सभी तरहसे सुखी रहे इस बातका वे पूरा ध्यान रखते थे। उनकी संपूर्ण राज्यव्यवस्था प्रजाके हितको दृष्टिमें रखकरही की गई थी। इसलिये वह आदर्श थी। रामराज्यके आदर्शको सामने रखकरही वे सारे व्यवहार करते थे। आजकलके शासक इस बातसे शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं।

श्री शिवाजीने अपना राज्याभिषेक कराया वह भी व्यक्तिगत स्वार्थके लिये नहीं किन्तु व्यावहारिक दृष्टिकोणको लेकरही कराया था। राज्याभिषेकसे पहले अनेक सरदार जागीरदार इत्यादि उन्हें राजा माननेकोही तैयार नहीं थे।

पुनश्च, उस धर्मप्रधान कालमें यथाविधि किया हुआ धार्मिक संस्कार अत्यधिक महत्त्व रखता था। यादवोंकी सत्ताके अस्त होनेपर दीर्घ कालावधिके अनंतर हिंदू राज्यकी अभिषेकपूर्वक स्थापना हुई थी। इसका इष्ट प्रभाव हुआ। दिल्लीके शासकों पर भी इस कारण आतंक छा गया। अब निर्विरोध रूपसे राजा होनेका गौरव उन्हें प्राप्त हुआ। उन्होंने राज्याभिषेकके साथही हिंदू राज्यकी स्थापनाका एक महत्त्वपूर्ण निदर्शक-राज्याभिषेक शक प्रवर्तित किया। राजा होनेके सम्मानके साथही उन्होंने प्रजाके हितका दायित्व स्वीकार किया। प्रजाके सुखमें वे अपना सुख और प्रजाके हितमें अपना हित देखने लगे- 'प्रजा सुखे सुखं राज्ञः। प्रजानांच हिते हितम्॥' उनकी राजमुद्रा पर निम्न श्लोक अंकित था:-

प्रतिपच्चन्द्र लेखेव वर्धिष्णुर्विश्ववन्दिता।
शाहसूनोः शिवस्यैषा मुद्रा भद्राय राजते॥

इस श्लोकमें उनका जीवनादर्श स्पष्टतया व्यक्त हुआ है।

श्री शिवाजीके विरोधकोंने भी उनके अलौकिक गुणोंकी मुक्त कंठसे प्रशंसा की है। आद्य मराठा इतिहासकार जेम्स ग्रँट डफ उनके प्रशंसक नहीं कहे जा सकते। फिर भी वे लिखते हैं-

'Sivajee was certainly a most extraordinary person; we view his talents with admiration, and his genius with wonder.'

अर्थ- निस्सन्देह शिवाजी श्रेष्ठकोटिके अलौकिक महापुरुष थे। हम उनके बुद्धि वैभव तथा बुद्धिकौशल्यको प्रशंसाकी दृष्टिसे देखते हैं और उनकी अलौकिक प्रतिभा तो हमें आश्चर्यचकित कर देती है।'

पाश्चात्य लेखकों द्वारा हम श्री शिवाजीकी तुलना विश्वेतिहासके महापुरुषोंके साथ की हुई पाते हैं। किन्तु हमारे नम्र मतसे इस तुलनामें श्री शिवाजीकी ही श्रेष्ठता सिद्ध होती है। प्राचीन यूनानके विजयी वीर सिकंदर महान्का उदाहरण लीजिये। वह एक श्रेष्ठ सेनानी तथा कुशल शासक था। किन्तु वह वैयक्तिक साहंकार महत्वाकांक्षासे प्रेरित था। वह अंततक विजयोन्मादका शिकार रहा। नैतिक दृष्टिसे भी उसका चरित्र शुद्ध नहीं था। एक पाश्चात्य लेखक द्वारा खींचा हुआ उसका शब्दचित्र निम्न प्रकारका है:—

'Great as were most of the actions of Alexander, he appears to have become intoxicated with success, and fell into habits of debanchery. In one of his drunken fits he set fire to and destroyed Persepolis at the bidding of one of his courtesans. (The new Encyclopaedia, Edited by N. C. O'Neill)

अर्थ:- "उसके अधिकतर कार्य श्रेष्ठ होनेपर भी वह विजयोन्मत्तसा था और व्यभिचारके दुर्व्यसनमें फंसा हुआ था। एक बार तो उसने अपनी एक रखेलीके कहनेसे पर्सेपॉलिसको आग लगाकर नष्ट कर दिया!"

ऐसे जीवनको किस प्रकार आदर्श माना जाय? इसे देखकर यही कहना पड़ता है कि कहाँ सिकन्दर और कहाँ प्रातःस्मरणीय शिवाजी!

हॅनिबाल प्राचीन कार्थेजका श्रेष्ठ सेनानी समझा जाता था। उसका भी जीवन आदर्श और स्पृहणीय नहीं कहा जा सकता। उसने अनेक बार अपने शत्रुओंपर नेत्रदीपक विजय प्राप्त की। किन्तु अंतमें उसे अपने शत्रुओंसे बचनेके लिये आत्महत्या करनी पड़ी। क्या इसे मानवजीवनके आदर्शके रूपमें स्वीकार किया जा सकता है? स्पष्ट ही इसका उत्तर नकारात्मक है।

फ्रांसके चक्रवर्ती सम्राट नेपोलियनका चित्र भी इससे भिन्न नहीं। प्रारंभमें उसे विपरीत परिस्थितिमें भी विजयश्रीने भूषित किया। किन्तु उसे अपने जीवनका अंतकाल सेंट हेलेनामें एक उपेक्षित कैदीके रूपमें बिताना पड़ा! यह है इस महापुरुषके जीवनकी शोककथा! यह किस प्रकार हमें अपना जीवन समुन्नत करनेके लिये स्फूर्ति और प्रेरणा दे सकती है?

इसके विपरीत ऋत सत्यपर पूर्ण रूपसे अधिष्ठित श्री शिवाजी महाराजका जीवन आज भी दीपस्तंभकी तरह पूर्णरूपसे प्रकाशप्रद और मार्गदर्शक है। उनके चरणोंमें शतशः प्रणाम।

नम्र निवेदन

'वैदिक धर्म' मासिकका वार्षिक मूल्य अबतक हमने अत्यंत अल्पही केवल ६ रु. ही रखा है, परन्तु सद्यः परिस्थितिके अत्यत महंगाईके कारण— कागज, स्याही, वेतनके आदिके मूल्य अत्यंतही बढ गये हैं, इस कारण दिनांक १ अगस्त १९७४ से 'वैदिकधर्म' मासिकका मूल्य १० रुपया किया जाता है। कृपया आप इसपर ध्यान दें और आपका सहयोग सदैवके लिये देते रहें, यही प्रार्थना है।

—व्यवस्थापक
वैदिकधर्म
स्वाध्याय मंडल पारडी

लेखक : श्री भैरवदत्त शुक्ल

वेद-प्रवचन-माला— (१)

अग्ने नय सुपथा राये !

प्राक्कथन

यजुर्वेदके चालीसवें अध्यायका ही 'ईशोपनिषद्' के नामसे भारतीय मुमुक्षु जनोंमें प्रचुर श्रद्धा सबलित प्रचार है। प्राय: उपनिषदोंके मर्म-तत्त्वकी उपेक्षा ही की गयी है जिसका प्रमुख कारण विविध ऐतिहासिक परिवेश- प्रसूत संप्रदायों एवम् निकायोंके प्रवर्त्तकों द्वारा खींच-तानके साथ औपनिषदिक मंत्रोंका मनमाना अर्थ करना और लोगोंमें इस अंध धारणाका बद्धमूल होना है कि उपनिषदोंमें घर-बारछोडकर बाबा बनते हुए भिक्षाके सम्बल पर जीवन-यापन करनेकाही प्रबल प्रतिपादन किया गया है।

वस्तुत: भारतीय जीवनके लिए श्रुति-स्मृति-समनुमोदित जिस वर्णाश्रम- पथका अनिवार्य ग्रहण करनेका आग्रह किया गया है, वह कर्मकी अविचल आधार-शिला पर विनिर्मित है और उसमें किसी प्रकारका खोखलापन नहीं है। यह तो हमारे विस्मरण एवम् विभ्रमका ही कुफल है कि हमने शिव-तत्त्वोंकी उपेक्षा करके अविवेकाश्रित मिथ्या प्रगति- प्रक्रिया अपनाकर वास्तविकतासे मुंह मोडते हुए अपनी सत्तापर प्रश्न-चिह्न लगानेकी लत डाल ली है। विश्वका कोई भी राष्ट्र कर्म- पराङ्मुख होकर विकास नहीं कर सकता। भारतमें सदियों पूर्वसे ही कलह-कलुष, कुविचार- कर्दम और अज्ञान- अंधकारके भटकावमें भटकते हुए विनाश-विपथगामें प्रवाहित होनेकी परम्परा अपनायी गयी है जिसे हटानेवाले समाज-सुधारकों, सिद्धान्त- प्रवर्त्तकों एवं राष्ट्र- हितैषियोंके प्रयासों पर पानी फेर कर आज भी हम उन्मत्त सुरापी वत् डगमगाते- लडखडाते चल रहे हैं। हम जागते हुए भी बेहोश हैं, बढते हुए भी पीछे खिसक रहे हैं, उन्नति करते हुए भी पतनके कगार पर आ पहुंचे हैं। यदि इस विनाश- वेलामें हमारे नेत्र न खुले, हमने- श्रुति-रिक्थका आश्रय न लिया और कर्मपरक समन्वयके सूत्र जोडनेमें न जुटे तो हमारा सर्वनाश निश्चित है।

इसीलिए यह लिखनेके लिए विवश होना पड रहा है कि आधुनिक मत-वादोंकी बुनियाद पर बनेनश्वर सिद्धान्तोंकी ओर बेतहाशा दौडनेकी अपेक्षा हमें अपने वेद- रिक्थका परिचय प्राप्त करके, उसे जीवनकी ठोस व्यावहारिकता पर प्रतिष्ठित करना वाञ्छित हो गया है। उल्लिखित यजुर्वेदका ही एक मंत्र है—

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्
विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते
नम उक्तिं विधेम ॥ ४०।१६

जिसका सरल तात्पर्य यह है कि सबको आगे ले जानेवाले ज्ञान-रूप परमेश्वर। आप कृपा करके हमें विश्वविभव एवं मोक्ष पानेके हितार्थ उत्तम, धर्म- पूरित आप्त सुधियों द्वारा निवेशित पथसे चलनेके लिए प्रेरित करें। हे समग्र सुख- प्रदायक प्रभु! आप हमारे समस्त आचारों एवम् विचारोंसे पूर्ण रूपेण परिचित हैं। अतएव हमसे कुटिलता-परिपूर्ण पाप, दोष या बुराई दूर कर दें। आपके इस असीम कृपा-संवलित अनुग्रहके लिए हम आपके प्रति भूयश: विनम्रस्तुति समर्पित करते हैं।

(१) अग्ने- यहाँ 'अग्नि' सभीको अग्रसर करनेवाला प्रभु है। वह परमात्मा, नेता, गुरु, उपदेशक, सेनापति,

आत्मा- सभीके लिए व्यवहृत हुआ है। इस जीवनमें विभिन्न स्थितियाँ आती हैं। समस्त सृष्टिके कार्य-व्यापार आगे ही बढनेके लिए हैं। उनमें ज्ञान, बल, ग्रहण, प्रयोग आदि समस्त वृत्तियोंका समुच्चय होता है। जिस क्षेत्रके जिस विभागमें जैसी अग्रसर होनेकी अपेक्षा है, उसके लिए वैसे ही 'अग्नि' का होना अनिवार्य है। बिना 'अग्नि' या अग्रणीके न तो विद्याका विकास हो सकता है, न कृषि-कार्य सफलता प्राप्त कर सकते हैं, न देश-रक्षा सम्पादित की जा सकती है, न लोक-हित एवं परोपकारका प्रसार सम्भव है और न सांस्कृतिक आयोजनोंकी सुचारुता ही स्थिर रह सकती है। इन्द्रियोंके भी विविध कार्यो और विभागोंमें सु-संचालन, सन्तुलन और स्थायित्व उसी समय तक रहता है, जबतक आत्मा रूपी अग्रणी अपने गुरुतम दायित्वोंके पालनमें उद्यत् प्रतीत होता है। आत्माके खिसकते ही श्रोतेन्द्रिय कुछ भी सुननेसे इन्कार कर देती है, घ्राणेन्द्रिय सुंघना बन्द कर देती है, नेत्र खुले के खुले रहकर देखनेसे रहित हो जाते हैं और मनका मनन एवम् चित्तका चिन्तन ठप हो जाता है।

हमें इसी प्रकार जीवनके सभी क्षेत्रोंमें 'अग्रणी' की उपादेयता पहिचानते हुए सर्व प्रथम उसे प्रतिष्ठित करके, उसकी सामर्थ्यका सदुपयोग करना चाहिए। सच तो यह है कि मानव-जीवन जितना ही अधिक महत्त्वपूर्ण और गौरवशाली है, उतना ही उसका मार्ग अत्यन्त भयावह, कण्टक-पूरित और विषम है। तनिक भी असावधानी हुई नहीं कि पतनके गर्त्तमें लुढकना पडता है। पदे-पदे अवरोध मिलते हैं और क्षणे-क्षणे पथ-भ्रष्टता, विनाश एवं अधः पतन। किन्तु, इस भयंकरतासे त्रस्त होना कायरता है, कण्टकों या अवरोधोंकी कल्पना मात्रसे सिहर उठना अपने दायित्व भुलाकर नियतिकी गोदमें लुढक कर दुबकनेके समान आत्मघाती कदम है और पतनके भयसे रुक जाना ही मृत्यु है। कहा गया है—

गिरते हैं शह सवारही मैदाने जंगमें।
वे क्या गिरेंगे ? जो कि तिफलोंके बल चलें॥

हमें घुटनोंके बल नहीं चलना है। हमें तो 'शह सवार' बनना है। हम पर क्रोध हमला करता है, किया करे; हमें काम फुसलाता है, फुसलाया करे; हमारे मार्ग पर द्वेष खडा हो जाता है, खडा होता रहे; हम तो बढनेका व्रत ले चुके हैं। हमें इसकी क्या चिन्ता ?

यह भी सही है कि हम दीन और दुःखी है, अशक्त और असहाय है, अज्ञानी अविवेकी हैं, अधकारमें भटक रहे हैं पर हमारा पथ-संचालक, सफल निदेशक 'अग्नि' या अग्रणी तो समृद्धिसे पूर्ण है, सर्व शक्तिशाली है, समस्त ज्ञान एवं विवेकका सागर है और सतत ज्योति स्वरूप है।

हम उसकी क्षमताके प्रति आश्वस्त हैं। तभी तो संसार रूपी अगम अथाह बहुत बडे सागरमें सन्तरण करनेके लिए उत्सुक अधीर बने हुए हैं। ईर्ष्या द्वेषरूपी मछलियाँ हमारा क्या कर लेंगी ? काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार जैसे नक्र घडियाल हमारा क्या बिगाड लेंगे ? चाहे जैसी लोल लहरें उठें, चाहे जैसे ज्वार-भाटे आयें और चाहे जितनी आँधियाँ उमडें; हम तो विपत्तियोंमें पलकर बढनेवाले वीर हैं।

जब उपर्युक्त अनुभूतियाँ हमारी शिरा शिरा, साँस-साँसमें बस जायेंगी, तभी हम अपने अग्रणीको सबोधित कर सकेंगे। यह सामर्थ्य मानवोंके हृदयमें तभी संचित हो सकती है जब कि वे अपने शरीरको अधम, अपवित्र और पीब-विष्ठाका घर न समझें। वह तो एक रथके समान है जिसका स्वामी आत्मा है, सारथी बुद्धि है और मन घोडोंके मुंहमें लगी लगामके समान है।

भगवान् यमने यह बात नचिकेतासे बतलायी है—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥

—कठोपनिषद् : ३।३

भला हम यह क्यों चाहने लगे कि अज्ञानी अपरिपक्व सारथीकी भाँति विषय-रस-लोलुपा बनकर बुद्धि हमारे शरीररूपी रथको कुमार्ग पर पहुँचाये या ठीक मार्गसे हटा दे। इसलिए हममें अपने अग्रणीसे यह निवेदन करनेकी सामर्थ्य होना वांछित है कि वह बुद्धिरूपी सारथीको शिव प्रेरणा प्रदान करके, हमारे शरीर-रथको गन्तव्य लक्ष्यतक पहुँच जानेमें सहायक बने। इसीलिये तो स्पष्ट किया गया है कि—

पथमु त्वा पथस्पते रथं न वाजसातये।
धिये पूषन्नयुज्महि॥ ऋग्वेद ६।५३।१

हे मार्गके प्रभु ! पथ प्रदर्शक ! पूषन् ! हम ऐश्वर्य उपलब्धिके लिए, मेधा बुद्धिके लिए, सत्वर तीव्रतासे ले जानेके लिए आपको स्वकीय पथ-प्रदर्शक नियुक्त करते हैं।

(२) अस्मान् राये सुपथा नय- हम मानव इस संसारमें धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष सदृश पुरुषार्थ चतुष्टयकी पूर्तिके लक्ष्यके लिए जीवन धारण करते हैं। इहलौकिक जीवनके सर्वतो मुखी विकासके लिए धनकी महती अपेक्षा होती है। यही कारण है कि स्वार्थ एवं द्वेषसे रहित व्यापक धरातल पर अधिष्ठित धनकी प्रार्थनासे संबद्ध कई वैदिक स्थल मिलते हैं। एक स्थल पर घोषित किया गया है—

वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥ यजुर्वेद २३।६५

हे प्रभु ! हम सार्वजनिक हितोन्मुख धन एवं ऐश्वर्योंके स्वामी या रखने वाले बनें।

यही नहीं—

अथो अन्नस्य कीलाल उपहूतो गृहेषु नः ॥

यजुर्वेद ३।४३

हमारे गृहोंमें अन्नोंके कीलाल (बखार) लगे हुए हों। पर, चाहे जितना सार्वजनिक हित ध्यानमें रखा जाये, स्वार्थ एवम् द्वेषसे दूर रहनेका प्रयास किया जाये और धनके साधन- रूपको साध्य न बनाया जाये फिर भी कोरी धन एवम् ऐश्वर्य पर आधृत समृद्धि व्यक्ति, राष्ट्र समाज एवम् विश्वको सन्तुष्ट नहीं कर सकती। यदि धनैश्वर्यका साहित्य हमें जीवनके आवश्यक उपादानोंसे वंचित रखकर पशु-कोटिमें समाविष्ट कर देता है तो केवल धनैश्वर्यका प्राचुर्य हमें विवेकभ्रष्ट, शोषक, विनाशकारी एवम् दुराचारी रूपमें परिवर्तित करके 'रावण' की स्थिति पर पहुँचा देता है। यह समृद्धिपूर्ण न होकर, आत्माके संस्पर्शसे वंचित रहती है। इसके ज्वलन्त उदाहरण रावण, कंस, हिटलर, मुसोलिनीके जीवन और फ्रांस, अमेरिका, ब्रिटेन आदि देशोंकी परिस्थिति है।

इसीलिए हम केवल इहलौकिक उन्नति ही न चाहकर पारलौकिक उन्नतिको भी पानेके लिए लालायित हैं। हमें अभ्युदय एवम् निःश्रेयस्- दोनोंका समन्वय वाछित है। हमें भौतिक समृद्धिके साथ मोक्षकी स्थिति भी मिलनी चाहिए। क्योंकि मोक्ष-धाम सन्तोष प्रदान करता है, आत्माको आनन्दमय बनाता है—

यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते।
कामस्य यत्राप्ताः कामास्तत्र माममृतं कृधी-
न्द्रायेन्दो परि स्रव ॥ ऋग्वेद ९।११३।११

अर्थात् जिस लोकमें समस्त कोटियोंकी ऋद्धियाँ है, हर्ष हैं, हर्षप्रदायक संपदा- समुच्चय हैं, आहलादकारी ऐश्वर्य भरे हुए है और जहाँ जीवात्माकी सपूर्ण कामनाएँ पूर्ण हो जाया करती है, हे प्रभु ! तू मुझे वहाँ पहुँचाकर अमरता प्रदान कर दे ! हे दयालु ! तू द्रवित होकर आनन्द-वृष्टि कर दे।

परन्तु हमारा समग्र ऐश्वर्य एवं मोक्ष-समन्वित रथि-पारावार जिस आधार-शिला पर ठहर कर किलके-पुलके, बढ़े-चले, ऊर्मिल-आन्दोलित हो; वह अन्यायके गारेसे न बनी हो, दंभके चूनेसे न पुती हो पापाचारिणी प्रवृत्तियोंकी ईंटोंसे युक्त न हो और ढोंग एवम् अंधविश्वासकी सीमेंटसे जोडी न गयी हो। सीधा तात्पर्य यही है कि हम व्यष्टिगत या समष्टिगत अभ्युदय एवम् निःश्रेयस्की प्राप्तिके लिए जो भी साधना करें, हमारे जितने भी श्रम-आश्रमके परिवेश हों; उन सबका मूलाधार सच्चाई निष्ठा एवम् न्याय हो। धर्मकी दृढता एवं सुमार्गकी उदारताके संबलपर ही कल्याण की किलकारी गूंजती है। ईमानदारीसे भरी कमाईपर ही जीवनकी इमारत सज-सँवर कर सदैवके लिए टिकी रह पाती है।

फिर भला, हम अपने अग्रणीसे कम काम और अधिक लाभकी याचना करनेकी भूल कैसे कर सकते है ? हमारी कामना तो यही होगी कि हे प्रभु ! हम धन कमाकर जीवनके सर्वोच्च सोपानोंपर पहुँच जायें किन्तु हमारा मार्ग धर्म और सच्चाईका हो। ऐसे ही हम मोक्षके आकाश-चुंबी शिखर पर आरोहण करें पर हमारे गलेमें दुलारे धर्मकी बलिष्ठ भुजाएँ अवश्य पडी हों।

वैदिक जीवन एवं संस्कृतिमें अलगाव, बिखराव और दुरावके लिए स्थान नहीं है। उसमें तो सामूहिकता, सार्वजनीनता समष्टि परक सचेतना काही प्राधान्य परिलक्षित होता है। इसीलिए विवेच्य मंत्रमें भी जब हम अग्रणीसे ऐश्वर्य और मोक्ष-प्राप्तिके लिए प्रार्थना करते है तो उसमें 'मे' नहीं, 'हम' का बोल बाला होता है। यह सामूहिकता ही 'कृण्वन्तो विश्व मार्यम्' का प्रथम और महत्वपूर्ण उपादान है। कितना अच्छा भाव है।

हे प्रभु ! हमें ऐश्वर्य दीजिए !
हे प्रभु ! हमें मोक्षकी चरम सीमा पर ले जाइए !
किन्तु हे प्रभु ! हम सु-पथसे विचलित न हों !
ध्यान रहे हे प्रभु !, हमें धर्मका संबल मिलता रहे !

आपकी ऐसी कृपा हो हे प्रभु !, कि पूर्वजों, महापुरुषोंके व्यावहारिक सिद्धान्तों एवं सविधानोंका हमें बल मिले। इसमें कहीं भी 'मे' नहीं। और जहाँ 'मे' नहीं, वहाँ बिखराव नहीं हो सकता, भ्रष्टाचार नहीं चल सकता और ढोंग नहीं चल सकता।

(३) विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्– हमें ज्ञानकी उच्चतम चोटी पर पहुँचनेके लिए सर्वप्रथम शिक्षकके सामने अपनी समग्र अर्हताओंका परिचय देना पड़ता है। यदि हमने इण्टर किया है तो किस श्रेणीमें, किस वर्षमें, किस संस्थाके कौनसे केन्द्रसे और किस वर्गके किन विषयोंसे ? आदि प्रश्नोंके प्रामाणिक उत्तरोंके अनन्तरही हमारा बी. ए. में प्रवेश हो पाता है। यही स्थिति प्रसंग एवम् परिवेशके अनुसार, ज्ञानके प्रत्येक क्षेत्रमें कम या अधिक प्राप्त होती है।

एक औपनिषदिक प्रसंग है— एक बार देवर्षि नारदने महर्षि सनत्कुमारके समीप पहुँचकर ब्रह्म विद्या पढ़ानेके लिए प्रार्थना की। सनत्कुमारने प्रश्न किया— 'सर्व प्रथम यह सूचित करो कि तुमने क्या और कितना अध्ययन किया है ? इतना जाननेके अनन्तरही, मैं अग्रिम सीढ़ीका अध्यापन– क्रम क्रियान्वित करूंगा।'

नारदने विनम्रताके साथ उत्तर दिया— 'हे भगवन् ! मैंने ऋग्वेदका अध्ययन किया है, यजुर्वेद, सामवेद और चौथे अथर्ववेदको भी पढ़ लिया है; इतिहास-पुराण और ब्राह्मण-ग्रंथोंका भी स्वाध्यायपूर्ण कर चुका हूं। व्याकरण निरुक्त– शिक्षा– ज्योतिष प्रभृतिके समुच्चय (वेदानां वेदम्)के अनुशीलनके साथही पितृ विद्या, गणितशास्त्र, दैव विज्ञान, नैधिकी वाक् तर्कशास्त्र नीतिशास्त्र, देव-विद्या, ब्रह्म विद्या, भूत विद्या, क्षत्र-विद्या, नक्षत्र-विद्या (खगोल शास्त्र) सर्प-विद्या, गान्धर्व-विद्या इतनी विद्याओंका भी अध्ययन किया है।'

तदुपरान्त सनत्कुमारने उन्हें ब्रह्मविद्याके उच्चतम सोपानोंको शिक्षा प्रदान की।

—छान्दोग्य उपनिषद् ७।१।२]

यही परंपरागत एवम् प्राकृतिक ज्ञान-प्राप्ति-सबद्ध कारण है जिसे ध्यानमे रखकर हम जिज्ञासुके रूपमें अपने अग्रणीके सामने पहुंचकर केवल इतना कहते हैं कि हे प्रभु ! हम अपने ज्ञानका परिचय देनेकी औपचारिकताका परिपालन करना व्यर्थ समझते हैं क्योंकि आपकी सर्वातिशायी प्रखर दृष्टिसे हमारे समस्त विचारों आचारों, ज्ञानों कर्मों सूत्रों प्रयोगों और सिद्धान्तों व्यवहारोंका सूक्ष्मसे सूक्ष्म अंश भी तो ओझल नहीं है। आप हमारी प्रत्येक बात और क्रियासे परिचित हैं, गति एवं चेष्टा की हरएक सांसका स्पर्श कर लेते हैं।

इस मंत्र भागसे यह भी स्पष्ट होता है कि वैदिक व्यवस्थामें केवल परमेश्वरही नहीं, वरन् गुरु, सेनापति, शासक, आत्मा यानी किसी भी कोटीका अग्रणी अपने शिष्यों, सैनिकों, शासितों, इन्द्रिय कार्य कर्त्ताओं यानी अनुयायियोंकी प्रत्येक गति एवम् चेष्टा, विचार एवम् आचारसे पूर्ण परिचित स्वीकार किया गया है। वर्तमान समयमें अग्रणीमें इस विशेषताका अभाव होनेकाही यह दुष्परिणाम है कि उसके अनुशासन एवं नियमनकी परिधिसे अलग हटकर उसके अनुयायी पारस्परिक कलह कर्दममें धँसते हुए कर्तव्य-च्युत-से हो गये हैं। इसीलिए सही नेतृत्वका संकट उभरकर आ गया है और एक दूसरे पर कीचड़ उछालकर अपने दोष छिपानेमें चातुर्य समझा जाने लगा है। फिर भला, ज्ञानके विकासमें अवरोध क्यों न आयें ?

'वेद' में 'अग्रणी' के विषयमें स्पष्ट बतलाया गया है– 'जो खड़ा है जो गति-शील है, जो धोखा देता है, जो कुटिल चाल चलता है, जो छिपकर बढ़नेका अभ्यासी है, कुचक्र आयोजित करता है, जो औरों पर भयका घेरा डालता है यही नहीं– जो दो व्यक्ति एक स्थान पर बैठकर गुप्त मंत्रणा करते हैं– उनमें तीसरेके रूपमें स्थित रहकर सर्व प्रकाशक, सर्वोपरि अन्तर्यामी-वरुण न्यायकारी प्रभु उसे जान लेता है।

यस्तिष्ठति चरति यश्च वञ्चति यो निलायं चरति यः प्रतङ्कम्। द्वौ संनिषद्य यन्मन्त्रयेते राजा तद्वेद वरुण-स्तृतीयः॥ अथर्ववेद; ४।१६।२

हम पाप– भावना उसी समय लाते हैं, जब एकान्त मिलता है। जब यह समझ लिया जाता है कि यहां दूसरा कोई नहीं है, उसी समय छिपकर दोषोंके पालनेकी प्रवृत्ति पनपती है। यह कुप्रवृत्ति कभी 'हम' में नहीं हो सकती, 'मैं' में होती है। कारण यह है कि 'हम' अकेला नहीं रह सकता जब कि संकुचित 'मैं' दूसरेको देखना तक पसन्द नहीं करता। ईश्वरकी सर्व व्यापकता समझ लेने पर मनुष्य पाप नहीं कर सकता। आस्तिक धर्मनिष्ठ ईश्वर-भक्त होकर भी जो लोग पाप करते हैं, उनमें आस्तिकता नहीं होती, धर्म नहीं दिखता, भक्ति नहीं पलती वरन् मिथ्या विश्वासका असीम प्रसार होता है, रूढ़ि वाद पनपता है और अंधश्रद्धाकी सत्ता हावी हो जाती है।

जब हम ईश्वरको किसी सीमामें बद्ध माननेकी अपेक्षा, सर्वव्यापक, सर्व द्रष्टा, सर्व नियन्ता समझ लेते हैं तो हमारे मानसिक क्षेत्रमें यह बात घर कर लेती है कि प्रभु हमारी एक-एक चेष्टा और गति पर दृष्टि जमाये रखते हैं। गत मोक्षसे लेकर अबतक हमें जो-जो योनियां प्राप्त हुईं, जितनी जननियां मिलीं, जितने पिता, भाई, या मित्रके

दायित्व मिले, जितने झटकावोंमें पड़कर विस्तृत पथ पार करना पड़ा, जो-जो पाप और पुण्य करने पड़े, अपकार-उपकार पालने पड़े, उन सबकी समग्र रूप-रेखा प्रभुके सामने प्रकट है।

(४) युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनः- हे प्रभु ! हमारे मन, चित्त, अन्तःकरण-संबद्ध आंतरिक संसार और बुद्धि-व्यापारसे कुटिल पाप हटा दीजिए ! हम पापोंकी क्षमा नहीं चाहते ! हम त्रुटियोंका जो भी नतीजा निकले उसका स्वागत करनेके लिए प्रस्तुत हैं। हमारी लालसा केवल इतनी है कि हममें कुटिल पाप न पलें।

वस्तुतः पाप हाथ, आँख कान, नाक प्रभृति इन्द्रियोंमें नहीं है। वह हमारे हृदयकी कोमलता, बुद्धिकी अस्थिरता और मस्तिष्ककी चचलतासे संबंधित है। इसीलिए वह और उसका परिवार कुटिल होता है। वह पापकी ही शक्ति है जो हमारे संकल्पोंमें संशयके बीज बो देती है, व्रतोंमें अप्सराओं और गंधर्वों रूपी अवरोध खड़े कर देती है, कर्मोंको विनाशकारी बना देती है और लक्ष्यमें च्युति कर संघर्ष कराये बिना चैनसे नहीं रहती।

पापकेही अस्तित्वसे ब्रह्मचर्य, संयम और नियमनका अन्त हो जाता है, शुभ भावनाएं अशुभ बन जाती हैं और लोकसेवा लोक-क्षतिमें बदल जाती है। इसीलिए हमारा शिव स्वरूप पापसे अलग रहनेका इच्छुक है, हमारा सुन्दर जीवन पापकी कालिमासे बचना चाहता है और हमारे सत्यरूपी प्राण पापजन्य अनृतसे छू जाना तक बुरा मानते हैं। अधिभूत अधिदैव और अध्यात्म प्रभृति सभी क्षेत्रोंके अग्रणी प्रभुसे इसीलिए हम कुटिल पापसे स्वयंको सुरक्षित रखनेके लिए प्रार्थना करते हैं कि हमसे कुटिल पाप दूर कर दो !

उपर्युक्त चार सोपान लांघ लेने पर हमारे पास किसी भी सुविधाका टोटा नहीं हो सकता, किसी भी साधनका अभाव नहीं रह सकता। कोई भी विभव चाहे वह सांसारिक ऐश्वर्य हो या पारलौकिक मोक्ष- हमसे दूर नहीं रह सकता। तदनन्तर पांचवें सोपानकी चरम सीमा आ जाती है। वह है—

(५) भूयिष्ठान्ते नम उक्तिं विधेम- अपने अग्रणीसे यह बतलानेका भाव कि हे स्वामी ! आपने हमें सु-पथकी ओर संकेत किया, लौकिक संपत्ति और पार लौकिक मोक्षके समन्वय पर भूमा तत्त्वसे पूर्ण रूपसे समृद्ध किया और हमारे कुटिल पाप दूर निकाल कर फेंक दिया, इस उपकारके बदले हम आपको कुछ देनेकी स्थितिमें नहीं हैं। सब कुछ आपसे मिला हम क्या आपको दें और कैसे दें।

इसलिए हम उपरि संकेतित समस्त उपकारोंके बदले आपके प्रति बारम्बार विनम्र स्तुति समर्पित करते हैं। इस स्तुतिमें प्रार्थना और उपासनाका पुट होगा। हम 'तोता रटन्त' जैसी औपचारिकताके रूपमें लायी गयी जप-प्रक्रिया नहीं अपनायेंगे, नामकीर्तनका थोथा प्रदर्शन नहीं करेंगे। हम जो भी स्तुति करेंगे- उसमें जो भी आपके गुण वर्णित होंगे, उनका परिचय, मनन, चिन्तन, धारण एवम् व्यवहार कर लेनेके कारण, उन्हें अपने जीवन-पथ एवम् लक्ष्य-प्राप्तिका सबल संबल स्वीकार कर लेंगे। हमारे लिए उच्चतम सोपान और निम्न तम सोपान- दोनोंका महत्त्व समान है। हम निम्नतम सोपानसे उच्चतम सोपानकी ओर बढते हैं और उच्चतम सोपानसे निम्नतम सोपानकी ओर अवतरित होते हैं।

इसी नियमके अनुसार, हम विभव और मोक्षकी उपलब्धिके लिए सुपथ- संकेत सदृश 'अग्रणी' की कृपाके बदले उसकी स्तुति, प्रार्थना एवम् उपासना करनेका संकल्प व्यक्त करते हैं और इसी संकल्प- व्यक्ती करणकी प्रक्रियासे सुपथ पर चल कर सांसारिक सुख-सुविधा, विभव आदिका समाविष्ट परक उपभोग करते हुए मोक्षके धाम तक पहुँचते हैं। इसीलिए हममें सर्जन होता है, शांति होती है, सहयोग पनपता है संघ-भावना अभिवृद्ध होती है। हमारा जीवन पारस्परिक सेवाका साधन बन जाता है।

जब हम इतनी भाव-भूमिकामें पहुँच जानेकी स्थितिमें हो जायें, तभी इस याजुष मंत्रका वास्तविक तात्पर्य समझमें आ सकेगा। समझमें आ जानेके बाद, उसे प्रयोगके निकष पर कस लेनेके अनन्तर, व्यावहारिक रूप देना वांछित होगा।

बकासुरकी लीला

[१] भारतकालीन विविध देश

महाभारतका पाठ ऐतिहासिक दृष्टिसे जो करते हैं, उनको उसी समय पता लगता है कि, असुर, सुर, गंधर्व, किन्नर, भूत, आर्य, सर्प, वानर आदि अनेक जातिके लोगोंका संबंध महाभारतकी कथामें आ गया है। विशेष आंदोलनके पश्चात् हमने निश्चय किया है कि-

(१) 'असुर लोक' अथवा असुरदेश आजकलका बैक्ट्रीया तथा असीरिया है। बैक्ट्रीया देशसे 'बक' नामक असुर आते थे, जिनको उस समयके लोग बकासुर कहा करते थे। (२) 'सुरलोक' अथवा सुरों किंवा देवोंका प्रदेश 'त्रिविष्टप' किंवा आजकलका तिब्बत है; (३) 'गंधर्वलोक' अथवा गंधर्वजातिका रहनेका स्थान हिमालयकी तराई ही है; (४) 'किन्नरलोक' गंधर्वदेशके निचले स्थान पर है। (५) 'भूत लोक' अथवा भूत जातिके लोगोंका स्थान आजकलका 'भूतान' है, जिसका नाम भूतस्थान ही है। (६) 'आर्य लोक' आर्यावर्त हो है। (७) 'सर्पलोक' किंवा सर्पजातिके लोगोंका स्थान दक्षिण भारत और (८) दण्डकारण्यके कुछ हिस्सोंमें 'वानर' जातिके लोगोंका स्थान है। इनके स्थाननिर्देश नियत करनेका कार्य चल रहा है, वह समाप्त होनेपर पाठकोंके पास उसके चित्र भी दिये जायेंगे।

(२) बनावटी मुख पहननेकी प्रथा।

असुरलोग नरमांस खानेवाले, क्रूर और अत्याचारी थे; सुर अथवा देव 'लोग' गणसंस्थाके अनुसार रहते थे और इनमें गणस्त्रियोंकी रीति थी। गणसंस्थाका वर्णन हम एक स्वतंत्र लेखमें करेंगे। गंधर्वलोग नाचने, गाने और बजानेमें कुशल थे। किन्नर लोग प्रायः जंगली थे। भूतलोग विविध पशुपक्षियोंके बनावटी मुख लगाकर घूमते थे, इसलिये इनको 'काम-रूपी' कहा जाता था। राक्षस लोग भी इन रीतियोंका प्रयोग करते थे। अश्वमुख, उष्ट्रमुख, व्याघ्रमुख आदि पशुओंके मुख बनावटी लगाना और लोगोंको डराना, इनकी हमेशाकी पद्धति थी। दशमुख रावण भी संभवतः अपने सिरपर दस मुखोंकी बनावटी शकल लगाता ही होगा। भूतान और हिमालयके कई भागोंमें इस प्रकार बनावटी मुख लगानेकी रीति इस समय भी है। यह रीति महाभारतीय समयमें बहुत थी।

इसका उद्देश्य साधारण मूढ जनोंको डराना था। इस समय भी हमारे काले भाई गोरे लोगोंका बूट सूट, हैट आदि लगाकर अपने आपको 'बडा साब' बताते हुए रेलोंमें सवार होकर अपनेही गरीब और मूढ भाइयोंको कितना सताते और डराते हैं, यह बात सुप्रसिद्ध है। यही मानवी स्वभाव पांच सहस्र वर्षोंके पूर्व पूर्वोक्त बनावटी मुखोंके ढांचोंसे व्यक्त होता था। आर्यावर्तके अनपढ लोगोंको डरानेके लिये और इनसे अपना मनमाना मनोरथ सिद्ध करनेके लिये यह किया जाता था।

आर्यलोग न तो राक्षसोंके समान नरमांसभोजी थे, न देवोंके समान गणसंस्थामें रहनेवाले और न भूतोंके समान डरावेके लिये बनावटी मुख धारण करनेवाले थे। परन्तु ये लोग राक्षसोंका शौर्य, देवोंकी सभ्य युक्ति और भूतोंका युद्धकौशल अपना कर अपनी पूर्ण उन्नति करनेमें दक्ष थे। तथापि साधारण जनता थोडीसी बातसे डरनेवाली, मरियल, दुर्बल और अज्ञानीही थी।

सर्प जातिके लोग छिपकर हमला करनेवाले थे और वानरजाति प्रायः नंगीही रहती थी। इनमें बहुत थोडे लोग वस्त्रादिसे आच्छादित भी होते थे। वह जाति इस समय भी म्हैसूरराज्यके जंगलोंमें विद्यमान है, ये कपडा देनेपर भी उसको पहनना 'अधर्म' समझते हैं और अपना छप्पर वृक्षपरही बनाकर रहते हैं।

पांच सहस्र वर्षोंके पूर्व इतनी जातियोंके लोगोंसे आर्योंका राजकीय, धार्मिक तथा अन्य संबंध होता था। इस समयका मनोरंजक इतिहास महाभारतमें पाठक देख सकते हैं। उदाहरणके लिये 'बकासुर' की कथा लीजिये। आदिपर्व के १५९ अध्यायसे

१६६ अध्याय तक यह कथा है और इसके पढनेसे उस समयके समाजका चित्र पाठकोंके सामने आ जाता है। कथा इस प्रकार है—

[३] वेत्रकीय राज्य।

वेत्रकीयगृह नामक एक छोटासा स्थान अथवा छोटीसी रियासत गंगानदीके उत्तर किनारे और हिमाचलसे दक्षिण दिशामें थी। यह प्रांत आजकलके संयुक्तप्रांतमें लखनौकी उत्तर दिशामें था। यहां एक छोटासा दुर्बल और अनपढ राजा राज्य करता था। इसका वर्णन यह है—

वेत्रकीयगृहे राजा नायं नयमिहास्थितः।
उपायं तं न कुरुते यत्नादपि स मंदधीः॥ ९॥
अनामयं जनस्यास्य येन स्यादद्य शाश्वताम् १०
एतदर्हा वयं नूनं वसामो दुर्बलस्य ये।
विषयं नित्यमुद्विग्नाः कुराजानमुपाश्रिताः॥
(म. भा. आदि अ. १६२)

'इस स्थानमें वेत्रकीयगृह नामक एक स्थान है, वहां इस देशका राजा रहता है, वह बुद्धिहीन राजा राजनीतिका आश्रय नहीं करता। यद्यपि राक्षसोंका वधके लिये वह स्वयं असमर्थ है, तथापि यत्नसे ऐसा कोई उपाय नहीं ढूंढता, कि जिससे इन सब लोगोंके लिये सदा कुशल हो जाय। हम लोग उस दुर्बल और बुरे राजाके भरोसेपर सदा भयभीत होकर भी उसके ही अधिकारमें रहते हैं, इसलिये हम ऐसे दुःखके भोगनेके योग्यही हैं।'

[४] पांडवोंका निवास।

इस वेत्रकीयगृहनामक छोटीसी रियासतमें एकचक्रा नामक एक नगरी थी, इस नगरीमें एक विद्वान् ब्राह्मणके घरमें गुप्त रूपसे कुंतीसहित पांचों पांडव विद्याध्ययन करते हुए और भिक्षावृत्तिसे गुजारा करते हुए रहते थे। दुष्ट दुर्योधनके लाक्षागृहमें पांडवोंको जला मारनेकी युक्तिको पहले जानकर गुप्त रीतिसे महामना विदुरजीका सहाय्य लेकर उस लाक्षागृहको स्वयंही आग लगाकर छिपछिप कर पांडव भागे थे। वे जंगलों और वनोंमें भ्रमण करते करते इस एकचक्रा नगरीमें धीमान् व्यास मुनिकी प्रेरणासे इसी ब्राह्मणके घरमें रहे थे। सब लोग पांडवोंको जले और मरेही मानते थे, परंतु केवल महामना विदुर और धीमान् व्यासदेव यही दो तथा तीसरा विदुरका शिल्पी इतने तीन लोग पांडवोंका जीवित रहना जानते थे। यदि कौरव इन पांडवोंका अस्तित्व जानते, तो उनको युक्ति-प्रयुक्तिसे नष्ट करनेके लिये वे कटिबद्धही थे, इसीलिये इस समय पांडवोंको ब्राह्मणोंके पहनावसे वेदाध्ययन करते हुए और भिक्षावृत्तिसे आजीविका करते हुए, इस एकचक्रा नगरमें रहना आवश्यक हुआ था। राजकीय घटनाओंके कारण समय समयपर इस प्रकार गुप्त भाव रखनेके लिये वेषांतरसे रहना बडे बडे लोगोंको, भी आवश्यक होताही है।

जिस ब्राह्मणके घरमें पांडव रहते थे, उस ब्राह्मणके कुंतीके साथके भाषणमें पूर्वोक्त श्लोक आ गये हैं। उन श्लोकोंमें जो इतिहास है, उससे निम्न राजकीय घटनाका पता स्पष्टतासे लगता है—

[५] वेत्रकीय रियासतका दुर्बल राजा।

(१) वेत्रकीयगृह नामक रियासतका राजा अत्यंत दुर्बल, राजनीति न जाननेवाला, स्वयं राक्षसोंके साथ युद्ध करनेमें असमर्थ, किसी एक राक्षसका मुकाबला करनेके लिये भी असमर्थ, तथा दूसरे रियासतोंकी मददसे राक्षसोंको हटानेमें भी असमर्थ था।

(२) इस रियासतमें नगर नगरमें राक्षस रहते थे। वे नगरके बाहर वनों और उद्यानोंमें अपने डेरे लगाकर रहते थे और जिस नगरके पास वे अपना डेरा जमा लेते थे, उस नगरसे अपनी आजीविकाके लिये आवश्यक भोजनादिक सब पदार्थ जबरदस्ती से लेते थे और न देनेपर उस नगरके लोगोंपर मनमाना अत्याचार करते थे।

(३) इन राक्षसोंका दंड करनेका सामर्थ्य उन रियासती राजाओंमें न था। इस कारण सर्वसाधारण जनताके पीछे एक तो अपने निजू रियासती राजाका भय रहता था और दूसरा राक्षसोंका उपद्रव हमेशा रहता था।

(४) इस कारण जनता अत्यंत दुःखी और दीन बनी थी।

जिस एकचक्रा नगरीमें पांडव गुप्तभावसे रहते थे, उस नगरके समीपके वनमें 'बकासुर' नामक

एक राक्षस अपने बडे परिवारसमवेत रहता था। देखिये इसका वर्णन—

[६] नगरके रखवारे असुर।

समीपं नगरस्याऽस्य बको वसति राक्षसः।
ईशो जनपदस्याऽस्य पुरस्य च महाबलः॥ ३॥
पुष्टो मानुषमांसेन दुर्बुद्धिः पुरुषादकः।
रक्षत्यसुरराट् नित्यमिमं जनपदं बली॥ ४॥
नगरं चैव देशं च रक्षोबलसमन्वितः।
तत्कृते परचक्राच्च भूतेभ्यश्च न नो भयम्॥
वेतनं तस्य विहितं शालिवाहस्य भोजनम्।
महिषौ पुरुषश्चैको यस्तदादाय गच्छति॥ ६॥
एकैकश्चापि पुरुषस्तत्प्रयच्छति भोजनं।
स वारो बहुभिर्वर्षैर्भवत्यसुकरो नरैः॥ ७॥
(म. भा. आदि. अ. १६२)

'इस नगरके निकट बक नामक एक महाबली राक्षस रहता है। वह पुरुषखादक इस नगर और प्रदेशका अधीशासा रहता है; मनुष्यके मांससे पुष्ट, बली दुष्टबुद्धि वह असुरराज सदा इस देशकी रक्षा करता है। इस देशके राक्षसी बलसे रक्षित होनके कारण अन्य देशसे वा किसी प्राणियोंसे या भूतोंसे हमारे भयकी संभावना नहीं है। एक गाडी अन्न, दो भैसे और एक मनुष्य जो उन्हें ले जाता है, यह सब उस राक्षसके भोजनके लिये वेतनके स्वरूपमें निर्दिष्ट है। इस देशका हरएक गृहस्थ अपनी अपनी बारीमें एक एक दिनके हिसाबसे नित्य वह भोजन पहुंचाता है। बहुत वर्षोंके पीछे एक एक गृहस्थके लिये यह कठोर बारी आ जाती है।'

इस ब्राह्मणके कथनसे राक्षसके वेतनका स्वरूप ज्ञात हो जाता है, तथा कई अन्य बातोंका पता लग जाता है—

(१) अपने असुर देशसे कई राक्षस इस आर्यावर्तमें आकर कई ग्रामोंमें अथवा ग्रामोंके बाहर रहते थे।

(२) इन असुरोंका एक एकका भी बल इतना अधिक होता था कि उनके सामने ग्रामों और नगरोंके लोग अपने आपको बिलकुल दुर्बल समझते थे।

(३) उस समयके भारतवर्षीय रियासतोंके राजा महाराजा भी इन निशाचरोंके सामने अपने आपको दुर्बल समझते थे।

(४) किसी भी रियासती राजाके नगरमें ये राक्षस आकर रहें, तो वह राजा इनको हटानेमें बिलकुल असमर्थ था। इसलिये प्रायः रियासती राजालोग इनका किसी भी प्रकारका प्रतिबंध कर नहीं सकते थे। इस कारण नगरवासी जनों पर इनका अत्याचार अत्यधिक होता था।

(५) ये राक्षस ग्राम और नगरोंकी सर्व प्रकारसे रक्षा करनेका कार्य अपने ऊपर लेते थे और इनमें यह एक गुण भी था कि, जिस ग्रामकी रक्षा करनेकी जिम्मेवारी ये अपने ऊपर लेते थे, उसकी पूर्ण रीतिसे रक्षा कर लेते थे। उस ग्राम पर परशत्रुका हमला हो, व्याघ्र सिंह आदिका उपद्रव होवे, भूतलोग अर्थात् भूतानी लोग आदिकोंका हमला होवे, सब प्रकारके हमलोंसे ये राक्षस उस ग्रामकी पूर्ण रक्षा करते थे और स्वयं शत्रुसे लडते थे। इसी कारण वह ब्राह्मण कुंतिसे कहता है कि इस बकासुरके कारण परचक्र आदिसे हमें भय नहीं है, यह उसके अनुभवकी ही बात थी।

[७] नगरकी दुर्बलता।

(६) इस कारण यह होता था कि, प्रतिदिन नगरवासी लोग अधिकाधिक दुर्बल हो जाते थे और उसी प्रमाणसे राक्षस अधिकाधिक बलवान् होते थे। क्योंकि यदि नगरवासी लोग अपनी रक्षा स्वयं करनेका यत्न करेंगे, तो ही साहस, शौर्य, धैर्य, आदि गुण उनमें बढ सकेंगे, यह काम नगरवासियोंने राक्षसों पर सौंप दिया था, इसलिये नगरवासी दिन प्रतिदिन दुर्बल हो जाते थे, यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। जो कोई राष्ट्र अथवा रियासत अपनी रक्षा स्वयं नहीं करेगा, और वह कार्य दूसरों पर सौंप देगा, वह भी इसी प्रकार दुर्बल होता जायगा। जिस प्रमाणसे नगरवासी दुर्बल होते थे, उसी प्रमाणसे राक्षस, रक्षक होते हुए भी अधिक बलवान् होनेके कारण, ग्रामवासियों पर अत्याचार भी करनेमें निःशंक हो जाते थे। क्योंकि उनको अपनी शक्तिका विश्वास था और नागरिकोंकी कमजोरीका भी पूर्ण ज्ञान था।

×

(७) ऐसी अवस्थामें दिन प्रतिदिन राक्षसोंके अत्याचारोंकी मात्रा बढ जानी स्वाभाविकही है नगरवासी पूर्ण परावलंबी और राक्षसोंकी रक्षासे सुरक्षित होनेके कारण राक्षसोंके अत्याचारोंकी कोई सीमा नहीं थी। राक्षस भी मनमें यही समझते थे कि, हमें अब कोई प्रतिबंध करनेवाला नहीं है, ये ग्रामके लोग हमारी दयापरही जीवित रहनेवाले हैं, इसलिये इनसे तो हमें कोई डरही नहीं है।

(८) इस कारण राक्षसोंका स्वभाव यही बनता जाता था, कि, 'जितनी मौज हो सकती है करो, अब हमही इस नगरके अधीश हैं, न तो ये लोग हमारा कुछ कर सकते हैं और न तो इस रियासतका राजा हमारा कुछ बिगाड सकता है। इनको तो अपनी रक्षाके लिये हमारीही शरण लेनी चाहिये।' राक्षसोंके ऐसे हार्दिक भावके कारण लोगोंके दुःखकी कोई सीमा नहीं थी।

[८] बकासुरका वेतन।

(९) इसी कारण एकचक्रा नगरीके रक्षक बकासुरने उस नगरीके लोगोंसे यह निश्चय कराया था कि प्रतिदिन बारी बारीसे एक एक घरवाला एक गाडीभर अन्न, दो भैंसे और एक आदमी वेतनके रूपमें देवे सन १९१४ के बाजारभावसे इस वेतनका मूल्य निम्नलिखित हो सकता है।

३० तीस गाडे अन्नका मू०	१५००) रु.
६० साठ भैंसोंका मू०	३०००) ,,
३० तीस मनुष्योंका	१५०००) ,,
बकासुरका मासिक वेतन	१९५००) ,,

दो भैंसोंकी एक गाडीमें कमसे कम ५०) पचास रु. का अन्न रहता है, दो भैंसोंका मूल्य १००) सौ रु. है, और आदमीका मूल्य साधारणतः ५००) पांच सौ रु. होगे अर्थात् प्रतिदिनका बकासुरका वेतन ६५०) रु. होते है। इस हिसाबसे उसका मासिक वेतन १९५००) रु. आजकलके बाजारभावसे होता है। किसी स्थानपर धान्य, भैंसे और मनुष्यका मूल्य न्यून या अधिक भी हो सकता है। परन्तु उसका विचार यहां करनेकी आवश्यकता नहीं है।

कई कहेंगे कि उस समय धान्य और भैंसे बहुतही सस्ते होंगे। यह सत्य है, परन्तु उसमें बात यह है कि जो कोई मूल्य इन वस्तुओंका उस समय हो, उससे उन नागरिकों पर उतनाही बोझ हो सकता है कि जितना आज कल हमारे नगर पर साडे उन्नीस हजार रु० का बोझ होता है। यदि आजकल किसी नागरिकोंको प्रतिमास इतना रु. देकर अपनी रक्षा मोल लेनी पडे, तो जितना उनको कष्ट होगा उतनाही कष्ट एकचक्रानगरीके निवासियोंको होता था।

[९] एकचक्रा नगरकी आबादी।

(१०) अब विचार करना है कि एकचक्रा नगरी में आबादी कितनी थी? इसका भी अंदाजा हम उक्त ब्राह्मणके वचनसे कर सकते हैं।

स वारो बहुभिर्वर्षैर्भवत्यसुकरो नरैः॥
(म. भा. आदि. अ. १६२।७)

'बहुत वर्षोंके पीछे एक एक गृहस्थीके लिये यह कठोर बारी आ जाती है।'

संस्कृत भाषामें केवल 'वर्षैः' यह प्रयोग कमसे कम तीन वर्षोंके लिये होता है और 'बहुभिः वर्षैः' यह प्रयोग कमसे कम तीन गुणा तीन अर्थात् नौ वर्षोंके लिये होना संभव है। तथापि नौ दस वर्षोंतककी अवधिके लिये कोई भी मनुष्य 'बहुतही वर्ष' नहीं कहता। 'बहुत वर्ष' कहनेके लिये कमसे कम वीस वर्ष व्यतीत होने चाहिये। यह बात दूसरे भी प्रमाणसे सिद्ध होती है देखिये। उक्त ब्राह्मण अपनी पत्नीके साथ किये भाषणमें कहता है कि—

क्षेमं यतस्ततो गंतुं त्वया तु मम न श्रुतम्॥
इह जाता विवृद्धास्मि पिता चापि ममेति वै।
उक्तवत्यसि दुर्मेधे याच्यमाना मयाऽसकृत् २७
(म. भा. आदि. अ. १५९।२७)

'हे ब्राह्मणी! यह कुबुद्धि तेरीही है, जब कि मेरे बार बार अन्य स्थानमें जानेकी चाहनेपर भी तुमने कहा था कि 'यह मेरी पैत्रिक भूमि है, यहां मैं जन्म लेकर बुढिया हो गई हूं, इसको त्याग नहीं सकती।'

अर्थात् इसकी स्त्री वृद्धा बन गई थी। विवाहके बाद इसको दो संतान भी हो चुके थे कि जिस दिन इस ब्राह्मण पर भोजन देनेकी बारी आ गई थी। यह ब्राह्मण पर पहिली ही बारी थी और अपनी स्त्रीके कारण ही इस नगरमें वह रहा था, नहीं तो

छोडकर दूसरे स्थान पर जाना चाहता था। स्त्रीका विवाह कन्या होनेके समय अर्थात् १५।१६ वर्षकी आयुमें हुआ होगा और इस समय वह स्त्री कमसे कम ३५ वर्षकी अवस्थामें होगी। अर्थात् कमसे कम २० वर्षोंकी अवधिमें ब्राह्मणपर एकबार बारी आ गई थी संभवतः अधिक समय व्यतीत हुआ होगा। परंतु उस नगरकी आबादीका हिसाब लगानेके लिये हम बीस वर्षमें एक बार बारी आती है, ऐसा समझेंगे। प्रति वर्षमें ३६० दिनके हिसाबसे बीस वर्षोंके ७२०० दिन हो गये। इससे स्पष्ट है कि, कमसे कम सातआठ हजार घर उस एकचक्रा नगरीमें होंगे और प्रति घर पुरुष स्त्री, दो बच्चे और एक वृद्ध मनुष्य ऐसे पांच आदमी औसद मान लिये जांय, तो आठ हजार घरोंके ग्राममें चालीस हजारकी आबादी होना संभव है।

चालीस हजारकी आबादीके ग्रामसे साडे उन्नीस हजार रु. का वेतन प्रतिमास राक्षस लेता था, अर्थात् प्रति आदमीको प्रति मास आठ आने देने पडते थे, इसके अतिरिक्त उस रियासतके राजाका करभार होगा, तथा स्थानिक व्यय और ही होगा। जो ग्राम स्वयंसेवकों द्वारा अपनी रक्षा कर नहीं सकता, उनको इसी प्रकार जुर्माना देना ही पडता है।

(११) प्रति दिन एक घरसे भोजन भेजनेका नियम था। नियमपूर्वक भोजन भेजा गया तो ठीक, नहीं तो वह राक्षस उस घरका नाश जैसा मर्जी आये करता था। इस प्रकार उस नगरीके लोग अपना अपना भोजन भेजकर अपना बचाव कर लेते थे। यदि किसीके घर भेजनेयोग्य मनुष्य न हो अथवा बारीवाला मनुष्य धनाढय हो, तो वह किसी दूसरे मनुष्यको मोल लेकर भी अपना काम चला लेता था। इसीलिये ब्राह्मण रोतेसमय कहता है कि-

(१०) आदमीका विक्रय।

सोऽयमस्माननुप्राप्तो वरः कुलविनाशनः।
भोजनं पुरुषश्चैकः प्रदेयं वेतनं मया॥ १५॥
न च मे विद्यते वित्त संक्रेतुं पुरुषं क्वचित्।
(म. भा. आदि. अ. १६२)

'आज हमारी कुलनाशी वह बारी आयी है, राक्षसके भोजनके लिये वेतनके स्वरूपमें एक मनुष्य मुझको देना पडेगा। पर मेरे पास इतना धन नहीं है कि, किसी स्थानसे एक मनुष्यको मोल लेकर दूं।'

(१२) अर्थात् धनिक लोग मोलसे मनुष्य खरीद कर राक्षसके भोजनके लिये अर्पण करते थे और उस समय मनुष्य भी इस प्रकार बेचे जाते थे! आजकल विवाहके लिये लडकी मोल लेनेकी निंद्य रीति कई स्थानोंपर है, परंतु मरवानेके लिये आजकल आदमी मोलसे नहीं मिल सकेगा। परंतु उक्त ब्राह्मणके भाषणसे पता लगता है कि, उस समय आदमी मोलसे मिलनेकी भी संभावना थी!!

(१३) इतना विचार होनेके पश्चात् यह प्रायः निश्चय हुआ कि, उस एकचक्रा नगरीमें कमसे कम चालीस हजारकी आबादी थी और प्रतिदिन उक्त वेतन उस राक्षसको पहुंचाना पडता था। न देनेपर वह राक्षस उस बारीवाले गृहस्थीका पूरा नाश कर डालता था। एक असुरजातिका मनुष्य और उसके साथ तीसचालीस छोटेमोटे असुर होंगे, इनका अत्याचार चालीस हजार नगरवासी चुपचाप सहन करते थे। चालीस हजार नगरवासी लोग बक राक्षसकी सहायताके विना स्वयं अपना बचाव कर नहीं सकते थे। और उस राक्षसको हटाना भी उस नगरकी शक्तिके बाहर था। विचार कीजिये कि, उस नगरके लोग कैसे दुर्बल होंगे

[११] राक्षसके विरोधका फल।

(१३) समय समय पर कई नागरिक उस राक्षससे बचनेका यत्न भी करते थे, परन्तु उनकी बडी दुर्गति होती थी। देखिये—

तद्विमोक्षाय ये केचिद्यतन्ति पुरुषाः क्वचित्।
सपुत्रदारांस्तान्हत्वा तद्रक्षो भक्षयत्युत॥ ८॥
(म० भा० आदि० अ० १६२)

'यदि कभी कोई इससे बचनेकी चेष्टा करता है, तो वह राक्षस स्त्रीपुत्रोंके साथ उसको मारकर खा जाता है।' यह अवस्था थी। अर्थात् उक्त नियमसे बचनेकी चेष्टा करनेपर वह राक्षस उस रियासती राजाकी अदालतमें नालिश नहीं करता था, परन्तु उस राजासे विना पूछे ही नगरमें आकर उस बारीवाले घरके सब आदमियोंको मारकर खा लेता था और उसका सब घर ही नष्टभ्रष्ट कर देता था। और यह सब अत्याचार अन्य नागरिक देखते थे, इतनी दुर्बलता उन नागरिकोंमें थी। यदि उनमें संघशक्ति होती और शौर्यवीर्यादि गुण थोडे भी रहते, तो उस राक्षसको हटाना चालीस हजार आबादीवाले नगरको कोई अशक्य बात नहीं थी। परन्तु संघशक्तिके अभावके कारण ही वह नगर

इतना कमजोर बन गया था। हरएक मनुष्य केवल अपना हित ही साधन करनेमें दत्तचित्त था और सब मिलकर संघशक्ति बनाकर अपनी रक्षाके लिये तैयार होनेकी बुद्धि किसीमें भी नहीं थी।

[१२] मनकी दुर्बलता।

चालीस हजार आबादीका नगर असुर देशके एक राक्षसके भयंकर अत्याचार सहन करता है और उसके विरुद्ध अपना हाथ तक नहीं उठाता, इससे अधिक उस नगरवासियोंको लज्जास्पद बात तो कौनसी हो सकती है? देखिये, उसी ब्राह्मणके शब्दोंमें उस समयकी अवस्था—

न तु दुःखमिदं शक्यं मानुषेण व्यपोहितुम्॥ २॥
(म० भा० आदि० अ० १६२)

'यह दुःख दूर करना मनुष्यकी शक्तिके बाहर है।' अर्थात् यदि कोई दूसरा 'राक्षस' लाया जाय, अथवा कोई तिब्बतका 'देव' आ जाय, तो ही उस राक्षसको हटाया जा सकता है। इस नगरका कोई भी मनुष्य राक्षसका प्रतिबंध नहीं कर सकता यह हरएकके मनमें निश्चित भाव रहना ही उन नागरिकोंकी हद दर्जेकी कमजोरीका पर्याप्त प्रमाण है।

इस बकासुरका वध भीमसेनने किया। अर्थात् कीकरसिंग जैसा अकेला मनुष्य भी उस राक्षसको मार सकता था, परंतु शोककी और साथ साथ लज्जाकी बात यही है कि चालीस हजार आबादीके नगरमें समय पर दस पांच भी पहिलवान नहीं निकल सके!! यह उस नगरकी कमजोरी थी। इससे अधिक कमजोरी होना ही संभव नहीं है।

[१३] शस्त्रास्त्रोंसे अनभिज्ञ असुर।

भीमसेनने मल्लयुद्ध अर्थात् कुश्ती करके बकासुरको मारा। इस समय बकासुरके अनुयायियोंने अथवा स्वयं बकासुरने किसी भी शस्त्र या अस्त्रका प्रयोग भीमसेन पर नहीं किया। यदि बकासुरके डेरेमें शस्त्रास्त्र रहते, तो वे उसके अनुयायी अपने बक राजाके मृत्युके समय भी शत्रुपर प्रयुक्त न करते, यह संभव ही नहीं था। अर्थात् ये असुर, कमसे कम बकासुर और उसके अनुयायी शस्त्रास्त्र जाननेवाले नहीं थे। केवल शारीरिक बल, लाठी, पत्थर तथा इसी प्रकारके अन्य साधनोंसे लडनेवाले क्रूर आदमी थे। इस प्रकारके पचीस तीस क्रूरकर्मा असुरोंका भय चालीस हजारकी आबादीके नगर-वासीयोंको कई साल सता रहा था और वे इसका बिलकुल प्रतिकार कर नहीं सके थे। पाठक ही सोच सकते हैं। कि इस प्रकारके कमजोर और दुर्बल नगरवासियोंका जीवित रहनेका भी अधिकार क्या है? चालीस हजार लोगोंने संघशक्तिके साथ एक एक तिनका भी फेंक दिया होता, तो उसके नीचे वह राक्षस दब जाता, परन्तु संघशक्तिके अभावके कारण ही वह राक्षस इस ग्रामको इतना सता रहा था। भीमसेनने उसको मारा और उस एकचक्रा नगरीको तथा उस वेत्रकीय रियासतको असुरके भयसे मुक्त किया।

जिस भयको अकेला तेजस्वी वीर हटा सकता है, उसको चालीस हजार डरपोक दुर्बल आदमी भी हटा नहीं सकते। जिस समय भीमसेनने बकासुरका वध किया, उस समय बकके सभी अनुयायी घबराये। देखिये, इसका वर्णन—

[१४] बकासुरका वध।

ततः स भग्नपार्श्वांगो नदित्वा भैरवं रवम्।
शैलराजप्रतीकाशो गतासुरभवद्बकः ॥ १ ॥
तेन शब्देन वित्रस्तो जनस्तस्याथ रक्षसः।
निष्पपात गृहाद्राजन्सहैव परिचारिभिः ॥ २ ॥
तान्भीतान्विगतज्ञानान्भीमः प्रहरतां वरः।
सान्त्वयामास बलवान्समये च न्यवेदयत् ॥ ३ ॥
न हिंस्या मानुषा भूयो युष्माभिरिति कर्हिचित्।
हिंसतां हि वधः शीघ्रमेवमेव भवेदिति ॥ ४ ॥
तस्य तद्वचनं श्रुत्वा तानि रक्षांसि भारत।
एवमस्त्विति तं प्राहुर्जगृहुः समयं च तम् ॥ ५ ॥
ततः प्रभृति रक्षांसि तत्र सौम्यानि भारत।
नगरे प्रत्यदृश्यन्त नरैर्नगरवासिभिः ॥ ६ ॥
(म० भा० आदि. १६१)

'बडे भारी बक राक्षसने देह टूटने पर बडा कोलाहल मचाता हुआ प्राण छोडा। उसके परिवार-वर्ग उस शब्दसे भय खा कर नौकरचाकरोंके साथ घरसे निकलकर भीमके पास आ गये। मारनेमें तेज महाबली भीमसेनने उनको भयभीत और ज्ञानरहित देखकर समझाया और यह कहकर उनसे प्रतिज्ञा करा ली, 'तुम फिर कभी मनुष्य न मारना, यदि मारोगे, तो तुमको ही तुरन्त ही इस प्रकार नष्ट होना पडेगा।' राक्षसोंने वृकोदरकी यह बात सुनकर, उस बातको मान कर उस नियमको स्वीकार किया। तबसे नगरवाले उस नगरमें राक्षसोंको शांतस्वभावी देखने लगे।'

(१) भीमसेनके उस बकासुरको मारने पर वहांके अन्य सब राक्षस जिनमें (दाक्षिणात्य महाभारतके अनुसार) बकासुरका एक भाई भी था, सबके सब डर गये और भीमसेनको शरण आ गये। बडे नरम हुए। इस वर्णनसे पता लगता है कि, वे राक्षस भी अपने जीवको अन्य मनुष्योंके समानही सुरक्षित रखना चाहते थे। जब तक मनुष्य डरते थे, तब तक ही उनका अत्याचार चलता था; परंतु जब मनुष्य भी उनको ठीक देनेको तैयार हो जाते थे, तब वे भी मनुष्योंके समानही डर जाते थे। अर्थात् ये राक्षस मनुष्योंके समान ही थे, परन्तु थोडे अधिक क्रूर थे। अतः यह स्पष्ट है कि, चालीस हजार आबादीके नगरवासियोंको इतने साल डरानेवाली कोई बात उनमें नहीं थी। परंतु शहरवासियोंकी अक्षम्य बुझदिलीके कारण ही वे शहरको सता रहे थे।

[१५] असुर नरम हुए।

(२) भीमसेनने उन राक्षसोंका संहार नहीं किया, प्रत्युत एक प्रशंसनीय आर्य वीरके योग्य ही उन सब राक्षसोंको समझाया और उनसे प्रतिज्ञा करवायी कि, 'वे इस समयके पश्चात् किसी मनुष्यका वध न करें।' सब राक्षसोंने भीमसेनके सामने मनुष्य-वध न करनेकी प्रतिज्ञा की और अपनी जान बचाई! भीमसेनने यह भी उनको निश्चयके साथ कहा कि, यदि फिर मनुष्य वध करोगे, तो उसी समय तुम सबको इसी प्रकार मार दूंगा। इस प्रकार राक्षसोंको आर्यसभ्यता सिखानेवाला यही पहिला आर्यवीर था। इसका परिणाम भी उन राक्षसों पर अच्छा ही हुआ।

(३) उस दिनसे वहांके सब राक्षस नम्र हुए। शहरमें घूमनेके समय राक्षस नीचे मुंह करके चलने लगे। नहीं तो पहले उस शहरमें राक्षस छाती ऊपर करके घूमते थे और किसी भी आदमीका अपमान करनेमें उनको कुछ भी संकोच नहीं होता था। किसी गृहस्थने यदि उनको पूर्वोक्त वेतन न दिया, तो उसके सर्वस्वका नाश करने और उसके घरके सब आदमियोंको मारकर खानेमें भी उनको कोई संकोच नहीं होता था। परंतु वही राक्षस उसी शहरमें आनेके समय डरने लगे!! परिवर्तन केवल अकेले नगरवासीके धैर्य दिखानेसे हुआ। यदि उस नगरमें इस प्रकार धीर वीर दो-चार भी पुरुष रहते, तो उनको कोई कष्ट होना संभव ही नहीं था। परन्तु इस घटनासे भी उस नगरके आदमियोंने कोई बोध नहीं लिया, देखिये—

[१६] कर्तव्यमूढ जन।

तत्राऽऽजग्मुर्बकं द्रष्टुं सस्त्रीवृद्धकुमारकाः ॥१२॥
ततस्ते विस्मिताः सर्वे कर्म दृष्ट्वातिमानुषम्।
दैवतान्यर्चयांचक्रुः सर्व एव विशां पते ॥ १३ ॥
(म० भा० आदि अ० ११६)

'स्त्री, वृद्ध, बालक, तरुण आदि सब नगरवासी लोग उस मरे हुए बकराक्षसको देखनेके लिये वहां आ गये और वह अमानुष कर्म देखकर सभी विस्मित हुए। उसके बाद सब लोग देवतोंकी उपासना करने लगे।'

देखिये, बकासुरका वध एक मनुष्यने किया, यह देखनेके बाद भी उस नगरके निकम्मे लोग आखाडे खोल कर और अपने आपको मल्लयुद्धमें प्रवीण बनानेका यत्न न करते हुए, मंदिरोंमें देवताओंकी पूजा करने और घंटे बजानेमें मस्त रहे! हमारा यह विचार नहीं है कि आनंद होने पर अपनी इष्ट रीतिसे ईश्वरकी उपासना कोई न करे; परंतु यहां बताना यह है कि एक बलवान् मनुष्यद्वारा उस राक्षसका वध होनेका बात प्रत्यक्ष देखने पर भी अपना बल और अपनी संघशक्ति बढानेकी ओर उनकी प्रवृत्ति नहीं हुई, उन्होंने नगरमें आखाडे नहीं खोले, नवयुवकोंको व्यायाम और कुश्ती करके बल बढानेमें उत्तेजित नहीं किया, परंतु अपने अपने मंदिरोंमें जाकर केवल पूजापाठ ही करने लगे और खूब प्रार्थना भी उन्होंने की होगी!!

तात्पर्य, प्रत्यक्ष बनी हुई घटनासे भी लेनेयोग्य बोध नहीं लिया!! क्या जो लोग इस प्रकारके कर्तव्य-शून्य होंगे वे कभी अपनी रक्षा कर सकते है? कभी नहीं। उनपर यदि बकासुर न रहा, तो दूसरा हिडिंबासुर आकर हुकुमत चलायेगा ही। इस बकासुरकी लीलासे अपनी शक्ति बढानेका बोध हरएक ग्रामनिवासीको लेना चाहिये, अपनी रक्षा स्वयं करनी चाहिये, इत्यादि भाव स्पष्ट ध्यानमें आ सकते हैं।

[१७] इस कथासे बोध।

बकासुरकी कथाका निरीक्षण करनेसे उस समयकी सामाजिक स्थितिका जो चित्र मनके सम्मुख खडा होता है, वह ऊपर दियाही है। पाठकही विचार

करें कि क्या यह चित्र समाधानकारक है? जो न्यूनता उस नगरवासियोंमें थी, वह अपनेमें है या नहीं, इसका विचार पाठकोंको करना चाहिये। यदि उस प्रकारकी न्यूनता होगी, तो उसको दूर करना चाहिये। यही बोध इस प्राचीन कथाके पढनेसे लेना उचित है।

पाठक पूछेंगे कि अब राक्षसही नहीं हैं, इसलिये अब हमें बल बढानेकी क्या आवश्यकता है? जो मनुष्य आजकी स्थिति भी देखेंगे, अपने आंख खोलकर चारों ओर देखेंगे तो उनको पता लग जायगा कि इस समयका हरएक नगर, उतनाही कमजोर है कि जितने एकचक्रा नगरीके लोक थे। कलकत्ते जैसे बडे भारी नगर कि जिसकी आबादी दस लाखसे भी अधिक है, वहांके लोक सौपचास पठाणोंके दंगेके समय भी अपनी रक्षा स्वयं नहीं कर सकते हैं। उतनाही बडा बम्बई शहर है, वहां भी पठाणोंका उपद्रव इतना है कि लोग बडेही क्लेशित हुए हैं और अंतमें अखबारोंमें 'लेख' पठाणोंके विरोधमें लिख मारते हैं!! उस लेखसे पठाणोंका बिगडना क्या है? बंबईके कई मूर्ख धनिक इस समय भी यह समझते हैं कि अपने घरकी रखवारी पठाणके द्वाराही अच्छी होती है, इसका परिणाम उनको अंतमें बहुतही बुरी रीतिसे भोगना पडता है। महाराष्ट्रमें प्रायः छोटे मोटे ग्रामोंमें दोचार पठाण रहतेही हैं और लेनदेनका व्यवहार करते है। जो गरीब लोग विशेषतः गरीब औरतें उनसे रुपये लेती हैं, उनको इतने कष्ट भोगने पडते हैं कि उनका वर्णन यहां करना असंभव है। यह बीमारी यहां तकही समाप्त नहीं होती। पूनाके पेशवाओंके देवनागमंदिरकी रक्षाके लिये रखवारे पठाण अथवा रोहिलेही थे। पेशवाओंका धुरंधर दिवान नाना फडनवीसकी आत्मरक्षाके लिये भी वेही नियुक्त थे। इससे यह होता था कि जिस समय ये पठाण लोग बिगड बैठते थे, उस समय स्वयं पेशवाओं पर भी बडी भारी आफत मच जाती थी!! जिस प्रकार पांडवोंके समय वेत्रकीय रियासतमें एकचक्रा नगरीका रक्षण ये असुर-देशीय राक्षस कर रहे थे, उसी प्रकार स्वयं पेशवाओंके भवन पर ये विदेशी पठाण और रोहिलेही रक्षक थे। देखिये ये रक्षक कहांतक फैले हैं!!

जो अवस्था महाराष्ट्रकी है, वही मध्यप्रांत और संयुक्तप्रांतमें अंशतः है। पञ्जाबके लोग बहुत वीर हैं परंतु सीमाप्रांतके ग्रामोंमें आफ्रीडी पठाणोंके कारण इनको इतने कष्ट इस समय भी होते हैं कि उनका वर्णन सुननेसे हृदय फट जाता है।

जब इस बीसवीं सदीमें संपूर्ण सभ्यता इतनी बढ जानेपर और शस्त्रास्त्र इतने उन्नत होनेपर भी पठाणादिकोंसे भारतीय जनताका इतने क्लेश सांप्रतमें हो रहे हैं, तो सहस्रों वर्षोंके पूर्व जिस समय जनतामें कई प्रकारकी कमजोरियां थीं, उस समय पठाणों और रोहिलोंकी अपेक्षा सेकडों गुणा क्रूर और नरमांसभोजी खून पिनेवाले असुरदेशीय राक्षसोंसे पूर्वोक्त प्रकार एकचक्राके नगरवासियोंको कष्ट हुए, तो कमसे कम आजकलके भारतीय नागरिकोंको अपने पूर्वजोंकी हँसी करनेका अधिकार तो बिलकुल नहीं है। क्योंकि एकचक्रानगरीके रहिवासियोंके समानही आजकलके हिंदुस्थानी अपने ग्राम, नगर, प्रांत और राष्ट्रका संरक्षण करनेमें वैसेही असमर्थ हैं। भेद इतनाही है कि उस समय उनके पास एक भीम था और इस समय कोई भीम नहीं है और इसके साथ भारतीय जनता आपसकी फूटसे शतधा विदीर्ण है। इसलिये पाठकही विचार कर सकते हैं कि गत पांच सहस्र वर्षोंमें स्वसंरक्षण करनेके विषयमें हम सुधर गये हैं, या बिगड गये हैं। इसका विचार करनेके पश्चात् इस कथासे उचित बोध हरएकको लेना चाहिये। वह बोध यही है कि, हरएक व्यक्ति कुटुंब, ग्राम, नगर प्रांत और देशको अपना संरक्षण करनेकी और दूसरोंकी रक्षा करनेकी शक्ति अपने अंदर बढानी चाहिये। कमजोर रहनेवालोंका जीवित वैसाही कष्टमय होगा, जैसा कि एकचक्रानगरीनिवासियोंका हो गया था। बकासुर सदा सर्वत्र रहतेही हैं। यदि पूर्वकालमें बक सुर मनुष्योंका रक्त प्रत्यक्ष पीते थे, तो इस समय अन्य रीतिसे सताते होंगे और भविष्यमें कोई दूसरीही रीति ढूंढेंगे। सतानेकी रीति भिन्न होनेपर भी क्लेशोंकी मात्रा न्यून नहीं होती, यह ध्यानमें धरना चाहिये। बकासुर जनताको क्यों सताते हैं? इसका उत्तर यही है कि जनता वैदिक उपदेशानुसार चलती नहीं। वेदका उपदेश बलसंवर्धनके विषयमें प्रसिद्धही है, उनमेंसे यहां नमूनेके लिये एकही मंत्र देखिये—

(६४३) 'प्रजानुरागं पार्थेषु न सहद्भिश्चिकीर्षितम्।' (भागवत १०।४९।५)

'सहद्भिः' अशुद्ध है। 'सहमानैः' (आत्मनेपद) होना चाहिए।

(६४४) 'भ्रात्रेयो भगवान् कृष्णः शरण्यो भक्तवत्सलः। पैतृष्वस्रेयान् स्मरति...।' (भागवत १०।४९।९ + १०।७१।३९)

(क) 'भ्रात्रेयः' अपाणिनीय प्रयोग है।

'भ्रात्रेय' का अर्थ = भ्राताका पुत्र, भतीजा है।

'भ्रातुर्व्यच्च' (अष्टा० ४।१।१४४) के अनुसार 'भ्रात्रीय.' साधु है।

(ख) पैतृष्वस्रेयान्' अपाणिनीय प्रयोग है।

'पितृष्वसुश्छण्' (अष्टा० ४।१।१३२) के अनुसार 'पैतृष्वस्रीय. साधु है।

(६४५) तथापि सूनृतासौम्य हृदि नस्थीयते चले। (भागवत १०।४९।२७)

'स्थीयते' अशुद्ध है। 'तिष्ठति' (कर्तृवाच्य) होनाचाहिए।

दशमस्कन्धः (उत्तरार्द्धः)

(६४६) 'हतद्विपद्वीपहयग्रहाकुलाः (भागवत १०।५०।६)

'ग्रह' अशुद्ध है। 'ग्राह' शुद्ध है।

(६४७) मनास्वनां हर्षकरीः परस्परम्। (भागवत १०।५०।२८)

'हर्षकरीः' अशुद्ध है। 'हर्षकर्यः शुद्ध है।

(६४८) एवं सप्तदशकृत्वस्तावत्यक्षौहिणीबलः। (भागवत १०।५०।४२)

यहाँ 'तावती' स्त्रीलिङ्ग है जो पाणिनीय सूत्र 'पुंवत्कर्मधारयजातीयदेशीयेषु' (अष्टा० ६।३।४२) के अनुसार पुल्लिंग' होना चाहिए और 'तावदक्षौहिणीबलः' शुद्ध है। 'तावत्' सप्तदशको निर्देश करता है और शब्द बहुव्रीहि समास है।

(६४९) अष्टादशमसंग्रामे। (भागवत १०।५०।४४)

'अष्टादशम' अशुद्ध है। 'अष्टादश' होना चाहिए।

(६५०) बन्धून् वधिष्यत्यथवा। (भागवत १०।५०।४८)

'वधिष्यति' अपाणिनीय प्रयोग है। 'हनिष्यति' होनाचाहिए। वध बन्धने आत्मनेपदी है। 'हनश्चवधः' (अष्टा० ३।३।७६) के अनुसार वध धातुका अस्तित्व स्वतन्त्र नहीं है।

(६५१) शुश्रूषतामव्यलीकमस्माकं। (भागवत १०।५१।३१)

'शुश्रूषताम् अशुद्ध है।'

'ज्ञाश्रुस्मृदृशां सनः' (अष्टा० १।३।५७) के अनुसार 'शुश्रूषमाणानाम्' होना चाहिए।

(६५२) लब्ध्वाजनो दुर्लभमत्रमानुषम्।' (भागवत १०।५१।४७)

'मानुषम्' अशुद्ध है। यहाँ सज्ञामें प्रयुक्त है।

'गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणिच' (अष्टा० ५।१।१२४) के अनुसार 'मानुष्यम्' शुद्ध है।

(६५३) पुनश्च भूयेयमहं स्वराडिति। (भागवत १०।५१।५३)

'भूयेयम् अशुद्ध है। 'भूयासम्' या 'भवेयम्' शुद्ध है।

(६५४) वृणीत आर्यौवरमात्मबन्धनम्। (भागवत १०।५१।५६)

'अक सवर्णे दीर्घः' (अष्टा० ६।१।९७) के अनुसार 'वृणीत' और 'आर्यौ' अपाणिनीय प्रयोग हैं।

(६५५) तुङ्गमारुहतां गिरिम्। (भागवत १०।५२।१०)

'आरुहताम' अशुद्ध है। 'आरोहताम्' शुद्ध है।

यह वैदिक शब्द है। लौकिक सस्कृतमें 'आरुक्षताम' होगा।

(६५६) को तु तृप्येत शृण्वानः। (भागवत १०।५२।२०)

'शृण्वानः' अशुद्ध है क्योंकि श्रु धातु परस्मैपदी है।

(६५७) तामानयिष्य उन्मथ्य। (भागवत १०।५३।३)

'आनयिष्य' अशुद्ध है। आनेष्ये' शुद्ध है।

(६५८) योत्स्यामः संहतास्तेन इति। (भागवत १०।५३।१९)

'योत्स्यामः' अशुद्ध है। धातु युध् (आत्मनेपदी) से 'योत्स्यामहे' शुद्ध है।

(६५९) सैवं शनैश्चलयती चलपद्मकोशौ प्राप्ति तदा भगवतः। (भागवत १०।५३।५४)

'चलय ी' अशुद्ध है। 'चालयन्ती' शुद्ध है।

(६६०) मास्म भैर्वामिलोचने।

(भागवत १०।५४।५)

'मा भैः' अशुद्ध है। 'मा भैषीः' शुद्ध है।

(६६१) कृष्णस्तस्य मे संयुगं भवेत्।

(भागवत १०।५४।२१)

'संयुगम्' अशुद्ध है। 'संयुगः' (पुल्लिङ्ग) शुद्ध है।

(६६२) बभौ प्रतिद्वार्युपक्लृप्तमङ्गलैरापूर्णकुम्भागुरुधूपदीपकैः। (भागवत १०।५४।५६)

'द्वारि द्वारि इति वीप्सार्थेऽव्ययीभावः' अतः 'तृतीयासप्तम्योर्बहुलम्' (अष्टा० २।४।८४) के अनुसार 'प्रतिद्वारम् या प्रतिद्वारि' शुद्ध है।

(६६३) स च मायांसमाश्रित्य दैतयीं मयदर्शिताम्। (भागवत १०।५५।२१)

'दैतेयीम्' अपाणिनीय प्रयोग है।

अपत्यार्थमें केवल ढक् जोड़ा जाता है। तद्धित अविधिमित है।

(६६४) यदभजन् रहरुभावाः।

(भागवत १०।५५।४०)

'रहरुभावः' अशुद्ध है। 'रहोरूढभावाः' होना चाहिए।

(६६५) इति विज्ञात विज्ञानमृक्षराजानमच्युतः।

(भागवत १०।५६ २९)

'ऋक्षराजानम्' अपाणिनीय प्रयोग है।

'राजाहः सखिभ्यष्टच्' (अष्टा० ५।४।९१) के अनुसार 'ऋक्षराजम्' शुद्ध है।

(६६६) आसीत्तद्द्वार्विंशाहमितरेत रमुष्टिभिः।

(भागवत १०।५६।२४)

यहाँ 'विंशति' शब्दसे 'ति' का लोप क्यों है?

(६६७) चेष्टां विश्वसृजो यस्य न विदुर्मोहिताजया। (भागवत १०।५७।१५)

'मोहिताजया' अशुद्ध है। 'मोहित अजया' शुद्ध है। यहाँ सन्धि अपाणिनीय है।

(६६८) कस्मिंश्चित् पुरुषे न्यस्तस्तमन्वेष पुरं व्रज। (भागवत १०।५७।२३)

'अन्वेष' अशुद्ध है। इस क्रियासे 'अन्विच्छ' पाठ होना चाहिए।

(६६९) पूजयन् प्रतिनन्दितः।

(भागवत १०।५८।१५)

'प्रतिनन्दितः' कर्मवाच्यमें अशुद्ध है। 'कर्तृवाच्य' होना चाहिए।

(६७०) पयोधिप्रभवैर्निराक्रमत्।

(भागवत १०।५७।१५ & १०।७१।१४)

'निराक्रमत्' अपाणिनीय प्रयोग है।

'क्रम: परस्मैपदेषु' (अष्टा० ७।३।७६) के अनुसार 'निराक्रामत्' शुद्ध है।

(६७१) विश्रमणवीजनगन्धमाल्यैः।

(भागवत १०।५९।४५)

'विश्रमणम्' का अर्थ टीकाकार पं० श्रीधर लिखते हैं 'पादसंवाहनम्' परन्तु यह शब्द अन्यत्र इस अर्थ (चरणदबाने) में नहीं पाया जाता है। अतः यहाँ व्यवहारदूषण है।

(६७२) केशान् समुह्य तद्वक्त्रं प्रामृजत् पद्मपाणिना। (भागवत १०।६०।२६)

'प्रामृजत्' अशुद्ध है।

मृजूष् शुद्धौ (धातुपाठ १०६६) से 'प्रामाट्' (लङ्) अथवा 'प्रामार्जीत्' (लुङ्) शुद्ध है।

(६७३) यन्नर्मैर्नीयते यामः प्रियया भीरु भामिनि।

(भागवत १०।६०।३१)

'नर्मैः' अशुद्ध है। 'नर्मभिः' शुद्ध है।

(६७४) कल्याणि नित्यदा।

(भागवत १०।६० ५०)

'नित्यदा' अपाणिनीय प्रयोग है।

'सर्वैकान्यकियत्तदः काले दा' (अष्टा० ५।३।१५) के अनुसार अशुद्ध है।

(६७५) दुःखं समुत्थमसहोऽस्मदयोगभीत्या।

(भागवत १०।६०।५६)

बहुमवचनसे लङ् में 'असहः' अशुद्ध है।

'असहथाः' शुद्ध है; क्योंकि धातु आत्मनेपदी हैं।

(६७६) तस्याग्र आसीनन्।

(भागवत १०।६२।३२)

यहाँ 'तस्याः' और 'अग्रे' के मध्य सन्धि अशुद्ध है।

यह पाणिनीके 'पूर्वत्रासिद्धम्' सूत्रकी अवज्ञा है।

(६७७) शुनो यथा सूकरयूथपोऽहनत्।

(भागवत १०।६२।३४)

'अहनत्' अशुद्ध है। 'अहन्' शुद्ध है।

(६७८) निशम्याश्रुफलाक्ष्यरौदिषीत्।

(भागवत १०।६२।३५)

'अरौदिषीत्' अशुद्ध है।

रुदिर् अश्रुविमोचने धातुसे 'अरुदत्' या 'अरोदीत्' शुद्ध है।

(६७९) शिखिनापाक्रमद्रणात्।

(भागवत १०।६३।१५)

'अपाक्रमत्' अपाणिनीय प्रयोग है।

'क्रमः परस्मैपदेषु' (अष्टा० ७।३।७६) के अनुसार 'अपाक्रामत्' साधु है।

(६८०) प्राद्युम्निरथमारोप्य सवध्वा समुपानयत्।

(भागवत १०।६३।५०)

'सवध्वा' समास नियमविरुद्ध है।

'वोपसर्जनस्य' (अष्टा० ६।३।८२) के अनुसार 'सवधूम्' बहुव्रीहि समास होगा। यदि यह समास नहीं है तब अव्यय 'सह' किसी भी व्याकरणके नियमसे 'स' नहीं हो सकता है।

(६८१) 'स्वाम्यपाक्रमत्'।

(भागवत १०।६४।२१)

'अपाक्रमत्' अपाणिनीय प्रयोग है।

'क्रम परस्मैपदेषु' (अष्टा० ७।३।७६) के अनुसार 'अपाक्रामत्' शुद्ध है।

(६८२) 'आरुहत् पश्यतां नृणाम्।'

(भागवत १०।६४।३०)

'आरुहत्' अशुद्ध है और वैदिक (लुङ्) है।

'कृमृदृरुहिभ्यश्छन्दसि' (अष्टा० ३।१।५९) के अनुसार 'आरुक्षत्' होगा।

(६८३) 'यदर्थे जहिम दाशार्ह।'

(भागवत १०।६५।११)

'जहिम' अशुद्ध है। 'अजहिम' शुद्ध है।

(६८४) 'विजगाह जलं स्त्रीभिः।'

(भागवत १०।६५।२८)

'विजगाह' अशुद्ध है।

गाहू विलोडने (धातुपाठ ६४९) आत्मनेपदसे 'विजगाहे' शुद्ध है।

(६८५) यत्रायासि मयाऽऽहुता।

(भागवत १०।६५।२४)

'मयाऽऽहुता' अशुद्ध है।

(६८६) 'किरीटमासनं शय्यां भुञ्जन्त्यस्मदुपेक्षया।' (भागवत १०।६८।२६)

'भुञ्जन्ति' अपाणिनीय प्रयोग है।

'भुजोऽनवने' (अष्टा० १।३।६६) के अनुसार 'भुञ्जते' शुद्ध है।

(६८७) 'तं मामवज्ञाय मुहुर्दुर्भाषान् मानिनोऽब्रवन्।' (भागवत १०।६८।३३)[35]

'दुर्भाषान्' अशुद्ध है। 'दुर्भाषाः' शुद्ध है, क्योंकि 'भाषा' सर्वत्र स्त्रीलिङ्ग है।

(६८८) 'प्रभावं विद्‌ाम ते'

(भागवत १०।६८।४४; १०।६९।१७)

'विदाम' अशुद्ध है। 'विद्म' शुद्ध है।

(६८९) 'पुत्र मा खिदः।'

(भागवत १०।६९।४०)

धातु खिद् आत्मनेपदका 'खिदः' रूप है अपाणिनीय है।

(६९०) 'वयांस्यरूरुवन् कृष्णं बोधयन्तीव वन्दिनः।' (भागवत १०।७०।२)

'अरूरुवन्' अशुद्ध है।

'गुणो यङ्लुकोः' (अष्टा० ७।४।८२) के अनुसार 'अरोरुवन्' शुद्ध है।

(६९१) 'वाचः पेशैः स्मयन् भृत्यमुद्धवं प्राह केशवः।' (भागवत १०।७०।४५)

'वाचपेशैः' = पेशलवाग्भिः।

लौकिक साहित्यमें 'वाचपेशैः' का प्रयोग नहीं होता है। 'वाक्पेशोभिः' शुद्ध है। अलुक समास है।

(६९२) 'स्वत्पादुके अविरतं परि ये चरन्ति।'

(भागवत १०।७२।४)

---

३५ पण्डित-पुस्तकालय, काशी संस्करण, सामयिकी भा. टी., पृष्ठ २५८ में मुहुर्दुर्मंषान्' पाठ है जो अशुद्ध है। 'दुर्भाषान्' पाठ गीताप्रेस, गोरखपुर व मथुरा संस्करणमें है जो उचित है— (लेखक)

उपसर्ग 'परि' और क्रिया 'चरन्ति' अन्य शब्द 'ये' द्वारा पृथक् होते हैं। ऐसा प्रयोग वेदोंमें होता है, लौकिक साहित्यमें नहीं होता है।

(६९३) 'दहेन पतमानेन नेहता विपुलं यशः।'
(भागवत १०।७२।२६)

(क) 'पतमानेन' अशुद्ध है। 'पतता' शुद्ध है।

(ख) ईह आत्मनेपद है अतः ईहता' अशुद्ध है। 'ईहमानेन' शुद्ध है।

(६९४) 'अनयो-ातुलेयं मां कृष्ण जानीहि ते रिपुम।' (भागवत १०।७२ २९)

'मातुलेयम्' अपाणिनीय प्रयोग है, क्योंकि 'मातुल' शुभ्रादिगणमें सम्मिलित नहीं है।

(६९५) क्रुद्धो स्वमुष्टिभिरयः स्पर्शैर्विष्टाम्।
(भागवत १०।७२।३८)

यहाँ 'स्पर्श' प्रयोगसे छन्दोभंग होता है।

(६९६) दिनादि निरगंस्नत।
(भागवत १०।७२।४०)

'निरगन्' अशुद्ध है। 'निरगमन्' शुद्ध है।

(६९७) इरुभन्त इव बाहुभिः।
(भागवत १०।७३।६)

रभि धातु यहाँ प्रयोग परिरभमाना (आलिङ्गन) के अर्थमें प्रयोग किया गया है। यह अपाणिनीय है।

(६९८) नैनं नाथान्वसूयामो मागधं मधुसूदन।
(भागवत १०।७३।९)

'अन्वसूयामः' अशुद्ध है।

पाणिनीय सूत्र 'कण्ड्वादिभ्योयक्' (अष्टा० ३।१।२७) के अनुसार असूज उपतापे 'कण्ड्वादिधातु' है। अतः 'असूयामः' होना चाहिए, परन्तु यह क्रिया 'अनु' उपसर्गके साथ प्रयोग नहीं होती है।

(६९९) अथो न राज्यं मृगतृष्णिरूपितं।
(भागवत १०।७३।१४)

'मृगतृष्णा' शब्दका प्रयोग होता है। 'मृगतृष्णि' का प्रयोग नहीं होता है। 'तृष्णि' शब्द 'संस्कृत शब्दकोष' में नहीं है। अतः 'मृगतृष्णि' अशुद्ध है।

(७००) प्रीणय्य सूनृतैर्वाक्यैः।
(भागवत १०।७३।२८)

'प्रीणय्य' अपाणिनीय प्रयोग है।

'प्रीणयित्वा' होना चाहिए।

(७०१) यथान्वशासद् भगवांस्तथा।
(भागवत १०।७३।३०)

'अन्वशासत्' अशुद्ध है।

शासु अनुशिष्टौ (धातुपाठ १०७५) से 'अन्वशात्' होगा।

(७०२) तत्रेयुः सर्वराजानो राज्ञः प्रकृतयो नृप।
(भागवत १०।७४।११)

'सर्वराजान' अशुद्ध है। 'सर्वराजाः' होना चाहिए।

(७०३) राजसूयावभृथ्येनस्नातो राजा युधिष्ठिरः।
(भागवत १०।७४ ५१)

'आवभृथ्य' प्रयोग अशुद्ध है। छन्दोभंगभयसे ऐसा किया प्रतीत होता है।

(७०४) भवान् मयापोवाहितो रणात्।
(भागवत १०।७६ ३३)

'अपोवाहितः' अशुद्ध है। 'अपवाहित' शुद्ध है।

(७०५) वधिष्ये वीक्षतस्तेऽमुमाशश्वेत्।
(भागवत १० ७७।२६)

'वीक्षतः' अशुद्ध है। 'वीक्षमाणस्य' (आत्मनेपद) होगा।

(७०६) किरीटयुक्तं पुरुमायिनो हरिः।
(भागवत १०।७७।३६)

'पुरुमायिनः' प्रयोग लौकिक साहित्यमें नहीं होता है। 'पुरुमायस्य' होगा। वेदोंमें ऐसा ही प्रयोग है। यथा 'नास्य शत्रुर्न प्रतिमानमस्ति पुरुमायस्य'—
(ऋग्वेद मण्डल ६ सूक्त १८, मंत्र १२)

(७०७) सरस्वतीं प्रतिस्रोतं ययौ ब्राह्मणसंवृतः।
(भागवत १०।७८।१८)

'प्रतिस्रोतम्' अशुद्ध है। 'प्रतिस्रोत' अव्ययीभाव समास शुद्ध है।

(७०८) करस्थेनाहनत् प्रभुः।
(भागवत १०।७८।२८ & १०।७९।५)

'अहनत्' अशुद्ध है।

हन् हिंसागत्योः (अदादि) से 'अहन्' होगा।

(७०९) अनुस्रोतेन सरयूं प्रयागमुपगम्य सः।
(भागवत १०।७९।१०)

'अनुस्रोतेन' अशुद्ध है। 'अनुस्रोतसा' होना चाहिए।

(७१०) विरमेतविशेषज्ञो विषण्णः काममार्गणः।
(भागवत १०।८०।२)

'विरमेत' अपाणिनीय प्रयोग है।

'व्याङ्परिभ्योरमः' (अष्टा० १।३।८३) के अनुसार 'विरमेत्' होगा।

(७११) आत्मनो ललिता राजन् करौ गृह्य परस्परम् । (भागवत १०।८०।२७)

'गृह्य' अशुद्ध है। 'गृहीत्वा' शुद्ध है। पाणिनी मुनि 'ल्यप्' का आदेश वहाँ करते हैं जहाँ 'गति समास' होता है। पाणिनीय सूत्र 'समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्' (अष्टा० ७।१।३७) के अनुसार ऐसा आदेश है।

(७१२) वने गृहीतहस्ताः परिबभ्रिमातुराः ।

(भागवत १०।८०।३८)

'परिबभ्रिम' अशुद्ध है। 'परिबभ्रमिम' शुद्ध है। भ्रमु (भ्वादी) धातुसे ऐसा बनता है।

(७१३) स्त्रीभिश्च हरिणाक्षिभिः ।

(भागवत १०।८१।२३)

'हरिणाक्षिभिः' अपाणिनीय प्रयोग है।

'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच्' (अष्टा० ५।४।११३) के अनुसार 'हरिणाक्षीभिः' शुद्ध है।

(७१४) तत्रागन् भारतीः प्रजाः ।

(भागवत १०।८२।५)

(क) 'भारतीः' अशुद्ध है।

'सुपांसुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः' (अष्टा० ७।१।३९) के अनुसार 'भारत्यः' होना चाहिए।

(ख) 'आगन' अशुद्ध है। 'आगमन्' शुद्ध है।

(७१५) व्यरोचन्त महातेजाः पथि ।

(भागवत १०।८२।८)

'महातेजाः' अशुद्ध है। 'महातेजसः' शुद्ध है।

(७१६) येषां गृहे निरयवर्त्मनिवर्तता वः ...स्त्रयमास विष्णुः । (भागवत १०।८२।३१)

(क) 'वर्तताम्' अशुद्ध है। 'वर्तमानानाम्' (आत्मनेपद शुद्ध है।

(ख) 'आस' अशुद्ध है।

'अस्तेर्भूः' (अष्टा० २।४।५२) के अनुसार 'बभूव' होगा।

(७१७) ...अभ्यगन् । (भागवत १०।८२।४८)

'अभ्यगन्' अपाणिनीय प्रयोग है। 'अभ्यगुः' होना चाहिए।

(७१८) सीतापतिं त्रिणवहान्यमुनाभ्ययुध्यत् ।

(भागवत १०।८३।१०)

'त्रिणवहानि' अशुद्ध है। 'त्रिणवाहानि' =(२७ दिवस) शुद्ध है।

(७१९) श्रियौ कस्तस्या । (भागवत १०।८३।१२)

'पूर्वत्रासिद्धम्' के विरुद्ध यहाँ 'श्रियः + ओकः' सन्धिकार्य है। समास भी अशुद्ध है।

(७२०) आददुः सशरं चापं ।

(भागवत १०।८३।२१)

'आददु' अपाणिनीय प्रयोग है।

'आङो दोऽनास्यविहरणे' (अष्टा० १।३।२०) के अनुसार 'आददिरे' होना चाहिए।

(७२१) गावश्चारयतो गोपाः पादस्पर्श महात्मनः ।

(भागवत १०।८३।४३)

'गावः' अशुद्ध है। 'गाः' शुद्ध है।

(७२२) महरामोऽच्युतोऽर्चयत् ।

(भागवत १० ८४।७)

'अर्चयत्' लङ्में अशुद्ध है। 'आर्चयत्' शुद्ध है।

(७२३) 'यदीशितव्यायति गूढ ईह्या अहो ।'

(भागवत १०।८४।१६)

'ईशितव्यायति' अपाणिनीय प्रयोग है।

'कर्तुः क्यङ् सलोपश्च' (अष्टा० ३।१ ११) के अनुसार 'ईशितव्यायते' होना चाहिए।

(७२४) 'प्रणम्य चोपसंगृह्य वभाषेदं सुयन्त्रितः ।' (भागवत १०।८४ २८)

यहाँ सन्धिकार्य कैसे ?

(७२५) 'मा राज्यश्रीरभून् पुंसः ।'

(भागवत १०।८४।६४)

यहाँ 'माङ्' के योगमें 'अट्' कैसे ?

(७२६) 'एतावतालमलमिन्द्रियलालसेन-मर्त्यात्मदृक् ।' (भागवत १०।८५।१९)

'लालसेन' अशुद्ध है। 'लालसया' शुद्ध है।

(७२७) 'तेनासुरीमगन् योनिमधुना वधकर्मणा ।' (भागवत १०।८५।४८)

'अगन्' अशुद्ध है। 'अगमन्' शुद्ध है।

(७२८) 'सभार्योऽवनिजे मुदा ।'

(भागवत १०।८६।३९)

'अवनिजे' अपाणिनीय प्रयोग है।

'निजां त्रयाणां गुणः श्लौ' (अष्टा० ७।४।७५) के अनुसार 'अवनेनिजे' होना चाहिए। णिजिर् शौचपोषणयोः (जुहोत्यादि) आत्मनेपदसे ऐसा रूप बनता है।

(७२९) 'ये च मिदां विपणमृतं स्मरन्त्यु-
पदिशन्ति त आरूपितैः।'
(भागवत १०।८७।२५) [३६]

'आरुपितैः' अपाणिनीय प्रयोग है। 'आरोपितैः' शुद्ध है।

(७३०) 'सोऽविभ्यत् स्वकृताच्छिवः।'
(भागवत १०।८८।२३)

'अबिभ्यत्' अपाणिनीय प्रयोग है।

'अबिभेत्' शुद्ध है।

(७३१) 'मावज्ञात्मानमात्मना।'
(भागवत १०।८९।४६)

'मा अवज्ञ' अशुद्ध है। 'मा अवजानीहि' अथवा 'अवज्ञासीः' शुद्ध है।

'...उद्धृतबृहत्कबरप्रसूनाः।

(७३२) कान्तं स्म रचकञ्जिहीरषयोपगुह्य।'
(भागवत १०।९०।१०)

(क) 'जिहीर्षा' अशुद्ध है। 'जिहीर्षा' शुद्ध है।

(ख) 'कबर' अपाणिनीय प्रयोग है। 'कबरी' (स्त्रीलिंग) शुद्ध है।

(७३३) '...मुष्टहृदयाः पुरुकर्शिताः स्म।'
(भागवत १०।९०।२३)

'मुष्ट' अशुद्ध है। मुष स्तेये (धातुपाठ १५३०) से 'मुषित' शुद्ध है, क्योंकि धातु सेट है।

(७३४) 'न ह्येतस्मिन् कुले जाता अधना
अबहुप्रजाः। (भागवत १०।९०।३९)

'अबहुप्रजाः' बहुवचन और अपाणिनीय प्रयोग है।

'अबहुप्रजसः' होना चाहिए।

'...निजवत्मरिरक्षया...

(७३५) ...यदूत्तमस्य श्रूयादमुष्य।'
(भागवत १०।९०।४९)

(क) 'श्रूयात्' अशुद्ध है।

धातु श्रु भ्वादि है और 'श्रुवः शृ च' (अष्टा० ३।१।७४) के अनुसार श्रु शृ हो जाता है। अतः 'शृणुयात्' साधु है।

(ख) 'रिरक्षा' अपाणिनीय है। 'रिरक्षिषा' होना चाहिए।

स्कन्ध ११

(७३६) 'भुवोऽवतारयद् भारं।'
(भागवत ११।१।१)

'अवतारयत्' अशुद्ध है। 'अवातारयत्' शुद्ध है। छन्दोभङ्ग भयसे ऐसा प्रयोग प्रतीत होता है।

(७३७) 'मन्ये कुतश्चिद्भयमच्युतस्य।'
(भागवत ११।२।३३)

'अकुतश्चिद्भयम्' समास अशुद्ध है।

(७३८) 'लोकांस्त्रीन् प्रतपिष्यति।'
(भागवत ११।३।९)

'प्रतपिष्यति' अपाणिनीय प्रयोग है।

'प्र + तप् लृट् अनिट् है। 'प्रतप्स्यति' शुद्ध है।

(७३९) पश्येत पाकविपर्यासं मिथुनीचारिणां नृणाम्। (भागवत ११।३।१८)

'मिथुनीचारिणाम्' अपाणिनीय प्रयोग है।

'मिथुनचारिणाम् शुद्ध है।

(७४०) आसामेकतमां वृङ्ध्वं सवर्णां स्वर्ग-भूषणाम्। (भागवत ११।४।१४)

'वृङ्ध्वम्' अशुद्ध है। 'वृणीध्वम्' शुद्ध है

(७४१) संस्तुन्वतोऽब्धिपतिताञ्छ्रमणानृषींश्च।
(भागवत ११।४।१९)

'संस्तुन्वतः' अशुद्ध है। 'संस्तुवतः' शुद्ध है।

भागवतकारने यहाँ ष्टुञ् स्तुतौ (धातुपाठ १०४३) स्वादि धातुमें प्रयोग किया है जब कि यह अदादि लौकिक संस्कृतमें होता है।

(७४२) शूद्रान् कलौ क्षितिभुजो न्यहनिष्यदन्ते।
(भागवत ११।४।२२)

'न्यहनिष्यत्' अशुद्ध है। 'निहनिष्यति' शुद्ध है।

(७४३) सतोऽवमन्यन्ति हरि प्रियान् खलाः।
(भागवत ११।५।९)

'अवमन्यन्ति' अपाणिनीय प्रयोग है।

(७४४) सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम्। (भागवत ११।५।४१) [३७]

'कर्तम्' अशुद्ध है। 'कर्त्वम्' या 'कृत्यम्' शुद्ध है।

'कृत्यार्थे तवैकेन् केन्यत्वनः' (अष्टा० ३।४।१४) के अनुसार 'कर्त्वम्' वैदिक शब्द होता है।

---

३६ पण्डित पुस्तकालय, काशी संस्करण, सामयिकी भा. टी., पृष्ठ ३३५ में 'आरुपितैः' पाठ अशुद्ध है। गीता प्रेस, गोरखपुर व मथुरा संस्करणमें 'आरुपितैः' होना चाहिए। — (लेखक)

३७ पण्डित-पुस्तकालय, वाराणसी संस्करण सामयिकी भा. टी. में 'कर्तम्' अशुद्ध मुद्रित है। गीता प्रेस, गोरखपुर व मथुरा संस्करण, बाल बोधिनी भा. टी. में 'कर्तम्' पाठ है— (लेखक)

टीकाकार पं० श्रीधर लिखते हैं– ' कृतोछेवने इत्यस्मात् भेदं परिहृत्य ' वासुदेवः सर्वमिति बुद्धया , जो काल्पनिक और तर्कहीन है ।

(७४५) भूभारासुरराजन्यहन्तवे गुप्तये सताम् ।
(भागवत ११।५।५०)

' हन्तवे ' शब्द वैदिक है जो ' हन् ' धातुसे बनता है तब ' भूभारराजन्य हन्तवे ' रूपमें समास अशुद्ध है ।

' तुमर्थे सेसेनसेऽसेन्क्सेकसेनध्यै अध्यैन्कध्यैन्शध्यैशध्यैन्त वैतवेङ्तवेनः ' (अष्टा० ३।४।९) के अनुसार ' भूभारराजन्यान् हन्तुम् ' (लौकिक संस्कृतमें) होगा ।

(७४६) पर्युष्टया तव विभो वनमालयेयं संस्पर्धिनी भगवती प्रतिपत्निवच्छ्रीः । यः सुप्रणीतममुयार्हणमाददन्नो ... (भागवत ११।६।१२)

(क) ' पर्युष्ट ' अशुद्ध है । ' पर्युषित ' होना चाहिए ।

(ख) ' प्रतिपत्नि ' अपाणिनीय प्रयोग है ।

' पत्युनो यज्ञसंयोगे ' अष्टा० ४।१।३३) के अनुसार ' प्रतिपत्नी ' शुद्ध है ।

(ग) ' आददत् ' अशुद्ध है ।

' आङो दोऽनास्यविहरणे (अष्टा० १।३।२०) के अनुसार आ + दा आत्मनेपद है और ' आदत्त ' होना चाहिए ।

(७४७) आनुश्रवं श्रुतिभिरङ्घ्रिजमङ्गसङ्गैस्तीर्थद्वयं । (भागवत ११।६।१९)

' आनुश्रवम् अशुद्ध है । ' आनुश्रविक ' ठञ् से शुद्ध रूप होगा ।

(७४८) ऊर्णनाभिः सुपेशकृत् ।
(भागवत ११।७।३४)

' सुपेशकृत् ' अशुद्ध है । ' सुपेशस्कृत ' शुद्ध है ।

(७४९) नीडेस्वपत्युः सन्निधौसती ।
(भागवत ११।७।५७)

' स्वपत्युः ' अपाणिनीय प्रयोग है ।

' पतिःसमास एव ' (अष्टा० १।४।८) के अनुसार ' स्वपतेः ' होगा ।

(७५०) सुदुःखोपार्जितैर्वित्तैराशासानां गृहाशिषः । (भागवत ११।८।१६)

' आशासानाम् ' अशुद्ध है । ' आशासमानानाम् ' शुद्ध है ।

(७५१) स्वनं महत् । (भागवत ११।९।६)

' स्वन् पुल्लिंग है इसलिए ' महत् ' के साथ एक रूप नहीं होसकता है । अतः यह प्रयोग अशुद्ध है ।

(७५२) नाद्रियेत् कर्म चोरनाम् ।
(भागवत ११।१०।४)

' नाद्रियेत् । आ + दृङ आत्मनेपद है । अतः यह अपाणिनीय प्रयोग है ।

(७५३) सङ्गम्य निरसेदेत द्वस्तुबुद्धि यथाक्रमम् ।
(भागवत ११।१०।११)

' निरसेत् ' अपाणिनीय प्रयोग है ।

' निरस्येत् ' होना चाहिए ।

(७५४) मनो मय्यर्प्य सर्वगे ।
(भागवत ११।११।२१)

' अर्प्य ' अपाणिनीय प्रयोग है ।

' समासेऽनञ्पूर्वेक्त्वोल्यप् ' (अष्टा० ७।१।३७) के अनुसार ' अर्पयित्वा ' होना चाहिए । यहां गति समास नहीं है ।

(७५५) आशु नश्यति तन्मूलो ह्यधर्म उभये हते ।
(भागवत ११।१३।३)

' उभये ' अपाणिनीय प्रयोग है ।

' उभयस्मिन् ' (सर्वनाम) शुद्ध है ।

(७५६) विज्ञानमेकमुरुधेव विभाति माया ।
(भागवत ११।१३।३४)

' उरुधा ' अपाणिनीय प्रयोग है ।

(७५७) सुखमया दिशः ।
(भागवत ११।१४।१३)

' सुखमया ' अपाणिनीय प्रयोग है ।

' टिड्ढाणञ्द्वयसज्दघ्नञ्मात्रच्तयप्ठक्ठञ्कञ्क्वरपः । ' (अष्टा० ४।१।१५) के अनुसार ' सुखमय्यः ' होना चाहिए ।

(७५८) घण्टानादं विसोर्णवत् ।
(भागवत ११।१४।३६)

' बिसोर्णवत् अशुद्ध है । ' बिसोर्णावत् ' शुद्ध है ।

(७५९) जन्मौषधितपोमन्त्रैर्यावतीरिह सिद्धयः ।
(भागवत ११।१५।३४)

' यावतीः ' अपाणिनीय प्रयोग है ।

सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः (अष्टा० ७।१।३९) के अनुसार ' यावत्यः ' होना चाहिए ।

(७६०) यमः संयमतां चाहं सर्पाणामस्मि वासुकिः । (भागवत ११।१६।१८)

' संयमताम् ' अपाणिनीय प्रयोग है ।

' इषुगमियमां छः ' (अष्टा० ७।३।७७) के अनुसार ' संयच्छताम् ' होगा ।

(७६१) संवत्सरोऽस्म्यनिमिषामृतूनां मधुमाधवौ। (भागवत ११।१६।२७)

'अनिमिषाम्' अशुद्ध है। 'अनिमिषाणाम्' शुद्ध है।

(७६२) कामा हृदय्या नाश्यन्ति सर्वे मयि हृदिस्थिते। (भागवत ११।२०।२९)

'हृदय्या' पाणिनीय सूत्र 'भवे छन्दसि' (अष्टा० ४।४।११०) के अनुसार अशुद्ध है।

(७६३) य एतान् मत्पथो हित्वा। (भागवत ११।२१।१)

'मत्पथः' अपाणिनीय प्रयोग है। 'मत्पथान्' शुद्ध है।

(७६४) नित्यदा ह्यङ्ग भूतानि भवन्ति न भवन्ति च। (भागवत ११।२२।४२)

'नित्यदा' अशुद्ध है। लौकिक साहित्यमें इसका प्रयोग नहीं होता है।

(७६५) 'एकास्मिन्नघाः काकिणिना सद्यः सर्वेऽद्वयः कृताः।' (भागवत ११।२३।२०)

(क) 'एकास्मिन्नघाः' अशुद्ध है।

'अन्येषामपि दृश्यते' (अष्टा० ६।३।१३७) के अनुसार 'एकस्मिन्नघाः' शुद्ध है।

(ख) 'काकिणिना' अशुद्ध है। 'काकिण्या' (स्त्री लिङ्ग) शुद्ध है।

(७६६) 'कतमाय कुप्येत्।' (भागवत ११।२३।५१)

'कतमाय' अपाणिनीय प्रयोग है। 'कतस्मै' शुद्ध है।

(७६७) 'न्वन्यो मोचितुं प्रभुः।' (भागवत ११।२६।१५)

'मोचितुम' अशुद्ध है। 'मोचयितुम्' शुद्ध है।

(७६८) 'षाडशार्चात्रदानतः' (भागवत ११।२७।४१)

'षोडशार्चा' अपाणिनीय प्रयोग है। 'षोडशार्चेन' होना चाहिये।

(७६९) 'पूर्त्तादिना ब्रह्मलोकं त्रिभिर्मत्साम्यतामियात्।' (भागवत ११।२७।५२)

'मत्साम्यताम्' अशुद्ध है।

'गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च' (अष्टा० ५।१।१२४) के अनुसार 'मत्साम्यम्' होगा।

(७७०) विज्ञानमेतत्त्रियवस्थमङ्ग। (भागवत ११।२८।२०)

'त्रियवस्थम्' वैदिक है और यहाँ प्रयोग अशुद्ध है। 'त्र्यवस्थम्' होना चाहिए।

द्वादश स्कन्ध

(७७१) 'विभोवचोविभूतीर्न तु पारमार्थ्यम्।' (भागवत १२।३।१४)

'वचोविभूतीः' अशुद्ध है। 'वचोविभूतय.' होना चाहिए।

(७७२) 'रश्मिभिः पिबते घोरैः सर्वं नैव विमुञ्चति।' (भागवत १२।४।९)

'पिबते' अशुद्ध है।

पा धातु परस्मैपद है इसलिए 'पिबति' शुद्ध है।

(७७३) त्वं तु राजन् मरिष्येति पशु बुद्धिमिमां जहि। (भागवत १२।५।२)

'मरिष्येति' में सन्धिकार्य अशुद्ध है।

'मरिष्य इति' होना चाहिए।

यदि पाणिनीय सूत्र 'एचोऽयवायावः' (अष्टा० ६।१।७५) के अनुसार 'मरिष्ये+इति' सन्धि है तब 'ए' के स्थानमें 'अय्' और 'लोपः शाकल्यस्य' (अष्टा० ८।३।१९) के अनुसार 'यलोप' है तब 'पूर्वत्रासिद्धम्' (अष्टा० ८।२।१) के द्वारा 'मरिष्येति' में सन्धि नहीं हो सकती है 'लोपशास्त्र असिद्धमें होता है।

(७७४) 'मनः सृजति वै देहान् गुणान् कर्माणि चात्मनः। (भागवत १२।५।६)

'सृजति' परस्मैपदमें प्रयोग करनेसे छन्दोभंग होता है।

(७७५) 'ब्रह्मभूतो महायोगी निःसङ्गश्छिन्नसंशयः। (भागवत १२।६।१०)

'ब्रह्मभूतः' अपाणिनीय प्रयोग है।

(७७६) 'जनमेजयः स्वपितरं श्रुत्वा तक्षकभक्षितम्। (भागवत १२।६।१६)

'जनमेजयः व्याकरणसे शुद्ध है, परन्तु यहाँ इसके प्रयोग से 'छन्दोभंग' होता है।

(७७७) 'पञ्चत्वमृच्छते जन्तुर्भुक्त्वा आरब्धकर्म तत्।' (भागवत १२।६।२६)

[देखिए कवर पृष्ठ ३]

२७४ आ नूनमश्विनोर्ऋषिः स्तोमं चिकेत वामया ।
आ सोमं मधुमत्तमं घर्मं सिञ्चादथर्वणि ॥ ७ ॥

२७५ आ नूनं रघुवर्तनिं रथं तिष्ठाथो अश्विना ।
आ वां स्तोमा इमे मम नभो न चुच्यवीरत ॥ ८ ॥

२७६ यदद्य वां नासत्योक्थैराचुच्युवीमहि ।
यद् वा वाणीभिरश्विनेवेत् काण्वस्य बोधतम् ॥ ९ ॥

२७७ यद् वां कक्षीवाँ उत यद् व्यश्व ऋषिर्यद् वां दीर्घतमा जुहाव ।
पृथी यद् वां वैन्यः सादनेष्वेवेदतो अश्विना चेतयेथाम् ॥ १० ॥

२७८ यातं छर्दिष्पा उत नः परस्पा भूतं जगत्पा उत नस्तनूपा ।
वर्तिस्तोकाय तनयाय यातम् ॥ ११ ॥

अर्थ— [२७४] (नूनं) सचमुच ऋषि (अश्विनोः स्तोम) अश्विदेवोंके स्तोत्रको (वामया आ चिकेत) उत्कृष्ट बुद्धिसे पूर्णतया पहचाना है (मधुमत्तमं सोमं घर्मं) अत्यन्त मीठे सोमको तथा घर्मको (अथर्वणि आ सिंचत्) अथर्वामें सींच चुका है ॥ ७ ॥

[२७५] (नूनं) सचमुच (रघुवर्तनिं रथं) शीघ्रगामी रथपर हे अश्विदेवों ! (आ तिष्ठाथः) तुम चढते हो; (मम इमे स्तोमाः) मेरे ये स्तोत्र (नभः न) आकाशकी तरह विशाल (वां) तुम्हारे (आ चुच्यवीरत) पास पहुँचे हैं ॥ ८ ॥

[२७६] हे असत्यसे रहित अश्विदेवों ! (यत्) जब (उक्थैः) स्तोत्रोंसे (अद्य वां) आज दिन हम तुम्हें (आचुच्युवीमहि) अपनी ओर प्रवृत्त करते हैं, (यत् वा वाणीभिः) या साधारण भाषणोंसे ऐसा करते हैं, तो (काण्वस्य एव इत् बोधतं) निश्चय जानो कि यह कण्वपुत्रकाही कार्य है ॥ ९ ॥

[२७७] हे अश्विदेवों ! (वां यत्) तुम्हें जब कक्षीवान्‌ने (उत यत्) और जब व्यश्वने तथा (यत् वां दीर्घतमाः जुहाव) जिस समय तुम्हें दीर्घतमाने बुलाया था; (सदनेषु यत् वैन्यः पृथी) घरोंमें जब कि वेनपुत्र पृथीने (वां) तुम्हें पुकारा था, तब तुमने उधर ध्यान दिया, (अतः एव) इसीलिए अबकी बार भी (चेतयेथां) हमारी पुकारको पहचान लो ॥ १० ॥

[२७८] हे (छर्दिःपौ) घरके संरक्षक ! (यातं) जाओ (उत) और (नः परःपा भूतं) हमारे अत्यन्त उच्च कोटिके रक्षक बनो, तथा (जगत्पौ) गतिशीलके रक्षक (उत नः तनूपाः) एवं हमारे शरीरके संरक्षक हो-जाओ, (तोकाय तनयाय) पुत्रपौत्रके हितके लिए (वर्तिः यातं) घरपर आया करो ॥ ११ ॥

भावार्थ— ज्ञानियोंने प्रथम अपनी बुद्धि और ज्ञानके द्वारा अश्विदेवोंके स्तोत्रोंको रचा, फिर उन स्तोत्रोंके द्वारा अश्विदेवोंको प्रसन्न किया ॥ ७ ॥

जब ये अश्विदेव अपने शीघ्रगामी रथपर चढते हैं, तब ज्ञानी जन इनकी प्रशंसा करके इनका सामर्थ्य बढाते हैं ॥ ८ ॥

हे देवो ! जब कभी कोई तुम्हें भक्ति और प्रेमसे बुलाता है, तब तुम यह समझ लो कि वह कार्य किसी ज्ञानी-काही है ॥ ९ ॥

इन देवोंको सभी लोग बुलाते हैं, और ये देव भी उनकी प्रार्थनाको सुनकर तथा उनके मनोगत प्रेमपूर्ण भावोंको जानकर उनके पास जाते हैं ॥ १० ॥

दोनों देव अपने भक्तके घरोंकी रक्षा करते हैं, साथही उसकी भी रक्षा करते हैं ॥ ११ ॥

२७९ यदिन्द्रेण सरथं याथो अश्विना यद् वा वायुना भवथः समोकसा ।
यदादित्येभिर्ऋभुभिः सजोषसा यद् वा विष्णोर्विक्रमणेषु तिष्ठथः ॥ १२ ॥
२८० यदद्याश्विनावहं हुवेय वाजसातये ।
यत् पृत्सु तुर्वणे सह॒स्तच्छ्रेष्ठमश्विनोरवः ॥ १३ ॥
२८१ आ नूनं यातमश्विनेमा हव्यानि वां हिता ।
इमे सोमासो अधि तुर्वशे यदा॑विमे कण्वेषु वामथ ॥ १४ ॥
२८२ यन्नासत्या पराके अर्वाके अस्ति भेषजम् ।
तेन नूनं विमदाय प्रचेतसा छर्दिर्वत्साय यच्छतम् ॥ १५ ॥
२८३ अभुत्स्यु प्र देव्या साकं वाचाहमश्विनोः ।
व्यावर्देव्या मतिं वि रातिं मर्त्येभ्यः ॥ १६ ॥

अर्थ— [२७९] हे अश्विदेवों ! (यत् इन्द्रेण) जो तुम इन्द्रके साथ (सरथं याथः) एक रथपर बैठकर चले जाते हो, (यत् वा) अथवा (वायुना समोकसा भवथः) वायुके साथ एकही घरमें रहते हो, (यत्) या जब (आदित्येभिः ऋभुभिः) अदितिके पुत्रों या ऋभु-संज्ञक कारीगरोंके (सजोषसा) साथ प्रेमपूर्वक निवास करते हो, (यत् वा) किंवा जब (विष्णोः विक्रमणेषु तिष्ठथः) विष्णुके विशेष संचारोंमें तुम उपस्थित होते हो, [पर हमारे समीप अवश्य आओ] ॥ १२ ॥

[२८०] (अद्य यत्) आज जब कि (वाजसातये) अन्नका बँटवारा करनेके लिए (अहं अश्विनौ हुवेय) मैं अश्विदेवोंको बुलाऊँ तो वे अवश्य आयेंगे, क्योंकि (अश्विनोः तत् अवः) अश्विदेवोंका वह संरक्षण (श्रेष्ठं यत् पृत्सु) उत्कृष्ट है, जो युद्धोंमें (तुर्वणे सहः) शत्रुवध करनेमें पूर्ण क्षमता रखता है ॥ १३ ॥

[२८१] हे अश्विदेवों ! (नूनं) अवश्य (आ यातं) आओ, (वां इमा हव्यानि हिता) तुम दोनोंके लिए ये हविर्भाग रखे हुए हैं; (इमे सोमासः) ये सोम (तुर्वशे यदौ अधि) तुर्वश एवं यदुके घरपर पाये जाते हैं, (इमे कण्वेषु) ये कण्वोंके मकानपर विद्यमान हैं (अथ वां) और अब ये तुम्हारे लिए रखे हैं ॥ १४ ॥

[२८२] हे (प्रचेतसा नासत्या) उत्कृष्ट मनवाले तथा असत्यसे दूर रहनेवाले अश्विदेवों ! (यत् पराके) जो दूर देशमें (अर्वाके) समीप भी (भेषजं अस्ति) औषध विद्यमान है, (तेन) उससे (विमदाय वत्साय) मदसे रहित ऋषि वत्सके लिए (नूनं) निश्चयसे (छर्दिः यच्छतं) घर दे डालो ॥ १५ ॥

[२८३] (अहं) मैं (अश्विनोः) अश्विदेवोंकी (देव्या वाचा साकं) दिव्यगुणसंपन्न वाणीके साथ (प्र अभुत्सि) विशेष रीतिसे जागृत हो चुका हूँ, इसलिए हे (देवि) द्योतमान उषे ! (मर्त्येभ्यः) मानवोंको (मतिं रातिं) बुद्धि तथा देनको (वि आवः) अँधेरा हटाकर स्पष्ट करो ॥ १६ ॥

भावार्थ— ये दोनों देव इन्द्र, वायु ऋभु और विष्णुके साथ रथोंमें बैठकर सर्वत्र संचार करते हैं, अर्थात् अन्य देव भी अश्विदेवोंके उत्तम कार्योंमें उनकी सहायता करते हैं ॥ १२ ॥

अश्विदेवोंके पास संरक्षणके साधन बहुत उत्तम हैं और वे शत्रुवध करनेके कार्यमें पूर्ण रूपसे सामर्थ्यशाली भी हैं ॥ १३ ॥

हे देवो ! तुम्हारे ज्ञानी भक्तोंने ये सोमरस तैय्यार करके तुम्हारे लिए रखे हैं, अतः तुम आकर पिओ ॥ १४ ॥

हे अश्विदेवो ! जो तुम्हारे पास या दूर देशमें औषध हैं, उन औषधोंसे तुम मद अर्थात् अहंकारसे रहित भक्तको सामर्थ्यशाली बनाओ ॥ १५ ॥

अश्विदेवोंके लिए की जानेवाली स्तुति उत्तम गुणोंसे युक्त होती है, और वह स्तोताको उत्तम ज्ञानसे युक्त करती है। हे उषे ! तुम भी अश्विदेवोंके उपासकोंकी बुद्धिको ज्ञानसे युक्त करके अज्ञानान्धकारको दूर करो ॥ १६ ॥

२८४ प्र बोधयोषो अश्विना प्र देवि सूनृते महि ।
प्र यज्ञहोतरानुषक् प्र मदाय श्रवो बृहत् ॥ १७ ॥
२८५ यदुषो यासि भानुना सं सूर्येण रोचसे ।
आ हायमश्विनो रथो वर्तिर्याति नृपाय्यम् ॥ १८ ॥
२८६ यदापीतासो अंशवो गावो न दुह्र ऊर्धभिः ।
यद् वा वाणीरनूषत प्र देवयन्तो अश्विना ॥ १९ ॥
२८७ प्र द्युम्नाय प्र शवसे प्र नृषाह्याय शर्मणे । प्र दक्षाय प्रचेतसा ॥ २० ॥
२८८ यन्नूनं धीभिरश्विना पितुर्योना निषीदथः । यद् वां सुम्नेभिरुक्थ्या ॥ २१ ॥

अर्थ— [२८४] हे द्योतमान ! (सूनृते) भलीभाँति ले चलनेवाली (महि) पूजनीय उषे ! तू अश्विदेवोंको (प्र बोधय) जागृत कर; हे (यज्ञहोतर्) यज्ञमें हवन करनेवाले ! (आनुषक्) सततरूपसे (मदाय) हर्ष उत्पन्न करनेके लिए (बृहत् श्रवः) बडे भारी अन्नको भी दे दो ॥ १७ ॥

[२८५] हे उषे ! (यत् भानुना यासि) जो तू किरणसे युक्त हो चली जाती है, और (सूर्येण सं रोचसे) सूर्यके साथ अत्यन्त जगमगाती है उसी समय (अश्विनोः अयं रथः ह) अश्विदेवोंका यह रथ निश्चयसे (नृपाय्यं वर्तिः आ याति) मानवोंने पालन करनेयोग्य घर चला जाता है ॥ १८ ॥

[२८६] (ऊधभिः गावः न) थनोंसे गायें जिस प्रकार दूध देती हैं वैसेही (यत्) जब (आपीतासः अंशवः) पीये हुए सोमरस (दुह्रे) दोहन करते हैं, (यत् वा) या जब (देवयन्तः) देवोंकी कामना करनेहारे (वाणीः) वाणियोंसे (अश्विना प्र अनूषत) अश्विदेवोंकी खूब स्तुति करते हैं ॥ १९ ॥

[२८७] हे (प्रचेतसा) उत्कृष्ट ज्ञानवाले अश्विदेवों ! (द्युम्नाय) धनके लिए, (शवसे) बलके लिए (नृ-साह्याय शर्मणे) जिससे मानवोंमें सहनशक्ति बढे ऐसे सुखके लिए (दक्षाय) दक्षताके लिए (प्र) खूब आयोजना करो ॥ २० ॥

[२८८] (उक्थ्या अश्विना !) हे प्रशंसनीय अश्विदेवों ! (नूनं यत्) सचमुच जब (पितुः योना) पिताके स्थानमें (धीभिः यत् वा सुम्नेभिः) कार्योंसे अथवा सुखोंसे (नि-सीदथः) बैठ जाते हो ॥ २१ ॥

भावार्थ— हे उषे ! तू अश्विदेवोंको जगा, उन्हें प्रेरित कर और मनुष्योंमें हर्षको उत्पन्न करनेके लिए उन्हें उत्तम अन्न प्रदान कर ॥ १७ ॥

जब उषाकी किरणें प्रकट होती हैं और सूर्य भी उदय होनेको होता है, उस समय अश्विदेव सबके पास जाकर सबको स्वास्थ्य प्रदान करते हैं । प्रातःकाल उठना स्वास्थ्यके लिए लाभदायक होता है ॥ १८ ॥

गायें जिस प्रकार दूध देती हैं, उसी प्रकार यज्ञ करनेवाले भी इन अश्विदेवोंको सोमरस प्रदान करते हैं और उनकी खूब स्तुति करते हैं ॥ १९ ॥

हे देवो ! तुम हमें ऐसे कर्म करनेकी प्रेरणा दो कि जिससे हमें धन, बल, सहनशक्ति तथा उत्तम कार्य करनेकी कुशलता प्राप्त हो ॥ २० ॥

हे देवो ! तुम हमारे पिता होकर हमारा पालन करते हो, अतः जैसे पिता अपने पुत्रको हर तरहके सुख प्रदान करता है, उसी तरह तुम हमें सुख प्रदान करो ॥ २१ ॥

[१०]

(ऋषिः- प्रगाथो (घौरः) काण्वः । देवता- अश्विनौ । छन्दः- १ बृहती, २ मध्येज्योतिः, ३ अनुष्टुप् (पिंगलमतेन-शंकुमती), ४ आस्तारपंक्तिः, ५-६ प्रगाथः = (५ बृहती, ६ सतोबृहती) ।)

२८९ यत् स्थो दीर्घप्रसद्मनि यद् वादो रोचने दिवः ।
यद् वा समुद्रे अध्याकृते गृहे ऽत आ यातमश्विना ॥ १ ॥

२९० यद् वा यज्ञं मनवे संमिमिक्षथुरेवेत् काण्वस्य बोधतम् ।
बृहस्पतिं विश्वान् देवाँ अहं हुव इन्द्राविष्णू अश्विनावाशुहेषसा ॥ २ ॥

२९१ त्या न्वश्विना हुवे सुदंससा गृभे कृता ।
ययोरस्ति प्र णः सख्यं देवेष्वध्याप्यम् ॥ ३ ॥

२९२ ययोरधि प्र यज्ञा असूरे सन्ति सूरयः ।
ता यज्ञस्याध्वरस्य प्रचेतसा स्वधाभिर्या पिबतः सोम्यं मधु ॥ ४ ॥

---

[१०]

अर्थ— [२८९] हे अश्विदेवों ! (यत्) जो तुम (दीर्घप्रसद्मनि) लंबे घरोंसे युक्त लोकमें (यत् वा) अथवा (अदः दिवः रोचने) उस द्युलोकके जगमगाते स्थानमें (स्थः) रहते हो, (यत् वा) या (आकृते गृहे) चारों ओर ठीक बनाये घरमें, (समुद्रे अधि) समुन्दरमें रहो, परन्तु (अतः) वहाँसे (आ यातम्) इधर आओ ॥ १ ॥

[२९०] (मनवे यज्ञं) मनुके लिए यज्ञको (यत् वा संमिमिक्षथुः) जिस ढंगसे तुमने ठीक तरह सिक्त किया था, (काण्वस्य एव इत्) कण्वपुत्रके यज्ञको भी इसी तरह (बोधतं) समझ लो; (अहं) मैं बृहस्पतिको (विश्वान् देवान्) सभी देवोंको, इन्द्र एवं विष्णुको तथा (आशुहेषसा अश्विनौ हुवे) शीघ्रगामी घोडोंसे युक्त अश्विदेवोंको बुलाता हूँ ॥ २ ॥

[२९१] (त्या) उन दोनों (सुदंससा) अच्छे कर्म करनेवाले (गृभे कृता अश्विना) ग्रहण करनेके लिए उत्पन्न हुए अश्विदेवोंको, (ययोः) जिनकी (नः सख्यं) हमसे मित्रता (देवेषु अधि आप्यं) देवोंमें प्राप्त करनेयोग्य (प्र अस्ति) उच्च कोटिकी है, (नु हुवे) अभी बुलाता हूँ ॥ ३ ॥

[२९२] (ययोः अधि) जिन दोनोंके (यज्ञा प्र सन्ति) प्रकर्षसे होते हैं, जो (असूरे सूरयः) अविद्वानोंमें विद्वान् बनकर कार्य करते हैं, (ता) वे दोनों (अध्वरस्य यज्ञस्य) हिंसारहित यज्ञके (प्रचेतसा) अच्छे ज्ञाता हैं, तथा (या) जो (स्वधाभिः) अपनी धारक शक्तियोंसे (सोम्यं मधु पिबतः) सोमयुक्त मधु पी लेते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ— हे अश्विदेवो ! तुम चाहे अपने जगमगाते घर अर्थात् द्युलोकमें रहो, अथवा अन्तरिक्ष लोकमें रहो, पर हमारे द्वारा सहायताके लिए बुलाये जाने पर हमारे पास आओ ॥ १ ॥

मननशील ज्ञानी मनुष्यके यज्ञको ये देव पूर्णता तक पहुंचाते हैं। तथा ऐसे मनुष्यके यज्ञमें ये दोनों देव इन्द्र, विष्णु तथा इतर देवोंके साथ आते हैं ॥ २ ॥

ये दोनों देव उत्तम कर्म करनेवाले हैं, अतः इनके साथ सदा हमारी मैत्री रहे और वह मैत्री भी उच्च कोटिकी रहे। मनुष्य सदा उत्तम कर्म करनेवालोंके साथ निश्छल और निष्कपट मैत्री करे ॥ ३ ॥

ये दोनों देव अज्ञानियोंमें जाकर ज्ञानका प्रचार करके उन्हें ज्ञानी बनाते हैं और हिंसारहित यज्ञका संचालन बडी कुशलतासे करते हैं ॥ ४ ॥

२९३ यदुद्यापश्विनावपाग् यत् प्राक् स्थो वाजिनीवसू ।
यद् द्रुह्यव्यनवि तुर्वशे यदौ हुवे वामथ मा गतम् ॥ ५ ॥
२९४ यदुन्तरिक्षे पतथः पुरुभुजा यद् वेमे रोदसी अनु ।
यद् वा स्वधाभिरधितिष्ठथो रथमत आ यातमश्विना ॥ ६ ॥

[११]

(ऋषिः- वत्सः काण्वः । देवता- अग्निः । छन्दः- गायत्री, १ प्रतिष्ठा, २ वर्धमाना, १० त्रिष्टुप् ।)

२९५ त्वमग्ने व्रतपा असि देव आ मर्त्येष्वा । त्वं यज्ञेष्वीड्यः ॥ १ ॥
२९६ त्वमसि प्रशस्यो विदथेषु सहन्त्य । अग्ने रथीरध्वराणाम् ॥ २ ॥
२९७ स त्वमस्मदप द्विषो युयोधि जातवेदः । अदेवीरग्ने अरातीः ॥ ३ ॥
२९८ अन्ति चित् सन्तमह यज्ञं मर्तस्य रिपोः । नोप वेषि जातवेदः ॥ ४ ॥

अर्थ— [२९३] हे (वाजिनीवसू) सेनारूपी धनवाले अश्विदेवों ! (अद्य यत्), आज जो तुम (अपाक्) पश्चिम दिशामें (यत् प्राक्) या पूर्व दिशामें (स्थः) रहो, (यत्) जो तुम द्रुह्यु, अनु, तुर्वश यदुके पास रहो, पर (वां हुवे) मैं तुम्हें बुलाता हूँ (अथ) अच्छा अब (मा आ गतम्) मेरे निकट आओ ॥ ५ ॥

[२९४] हे (पुरुभुजा) बहुत बडी भुजावाले अश्विदेवों ! (यत्) जो तुम (अन्तरिक्षे पतथः) अन्तरिक्षमें उड्डान करते हो, (यत् वा इमे रोदसी अनु) अथवा इन दो द्युलोक या भूलोकके बीच चढे जाते हो, (यत् वा) या कभी (रथं स्वधाभिः अधितिष्ठथः) रथपर अपनी धारक शक्तियोंसे चढ जाते हो, (अतः आ यातं) उधरसे इधर आओ ॥ ६ ॥

(१)

[२९५] हे (देव अग्ने) दिव्यगुण युक्त अग्ने ! (त्वं मर्त्येषु आ व्रतपा असि) तू मनुष्यों तथा देवोंके मध्यमें उत्तम व्रतोंका रक्षक है, इसलिये (यज्ञेषु त्वं ईड्यः) यज्ञोंमें तू स्तुतिके योग्य है ॥ १ ॥

[२९६] हे (सहन्त्य अग्ने) शत्रुओंको पराजित करनेवाले अग्ने ! (त्वं विदथेषु प्रशस्यः अध्वराणां रथीः असि) तू यज्ञोंमें स्तुति करनेके योग्य और हिंसारहित यज्ञोंका नेता है ॥ २ ॥

[२९७] हे (जातवेदः अग्ने) संसारके सब पदार्थोंको जाननेवाले अग्ने ! (सः त्वं अस्मत् द्विषः अप युयोधि) वह तू हमसे शत्रुओंको दूर कर । तथा (अदेवीः अरातीः) आसुरी शत्रु सेनाको भी हमसे परे हटा ॥ ३ ॥

[२९८] हे (जातवेदः) स्वभावसे ज्ञानवान् प्रकाशशील अग्ने ! तू (अह रिपोः मर्तस्य) हमारे शत्रुजनके (अन्ति चित् सन्तं) समीपस्थ विद्यमान रहनेवाले (यज्ञं न उप वेषि) यज्ञकी कामना नहीं करता है ॥ ४ ॥

भावार्थ— हे देवो ! तुम पूर्व, पश्चिम या किसी भी दिशामें रहो, पर हमारी प्रार्थना सुनकर हमारे पास आओ ॥ ५ ॥

हे शक्तिशाली भुजावाले देवो ! जब भूलोक और द्युलोकके मध्यके अन्तरिक्ष लोकसे जाते हो, तब अपनी संपूर्ण धारक शक्तियोंसे युक्त होकर हमारे पास आओ ॥ ६ ॥

हे अग्ने ! तू देवों और मनुष्योंके द्वारा किए जानेवाले उत्तम व्रतोंका रक्षक है और तू शत्रुओंको पराजित करनेवाला है, इसलिए सभी तरहके यज्ञोंमें तेरी ही स्तुति होती है ॥ १-२ ॥

हे अग्ने ! तू हमसे शत्रुओंको दूर कर और असुरोंकी सेनाको भी हमसे दूर ही रख । अपने शत्रुके यज्ञमें, चाहे वह कितने ही पासके स्थानमें हो रहा हो, तू कभी नहीं जाता, इसके विपरीत अपने भक्तके यज्ञमें, भले ही वह दूर हो, अवश्य जाता है ॥ ३-४ ॥

२९९ मर्ता अमर्त्यस्य ते भूरि नाम मनामहे । विप्रासो जातवेदसः ॥ ५ ॥

३०० विप्रं विप्रासोऽवसे देवं मर्तास ऊतये । अग्निं गीर्भिर्हवामहे ॥ ६ ॥

३०१ आ ते वत्सो मनो यमत् परमाच्चित् सधस्थात् । अग्ने त्वांकामया गिरा ॥ ७ ॥

३०२ पुरुत्रा हि सदृङ्ङसि विशो विश्वा अनु प्रभुः । समत्सु त्वा हवामहे ॥ ८ ॥

३०३ समत्स्वग्निमवसे वाजयन्तो हवामहे । वाजेषु चित्रराधसम् ॥ ९ ॥

३०४ प्रत्नो हि कमीड्यो अध्वरेषु सनाच्च होता नव्यश्च सत्सि ।
स्वां चाग्ने तन्वं पिप्रयस्वा—ऽस्मभ्यं च सौभगमा यजस्व ॥ १० ॥

अर्थ— [२९९] हे अग्ने ! (जातवेदसः विप्रासः मर्ताः) ज्ञानसे उत्पन्न हुए हुए ज्ञानी ब्राह्मणजन (अमर्त्यस्य ते भूरि नाम मनामहे) मरणरहित तेरे विस्तृत नामका मनन करते हैं ॥ ५ ॥

[३००] (विप्रासः मर्तासः) विप्र और मरणधर्मवाले मनुष्य हम (विप्रं देवं अग्निं) मेधावी, दिव्यगुणयुक्त अग्निको (अवसे ऊतये गीर्भिः हवामहे) हव्यके द्वारा प्रसन्न करके, अपनी रक्षाके निमित्त स्तुतियों द्वारा बुलाते हैं ॥ ६ ॥

[३०१] हे (अग्ने) अग्ने (परमात् चित् सधस्थात्) परम उत्कृष्ट उत्तम वास स्थान द्युलोकसे भी (ते मनः वत्सः) तेरे मनको पुत्ररूप उपासक जन (त्वां कामया गिरा) तेरी अभिलाषा करनेवाली वाणीसे (आ यमत्) अपनी ओर आकर्षित करते हैं ॥ ७ ॥

[३०२] हे अग्ने ! (हि पुरुत्रा सदृङ्ङसि) निश्चयसे तू बहुत देशोंमें समानरूपसे देखनेवाला है । (विश्वाः विशः अनु प्रभुः) समस्त प्रजाओंका अधिपति है । ऐसे तुझको हम (समत्सु हवामहे) संग्राममें बुलाते हैं ॥ ८ ॥

[३०३] हम (वाजयन्तः वाजेषु समत्सु अवसे चित्रराधसं अग्निं हवामहे) अन्नकी कामनावाले होकर अन्न और बलके प्राप्त होनेवाले संग्राममें अपनी रक्षाके लिये अनेक ऐश्वर्योंको धारण करनेवाले अग्निको बुलाते हैं ॥ ९ ॥

[३०४] हे (अग्ने) अग्ने ! तू (अध्वरेषु ईड्यः च हि कं प्रत्नः) यज्ञोंमें स्तुत्य और सुखदायक और अत्यन्त प्राचीन है (च सनात् होता च नव्यः सत्सि) और चिरकालसे ही होता एवं स्तुतिके योग्य होकर यज्ञमें विराजमान होता है । तू (स्वां तन्वं पिप्रयस्व) अपने शरीरको हविसे संतुष्ट कर (च अस्मभ्य सौभगं आ यजस्व) और हमको भी सौभाग्यशाली बना ॥ १० ॥

भावार्थ— अग्निका नाम मनन करने योग्य है उसके अनेक नाम होनेसे वह बडा विस्तृत है । ऐसे इस अग्निको सभी ज्ञानी अपनी रक्षाके लिए स्तुतियों द्वारा बुलाते हैं ॥ ५-६ ॥

यह अग्नि सबको समान दृष्टिसे देखता है, इसके लिए न कोई शत्रु है न मित्र है । इसलिए यह सब प्रजाओंका स्वामी है । इसे सभी मनुष्य अपनी उत्तम उत्तम स्तुतियोंके द्वारा बुलाते हैं और इसकी सहायताको पानेकी इच्छा करते हैं ॥ ७-८ ॥

यह अग्नि यज्ञोंमें स्तुतिके योग्य सुखदायक और अत्यन्त प्राचीन होनेके कारण सभीके द्वारा बुलाया जा कर यज्ञमें जाता है तथा स्वयं हविसे सन्तुष्ट होकर यज्ञ करनेवालोंको भी सौभाग्यशाली बनाता है । इसीलिए अन्न और बल प्राप्त करनेकी इच्छा करनेवाले मनुष्य इस अग्निको बुलाते हैं ॥ ९-१० ॥

[१२]

(ऋषिः- पर्वतः काण्वः । देवता- इन्द्रः । छन्दः- उष्णिक्, ३३ शंकुमती (पिंगलमतेन) ।)

३०५ य इन्द्र सोमपातमो मदः शविष्ठ चेतति । येना हंसि न्य१त्रिणं तमीमहे ॥ १ ॥

३०६ येना दशग्वमध्रिगुं वेपयन्तं स्वर्णरम् । येना समुद्रमाविथा तमीमहे ॥ २ ॥

३०७ येन सिन्धुं महीरपो रथाँ इव प्रचोदयः । पन्थामृतस्य यातवे तमीमहे ॥ ३ ॥

---

[१२]

अर्थ— [३०५] हे (इन्द्र) इन्द्र ! (यः) जो तुम (सोमपातमः) अत्यधिक सोम पीनेवाले (शविष्ठः) बलवान् (मदः चेतति) आनन्दित होनेवाले तथा सब जाननेवाले हो, [उस तुमने] (येन) जिस [बल] से (अत्रिणः न हंसि) राक्षसोंको मारा (तं) उस बलको [हम तुमसे] (ईमहे) मांगते हैं ॥ १ ॥

१ येन अत्रिणः नि हंसि— जिस बलसे तुमने राक्षसोंको मारा ।

२ तं ईमहे— हम उस बलको मांगते हैं ।

३ अत्रिणः— खानेवाले, खाऊ, दूसरेके भोगोंको स्वयं खानेवाले ।

[३०६] हे इन्द्र ! (येन) जिस [बल] से (दशग्वं अध्रिगु) दशग्व तथा अध्रिगु ऋषि और (वेपयन्तं स्वर्ण-रम्) [भयसे] कांपते हुए दान दाता [यजमान] की (आविथ) रक्षा की थी और (येन) जिस [बलसे] (समुद्रं) समुद्रकी [रक्षा की थी] (तं ईमहे) उस बलको हम मांगते हैं ॥ २ ॥

१ ईमहे— मांगते हैं, ' ईमह इति याञ्चा कर्मा ' (निघं. ३।१९)

२ स्वर्ण-रं— धनका दान करनेवाला, सुवर्णका दान करनेवाला !

३ अध्रि-गु— आगे जानेवाला, प्रगति करनेवाला ।

४ दश-ग्वं— दस गौओंका पालन करनेवाला ।

५ समुद्रः (सं-उत्-र)— मिलकर उन्नति करनेके लिये दान देनेवाला, समुद्र ।

६ येन स्वर्ण-रं अविथ तं ईमहे— जिस बलसे तुमने धन दाताकी रक्षा की वह बल हम चाहते हैं ।

[३०७] हे इन्द्र ! (येन) जिस सामर्थ्यसे (रथान् इव) रथोंके समान (महीः अपः) बडे बडे जलप्रवाहोंको (सिन्धुं) समुद्रकी [ओर] (प्रचोदयः) प्रेरित किया बढाया (ऋतस्य पन्थां यातवे) यज्ञके मार्गपर जानेके लिए (तं ईमहे) उस सामर्थ्यको मांगते हैं ॥ ३ ॥

१ ऋतस्य पन्थां यातवे तं ईमहे— यज्ञके मार्गपर जानेके लिए सामर्थ्यको हम प्राप्त करते है । सत्य या यज्ञके मार्गपरसे जानेके लिये सामर्थ्य चाहिये ।

भावार्थ— हे बलशाली तथा आनंदयुक्त रहनेवाले इन्द्र ! जिस बलसे तुमने राक्षसोंको मारा था, उस बलसे हमें युक्त करो ॥ १ ॥

जो गौओंका पालन करता है और सदा आगे उन्नति करता जाता है, उसकी रक्षा इन्द्र करता है । इन्द्रके उस बलको हम भी मांगते हैं ॥ २ ॥

हे इन्द्र ! अपने जिस सामर्थ्यसे तुमने बडी बडी नदियोंको प्रवाहित किया, उसी तेरे सामर्थ्यको हम इसलिए मांगते है कि हम सत्यके मार्गमें चल सकें । सत्य मार्गके अनुसरणमें ही अपनी शक्ति लगानी चाहिए ॥ ३ ॥

३०८ इमं स्तोमंमभिष्टये घृतं न पूतमद्रिवः । येना नु सद्य ओजसा ववक्षिथ ॥ ४ ॥
३०९ इमं जुषस्व गिर्वणः समुद्र इंव पिन्वते । इन्द्र विश्वाभिरूतिभिर्ववक्षिथ ॥ ५ ॥
३१० यो नों देवः परावतः सखित्वनाय मामहे । दिवो न वृष्टिं प्रथयन् ववक्षिथ ॥ ६ ॥
३११ ववक्षुरस्य केतवं उत वज्रो गभस्त्योः । यत् सूर्यो न रोदसी अवर्धयत् ॥ ७ ॥
३१२ यदि प्रवृद्ध सत्पते सहस्रं महिषाँ अघः । आदित् तं इन्द्रियं महि प्र वावृधे ॥८॥

अर्थ— [३०८] हे (अद्रि-वः) वज्र धारण करनेवाले इन्द्र ! (घृत न पूतं) घीके समान पवित्र (इमं स्तोमं) इस स्तोत्रको (अभिष्टये) हमें इष्ट धनका दान देनेके लिए सुनो (येन) जिससे [तुम] (ओजसा) बलसे युक्त होकर (सद्यः ववक्षित) शीघ्र [इष्ट धनको] दे सकते हो ॥ ४ ॥

१ पूतं स्तोमं अभिष्टये— पवित्र स्तुति अर्थात् शुद्ध मनसे की गई स्तुतिसेही इच्छित पदार्थकी प्राप्ति हो सकती है ।

२ अभिष्टिः— सब प्रकारसे इष्ट ।

[३०९] हे (इन्द्र) इन्द्र ! [तुम] (विश्वाभिः ऊतिभिः ववक्षिथ) संपूर्ण संरक्षणोंके साथ हमारा संरक्षण करते हो, अतः हे (गिर्वणः) स्तुतियोंके द्वारा सेवनके योग्य इन्द्र ! जैसे (समुद्र इव पिन्वते) समुद्र बढता है, वैसेही बढनेवाले [तुम] (इमं) इस स्तुतिको (जुषस्व) सुनो ॥ ५ ॥

१ विश्वाभिः ऊतिभिः ववक्षिथ— इन्द्र अपने भक्तका हर प्रकारसे संरक्षण करता है ।

[३१०] (यः देवः) जो देव इन्द्र (परावतः) दूर देशसे (नः सखित्वनाय) हमारी मित्रताके लिए [धनोंको] (मामहे) देता है, ऐसे तुम हे इन्द्र ! (दिवः वृष्टिं न) जैसे द्युलोकसे वर्षाको [फैलाते हो] वैसेही [धनोंको] (प्रथयन्) फैलाते हुए [तुम] (ववक्षिथ) [हमारे पास] पहुंचाते हो ॥ ६ ॥

१ देवः सखित्वनाय मामहे— देव मित्रताके लिए धन देता है । इन्द्र अपने भक्तोंको ऐश्वर्य देता है ।

२ मामहे— देता है ' मंहतेर्दानकर्मणः ' (निघ. ३।२०) मामहे — पूजा करना ' मह पूजायाम् '

[३११] (यत्) जब यह इन्द्र (सूर्यः न) सूर्यके समान (रोदसी अवर्धयत्) द्यावा-पृथिवीको बढाता है, तब (अस्य केतवः ववक्षुः) इसकी किरणें फैलती हैं (उत) और (गभस्त्योः वज्रः) हाथोंमें वज्र भी वह लेता है ॥ ७ ॥

केतुः— पताका, किरण,

गभस्ती— बाहू- गभस्ती इति बाहुनामं (निघं. २।४)

[३१२] (प्रवृद्ध सत्पते) हे महान् तथा सज्जनोंके पालक इन्द्र ! (यदि) जब तुमने (सहस्रं महिषान्) हजारों बडे बडे शक्तिशाली असुरोंको (अघः) मारा, (आत् इत्) उसके बाद ही (ते इन्द्रियं) तुम्हारा बल (महि प्र वावृधे) अत्यधिक बढा ॥ ८ ॥

१ यदि सहस्रं महिषान् अघः— इन्द्रने जब हजारों बडे बडे सामर्थ्यवान् असुरोंको मारा ।

२ ते इन्द्रियं वावृधे— तेरी शक्ति बढी ।

भावार्थ—किसी मनोरथकी सिद्धि करनी हो, तो सच्चे और पवित्र मनसेही प्रभुकी भक्ति करनी चाहिए, तभी उस मनोरथ की सिद्धि हो सकती है ॥ ४ ॥

हे इन्द्र ! जिस तरह समुद्र नदियोंके पानीसे बढता है, उसी तरह तुम स्तुतियोंसे बढो और हमारी हर तरहसे रक्षा करो ॥ ५ ॥

यह ऐश्वर्यशाली देव दूर देशसे भी हमें धन प्रदान करता है । इसलिए हम उससे सदा मैत्री रखना चाहते हैं ॥ ६ ॥

जिस तरह सूर्य जब अपनी किरणोंको फैलाता है, तब द्युलोक और भूलोक प्रकाशित होकर विस्तृतसे दिखाई पडते हैं, उसी तरह इन्द्रकी किरणें चारों ओर फैलकर सारे विश्वको विस्तृत करती हैं ॥ ७ ॥

हे इन्द्र ! जब तूने सहस्रों राक्षसोंको मारा तब तेरा सामर्थ्य बढा । शत्रुओंको मारनेसे अपना सामर्थ्य बढता है ॥ ८ ॥

'ऋच्छते' अशुद्ध है।

'ऋगतिप्रापणयोः परस्मैपद धातु है अतः 'ऋच्छति' होना चाहिए।

(७७८) क्षीणायुषः क्षीणसत्त्वान् दुर्मेधान् वीक्ष्यकालतः। (भागवत १२।६।४७)

'दुर्मेधान्' अपाणिनीय प्रयोग है।

'नित्यमसिच् प्रजामेधयोः।' (अष्टा० ५।४।१२२) के अनुसार 'दुर्मेधसः' होना चाहिए।

(७७९) 'तल्लोलुपतयाऽऽददुः।' (भागवत १२।६।६५)

'आददु' अशुद्ध है।

आ + दा से 'आददिरे (आत्मनेपद) होगा।

(७८०) 'अधीयेतां संहिते द्वे सावर्ण्याद्या-स्तथापरे।' (भागवत १२।७।३)

'अधीयेताम्' लङ्में अशुद्ध है।

'अध्यैयाताम्' शुद्ध है, क्योंकि पं. भट्टोजीदीक्षित आलोचना करते हैं इङ् अध्ययनने (१०४६) नित्यमधि पूर्वः इससे, परस्वादियङ् तत आट् वृद्धिः अध्यैयाताम्' (सिद्धान्तकौमुदी, तत्त्वबोधिनी टीकासहित, निर्णयसागर प्रेस, सूत्र सं. २४५९)

(७८१) 'अधीयन्त व्यासशिष्यात् संहितां-मत्पितुर्मुखात्। ...समध्यगाम्।' (भागवत १२।७।६)

(क) 'अधीयन्त' अशुद्ध है। 'अध्यैयत' होगा।

(ख) 'समध्यगाम्' अशुद्ध है। 'समध्यगीषि' या 'समध्यैषि' शुद्ध है।

(७८२) 'अधीमहि व्यासशिष्याच्चतस्रो मूल-संहिताः।' (भागवत १२।७।७)

'अधीमहि' अधि + इङ् (धातुपाठ १०४६) सर्वत्र आत्मनेपद है इसलिए लट्में 'अधीमहे' होगा। यदि यह लङ् है तो 'अध्यैमहि' होगा।

(७८३) 'शतह्रदाभीरूपतापितं जगत्।' (भागवत १२।९।१३)

'शतह्रदाभीः' अशुद्ध है। यहाँ दीर्घ क्यों है?

'शतह्रदाभिः होना चाहिए।

(७८४) 'मन्वन्तरावताराश्च विष्णोर्हयशिरादयः (भागवत १२।१२।१९)

'हयशिरादय.' में सन्धिकार्य अशुद्ध है।

'हयशिर आदयः' होगा।

(७८५) 'विप्रोऽधीत्याप्नुयात् प्रज्ञां राजन्यो-दधिमेखलाम्।' (भागवत १२।१२।६४)

'राजन्योदधिमेखलाम्' सन्धि अशुद्ध है।

'राजन्य उदधिमेखलाम्' होगा। एक सन्धिके होने पर पुनः सन्धि करना निषेध है।

'लोप शास्त्रस्य 'पूर्वत्रासिद्धम्' (अष्टाध्यायी ८।२।१) इत्यसिद्धत्वात् न पुनः स्वरसन्धिः।

(७८६) 'यं ब्रह्मावरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैःस्तवैर्वेदैः साङ्गपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति' (भागवत १२।१३।१)

(क) 'स्तुन्वन्ति' अशुद्ध है।

ष्टुञ् स्तुतौ अदादि है, स्वादि नहीं है। अतः 'स्तुवन्ति' होगा।

(ख) 'उपनिषदैः' अशुद्ध है। 'उपनिषद्भिः' शुद्ध है।

वैदिकधर्म Regd. No G BUS 71 Vaidic Dhar[redacted]R. No. 11025/75

मुफ्त भेंट मुफ्त भेंट मुफ्त भेंट

आज ही इस योजना का लाभ उठाइए। इस योजनामें आपके द्वारा खरीदी गई पुस्तकोंके साथ अन्य पुस्तकें आपको संस्था की ओरसे मुफ्तमें भेंट रूपमें दी जाएंगी।

योजना – १ – (१) अथर्ववेदका सुबोध अनुवाद (पांच भागोंमें)
कीमत रु. ६०–०० (डाकव्यय अलग रहेगा)

इन पांचों भागोंको एक साथ खरीदनेवालेको संस्थाकी ओरसे–

(१) ऋग्वेदसंहिता – (मूलमात्र)

(२) यजुर्वेदसंहिता–(मूलमात्र) या (२) सामवेदसंहिता– (मूलमात्र)

ये दो पुस्तकें मुफ्तमें दी जाएंगी। अथर्व – अनुवादके पांचों भाग हिन्दी–मराठी – गुजराती इन तीनों भाषाओंमें उपलब्ध है।

योजना – २ –(१) गीतापुरुषार्थबोधिनी मूल्य रु. ३०–००
(२) सामवेदभाष्य मूल्य रु. १८–०० (डाकव्यय अलग)

इन दोनों ग्रंथोंको एक साथ खरीदनेवालेको संस्थाकी ओरसे—

ऋग्वेदसंहिता (मूलमात्र)

मुफ्तमें दी जाएगी। योजना–२ की पुस्तकें हिन्दी तथा मराठी भाषाओंमें उपलब्ध हैं।

योजना – ३– (१) अथर्ववेदका सुबोध अनुवाद —
(पांच भागोंमें) मूल्य ६०–००
(२) गीतापुरुषार्थबोधिनी मूल्य ३०–००
(३) चाणक्य सूत्राणि मूल्य १८–०० (डा. व्य. अलग)

इन तीनों पुस्तकोंको एक साथ खरीदनेवाले को संस्थाकी ओरसे—

(१) ऋग्वेदसंहिता (मूलमात्र)

(२) यजुर्वेदसंहिता (मूल) अथवा सामवेदसंहिता (मूल)

(३) पं. सातवलेकर—जीवनप्रदीप (हिन्दी)

ये पुस्तकें मुफ्तमें दी जाएंगी। योजना – ३ की सभी पुस्तकें हिन्दी और मराठी भाषाओंमें उपलब्ध है।

यह " मुफ्त भेंट योजना " दिसम्बर १९७५ तक ही रहेगी। अतः शीघ्रता करें और आज ही अपना ऑर्डर भेजें। ऑर्डर देते समय किस भाषामें पुस्तकें चाहिए इसका भी उल्लेख अवश्य करें। पुस्तकों के लिए आज ही लिखें।

व्यवस्थापक
स्वाध्याय मण्डल, पारडी
जि. बलसार (गुजरात)

मुद्रक और प्रकाशक– व. श्री. सातवलेकर, भारत मुद्रणालय, पोस्ट– 'स्वाध्याय मण्डल, पारडी' [जि. बलसार]

वैदिकधर्म

अगस्त १९७४

१ रु.



महायोगी श्री अरविन्द



वैदिक धर्म

वर्ष ५५ : अंक ८ : श्रावण : २०३१

स्वामी— स्वाध्याय-मंडल, पारडी [जि. वलसाड]

संस्थापक एवं आद्यसंपादक
श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

संपादक
वसंत श्रीपाद सातवलेकर

विषयानुक्रमणिका

卐

'वैदिक धर्म' वार्षिक मूल्य म. आ. से १०) रु.

वी. पी. से रु. १२), विदेशके लिए रु. १४), डाक व्यय अलग रहेगा।

इस अंकमें प्रसिद्ध किये गये लेखकोंके लेखोंमेंके मतों और विचारोंसे संपादक सहमत है ऐसा नहीं है। उन लेखोंमेंके विचारोंके लिये केवल लेखकही व्यक्तिशः उत्तरदायी हैं।

मंत्री— स्वाध्याय-मण्डल, पो.- 'स्वाध्याय-मण्डल (पारडी)' पारडी [जि. वलसाड]

वैदिक धर्म

माता पिताकी सेवा करो

यत्रा सुहार्दः सुकृतो मदन्ति
विहाय रोगं तन्वः स्वायाः ।
अश्लोणा अङ्गैरह्रुताः स्वर्गे
तत्र पश्येम पितरौ च पुत्रान् ॥

(अथर्व. ६-१२०-३)



(यत्र सुहार्दः सुकृतः) जहां उत्तम हृदयवाले पुण्यकर्ता पुरुष (स्वायाः तन्वः रोगं विहाय) अपने शरीरसे रोगको दूर करके (मदन्ति) आनंदित होते हैं, (अंगैः अश्लोणाः अन्हुताः) अंगोंसे अविकृत और अकुटिल होकर (तत्र स्वर्गे पितरौ च पुत्रान् पश्येम) उस स्वर्गमें पितरों और पुत्रोंको देखें ।

जहां शारीरिक रोग नहीं होते और जहां हृदयके उत्तम भावसे पुण्य करनेवाले लोग आनंदसे रहते हैं, वहां हम पहुंचें और सुदृढ अंगोंसे रहें और अपने पितरों और पुत्रोंको देखें ।

लेखक : श्री नाथूलाल वानप्रस्थी

संसारके संपूर्ण मनुष्योंकी स्वास्थ्य योजनाके हेतु

अदृश्य सोमरसकी प्राप्तिका शुभ समाचार

माननीय श्रीमान सत्यनारायणजी सिन्हा राज्यपाल, मध्यप्रदेश शासन, भोपालने दिनांक २३।६।७३ को वैद्य और डाक्टरोंके प्रति आदेश दिया था कि 'भारतवर्षमें चिकित्सा पद्धति सस्ती, दोषमुक्त और प्रभावशाली होनी चाहिये।'

और श्रीमान गोपालस्वरूपजी पाठक, उप-राष्ट्रपति महोदयने भी आयुर्वेद महासम्मेलनके उद्‌घाटनके समय इच्छा प्रकट की थी कि- '८० फीसदी जनता गांवोंमें बसती है और वह अधिक मूल्यकी औषधि नहीं खरीद सकती, अत: गांववालोंको भी वैसी ही स्वास्थ्य सुविधायें मिलनी चाहिये जैसी कि शहरवालोंको मिलती है।'

लोग जिस अधिक मूल्यकी आधुनिक ऐलोपेथिक चिकित्सा पद्धति पर मोहित हो रहे हैं, वह पद्धति अधिक मूल्य व्यय करानेके अतिरिक्त एक रोगकी चिकित्सा करते हुए दूसरे रोगका बीजारोपण कर देती है। इसके अतिरिक्त ऐलोपेथिक औषधियोंमें आम तौर पर 'अलकोहल' मिश्रित होता है जो मादकके रूपमें होनेसे मनुष्योंके फेफडेको खराब करके आयु क्षीण करनेवाला है। इसी कारण प्राचीन समयकी अपेक्षासे वर्तमान कालमें मानव आयु प्रतिदिन क्षीण होती जा रही है। इसलिये यह पद्धति ग्रहण करने योग्य नहीं है।

इसके विरुद्ध हमारे यहां 'सोमरस' के द्वारा आंगरस चिकित्साका वेदोंमें विशिष्ठ रूपसे वर्णन किया हुआ है, जो सबसे सस्ती व दोषमुक्त और प्रभावशाली है।

अत: यह वैदिक कालकी ईश्वरप्रदत्त चिकित्सा बिना द्रव्य खर्च किये हुए सम्पूर्ण मनुष्योंका कल्याण करनेवाली, परीक्षित व महावैज्ञानिक एवम् प्राकृतिक और प्राचीन चिकित्सा प्रणाली है जिसके मूल सिद्धान्त त्रिकाल सत्य एवम् अनुभूत परीक्षाओं पर आधारित है। वैदिक कालकी चिकित्साका प्रादुर्भाव केवल ग्रामीण या शहरकी जनताके हेतु ही नहीं, अपितु संसारके सम्पूर्ण मानवोंकी स्वास्थ्य रक्षा व गो-रक्षाके निमित्त हुआ है और इतिहास इस बातका भी साक्षी है कि वर्तमान मानव स्वास्थ्यकी अपेक्षासे प्राचीनकालके मानवोंकी आयु व स्वास्थ्य बहुत ऊंचे थे। इसलिये वेदोक्त सोमरस चिकित्सा चालू होना अत्यन्त लाभप्रद है।

१- 'सोमरस' के गुण

इस 'सोमरस' को मानप्रकाश निघटुमें बताया है कि-

सोमरसः विश्वभेषजः सोम क्षीरी द्विजः प्रियाः।
सोमरसः त्रिदोषघ्नः कटु तिक्तो रसायनः॥

अर्थ- (१) 'सोमरस' त्रिदोषघ्न है और मनुष्यमें रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्रमें सप्त धातु ही शरीरकी आधार शिला है। तथा वात-पित्त-कफादि तीव दोषोंसे इन धातुओंमें विक्रांति होना ही रोगोंकी वृष्टीका प्रधान कारण है। यह विक्रांति खानपानकी विषमतासे पचनेन्द्रियकी खराबी एवम् मलावरोधसे होती है। इस मलावरोधसे क्षय, तपेदिक, दमा, अर्धांगवाय, कैंसर, जलोदर व त्वचाके रोग आदि अनेक असाध्य रोग उत्पन्न होते है। इन सम्पूर्ण असाध्य रोगोंको ये 'सोमरस' त्रिदोषघ्न होनेके कारण जिस तरह अग्नि सूखे इंधनको शीघ्र जलाकर भस्म कर देती है, उसी तरह यह सोमरस तीनों प्रकारके दोषोंसे उत्पन्न हुए रोगोंको शीघ्र नष्ट कर देता है।

(२) 'सोमरस' में दूसरा गुण 'कटुतिक्तता' है। इसका यह रहस्य है कि जो विशाक्त कीटाणु प्राणवायुके द्वारा पेटमें पहुंचकर हैजा प्लेग आदि संक्रामक रोग उत्पन्न करते हैं, वह कीटाणु इस सोमरसकी तीक्ष्ण कटु तिक्ततासे शीघ्र नष्ट हो जाते हैं तथा संक्रामक रोग भी शीघ्र नष्ट हो जाते हैं।

(३) 'सोमरस' में तीसरा गुण 'रसायन' है जिसका तात्पर्य यह है कि संसारमें कई रोग ऐसे होते हैं जो चिकित्सासे नहीं जाते, उनमें बुढापा भी वैसा ही रोग है, जो असाध्य और अचिकित्सेय है। किन्तु यह 'सोमरस' रसायन होनेसे अन्य प्रकारके रोगोंके अतिरिक्त बुढापेको भी दूर करनेकी क्षमता रखता है, जो मनुष्य प्रतिदिन सोमरसका पान करता है, वह सदैव निरोग रहता है और उसको बुढापा भी नहीं सताता, प्रत्युत ऐसे मनुष्यकी बुद्धि प्रतिदिन बढती ही रहती है।

(४) 'सोमरस' का सेवन करनेसे शरीरकी शुद्धि हो जाती है, जिस तरह धर्मशास्त्र अन्तःकरणको शुद्ध करता है, उसी तरह 'सोमरस' शरीरको शुद्ध करता है और विधिवत् 'सोमरस' पान करनेसे अकाल मृत्यु न होकर दीर्घायु, स्मृति, मेधा, आरोग्य, जवानी, कीर्ति, वर्ण, स्वर, उदारता आदिकी प्राप्ति होती है।

(५) इसीलिये निघंटुमें 'सोमरस' को विश्वके संपूर्ण रोगोंके नष्ट करनेवाली औषधि होनेके कारण इसका नाम 'विश्वभेषज' और 'औषधिराज' कहा है।

(६) इसके अतिरिक्त इस 'सोमरस' में समान भाग दूध मिलाने पर उसे 'सोमक्षीरी' कहते हैं जिसे याज्ञिक द्विज लोग अमृतपेयके रूपमें पीते थे। और उससे हवन करते थे जिसके कारण वायुमें जो संक्रामक रोग पैदा करनेवाले कीटाणु होते हैं, वह शीघ्र नष्ट होकर वहांकी वायु शुद्ध हो जाती है।

(७) उपरोक्त निघंटुके अतिरिक्त इस 'सोमरस' का वर्णन वेद तथा पौराणिक साहित्यमें विशिष्ट रूपसे भरा हुआ पड़ा है।

(८) भावप्रकाश निघंटु पृष्ठ ३७५ पर बताया है कि इस दुग्धमिश्रित 'सोमक्षीरी' से बल, वाक्शक्ति, स्फूर्ति और अमृतकी प्राप्ति होती है व अकाल मृत्युका निराकरण होता है।

(९) इसमें अल्कोहलकी तरह मादकताका कोई दोष नहीं है।

(१०) 'सोमक्षीरी' का दूध कुछ खट्टा होता है तथा यात्री तृषा शमनके लिये इसका प्रयोग करते हैं।

(११) उपरोक्त गुणोंके कारण ही इसको पवित्र मानकर पंचामृतमें डाला जाता है।

२– 'सोमरस' की अदृश्यताका कारण

यह 'सोमरस' गोमूत्रके रूपमें होनेसे मुसलमानी राज्यके समय इस सर्वसुलभ और विश्वभेषज पवित्र 'सोमरस' को इसलाम शरहके विरुद्ध नापाक माननेसे उस राज्यके मौलवियोंने आयुर्वेदाचार्योंसे मिलकर निघंटुके अंतर्गत 'सोमरस' के स्थानमें 'सोमलता' लिखवाकर 'सोमरस' को अदृश्य कर दिया।

(१) इसके अदृश्य होनेका कारण भी उपरोक्त निघंटुमें लिखा है कि इस दिव्य औषधिकी खोजमें अनेक विद्वान् समाप्त हो गये किन्तु इस दिव्य औषधिका पता नहीं पा सके।

(२) इसके सम्बन्धमें अनेक विद्वानोंने विचार किया है किन्तु अभीतक इसका निर्णय नहीं हो सका।

(३) इसके अदृष्ट होनेके सम्बन्धमें सुश्रुतमें भविष्य-वाणीके रूपमें असंभव बात लिखि हुई है कि– 'अधर्मी, कृतघ्न, भेषजद्वेषी, तथा ब्राह्मणद्वेषीको यह दिखलाई नहीं देगी।'

(४) उपरोक्त कारणोंसे स्पष्टतः सिद्ध है कि मुसलमानी राज्यके समय इस 'सोमरस' के नामके स्थानमें 'सोमलता' का नाम परिवर्तन करनेसे यह महौषधि अदृश्य हो गई थी।

३– ईश्वरप्रदत्त 'सोमरस' प्राप्तिके दर्शन

मुसलमानी राज्य समाप्तिके पश्चात इस 'सोमरस' की खोजमें उपरोक्त भविष्यवाणीके अनुसार अनेक विद्वान समाप्त हो गये किन्तु उसकी प्राप्ति नहीं हुई। इसके पश्चात उपरोक्त भविष्यवाणीके अनुसार एक धर्मात्मा, परोपकारी, भेषज तथा ब्राह्मण प्रेमी चतुर्वेद भाष्यकर्ता स्वर्गीय महर्षि श्रीपाद दामोदर सातवलेकर महोदयने श्री चौबे महाराजकी प्रेरणासे तथा श्रीगोवर्धन संस्थाकी उत्तेजनासे 'गोज्ञान कोष' लिखा है, उसके द्वितीय भागके पृष्ठ १७४ व १७५ पर ऋग्वेद ६।४४।२४ के भाष्यसे इस लेखकको स्पष्ट रूपसे प्रकट हो गया कि ईश्वरप्रदत्त महौषधि 'सोमरस' 'गोमूत्र' है जिसका वर्णन निम्न-प्रकार है—

अयं द्यावापृथिवी विष्कमायत्
अयं रथं अयुनक्सप्तरश्मिम्

अयं गोषु शच्या पक्वमन्त

सोमो दाधार दशयंत्रं उत्सम् ॥

अर्थ— (द्यावापृथिवी निष्कमायत्) जब ईश्वर द्युलोक तथा भू-लोकको विशेषतया स्थिर रूपसे बना चुका है। (अयं सप्तरश्मिं रथं अयुनक्) यह सात किरणोंवाले ज्ञानेन्द्रियोंके रथको तैयार कर चुका है। (अयं सोम:) तब ईश्वरने यह 'सोमरस' (शच्या) अपनी शक्तिके कारण (गोषु अन्त:) गायोंके अन्दर (पक्वं दशं यन्त्रं उत्सं दाधार) पूर्णतया तैयार दशवें यंत्रवाले करनेमें रखा है (अयं सोम: गोष्वन्त: पक्वं उत्सं दाधार) = गौओंके अन्दर परिपक्व सोमरसका होज मूत्राशयमें धारण किया है।

४– 'सोमरस' चिकित्साकी प्राचीन पद्धति

(१) दूध दुहनेसे पूर्व गायोंको 'सोमरस' पिलाते थे

गोज्ञान कोष द्वितीय भाग पृष्ठ २० पर वेदभाष्यमें लिखा है कि जिसके अपने घरमें सुगमतासे दूध देनेवाली गौ रहती थी वह मनुष्य प्रतिदिन अमृतपान करता था और वही बल बढानेवाला अन्न खाता था। इसलिये गौओंको बढाकर प्रजाओंको पुष्ट करो और रोगबीजोंका नाश करो तथा आमसे उत्पन्न होनेवाले अजीर्णसे बननेवाली बीमारियोंको दूर करो।

वैदिक समयमें गौके दूध पीनेकी प्रथा बहुत थी। आजकल जिस प्रकार चाय, काफी पीते हैं, उसी प्रकार प्राचीन कालमें गौका दूध पिया जाता था। और वे ही लोग आनन्दसे दूध पीते थे। छोटे मोटे घरोंमें दूध भरकर रखा जाता था और वही लोग आनंदसे पीते थे व दुग्धपानके लिये भी आजकलकी तरह 'कप' नहीं होते थे, अपितु बडे बडे गिलास वर्ते जाते थे।

(अ) 'सोमरस' के बर्तन तीन प्रकारके होते थे। और गायोंका निवास स्थान आजकलकी तरह कच्ची भूमिका न होकर पक्के होते थे और रात भर जो गायें पेशाब करती थी वह मोरी द्वारा इकट्ठा करके उस 'गोमूत्र' एवम् 'सोमरस' को तीन बर्तनोंमें रखते थे।

(ब) एक बर्तन वह होता था जिसके द्वारा गायोंको प्रातः व संध्याकाल दूध दुहनेसे पूर्व उनको सोमरस पिलाया जाता था। इससे उनका स्वास्थ्य अच्छा होता था और उनके शरीर जो क्षय कीटाणु होते थे वह नष्ट होकर गोबरके द्वारा निकल जाते थे। इसके बाद उनसे दूध दुहा जाता था वह दूध निर्दोषित और पौष्टिक होता था। आजकल दूध दुहनेसे पूर्व सोमरस न पिलाये जानेके कारण इन गायोंका दूध निर्दोषित न होकर प्राचीन समयके अनुसार पौष्टिक नहीं होता।

(स) दूसरे बर्तनमें 'सोमरस' व समान भाग दूध मिलाकर 'सोमक्षीरी' तैयार की जाती थी उसे गरम करके घरके छोटे बडे सब पीते थे। इससे उनके स्वास्थ्य हमेशा अच्छे रहते थे और बीमार नहीं होते थे तथा इस सोमक्षीरीसे हवन भी किया जाता था, इससे वायुके दूषित कीटाणु मरकर वायु शुद्ध हो जाती थी।

(द) तीसरे बर्तनमें चिकित्साके लिये 'सोमरस' भरा जाता था और उसमें शहद मिलाकर असाध्य रोगियोंको पिलाते थे इससे संपूर्ण असाध्य रोग नष्ट हो जाते थे।

५ अन्य प्रकारकी चिकित्साका निषेध

गोज्ञान कोषके पृष्ठ २७ पर लिखा है कि– हे गो! तुम यज्ञके स्थानमें तथा भंडारमें सुशोभित होती हो अतः यवके जैसे बलपुष्टिकारक वस्तु खाओ ताकि सब मनुष्योंके शरीरोंकी चिकित्सा तुम्हारे शरीरके 'सोमरस' से ही होती रहे और अन्य प्रकारकी चिकित्सा न करनी पडे।

६ वृषभ व गायका विश्वरूपसे वर्णन

इस सोमरसके कारण ही अथर्ववेद नवम् कांड सूक्त ४ मंत्र १ से २४ तक वृषभको विश्व रूपसे वर्णन किया है और सूक्त ७ में मंत्र १ से २६ तक गायको देवमय विश्व रूपसे वर्णन किया है। तथा सूक्त ८ में मंत्र १ से २२ तक 'सोमरस' के द्वारा प्रत्येक रोगके निराकरणका वर्णन किया गया है।

७ सोमरसकी वेदोंमें प्रशंसा

अप्स्वऽन्तरमृतमप्सु भेषजम्। (ऋ. १।२३।१९)

अर्थ– इस मंत्रमें गायके अन्तस्थ रसमें अमृत है और उस रसमें संपूर्ण औषधि हैं। इस प्रकार इस वेदमंत्रमें गायके अन्तस्थरसका वर्णन आ रहा है।

अप्सु मे सोमो अब्रवी दन्तर्विश्वानि भेषजा।
अग्निं च विश्वशंभुव मापश्च विश्वभेषजीः ॥
(ऋ. १।२३।२०)

अर्थ- गौके अन्तस्थजल 'सोमरस' ने मुझसे कहा कि इस पूरे रसके अन्दर सम्पूर्ण औषधियां हैं। सोमरस ही सम्पूर्ण औषधि हैं। और इसके अन्तर्गत जो अग्नि है वह विश्वका कल्याण करनेवाली है।

अप्सु मे सोमो अब्रवी दन्तर्विश्वानि भेषजा।
अग्निं च विश्वशंभुव मापश्च विश्वभेषजीः ॥
(ऋ. १।२३।२१)

अर्थ- ऋग्वेदमें मंत्र २० कोही पुनः मंत्र २१ पर भी देकर इस 'सोमरस' की महत्वता प्रकट करते हुए पुनः लिखा है कि 'गो' के अन्तस्थ 'सोमरस' ने सम्पूर्ण औषधियां विद्यमान हैं, ये सोमरस गरम निकलता है इस लिये इसमें अग्नि तत्व भरा है अतः जिस प्रकार अग्नि सब प्रकारसे कहती है उसी प्रकार यह सोमरस भी सब प्रकारसे कल्याण करता है। 'गो' शब्द जाति वाचक है लिंगवाचक नहीं है इसलिये 'सोमरस' गाय और बैल दोनोंके मूत्राशयसे निकलनेको कहते हैं।

इदमापः प्र वहत यत् किं च दुरितं मयि।
यद् वाहमभिदुद्रोह यद् वा शेप उतानृतम् ॥
(ऋ. १।२३।२२)

अर्थ- किसी मनुष्यके अंदर रोग-बीज रूपी विष, जो कुछ गया हो उसको यह 'सोमरस' बाहर ले आवें।

आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन।
महे रणाय चक्षसे ॥ १ ॥

यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः।
उशतीरिव मातरः ॥ २ ॥

तस्मा अरं गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ।
आपो जनयथा च नः ॥ ३ ॥
(ऋ. १०।९।१।३)

भावार्थ- 'सोमरसके अन्दर सम्पूर्ण औषधियां विद्यमान हैं, जिस प्रकार अग्नि सब प्रकारसे कल्याण करती, उसी प्रकार 'सोमरस' भी सम्पूर्ण औषधिरूप है। मेरे अन्दर रोग बीज रूपी विष, जो कुछ गया हो उसको यह सोमरस बाहर ले आवे जो कुछ अपथ्य मेरेसे हो गया हो। वह इस सोमरससे ठीक होवे। सोमरस अत्यंत आरोग्यदायक है। तथा दूध आदु पौष्टिक है। सोमरस अत्यंत कल्याणरूपी है वह मनुष्यमात्रका हित करनेवाला है।'

यह सारांश रूपसे उक्त मन्त्रोंका भावार्थ है। उक्त मंत्रोंमें जो 'सोमरस' के लिये जो विशेष शब्द आये है, उनका अर्थ देखिये—

विश्व भेषजी = (विश्वकी सर्व भेषजीः) = जिसमें संपूर्ण औषधियोंका स्वत्व रहता है। ऐसा पदार्थ सोमरस है। अर्थात् 'सोमरस' के यथा प्रयोगसे संपूर्ण औषधियोंके योग्य सेवनका फल प्राप्त होता है।

(२) दुरितप्रवाहक = (विरेचक) = शरीरमें गये रोगोत्पादक विष दूर करनेका सोमरसमें 'विरेचन' का गुण है। अर्थात् 'सोमरस' के योग्य सेवनसे विरेचन द्वारा शरीर निर्विष होकर मनुष्य रोग रहित हो जाता है।

(३) मयो भुवः आपः = 'सोमरस' कल्याण करने वाला है तथा हित कारक है। और आरोग्यवर्धक तथा सुखदायक है।

(४) शिवतमः रसः = अत्यंत कल्याणकारी यह 'सोमरस' आरोग्य देनेके द्वारा कल्याणकारक है।

(५) (सोमपत्या) (ऋ. ८।१।१७) अर्थात् सोमरस (गौमूत्र) गाय और बैलके मूत्रके रूपमें होता है।

(८) अथर्व वेदमें सोमरसका वर्णन

जालाषेणाभि षिञ्चत जालाषेणोप सिञ्चत।
जालाषमुग्रं भेषजं तेन नो मृड जीवसे ॥
(अथर्व ६।५७।२)

भावार्थ- 'सोमरस' से अभिषिचन करो, 'सोमरस' से उपसिचन करो, सोमरसही बडी भारी औषधि है, उसीसे जीवन सुखमय होता है।

इस मंत्रमें स्पष्टतया कहा है कि सोमरसके अभिषिचन तथा उपसिचनसे जीवन सुखमय हो सकता है। उपरोक्त दो प्रकारसे सोमरसका उपयोग बताया है, इस उपयोग करनेसे संपूर्ण रोग दूर हो सकते हैं। कारण यह है कि 'जलाषं उग्र भेषजम्' अर्थात् 'सोमरस' अत्यंत तीव्र औषधि है।

(९) इसीलिये निघंटुमें सोमरसको 'त्रिदोषघ्न' कहा है

यानी संसारके संपूर्ण रोगोंमें वात, पित्त और कफ तीनही प्रकारके दोष होते हैं ये इन तीनों प्रकारके दोषोंको नष्ट करता है। इसी कारण इसे महौषधि व औषधिराज कहा गया है। जो पाठकोंके विचारणीय और कार्यरूपमें परिणित करने योग्य है।

×

लेखक : श्री मनोहर हरकरे

अ णु वि स्फो ट औ र ब्र ह्मा स्त्र

गत १८ मईको भारतने जो अणुविस्फोट किया उस कारण सारे संसारमें विभिन्न प्रतिक्रियायें हो रही है। कई देश विद्वेष तो कई मत्सर कर रहे है। देशवासियोंमेसे कुछ कहते है की भारत एक अति गरीब देश होनेके कारण उसे अणुविस्फोटकका खर्चिला भार सहा नही जायगा अतः भारत इस अर्थस्पर्धामें भाग न ले। इन सब दृष्टीओंसे यदि विचार किया जाय तो सामर्थ्यसम्पन्न और संसारमें भययुक्त आदर प्राप्त करनेके लिये भारत अपने पूर्व गौरव परम्परापर अधिक जोर देकर अस्त्रोंका धनि बने यही सुयोग्य होगा। मानव स्वभावकी यह विलक्षण विशेषता है की एकाद धनवान यदि अपने मिलोंद्वारा लाखों साडियां उत्पादन करें तो समाजके कई लोग उसका विद्वेष या मत्सर कर सकते है परन्तु एकाद सामर्थ्यशील व्यक्ति यदि संकट-ग्रस्त द्रौपदी महिलाकी लज्जा रक्षण करनेके लिये लाखों साडियां अपने अतीन्द्रिय सामर्थ्यसे दे सकता है तो समाज उसे भगवान श्रीकृष्ण मानकर उसके चरण छूयेगा। अब स्पर्धामें विशेष न जाकर भारत यदि अपना ध्यान ब्रह्मास्त्र जैसे अतीन्द्रिय सामर्थ्य निर्माणमें लगायें तो सारा संसार उसे भययुक्त आदरसे वंदनीय मानेगा।

संभाव्यता

अस्त्र प्राप्तिके लिये विशेष धनकी आवश्यकता नही है। आवश्यकता है अस्त्रदान करनेवाले गुरू और अस्त्रप्राप्ती करनेवाले शिष्योंके निर्वाहकी। अणुविस्फोटका कार्य केवल शासन हि कर सकता है। अन्य व्यक्ति या सामाजिक संगठन उसके बारेमें न तो संशोधन कर सकते हैं या न तो प्राप्त कर सकते हैं। अस्त्रप्राप्तीकी विद्याकी ओर शासनका तनिक भी ध्यान नही है कारण भारतका शासन पूर्ण ऐहिक है। आज तो भी यह विद्याप्राप्ति पूर्णतया इच्छुक व्यक्तिओंके आधीन है और भविष्यमें भी रहेगी। मंत्रविद्या निजी सामर्थ्य है न की सामाजिक या शासकीय धन और अधिकार। परन्तु एक महत्वपूर्ण प्रश्न है की अस्त्रविद्या संभवनीय है या वह केवल पौराणिक कल्पनारम्यता है? प्रथम इस बातका गम्भीर विचार होना आवश्यक है अन्यथा कई व्यक्तिओंके कई वर्षोंके अथक परिश्रम बेकार जायेंगे।

गत शताब्दिमें विमानविद्या एक कल्पनामात्र थी; और वह थी केवल महाभारत रामायण आदि पुराण ग्रंथोंमें। उसी कल्पनाको लेकर जर्मन संशोधकोंने अथक परिश्रम लिये और अंतरिक्षमें यात्रा करना एक संभाव्य बात बन गयी। आज विमान एक अत्यंत प्रभावी और आवश्यक वाहन बन गया है। वैज्ञानिकोंके परिश्रमोंसे यह एक कल्पना साकारित हुई। अस्त्रोंकी कल्पना भी विमान जैसे भारतीय पुराणग्रंथोंकाहि सम्पदा है। विमानविद्या जैसे उसके प्राप्तीके लियें चेष्टा कियी जाय तो एक दिन अवश्य आयेगा की संसार भरमें भारत एकहि अस्त्र सम्पन्न राष्ट्र बना रहेगा। परन्तु उसके प्रयोग और संशोधन वैज्ञानिक ढगसे होना आवश्यक है। प्राचीन कालसे भारतमें और संसारमें पूजायत्नद्वारा परमेश्वर प्राप्तिके लिये कोटि कोटि लोग निजी चेष्टा करते है। परमेश्वरप्राप्ति कितनोंको हुई यह प्रश्न हैं परन्तु ऐसा होनेपर भी उनकी थट्टा या मस्करी नही कियी जाती है। उसी प्रकार कुछ साधक यदि अस्त्र-प्राप्तीके लिये प्रयत्न करें तो उसमें थट्टामस्करी या विद्वेषका कारणहि क्या है?

हो सकता है विमानविद्या जैसी अस्त्रविद्या एक फलदायी चेष्टा हो। मध्यकालमें भारतमें विमान विद्याका कोई आंशिक स्वरुप भी विद्यमान नही था इसलिये विमानविद्या एक काल्पनिक अवस्थामात्र थी। परन्तु अस्त्रविद्याकी हालत वैसी नही है। मन्त्रोंका यशस्वि प्रयोग करनेवाले

भारतके कोने कोनेमें आज भी विद्यमान है। स्वयं लेखक कुछ प्रभावी मंत्र जानता है और प्रत्यक्ष प्रयोग करनेके लिये वह तैयार है। इसलिये अस्त्रविद्या एक असंभाव्य बात मानकर उसकी मखौल करना वैज्ञानिक बुद्धीको शोभा नही देगा। अतः अस्त्रप्रयोगकी संभाव्यता समझकर उसके प्रयोगपूर्तिके लिये लग जाना अति आवश्यक है।

धनिकोंका कर्तव्य

'सर्वारंभाः तंडुलः प्रस्थमूलः' यह सब समयके समाजकी अवस्था है। पूर्वकालमें गुरुकुलमें रहनेवाले गुरु और शिष्योंके निर्वाहका भार सारा समाज उठाता था और वह भी आदरयुक्त भावना रखकर उनके चरणोंमें अर्पण कर! आज भी उसी भावना और कर्तव्यकी आवश्यकता है। अस्त्रप्राप्तीके केन्द्र स्थानोंका समाजने परिपोषण करना चाहिये। ऐसे धनिक स्वयं सामने आये की जो इस धर्मकार्यके लिये मुक्त हस्तोंसे धन बटोरे। इस कार्यका फल पधरा बीस वर्षोंतक देखने नही मिलेगा। ऐसे अस्त्रप्राप्तीके आश्रम भारतमें कई स्थानोंपर रह सकते है। देशके धनिक इधर ध्यान दें तो कार्यका प्रारम्भ हो सकता है।

स्थान और पथ्य

अस्त्रविद्याके लिये ऐसा स्थान हो की जहां निरंतर निर्झर बहे। झरनेका आवाज अस्त्रविद्याके लिये लाभदायक रहता है। वहांपर रजस्वलाका स्पर्श और छायातक न हो। मुर्गे या निमाजकी बांग वहां न सुनाई दे। पापी पुरुषोंकी वहां बसती न हो। स्नातक ८ से १४ वर्षोंतकके ओजो ब्रह्मनयुक्त किशोर हो। अस्त्रविद्याके लिये सुयोग्य सामर्थ्य-सम्पन्न किशोरहि अधिक फलदायी होंगे। अस्त्र कई प्रकारके है पावकास्त्र, आग्न्यास्त्र, ब्रह्मशीर्षास्त्र,वायवास्त्र, पाशुपतास्त्र, पर्जन्यास्त्र, उत्पाटनास्त्र, ब्रह्मास्त्र इत्यादि। भिन्न भिन्न अस्त्रोंके भिन्न मंत्र और साधना है। एकहि स्नातक सभी अस्त्रोंकी प्राप्ति कर सकेगा ऐसा भी नही। प्राचीन कालमें भी अस्त्रप्राप्ती करनेवाले वीर अर्जुन, कर्ण, अश्वत्थामा, द्रोण, परशुराम आदि थोडेहि थे। आज तो और भी कठीन है परन्तु यह भारतभूमी साधकोंके दृष्टीसे अप्रसवा नही है। आज भी ऐसे साधक पाये जायेंगे की जो अस्त्र-विद्या प्राप्त कर सके।

अस्त्रप्राप्तिके लिये अति कष्ट लेने पडते है। प्रथम गायत्री पुरश्चरण करना आवश्यक है। उसके बाद अस्त्र-साधनाके न्यास, मंत्रजागरण, कीलक, कवचस्थापना, शीर्ष और उपसंहार इत्यादि सब तांत्रिक कर्म करने पडते है। जप संख्या कोटिमें रहती है इसलिये कार्यके लिये कई वर्षोंका काल लग जाता है। ब्रह्मास्त्रका मंत्र गायत्रीके ठीक उलटा रहता है। फिर भी उसमे विलोम प्रतिलोम आदि मंत्रजप करना पडता है। तंत्रमें थोडी त्रुटि रहनेसे अस्त्र-साधना नही होती। प्लुतोनियम यदि ठीक प्रकारका न हो तो जैसे अणुविस्फोट नही होता वैसाहि कुछ अस्त्रप्रयोगमें है।

गुरू और परम्परा

मंत्र, तंत्र और अस्त्रसाधनामें परंपरा प्राप्त गुरुकी अतीव आवश्यकता रहती है। कोई भी सज्जन अस्त्रदाता गुरु नही बन सकता। यदि ऐसे अस्त्रपरम्पराप्राप्त गुरु न मिले तो अस्त्रमन्त्रका ग्रहण और शक्तिपात सबीज समाधिमें जो महापुरुष कर सकेंगे ऐसे श्रेष्ठ योगी पुरुष अस्त्रविद्याका दान कर सकते है। परन्तु ऐसे योगी सच्चे हो प्रचारकौश-ल्यनिपुण न हो। गोदावरीतट, नर्मदातट और हिमालयके गोदमें ऐसे महापुरुष पाये जाते है। खोज करनेसे वे अवश्य मिलेंगे। इसका प्रारंभिक भार लेखक उठा सकता है यह लेखककी नम्र धारणा है।

प्रयोग किया जाय नुकसान कोई नही। नुकसान है केवल समय और कुछ धनका। वैसा तो हमारे कई पूर्वजन्म बेकार गये है और इहजन्म भी! प्रयोग करते करते यदि सद्गति मिले तो साधकके लिये अच्छाहि है। भगवान भी गीतामें कहते है, 'शुचिनां श्रीमतां गेहे योग-भ्रष्टोऽभिजायते'।

आशा है समाजके बुद्धिमान लोग और धनिक इस महान कार्यमें सलग्न हो। ॐ ॐ ॐ

नम्र निवेदन

'वैदिक धर्म' मासिकका वार्षिक मूल्य अबतक हमने अत्यंत अल्पही केवल ६ रु. ही रखा है, परन्तु सद्यः परिस्थितिके अत्यंत महंगाईके कारण— कागज, स्याही, वेतनके आदिके मूल्य अत्यंतही बढ गये है, इस कारण दिनांक १ अगस्त १९७४ से 'वैदिकधर्म' मासिकका मूल्य १० रुपया किया जाता है। कृपया आप इसपर ध्यान दें और आपका सहयोग सदैवके लिये देते रहे, यही प्रार्थना है।

—व्यवस्थापक
वैदिकधर्म
स्वाध्याय मंडल पारडी

लेखक : श्री आचार्य रामपालसिंह तेवतिया।

वैदिक ऋषियोंके अन्वेषण और आविष्कार

खगोल विज्ञान संबंधी चतुर्थ लेख प्रस्तुत है।

(१२) वैदिक काल विज्ञान

काल गणनामें समयकी तीन प्राकृतिक इकाइयां हैं- सौर दिनरात्रि, चान्द्रमास, और सौर वर्ष। समयकी उक्त तीन इकाइयोंमें जो पारस्परिक संबंध है वह वैदिक ऋषियोंने विश्वभरमें सब देशोंसे अधिक समझा है। चान्द्रमासको शुक्ल-कृष्ण दो पक्षोंमें प्रकृत्यानुसार विभाजित किया है। चान्द्रमास दो प्रकारके संभव हैं- अमान्त एवं पूर्णिमान्त। वैदिक ऋषियोंने अमान्त चान्द्रमासको अधिक सुविधाजनक माना है। बारह राशिचक्रान्तर्गत जो २७ नक्षत्र हैं उनमेंसे १२ विशेष नक्षत्रोंके नामानुसार ही १२ अमान्त चान्द्रमासोंके नाम रखे गए हैं; पूर्णिमाके दिन चन्द्रमा प्रायः जिस नक्षत्रमें आता था उसी नक्षत्रके नामानुसार अमान्त चान्द्रमासका नाम पड़ा। यथा चित्रासे चैत्र, विशाखासे वैशाख, ज्येष्ठासे ज्येष्ठ, पूर्वाषाढसे आषाढ, श्रवणसे श्रावण, पूर्वा भाद्रपदसे भाद्रपद, अश्विनीसे आश्विन, कृत्तिकासे कार्तिक, मृगशिरसे मार्गशिर, पुष्यसे पौष, मघासे माघ, उत्तरा फाल्गुनीसे फाल्गुन। ये नक्षत्रानुसार नाम उत्तर वैदिक कालके हैं। पूर्व वैदिक कालके नाम ऋतु-अनुसार मधु-माधव आदि थे। यथा—

मधु- माधव मासकी वसन्त ऋतु। यजु. १३।२५
शुक्र- शुचि मासकी ग्रीष्म ऋतु।
नभ- नभस्य मासकी वर्षा ऋतु।
इष- ऊर्ज मासकी शरद ऋतु।
सह- सहस्य मासकी हेमन्त ऋतु। यजु. १४।६, १५, १६, २७।
तप- तपस्य मासकी शिशिर ऋतु। यजु १५।५७

(१३) सौर वर्ष एवं चान्द्र वर्ष

दीर्घतमा ऋषिने अन्वेषण करके बताया था कि एकबार राशिचक्रमें पृथिवी सूर्यके चारों ओर घूमकर जो संवत्सर उत्पन्न करती है उसमें १२ मास होते हैं जिनमें सौर दिन-रात्रिके जोडे मिलकर ७२० सावन दिन एवं रात्रि होते हैं। उक्त ऋषिकृत मंत्र द्रष्टव्य है—

द्वादशारं नहि तज्जराय वर्वर्ति चक्रं परि द्यामृतस्य।
आ पुत्रा अग्ने मिथुनासो अत्र सप्त शतानि विंशतिश्च तस्थुः। ऋ० १।१६४।११

आज भी विश्व भरमें सावन (Civil) वर्षमें ३६० दिन एवं तिथि तथा ३६० रात्रियां मानी जाती हैं जिनका सम्पूर्ण योग ७२० दिन रात एवं तिथि भोग होते हैं।

(१४) सौर एवं चान्द्रवर्षका संबंध

उक्त दोनों प्रकारके वर्षोंका संबंध भी वैदिक ऋषियोंने सूक्ष्मतासे निर्णय किया था। सौर वर्ष ३६५ दिनका होता है तथा चान्द्रवर्ष ३५४ दिनका होता है। इस प्रकार चान्द्रवर्ष सौरवर्षसे प्रायः ११ दिन कम होता है। ऋतुओंकी दृष्टिसे सौरवर्षकी मुख्यता है। अतः दीर्घकाल गणना सौर वर्षोंमें ही गिनी जाती थी। इसलिए प्रायः तीन वर्षमें एक अमान्त चान्द्र अधिक बढा दिया जाता था। अतःशुनः शेप ऋषिने अधिमासका आविष्कार किया जैसा कि उसके निम्न मंत्रसे ज्ञात है—

वेद मासो धृतव्रतो द्वादश प्रजावतः।
वेदा य उपजायते। ऋ. १।२५।८

इसी प्रकार ब्रह्माऋषिने भी अधि मासका आविष्कार स्वीकृत किया जैसा कि उसके निम्न मंत्रसे स्पष्ट ज्ञात है—

अहोरात्रैर्विमितं त्रिंशदङ्गं त्रयोदशं मासं यो निर्मिमीते । अथर्व १३।३।८

(१५) पन्द्रह तिथियां एवं तिथिक्षय

ऋषि प्रजापतिने अपने मंत्र यजु० २५।४ में तिथियोंके देवता सहित प्रतिपदासे त्रयोदशी तक तेरह तिथियां क्रमपूर्वक गिनाई हैं। चतुर्दशी एवं पूर्णिमा और अमावस्याका वर्णन अन्यत्र उपलब्ध है। और तिथिक्षयका आविष्कार ऋषि गोपथने किया था जो उसके निम्न मन्त्रसे ज्ञात है —

द्वौ च ते विंशतिश्च ते रात्र्येकादशावमाः।
अथर्व० १९।४७।५

उक्त मंत्रका आशय है कि १ वर्षमें ११ अवम अर्थात् क्षयतिथि होती हैं तथा २ वर्षमें २२ अवम (क्षयतिथि) जानो। अवमको आजकल 'ओम्' तिथि भी कहते हैं। इस प्रकार ३ वर्षमें एवं लगभग ३२ मासमें ३० तिथियां क्षय हो जाती हैं। तब ही एक असान्त चान्द्र मास अधिक बढ़ा कर तीन चान्द्र वर्षोंको तीन सौर वर्षोंमें परिणत कर लिया जाता है। उक्त प्रकारसे चान्द्र-सौर वर्षका प्रत्येक तीसरे वर्ष समन्वय कर लिया जाता है।

(१६) कालकी कुछ कृत्रिम इकाइयां

(१) सप्ताहका वैदिक आविष्कार

वैदिक ऋषियोंने मनोवैज्ञानिक आवश्यकताकी पूर्तिके हेतु साधन दिनोंकी सुविधा जनक गणनाके लिए सप्ताहका आविष्कार किया था। सप्ताह कालकी कोई प्राकृतिक इकाई न होकर मानवकृत एक कृत्रिम साप्ताहिक कालचक्र है। सप्ताहके आविष्कारका मुख्य श्रेय ऋषि उत्तर नारायणको है। उसका निम्न मंत्र द्रष्टव्य है—

सप्तास्यासन् परिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः।
यजु० ३१।१५

(२) कालके दीर्घ कृत्रिम युग चक्र

ब्रह्मा ऋषिका निम्न मंत्र द्रष्टव्य है

शतं तेऽयुतं हायनान्द्वे युगे त्रीणि चत्वारि कृण्मः।
इन्द्राग्नी विश्वे देवास्तेऽनु मन्यन्तामहृणीयमानाः।
अथर्व० ८।२।२१

उपरोक्त मंत्रके अर्थमें अनेक मतभेद हैं। कुछ लोग 'हायन' शब्दका अर्थ सामान्य मानव वर्ष— ३६० सावन दिनका— लेते हैं और कुछ 'हायन' शब्दका अर्थ दिव्य या देववर्ष ३६० सामान्य मानववर्षका— लेते हैं। मैंने प्रकरणके अनुसार दोनों प्रकारके अर्थोंको मान्यता दी है।

एक अर्थ— मानव युग जो दश अयुत अर्थात् दश सहस्र वर्षोंका है, उसमें एक सहस्रमें एक-एक सौ, दो सहस्रमें दो-दो सौ, तीन सहस्रमें तीन-तीन सौ, और चार सहस्रमें चार-चार सौ, की पूर्वोत्तर- संधि लगानेसे बारह सहस्र वर्ष पूरे होते हैं।

तात्पर्य यह है कि वैदिककालमें १२ सहस्र वर्ष (मानव या पार्थिववर्ष) का एक युग था। इसीको देवयुग या चतुर्युगी या महायुग कहते हैं। इसमें हेतु है कि इन्द्राग्नी (विशाखा) और विश्वेदेवा (उत्तराषाढ) की ६० अंशकी तात्कालीन संपात गति द्वारा उक्त १२ सहस्र वर्षकी सिद्धि कही है। अतः चतुर्युगी १२ सहस्र मानव वर्षकी होती है।

दूसरा अर्थ — सौ अयुत अर्थात् दश सहस्र सैकड़ेतक शून्य अर्थात् सात शून्य लगाकर उनके पूर्व एवं बाईं ओर क्रमशः २, ३, ४ के अंक रखनेसे जो संख्या बनती है अर्थात् ४ अरब बत्तीस करोड वर्षकी ब्रह्माने अर्थात् ब्राह्म सृष्टिकी आयु है जिसको एक ब्राह्म दिनका कल्प भी कहते हैं। इसी कल्पमें एक सहस्र चतुर्युगियां होती हैं।

तीसरा अर्थ— एक अयुत दिव्य वर्ष अर्थात् दश सहस्र दिव्य वर्षकी संधि रहित एक चतुर्युगी तथा १२ अयुत दिव्य वर्षकी संधि सहित एक चतुर्युगी अर्थात् ४३ लाख २० सहस्र वर्षकी एक चतुर्युगी होती है।

चौथा अर्थ- सौ अयुत दिव्य वर्ष अर्थात् दश सहस्र सैंकड़े दिव्यवर्षकी संख्यातकके पूर्व एवं बाईं ओर क्रमशः २, ३, ४ के अंक रखने पर चार अरब बत्तीस करोड दिव्य वर्षका एक ब्राह्मवर्ष होता है अर्थात् १५ खरब ५५ अरब २० करोड वर्षका एक ब्राह्मवर्ष होता है। उपरोक्त प्रकारसे उक्त प्रसिद्ध मंत्रके ये चार अर्थ संभव हैं।

कालकी दीर्घ कृत्रिम इकाइयां और भी हैं यथा परान्तकाल अथवा ब्राह्मायु जो ३६ सहस्र बार सृष्टि और प्रलयका काल माना जाता है॥

लेखक : श्री जगन्नाथशास्त्री, झज्जर

भागवतमें व्याकरण अशुद्धियां

सादर आशीर्वाद ! मैं श्रीपादजीके साथ पुराना संबंध समझकर लिख रहा हूं। मुझे सितंबरमें ९१ वर्षारंभ होगा। श्री शिवपूजनसिंह कुशवाहका महापुराण भागवतमें व्याकरण अशुद्धियां फरवरी ७४ से जौलाई ७४ पृ ४८ तक जितना लिखपर परिश्रम किया, उतना यदि भागवतकी समीक्षामें समय लगाकर लेख लिखते तो उनका उत्तर स्पष्टतया दिया जाता। इस दीर्घ लेखका लाभ सर्वसाधारण स्वाध्यायी उठा सकता है। और नहीं संस्कृतज्ञ पूरा लाभ उठा सकते हैं। क्योंकि जिस विद्वान्ने पूर्ण व्याकरण– पूर्ण काव्य-प्रकाशादि ग्रंथ न पढे हों वह भी नहीं समझ सकते। और न ही किसीको वैदिकाभ्यासकी वृद्धि होगी। ऐसे लेखोंको आपके स्वर्गीय पिताजी कभी स्वीकार न करते। यदि भागवतकी उत्तमता पर लेख देखना हो, तो आप अपने पिताजीकी व्याख्यानमाला मुद्रित संख्या ११ और संख्या ११ को देखें। आपने स्पष्ट लिखा है– भागवतकर्ता उच्च वैदिक ज्ञानी था। और लेखक व्यासजीने वैदिक मंत्रोंका आधार लेकर भागवत लिखा है। इतना सुन्दर लेख वैदिक ज्ञानाऽनभिज्ञ विद्वान् नहीं लिख सकता। आपने भागवत और वेदके व्याख्यानमें स्पष्ट लिखा है और कुछ उदाहरण भी दिये हुए हैं। मेरे विचार कुशवाहजी तुरंत हाथमें लेकर भागवतज्ञके पास जाकर अध्ययन करें। उसे यह स्पष्ट लिखता था– भागवत कब बनाया पं. बोपदेवका बना हुआ है।

(२) व्याख्यानमाला ११ व्याख्यान (वेदोंका अध्ययन और अध्यापन शीर्षक पृ. १० पौराणिकोंके प्रयत्ना, पौराणिकोंने वेदके आशयका रक्षण किया इतना ही नहीं, परन्तु वेदके आशयको ब्राह्मणसे शूद्रतक पहुंचाया।' इत्यादि व्याख्यानमालामें स्वयं देख लें।

पृ. ११ श्रीमद्भागवतादि पुराणोंमें वैदिक सूक्तोंके सूक्त अनुवाद कर दिये हैं। इसी तरह वैदिक मंत्रोंमें आये थोडेसे मूलसे बडी विस्तृत कथा पुराणोंमें दीखती है। इन्द्र वृत्र शुक्र अश्विनीकुमार– च्यवनादि कथाएं इसके उदाहरणरूप हैं। इत्यादि।

वेदमें भी इतिहास पुराण हैं देखिये अथर्ववेद १५।६।११-१२ तथा अथ. ११।९ (७) २४ और अथ. ११।१० (८) ७ इत्यादि ११ पृ समग्र ' श्रीपादजीकी व्याख्यानमाला १२ वां व्याख्यान।

(वेद श्रीमद्भागवतमें दर्शन) शीर्षक यह लेख १५–१६ पृष्ठका है श्रीपादजी वेद और भागवतकी समता दिखाई है। अन्तमें श्रीपादजीने लिखा है। इस लेखमें हमने श्रीमद्भागवत के साथ तुलना की है। यह भी संपूर्णतया नहीं है। दिग्दर्शन मात्र है। संपूर्णतया करनेसे इसके बीसगुणा लेख बनेगा। इसलिये यहां दिग्दर्शन मात्र किया है।

तथा च

वैदिकधर्माङ्क १ पौष २०२९ पृ. १३ लेखक श्री ओ. एन. अग्रवाल ' पुराण जिसका मूलभूत अर्थ प्राचीन साहित्य है। वेदोंकी ही परम्पराको स्वीकार करते है, और उनसे वेदोंका स्वरूप निखरता है, इस लिये यह प्राचीन उक्ति ' इतिहास पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत, सार्थगर्भित प्रतीत होता है। पुराणोंमें वेदोंकी सृष्टिविद्या अन्य विद्याएं एवं कथानकों स्वरूपमें प्रस्तुत की गई हैं। जिसका स्पष्ट उल्लेख करते हुए डा. वासुदेव शरण अग्रवालने लिखा है। वेदार्थ परंपरा ही पुराणोंका मूल बीज है और वेदसंबंधी सृष्टिविद्याके उपबृंहणके लिये पुराणोंकी अनेक कथानकोंका निर्माण हुआ है। पुराणोंके इन दार्शनिक महत्त्वकी ओर देशविदेशके विद्वानोंने अपनी दृष्टि डाली है। इन विद्वानोंमें ह्विल्सनजी– ई– बाई और दासगुप्ताने कुछ पुराणोंके दार्शनिक महत्त्व पर प्रकाश डाला है। विष्णु-पुराणका दार्शनिक विवेचन साहित्यकी एक अमूल्य निधि है। तथा च

' वैदिक धर्माङ्क ९ भाद्रपद सं. २०२९ लेख डा ओ. एन. अग्रवाल पुराणोंके रचयिताके संबंधमें अपने विचारोंको प्रकट करते हुए हमने यह निश्चित किया है कि पुराणोंके लेखक श्रीवेदव्यासजी मूलरूपमें कृष्णद्वैपायन ही थे। मूलरूप पुराणोंके अल्प अथवा लुप्त होने पर पुनरुद्धारार्थ इस पुस्तक

[१८] वैदिक उपदेश ।

अहमस्मि सहमान उत्तरो नाम भूम्याम् । अभीषाडस्मि विश्वाषाडाशामाशां विषासहिः ॥

(अथर्व० १२।१।५४)

' मैं इस (भूम्यां) अपनी मातृभूमिमें (उत्तरः नाम) अधिक श्रेष्ठ हुआ हूं, मैं (सहमानः) विजयी हूं, मैं (अभीषाट्) सब प्रकारसे शत्रुका पराजय करनेवाला, (विश्वाषाट्) सर्वत्र विजयी और (आशामाशां) प्रत्येक दिशामें (विषासहिः) विजयी हूं । '

जो नागरिक इस प्रकार अपने आपको विजयी बननेयोग्य बलवान् बना सकते हैं, वेही बकासुरको हटा सकते हैं । जो नहीं बना सकते, वे बकासुरके पेटमेंही चले जांयगे ।

महाभारतके कथाप्रसंगोंमें राजनीतिकी शिक्षा किस ढंगसे होती है, यह इस कथाके मननसे पाठक देख सकते हैं । इसलिये निवेदन यह है कि इन कथाओंको गपोडे कहके झटपट फेंक देना उचित नहीं है, परंतु मननद्वारा इन कथाओंसे उचित बोध ही लेना चाहिये ।

वैदिक उपदेशानुसार न चलनेसे एकचक्रा नगरी को कैसा दुःख उठाना पडा था और वैदिक उपदेशानुसार अपना बल बढानेवाला अकेला भीमसेन उस नगरके रहिवासियोंका हित किस प्रकार कर सका, यही बात इस कथामें देखनी है और इससे उचित बोध लेना है । आशा है कि पाठक इससे अपना लाभ होनेयोग्य बोध लेंगे ।

एकताका पाठ

महाभारत और महायुद्ध ।

महाभारतमें मुख्य कथा कौरवपांडवोंके आपसके भयानक घोर युद्धकी है । यहां तक इस घोर युद्धका परिणाम हुआ है कि समय समय पर विनोदसे ' महाभारत ' शब्द ' महायुद्ध ' के स्थानपर भी प्रयुक्त किया जाता है ! इतना होनेपर भी महाभारतमें जैसा ' एकताका पाठ ' दिया है, वैसा किसी अन्य पुस्तकमें नहीं है, यह बात हरएक महाभारतका पाठक जानताही है ।

महाभारतमें कौरवपांडवोंकी आपसकी फूटका वर्णन है, परंतु उस फूटके मिषसे ' एकताका पाठ ' व्यास मुनिने पाठकोंको पढाया है । वेदमें कहा है कि—

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा ।
सम्यंचः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥

(अथर्व० ३।३०।३)

' (१) भाई भाईका द्वेष न करे, (२) बहिन बहिनसे झगडा न करे, (३) तुम मिल जुलकर, एक कार्यमें रत होकर, कल्याणपूर्ण भावनासे आपसमें भाषण करो । '

यह वेदकी शिक्षा कौरवपांडवोंके आपसके व्यवहारमें नहीं रही, इस कारण भारतीय महायुद्धका कठोर प्रसंग उत्पन्न हुआ । यह युद्धका प्रसंग देखनेसे भी पाठकोंके मनमें यही बात जम जाती है कि यदि ये भाई भाई आपसमें न लडते, तो ही उनका अधिक कल्याण हो जाता । अर्थात्, ' आपसके झगडोंसे आपसकी एकताही अच्छी है ।'

महायुद्धका परिणाम ।

कौरवपांडवोंके महायुद्धका परिणाम देखनेसे भी यही बोध मिलता है । कौरवोंका तो समूल उच्छेद ही हुआ और यद्यपि देखनेके लिये पांडवोंका विजय हुआ, तथापि इस विजयसे पांडवोंका किसी प्रकार भी लाभ नहीं हुआ । यह विजय भी एक प्रकारका दुःखकारक ही पांडवोंके लिए हुआ, इसमें संदेह ही नहीं है ।

सम्राट् युधिष्ठिर तो अंततक शोक ही शोक करता रहा, अर्जुनने इसके पश्चात् कोई विशेष पराक्रम भी नहीं किया और भीमकी शक्ति भी क्षीणताको ही प्राप्त होती गई । यहां तक अवस्था पहुंच गई थी कि, अंतमें अर्जुनका पराजय चोरोंके द्वारा हुआ और इस कारण स्त्रियोंका भी अपमान हुआ । इधर यादव भी आपसकी फूटसे और मद्यके व्यसनसे नष्टभ्रष्ट हो गये और अर्जुनके दिग्विजयके कारण किसी प्रकार भी आर्यसाम्राज्यका सुख नहीं बढा !

इस भारतीय महायुद्धके कारण भारतवर्षके लाखों शूरवीर मृत्युके वशमें चले जानेके कारण यह भूमि प्रायः क्षात्रतेजसे विहीन हो गई और विदेशी लोगोंके लिये यहां प्रवेश सुकर हो गया। यह सब घोर परिणाम हम इस समय तक भोग रहे हैं। महायुद्धका परिणाम वीर अर्जुन जानताही था, इसीलिये वह युद्धके प्रारम्भमें श्री कृष्णचंद्रजीसे कहता है कि

न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥ ३१ ॥
तस्मान्नार्हा वयं हंतुं धार्तराष्ट्रान् स्वबांधवान्।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥ ३७ ॥
यद्यप्येते न पश्यंति लोभोपहतचेतसः।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकं ॥ ३८ ॥
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम्।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥ ३९ ॥
कुलक्षये प्रणश्यंति कुलधर्माः सनातनाः।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥ ४० ॥
अधर्माभिभवात् कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥ ४१ ॥
संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ॥ ४२ ॥
(भ० गी० अ० १)

"(१) स्वजनोंको युद्धमें मार कर कल्याण नहीं देख पडता, (२) इसलिये हम अपने ही बांधव कौरवोंको मारना उचित नहीं है। हे माधव ! स्वजनोंको मारकर हम सुखी क्यों कर होंगे? (३) लोभसे जिनकी बुद्धि नष्ट हुई है, उन्हें कुलके क्षयसे होनेवाला दोष और मित्रद्रोहका पातक यद्यपि दिखाई नहीं देता, तथापि हे जनार्दन ! कुलक्षयका दोष हमें स्पष्ट देख पडता है, अतः इस पापसे पराङ्मुख होनेका विचार हमारे मनमें आयेविना कैसे रहेगा? (४) कुलका क्षय होनेसे सनातन कुलधर्म नष्ट होते हैं और इस कारण संपूर्ण कुलही अधर्ममें पतित होता है, (५) अधर्म बढ जानेसे कुलस्त्रियां बिगडती हैं, (६) स्त्रियां बिगड जानेसे वर्णसंकर हो जाता है और संकर होनेसे वह कुल-घातकको और कुलको नरकमें ले जाता है।"

इस रीतिसे युद्धके दोषोंका और राष्ट्र परहोनेवाले घोर स्थायी परिणामोंका वर्णन वीर अर्जुन कर रहा है। हरएक महायुद्धसे इसी प्रकार कठोर परिणाम होते हैं। तरुण और कर्मकुशल पुरुषार्थी वीर युद्धमें मर जाते हैं और राष्ट्रमें केवल बालक, बूढे, और स्त्रियां रह जाती हैं। तरुणोंका नाश होनेसे तरुणी जवान स्त्रियोंकी प्रवृत्ति दुराचारमें हो जाना स्वाभाविक ही है। आचारभ्रष्ट स्त्रियोंसे जो संतति हो जाती है, वह व्यभिचारसे दुष्ट होनेके कारण शीलयुक्त और उच्च भावयुक्त नहीं हो सकती, इसलिये महायुद्धके पश्चात् राष्ट्रका अधःपात हो जाता है। राष्ट्रका शील, सदाचार और वीर्य नष्ट होता है। राष्ट्रहितकी दृष्टिसे यह भयानक और अति घोर अधःपात है। यह ऐतिहासिक सत्य वीर अर्जुनके शब्दोंमें ऊपर बताया है।

महाभारतीय युद्ध होनेके पूर्वकालमें जो वीर्य, उत्साह और पराक्रमकी शक्ति आर्यक्षत्रियोंमें थी, वह पश्चात्के कालमें नहीं रही, इसका कारण उक्त वर्णनमें ही पाठक देख सकते हैं। इतना घोर अनर्थ-परिणामी युद्ध करनेके लिये श्रीकृष्ण भगवान् जैसे अद्वितीय पूर्ण पुरुष अर्जुनको प्रेरित करते हैं, क्योंकि उस समय यह महायुद्ध अपरिहार्यसा हुआ था। अधर्म इतना बढ गया था कि, उसका परिणाम युद्धमें होना स्वाभाविक ही था। तात्पर्य यह कि महायुद्ध अपरिहार्य हो अथवा कैसा भी हो, परंतु उसका घोर परिणाम जनताको कई शताब्दियोंतक भोगना ही पडता है। इसलिये श्रेष्ठ सज्जन जहांतक बन सके, वहांतक युद्ध करनेसे पीछेही हटते हैं। महात्मा युधिष्ठिर, योगेश्वर श्रीकृष्ण आदि सत्पुरुषोंने पूर्वोक्त भारतीय युद्ध न करनेके लिये अपनी तरफसे पराकाष्ठा तक यत्न किया था, परंतु दुर्योधनकी उद्दंडताके कारण युद्ध करनाही आवश्यक हुआ। इत्यादि वर्णन महाभारतमें पाठक पढेंगे, तो उनको स्पष्ट पता लग जायगा कि, युद्धका वर्णन करते हुए भी व्यासदेवजीकी परम शुद्ध बुद्धिने युद्धसे निवृत्त होनेका ही उपदेश महाभारतमें किया है।

अर्थात् महाभारतका लेखन युद्धोंको बढानेके लिये नहीं हुआ, परंतु महायुद्धका घोर परिणाम दिखलाकर जनताको युद्धसे निवृत्त करनेके लियेही हुआ है। इसके साधक कथाप्रसंग महाभारतमें कई हैं, उनका थोडासा वर्णन यहां करना है—

(२) आपसमें झगडनेवाले दो भाई

महाभारत आदिपर्व अ० २९ में यह निम्नलिखित कथा आ गई है, उसका संक्षिप्त तात्पर्य यह है—

'एक अतिक्रोधी महर्षि विभावसु था और उसका तपस्वी भाई सुप्रतीक था। सुप्रतीक छोटा भाई और विभावसु बडा भाई था। छोटे भाईकी इच्छा थी कि, पैत्रिक धन एकत्र न रहे, इसलिये वह वारंवार संपत्ति बांटनेकी बात बडे भाईसे कहता था। परंतु बडा भाई अच्छा समझदार था, वह एकतासे रहनेमें लाभ है, यह बात जानता था। इसलिये वह वारंवार छोटे भाईको निम्नलिखित रीतिके अनुसार समझाता था—

विभागं बहवो मोहात्कर्तुमिच्छन्ति नित्यशः।
ततो विभक्तास्त्वन्योऽन्यं विक्रुध्यन्तेऽर्थमोहिताः॥१८
ततः स्वार्थपरान्मूढान्पृथग्भूतान्स्वकैर्धनैः।
विदित्वा भेदयन्त्येतानमित्रा मित्ररूपिणः॥१९॥
विदित्वाचापरे भिन्नानन्तरेषु पतन्त्यथ।
भिन्नानामतुलो नाशः क्षिप्रमेव प्रवर्तते॥२०॥
तस्माद्विभागं भ्रातॄणां न प्रशंसंति साधवः।
गुरुशास्त्रेनिबद्धानामन्योन्येनाभिशंकिनाम्॥२१॥
नियन्तुं न हि शक्यस्त्वं भेदतो धनमिच्छसि॥२२॥
(म. भा. आदि अ. २९)

'भाई! बहुतेरे मनुष्य मूढ बनकर पैत्रिक धन बंटवाना चाहते हैं, परंतु बंट जाते ही धन प्राप्त होनेके बाद धनके लोभसे मोहित होकर आपसमें झगडा करते हैं। स्वार्थी और अज्ञानी भाईयोंके अपना अपना धनका भाग ले कर अलग होते ही शत्रुलोग, अपने आपको मित्र और हितकारी बनाकर, उन भाईयोंके अदर बडा विद्वेष खडा कर देते हैं। आगे जब उन भाइयोंमें शत्रुता बढ जाती है, तब वेही शत्रु उनके ही दोष निकालने लगते हैं। इससे उन भाइयोंका पूर्ण नाश हो जाता है। इसी कारण साधुलोक, गुरु और शास्त्रोंकी आज्ञा न माननेवाले और आपसमें लडनेवाले भाइयोंके अलग होनेकी प्रशंसा कभी नहीं करते। इसलिये हे भाई! तुम अपने ही भाईसे बिगड कर धनकी अभिलाषा कर रहे हो।' यह ठीक नहीं है।

यह उपदेश कितना अच्छा है। प्रत्येक स्थानके भाइयोंको यह सदासर्वदा ध्यानमें रखना योग्य है। आजकल अदालतोंमें झगडनेवाले और वकीलोंके पेटमें हजम होनेवाले भाइयोंको यह उपदेश अपने हृदयोंमें सुवर्णाक्षरोंसे अंकित करना चाहिये। वेदमें—

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षत्॥ (अथर्व. ३।३०।३

'भाई भाईसे द्वेष न करे।' यह जो उपदेश दिया है, वह पाठकोंके मनमें सुदृढ करनेके उद्देश्यसे ही यह कथा महाभारतमें रखी है। अस्तु।

(३) आपसके झगडनेका परिणाम।

उक्त प्रकार आपसमें झगडनेवाले पूर्वोक्त तपस्वी भाई आपसके द्वेषके कारण दूसरे जन्ममें पशु बन गये। छोटा भाई बडा भारी हाथी बना और बडा भाई कछुआ बना। कश्यपाश्रमके निकटके सरोवरमें दोनों बडे लडते रहे! पश्चात् दोनों लडनेवाले भाईयोंको खाकर हजम करनेवाला तीसरा ही गरुड वहां आया, और उसने—

नखेन गजमेकेन कूर्ममेकेन चाक्षिपत्।
समुत्पपात चाकाशं तत उच्चैर्विहंगमः॥ ४८॥
(म. भा. आदि. अ. २९)

'आगे अतिवेगवान् गरुड पक्षी अपने एक नखसे हाथी और दूसरे नखसे कछुएको लेकर आकाशमें उड गये।' पश्चात्—

ततस्तस्य गिरेः शृंगमास्थाय स खगोत्तमः।
भक्षयामास गरुडस्तावुभौ गजकच्छपौ॥३०॥
(म. भा. आदि अ. ३०)

'अनन्तर पक्षिराज गरुड पहाडकी चोटीपर बैठकर हाथी और कछुआ दोनोंको खा गया।' इस रीतिसे आपसमें झगडा करनेवाले दोनों भाई तीसरेके ही पेटमें चले गये!!! आपसके झगडेका यह परिणाम है!!

यद्यपि भगवान् व्यासदेवजीने यह कथा "हाथी और कछुवे" के नामसे लिखी है, तथापि उसकी सत्यता मानवी समाजमें भी सत्य है। इस कथाको पढनेसे निम्नलिखित बात ध्यानमें आजाती हैं—

(१) दो तपस्वी भाई आपसमें धनके लोभसे झगड रहे थे।

(२) अंतमें वे पशु बन गये और पश्चात्—

(३) वे दोनों। तीसरेके पेटमें चले गये। आपसमें झगडा करनेवाले भाइयोंका यही परिणाम होता है। देखिये-

(१) दो भाई पैत्रिक धनके कारण आपसमें झगडते हैं–

(२) कुछ कालके बाद उनका मनुष्यपन दूर होता है और वे आपसमें पशुवत् व्यवहार करने लगते हैं। अंतमें–

(४) वे दोनों वकीलोंके पेटमें जाते हैं अथवा अन्य प्रकारसे उनका नाश होता है।

यही सत्य राष्ट्रके इतिहासमें भी ऐसा ही सत्य है, देखिये—

(१) एकदेशकी दो जातियां आपसमें लडतीं हैं,

(२) झगडते झगडते उनका आपसका व्यवहार मनुष्यपनके योग्य नहीं होता। वे पशुके समान परस्पर व्यवहार करने लगते हैं, अंतमें–

(३) उन दोनों आपसमें झगडनेवालीं जातियों-पर तीसरी जाति हुकूमत करने लगती है—

(४) इसका परिणाम दोनों जातियोंकी पूर्ण परतंत्रतामें होता है और इस कारण उक्त दोनों जातियाँ प्रतिदिन अधिकाधिक हीन अवस्थामें पहुंचतीं हैं।

उपदेश

इस कारण जैसा भाइयोंको आपसमें झगडा करना उचित नहीं है, उसी प्रकार एक राष्ट्रके निवासी दो जातियोंको भी आपसमें झगडा करना उचित नहीं है। आजकलके भारतवासियोंको भी इस कथासे बहुतही बोध मिल सकता है। इस देशमें अनेक जातियाँ और अनेक धर्मपंथ विद्यमान हैं। सबको उचित है कि, वे आपसमें एकतासे रहें और मिलजुलकर आनंदके साथ अपनी राष्ट्रीय उन्नति सिद्ध करें। परंतु दुःखके साथ देखना पडता है कि, वे आपसमें एकता करनकी अपेक्षा आपसमें झगडा करनाही अच्छा समझते हैं! आपसके झगडेसे अपनी हानि हो रही है, इस प्रत्यक्ष बातको भी वे देखते नहीं। यदि ये लोग अपनी अवस्थाको देखेंगे और एकतासे रहनेमें अपना हित है, यह समझेंगे, तो कितना अच्छा होगा!

इस अवस्थामें पूर्वोक्त झगडालू तापसियोंकी कथा अत्यंत बोध-प्रद है। परंतु इस कथासे जो बोध मिलता है, वह न लेते हुए यदि कोई कहे कि यह कथा ऐतिहासिक सत्य घटना नहीं है, इसलिये यह एक 'गपोडा' है, तो उसको क्या कहना है? इस कथाके प्रसंगमें जो कहा है कि, (१) ये दो तपस्वी भाई आपसमें झगडते थे, (२) पैतृक धनके कारण उनमें झगडा था, (३) झगडा मचानेके कारण मनपर बहुत बुरे संस्कार हुए और वे मरनेके पश्चात् हाथी और कछुआ बने और जिस वनमें वे थे, वहाँ भी आपसमें झगडतेही रहे, (४) हाथीकी ऊंचाई छः योजन और लंबाई बारह योजन थी और कछुएकी ऊंचाई तीन योजन और गोलाई दस योजन थी, (५) इन दो झगडालु भाइयोंको तीसरे गरुडने पकड लिया और खा लिया।

यह कथा गपोडा भी हुआ, तथापि उपदेश प्राप्त होनेके लिये जो धर्मकी सचाई चाहिये, वह इसमें विद्यमान है। उस सचाईको न देखना और हाथी तथा कछुएकी लंबाई-चौडाईकी सत्यताके ऊपर वादानुवाद करना, यह एकही बातका निदर्शक है और वह यह है कि, जिस काव्यकी दृष्टिसे यह कथा या यह ग्रंथ रचा गया था, उस काव्यकी दृष्टिसे इसको कई लोग देखते नहीं हैं। यदि देखेंगे, तो इस प्रकारकी शंकाएँ उठही नहीं सकतीं।

मान लीजिये कि जो लंबाई-चौडाई उक्त प्राणि-योंकी इस समय होती है, उतनीही लिखी होती, तो उक्त कथासे कौनसा बोध अधिक मिलता?

चरित्रोंकी सचाईके विषयमें कितने विभिन्न पहलू होते हैं, यह विचारी पाठक जानतेही हैं। श्री० स्वामी दयानंद सरस्वतीजीको प्रत्यक्ष देखने-वाले भी इस समय विद्यमान हैं। परंतु उनके जन्म-स्थानके विषयमें कितना विवाद हुआ था, यह प्रसिद्धही है। महात्मा लोकमान्य तिलककी जीवनी, उनके साथ २१ वर्ष रहे हुए सुयोग्य विद्वान्ने लिखी, परंतु उसमें लिखे विधानोंकी सचाईके विषयमें महाराष्ट्रके वृत्तपत्रोंमें कितना वाग्युद्ध चला था! इसी प्रकार प्रतापी वीर शिवाजीमहाराजके जीवन-चरित्र जो छपे थे और जो इस समय तैयार हो रहे हैं, उनमें इतनाही अंतर है कि, जितना जमीन और आसमानमें है। इन बातोंको देखनेसे पता लग सकता है कि, आजकलके इतिहासोंमें भी ऐतिहासिक

सत्य कितना है। जिसका जो भक्त होता है, वह अपनी विभूतिका चरित्र अधिक गुणसंपन्न करनेकी चेष्टा करता है। सचाईकी पर्वाह न करता हुआ, वह अपने आदर्श पुरुषके दुर्गुणोंपर भी सद्गुणोंका रंग चढानेका यत्न करता है, तथा जिसके विषयमें अंतःकरणमें आदर नहीं, उसके गुणोंको भी दुर्गुणोंकी शकलमें परिवर्तित किया जाता है। यह बात आज-कल भी हो रही है। जो इस बातका अनुभव करेंगे, उनको ऐतिहासिक सत्यताके विषयमें झगडा करनेका विशेष प्रयोजन नहीं रहेगा।

परंतु जो ग्रंथ 'काव्य' लिखनेके उद्देश्यसेही लिखा गया हो, उसमें दस योजन विस्तीर्ण हाथी और आठ योजन विस्तीर्ण कछुआ लिखा किंवा न्यूनाधिक प्रमाणमें लिखा, तो यह वर्णन कोई महत्त्व नहीं रखता; क्योंकि इस कविकल्पित कथामें मुख्य वक्तव्य भिन्नही होता है। इस कथाका तात्पर्य जो 'भाइयोंकी एकता' है, वह ऊपर बतायाही है, वही देखना चाहिये, न कि कथाके छिलकेके विषयपर व्यर्थ वादानुवाद करना योग्य है।

सगे भाई भी आपसके झगडेके कारण कैसे पशु बनते हैं, यह प्रायः हरएक पाठकने देखाही होगा। तथा आपसके झगडेसे दोनोंका नाश कैसा होता है, यह भी पाठकोंके अनुभवकीही बात है। इस सचाई को स्वयं देखना और उसको अपने वैयक्तिक, घरेलू और राजकीय, सामाजिक तथा धार्मिक आचारमें डाल देना पाठकोंको उचित है। अस्तु। पूर्वोक्त कथामें 'एकताका पाठ' मिलता है, यह बात सत्य है; इसी विषयमें महाभारतका उपदेश भी थोडासा यहाँ देखिये--

न वै भिन्ना जातु चरंति धर्मम्।
न वै सुखं प्राप्नुवंतीह भिन्नाः॥
न वै भिन्ना गौरवं प्राप्नुवन्ति।
न वै भिन्नाः प्रशमं रोचयन्ति॥

(म. भा. उद्योग ३६।५८)

'भिन्न अर्थात् जिनमें आपसमें फूट है, वे लोग न धर्माचरण कर सकते हैं, न सुख प्राप्त कर सकते हैं, न गौरव कमा सकते हैं और न शांति भोग सकते हैं।'

अर्थात् जिनमें आपसके झगडे हैं, उनको धर्म, सुख, गौरव तथा शांति इनमेंसे कुछ भी प्राप्त नहीं होता। परंतु आपसमें झगडा बढानेवालोंमें अधर्म, दुःख, लघुता और अशांति ही रहती है। इसलिये जहाँतक हो, वहाँतक प्रयत्न करके आपसमें फूट रखना नहीं चाहिये। तथा और देखिये-

न वै तेषां स्वदते पथ्यमुक्तम्।
योगक्षेमं कल्पते नैव तेषाम्॥
भिन्नानां वै मनुजेंद्र परायणम्।
न विद्यते किंचिदन्यद्विनाशात्॥

(म. भा. उद्योग. ३६।५७)

'जो आपसमें झगडा करते हैं, उनको हितकर उपदेश भी पसंद नहीं होता, उनका योग-क्षेम ठीक नहीं चलता, तात्पर्य यह है कि, जो मनुष्य आपसमें झगडते हैं, उनका निःसंदेह नाश हो जाता है।'

अर्थात् जिसमें आपसकी फूट है, उस जातिकी कदापि उन्नति नहीं हो सकती। इसलिये उन्नति चाहनेवाली जातियोंको उचित है कि, वे आपसमें झगडा न रखें और आपसमें एकताका बल जितना बढ सकता है, बढा दें। इसका भी एक उदाहरण महाभारतमें दिया है-

धूमायंते व्यपेतानि ज्वलंति सहितानि च।
धृतराष्ट्रोल्मुकानीव ज्ञातयो भरतर्षभ॥

(म. भा. उद्योग ३६।६०)

'हे धृतराष्ट्र राजा! जिस प्रकार चूल्हेमें लकडियाँ इकट्ठी जुडी रहनेसे जलती हैं, परंतु अलग अलग रखनेसे धुवाँ उत्पन्न करती हैं, उसी प्रकार ज्ञातियोंकी अवस्था है।'

इसका तात्पर्य यह है कि, जिस प्रकार लकडियाँ इकट्ठी रखनेसे जलकर प्रकाशमय होती हैं और अलग अलग रखनेसे धुवाँ उत्पन्न करती हैं, ठीक उसी प्रकार जातियोंमें एकता होनेसे उस जातिका तेज फैलता है और आपसमें फूट और विविध झगडे होनेसे उस जातिका तेज नष्ट होता है। यह जातिकी उन्नति और अवनतिका नियम हरएक मनुष्यको अवश्यमेव ध्यानमें रखना चाहिये।

महाभारत 'जातीय एकताका पाठ' इस ढंगसे दे रहा है। और भी देखिये-

सुंद और उपसुंदकी कथा।

आर्य लोगोंका विद्या अभ्यासका क्रम देखनेसे पता लगता है कि वे जिस प्रकार आर्यवीरोंका इतिहास पढते थे, उसी प्रकार असुर और राक्षसों का तथा अन्यान्य जातियोंका भी इतिहास वे जानते थे। महाभारतमें भी राक्षसोंकी कथाएँ इसीलिये दी हैं। इसमें हेतु यह है कि, अपलोग 'कूप-मण्डूक' के समान न रहें, परंतु अन्यान्य जातियोंका विद्याएँ देखकर उस सब इतिहाससे जो उत्तम उपदेश लेना है, वह लेकर उसका उपयोग अपनी उन्नतिमें करें। 'एकताके पाठ' में जिस प्रकार पूर्वोक्त झगडालू तपस्वियोंकी कथा देखने योग्य है, उसी प्रकार सुंद और उपसुंदकी कथा भी देखने योग्य है। यह कथा इस प्रकार है-

सुंद और उपसुंद।

महा असुर हिरण्यकशिपुके वंशमें निकुंभ नामक असुरका जन्म हुआ। उसके पुत्र सुंद और उपसुंद थे। उनका जीवनक्रम देखिये, कैसा था-

सुंदोपसुंदौ दैत्येन्द्रौ दारुणौ क्रूरमानसौ ॥३॥
तावेकनिश्चयौ दैत्यावेककार्यार्थसंमतौ।
निरन्तरमवर्तेतां समदुःखसुखावुभौ ॥४॥
विनाऽन्योन्यं न भुञ्जाते विनाऽन्योन्यं न जग्मतुः।
अन्योन्यस्य प्रियकरावन्योन्यस्य प्रियंवदौ ॥५॥
एकशीलसमाचारौ द्विधैवैकं यथाकृतौ।
तौ विवृद्धौ महावीर्यौ कार्येष्वप्येकनिश्चयौ ॥२६॥
त्रैलोक्यविजयार्थाय समाधायैकनिश्चयम् ॥

(म. भा. आदि. २११)

'उन दो दैत्यपुत्रोंमें एकका नाम सुंद और दूसरेका नाम उपसुंद था। वे दोनों सदा एक ही विषयमें संमत, एकही विषयमें दत्तचित्त और एकही कार्यके करनेवाले होकर समान सुख दुःख समझकर अपना समय व्यतीत करते थे। दोनों एक दूसरेसे प्यारी बोली बोलते थे। और एक दूसरेका प्रिय कार्य करते थे। एक भाईके विना दूसरा भाई भोजन वा गमन नहीं करता था। उन दो भाइयोंके स्वभाव और व्यवहारमें भेद न रहनेके हेतु जान पडता था कि, मानो एक मनुष्य दो भागोंमें बँट गया है!! हर काममें एक बुद्धि रखनेवाले वे दो बडे वीर्यवान् भाई क्रमसे बढ गये। वे तीनों लोक जीतना निश्चय कर उस कार्यको करने लगे।'

इस प्रकार वे बढ गये। उनके बढनेका हेतु 'आपसकी एकता' ही है। देखिये उनकी एकताका स्वरूप-

एकताके सात नियम।

(१) एक ही विषयमें सहमत होना।
(२) एकही विषयमें दत्तचित्त होना।
(३) एकही कार्य एकविचारसे और अपने पूरे प्रयत्नसे करना।
(४) सुखदुःखमें समान हिस्सेदार होना।
(५) परस्पर मीठे शब्दोंसे संभाषण करना।
(६) परस्परका प्रिय करनेका यत्न करना।
(७) स्वभाव और व्यवहार परस्पर अनुकूल रखना।

ये सात बातें उक्त श्लोकोंमें कहीं हैं। इनसे परस्पर मित्रता बढती है। भाई भाईमें, मित्र मित्रमें, दो जातियोंमें तथा दो राष्ट्रोंमें यदि मित्रता होगी, तो इन सात नियमोंके अनुकूल रहनेसे ही होगी, अन्यथा संभव नहीं है। आजकल आपसमें झगडा करनेवाले हिंदु और मुसलमान ये राष्ट्रभाई इन सात नियमोंको स्मरण रखें और इनको अपनानेका यत्न करें। इन नियमोंके पालन होनेसे ही इन दो जातियोंमें एकता हो सकती है। उक्त सात नियमोंके बिलकुल विरोधी व्यवहार जब तक होता रहेगा, तब तक एकता कैसी उत्पन्न होगी और स्थिर भी किस ढंगसे होगी?

पूर्वोक्त दोनों भाई सुंद और उपसुंद आपसकी एकताके कारण वीर्यवान् और बलवान् बनकर त्रैलोक्यका विजय करने लगे। ऐक्यके बलके कारण उनका सर्वत्र विजय होता गया और उनके उग्र वीर्यके कारण उनको डर दिखानेवाला कोई नहीं रहा। देखिये—

त्रिषु लोकेषु यद् भूतं किंचित्स्थावरजंगमम्।
सर्वस्मान्नौ भयं न स्यादृतेऽन्योऽन्यं पितामह ॥

(म० भा० आदि० २११।१५)

'हम दोनोंको एक दूसरेके विना इस त्रिलोकभरमें स्थावर जंगम आदि किसीसे मृत्युका भय न रहे!'

यही अवस्था आपसकी एकताके कारण उनको प्राप्त हो गई और उनका दिग्विजय सर्वत्र हो गया। देखिये—

एवं सर्वा दिशो दैत्यौ जित्वा क्रूरेण कर्मणा।
निःसपत्नौ कुरुक्षेत्रे निवेशमभिचक्रतुः।

(म० भा० आदि० २१२ २७

'वे इस प्रकार कुटिल और क्रूर कार्यसे सब दिशाओंमें विजय प्राप्त कर अंतमें शत्रुवर्जित होकर कुरुक्षेत्रमें निवास करने लगे।'

यह जो दिग्विजय सुंद और उपसुंदको प्राप्त हुआ, इसका मूल कारण उनकी आपसका एकताही है। आर्य-देश, गंधर्व-देश और देवलोक आदि सब राष्ट्रोंका उन दोनों भाईयोंने परास्त किया था और संपूर्ण त्रिलोकीमें अपना साम्राज्य स्थापित किया था। इस प्रकार दिग्विजय करनेवाले दो भाईयोंमें आपसका झगडा खडा करनेके लिये तिलोत्तमा नामक एक अप्सरा देवोंकी ओरसे भेजी गई, जिसका सुंदर स्वरूप देख कर वे दोनों सुंद और उपसुंद काममोहित होकर, उस स्त्रीके कारण आपसमें लडने लगे और जब उनमें आपसका झगडा हुआ, तब उनका पूर्ण नाश हो गया। देखिये—

उभौ च कामसंमत्तावुभौ प्रार्थयतश्च ताम् ॥ २२॥
दक्षिणे तां करे सुभ्रूं सुंदो जग्राह पाणिना।
उपसुंदोऽपि जग्राह वामे पाणौ तिलोत्तमाम् ॥ १३॥
वरप्रदानमत्तौ तावौरसेन बलेन च।
धनरत्नमदाभ्यां च सुरापानमदेन च ॥ १४॥
सर्वैरेतैर्मदैर्मत्तावन्योन्यं भ्रुकुटीकृतौ।
मदकामसमाविष्टौ परस्परमथोचतुः ॥ १५॥
एवं तौ सहितौ भूत्वा सर्वार्थेष्वेकनिश्चयौ।
तिलोत्तमार्थे संक्रुद्धावन्योन्यमभिजग्मतुः ॥ २६॥

(म० भा० आदि० २१४)

'वे दोनों कामवश होकरके उस नारीके पास गये और दोनोंने उसपर मन चलाया। सुंदने अपने हाथसे उस सुंदरीका दहिना हाथ थाम लिया और उपसुंदने उसका बायां हाथ पकडा। वे वर पानेसे गर्वित, अपने भुजवीर्यके गर्वसे घमंडयुक्त, और धन रत्नोंके अहंकारसे उन्मत्त थे ही; फिर तिसपर दोनों मद्य और कामके नशेसे बावलोंके समान बने थे। सो एक दूसरेकी ओर भौंह चढायके झगडने लगे। तात्पर्य सुंद और उपसुंद दोनों भाई मित्रभावयुक्त और हर बातमें सहमत होनेपर भी तिलोत्तमाके लिये क्रोधित होकर आपसमें झगडा करनेसे पूर्णतासे नष्ट हो गये।'

इस रीतिसे एकताके कारण बल बढता है और आपसकी फूटके कारण बल घटता है।

यह कथा पांडवोंको भगवान् नारद मुनिने कही थी और उनको आपसमें न झगडनेका पाठ दिया था। देखिये, ऋषिमुनि भी राक्षसोंका इतिहास पढते थे, तथा उससे लेनेयोग्य बोध लेते थे और उसका उपदेश अपने आर्योंको करते थे। अन्य देशोंके और अन्य जातियोंके इतिहास पढनेका तथा शत्रुसे भी विद्याग्रहण करनेका महत्त्व कितना है, यह यहां पाठक देख सकते हैं।

यहां विशेष देखनेयोग्य बात यह है कि, सुंद और उपसुंद नामक राक्षसोंकी कथा 'आपसकी एकताका प्रतिपादन' करनेके लिये दी है और महाभारतकी कथा कौरवपांडवोंकी 'आपसकी फूट' का वर्णन करनेके लिये बतायी है। एकताके बलके कारण राक्षसोंका बल कैसा बढ गया था और आपसकी फूटके कारण आर्यजातिका कैसा नाश हुआ, यह उक्त कथाओंमें अर्थात् उक्त तपस्वियोंकी कथाम तथा कौरवपांडवोंकी कथामें देखिये। यदि कौरवपांडव एकमतसे राज्य करते, तो त्रिलोकीको जीत लेते; परंतु आपसकी फूटके कारण आर्यजातिका हो कैसा नाश हुआ, यह बात यहां विशेष विचारसे पाठक देख सकते हैं। इसी विषयमें एक उत्तम उदाहरण मार्कंडेय पुराणमें आ गया है, वह भी सारांशसे यहां देखना उचित है—

महिषासुर।

देवासुरमभूद्युद्धं पूर्णमब्दशतं पुरा।
महिषेऽसुराणामधिपे देवानां च पुरंदरे ॥ १॥
तत्रासुरैर्महावीर्यैर्देवसैन्यं पराजितम्।
जित्वा च सकलान्देवानिन्द्रोऽभून्महिषासुरः ॥२॥

(मार्कंडेयपुराण अ० ८२)

"पूर्वकालमें देवों और असुरोंका युद्ध पूर्ण सौ वर्षोंतक हुआ, उसमें देवोंका सेनापति इन्द्र था और

राक्षसोंका महिषासुर था। युद्धके अंतमें देवोंका पूर्ण पराभव हो गया और महिषासुर देवोंके राष्ट्रका सम्राट् बन गया"।

अपना पराजय होनेके पश्चात् देव भाग गये और श्रीशंकर और श्रीविष्णुके पास गये। देवोंने अपने पूर्ण पराजयका वृत्तांत भगवान् विष्णुसे कहा और अपनी शोचनीय अवस्थाका वर्णन उनके सम्मुख किया। उस समय भगवान् शंकर और विष्णुके अन्दरसे एक विलक्षण तेज बाहर निकल आया। उस दिव्य तेजमें संपूर्ण देवोंने अपने अपने तेजोंका अंश मिला दिया। देखिये इसका वर्णन—

अतुलं तत्र तत्तेजः सर्वदेवशरीरजम्।
एकस्थं तदभून्नारी व्याप्तलोकत्रयं त्विषा॥
(मार्कंडेय पुराण अ. ८२।१२)

"सब देवोंके शरीरोंसे निकले हुए तेजोंका मिलकर एक स्त्रीरूपी अत्यन्त तेजस्वी शरीर हुआ। जिसके तेजसे त्रैलोक्य व्याप्त हुआ।"

इस तेजोमय स्त्री देवीने असुरोंका पराभव करके फिर देवोंका साम्राज्य शुरू किया।

अर्थात् आपसकी फूटके कारण देवोंका पराभव हुआ और जब देवोंने अपने तेज और वीर्यका एक संघ बना दिया, तब उनके सामने राक्षस पराभूत हो गये। पूर्वोक्त वर्णनमें हरएक देवने अपना तेजस्वी अंश भेजा, संपूर्ण देवोंके तेजोंका एक महान् "संघ" बना और उस संघने राक्षसोंका पूर्ण पराभव किया। इस वर्णनका अलंकार हटाया जाय, तो कथाका मूल स्वरूप स्पष्ट विदित होता है।

जिस समय देवोंके अंदर आपसमें एकता नहीं थी, हरएक देव अथवा हरएक देवोंका गण किंवा देवोंकी जाति, अपनी अपनी घमंडमें रहकर अलग ही रहती थी, उस समय राक्षसोंके सामने देव ठहरही नहीं सके थे। परन्तु जिस समय देवोंको आपसकी फूटका पता लगा और अपना संघ बननेके विना अपना जीना भी अशक्य है, यह बात देवोंके ध्यानमें आ गई, तब उन्होंने अपना एक बडा अभेद्य संघ बना दिया, सब देवोंने अपनी अपनी शक्ति पूर्णतासे लगा दी और देवराष्ट्रको जीवित रखनेके लिये हरएक देवने अपनी पूर्ण पराकाष्ठा की। इससे देवोंमें-अर्थात् तिब्बत (त्रिविष्टप) के वासियोंमें बडी विलक्षण संघ शक्ति बनी, उनका बल बढ गया और इस कारण वे अपनी स्वतंत्रता प्राप्त कर सके और अपने नष्ट हुए साम्राज्यको पुनः प्राप्त कर सके। तात्पर्य यह है कि, जबतक आपसमें फूट रहेगी तब तक न तो कौटुंबिक सुख मिलेगा और ना ही राष्ट्रीय उन्नति प्राप्त होगी।

देवासुरोंके शताब्दि-युद्ध (Hundred Year's war) के वर्णनसे हमें यही उपदेश मिलता है। इतना बोध लेकर निम्न मंत्र देखिये-

संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते॥
(ऋ. १०।१९१।२)

'हे सज्जनो! तुम (संगच्छध्वं) आपसमें एकता करो, (संवदध्वं) आपसमें उत्तम भाषण करो और अपने मनोंको सुसंकारसंपन्न करो, तथा जिस प्रकार प्राचीन ज्ञानी अपने भाग्यकी उपासना करते थे, उसी प्रकार तुम भी किया करो।' तथा—

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः। समानमस्तु वो मनो यथा वः सु सहासति॥
(ऋ. १०।१९१।४)

"हे लोगो। तुम्हारा संकल्प, तुम्हारा हृदयका भाव, तुम्हारा मन अर्थात् तुम्हारा सब व्यवहार समान अर्थात् सबके साथ यथायोग्य हो, जिससे तुम एकतासे रह सकोगे।"

यह वेदका उपदेश पूर्वोक्त एकताका ही पाठ दे रहा है और इसीको पाठकोंके मनपर पूर्णरूपसे प्रतिबिंबित करनेके लिये पूर्वोक्त ऐतिहासिक कथाएं, तथा काव्यमय इतिहासिक वर्णन हैं। इस दृष्टिसे उक्त कथाएं पढीं और समझीं जाय, तो कथाओंका स्वारस्य समझमें आ जायगा। और महाभारतके काव्यमय इतिहासका महत्त्व ध्यानमें आवेगा।

इस लेखमें- (१) तपस्वी दो भाइयोंकी कथा, (२) सुंद और उपसुंदकी कथा, (३) महिषासुरका आख्यान, इनका वर्णन संक्षेपसे दर्शाया है और (४) महाभारतकी कथा सबको विदित ही है। इन चार कथाओंकी विशेषता यह है। देखिये—

३१३ इन्द्रः सूर्यस्य रश्मिभि--र्न्यर्शसानमोषति । अग्निर्वनेव सासहिः प्र वावृधे ॥ ९ ॥
३१४ इयं ते ऋत्वियावती धीतिरेति नवीयसी । सपर्यन्ती पुरुप्रिया मिमीत इत् ॥ १० ॥
३१५ गर्भो यज्ञस्य देवयुः क्रतुं पुनीत आनुषक् । स्तोमैरिन्द्रस्य वावृधे मिमीत इत् ॥ ११ ॥
३१६ सनिर्मित्रस्य पप्रथ इन्द्रः सोमस्य पीतये । प्राची वाशीव सुन्वते मिमीत इत् ॥ १२ ॥
३१७ यं विप्रा उक्थवाहसो ऽभिप्रमन्दुरायवः । घृतं न पिप्य आसन्यृतस्य यत् ॥ १३ ॥

अर्थ— [३१३] (इन्द्रः) इन्द्र (सूर्यस्य रश्मिभिः) सूर्यकी किरणोंसे (अर्शसानं) त्रासदायक शत्रुको (अग्निः वना इव) जैसे अग्नि वनोंको जला डालती है, उसी प्रकार (नि ओषति) बिलकुल जला डालता है, और (सासहिः) शत्रुको पराजित करनेवाला वह इन्द्र (प्र वावृधे) बढता है ॥ ९ ॥

१ इन्द्रः अर्शसानं सूर्यस्य रश्मिभिः नि ओषति— इन्द्र त्रासदायक शत्रुको सूर्यकी किरणोंसे जलाता है।

२ ओषति— जलाना ' उष दाहे '

[३१४] हे इन्द्र (इयं) यह (ऋत्वियावती) यज्ञमें की जानेवाली (नवीयसी) नवीन (सपर्यन्ती) सत्कार करनेवाली, (पुरु-प्रिया) बहुतोंको प्रिय (धीतिः) स्तुति (ते एति) तेरे पास जाती है, और (मिमीते इत्) तेरे गुणोंका वर्णन करती है ॥ १० ॥

[३१५] (यज्ञस्य गर्भः) यज्ञको उत्पन्न करनेवाला तथा (देवयुः) देवोंकी प्राप्तिकी इच्छा करनेवाला ऋत्विज् (आनुषक्) निरन्तर [अपने] (क्रतुं) कर्मको (पुनीते) पवित्र रीतिसे करता रहता है, तथा (इन्द्रस्य स्तोमैः वावृधे) इन्द्रकी स्तुतिसे वह बढता है, तथा (मिमीते इत्) [इन्द्रके] गुणोंका वर्णन करता है ॥ ११ ॥

[३१६] (मित्रस्य सनिः) मित्रको धन देनेवाला (इन्द्रः) इन्द्र (सोमस्य पीतये) सोम पानके लिए (सुन्वते प्राची वाशी इव) सोमयाग करनेवालेकी उत्तम स्तुतिको सुननेसे (पप्रथे) प्रसिद्ध होता है और उसमें (मिमीते इत्) उसका गुण वर्णन होता है ॥ १२ ॥

मित्रस्य सनिः— मित्रको सहायता करनी योग्य है।

[३१७] (विप्राः उक्थवाहसः आयवः) ज्ञानी तथा स्तुतिकर्ता मनुष्य (यं अभिप्रमन्दुः) जिसको आनन्दित करते हैं। [उसके] (आसनि) मुखमें (ऋतस्य यत्) यज्ञका जो हव्य सोमरस है उसे (घृतं न) घीके समान (पिप्ये) पिलाता हूँ ॥ १३ ॥

भावार्थ— सूर्यकी किरणोंसे त्रासदायक शत्रु अर्थात् रोगके कीटाणु मर जाते हैं। रोज सूर्य स्नान करनेसे शरीर स्वस्थ रहता है ॥ ९ ॥

हे इन्द्र ! यज्ञमें की जानेवाली यह तुझसे ही सम्बधित है। इसमें तेरे ही उत्तम गुणोंका वर्णन है ॥ १० ॥

देवोंकी प्राप्तीकी कामना करनेवाला ऋत्विज् निरन्तर अपने कर्मको पवित्र रीतिसे करता है। अच्छे गुणोंको प्राप्त करनेवाले मनुष्यको अपना कर्म पवित्र हो ऐसा करना चाहिए। वह इन्द्रकी स्तुतिसे बढता है, परमात्माकी स्तुतिसे मनुष्यकी उन्नति होती है ॥ ११ ॥

वह इन्द्र देव सदा ही मित्रको धन देकर उसकी सहायता करता है। धनादिसे अपने मित्रकी सदा सहायता करनी चाहिए ॥ १२ ॥

ज्ञानी और स्तुति करनेवाले लोग सदा इस इन्द्रकी स्तुति करते हैं और उसे सोमरस प्रदान करते हैं ॥ १३ ॥

३१८ उत स्वराजे अदितिः स्तोममिन्द्राय जीजनत् । पुरुप्रशस्तमूतयं ऋतस्य यत् ॥१४॥
३१९ अभि वह्नय ऊतये ऽनूषत प्रशस्तये । न देव विव्रता हरी ऋतस्य यत् ॥१५॥
३२० यत् सोममिन्द्र विष्णवि यद् वा घ त्रित आप्त्ये । यद् वा मरुत्सु मन्दसे समिन्दुभिः ॥१६॥
३२१ यद् वा शक्र परावति समुद्रे अधि मन्दसे । अस्माकमित् सुते रणा समिन्दुभिः ।१७॥
३२२ यद् वासि सुन्वतो वृधो यजमानस्य सत्पते । उक्थे वा यस्य रण्यसि समिन्दुभिः ॥१८॥

अर्थ— [३१८] (उत) और (अ-दितिः) अखण्डनीय स्तोताने (स्व- राजे इन्द्राय) स्वयं प्रकाशमान इन्द्रके लिए (ऊतये) संरक्षणके लिए (ऋतस्य यत् पुरु-प्रशस्तं स्तोमं), यज्ञका जो बहुत प्रशंसित स्तोत्र है [उसे] (जीजनत्) बनाया है ॥ १४ ॥

[३१९] (वन्हयः) ऋत्विग्गण (ऊतये प्रशस्तये) संरक्षण तथा प्रशंसाके लिए [इन्द्रको] (अभि अनूषत) स्तुति करते हैं, हे (न देव) प्रशंसित देव इन्द्र !(विव्रता हरी) विविध कर्म करनेवाले तेरे घोडे (ऋतस्य यत्) यज्ञका जो स्थान है [उसकी तरफ तुझे ले आवें] ॥ १५ ॥

१ वह्नि- अग्नि, पाचन, गाडी, यज्ञकर्ता, मरुतोंका विशेषण, सोम, घोडा

[३२०] हे (इन्द्र) इन्द्र ! (विष्णवि) यज्ञमें (यत् सोमं मन्दसे) जिस सोमको पीकर आनन्दित होते हो, (वा घ) और (यत् त्रित आप्त्ये) जिसको त्रित आप्त्यके यज्ञमें पीते हो, (वा) और (यत् मरुत्सु) जिसको मरुतोंमें [बैठकर] पीते हो, [उसी प्रकार हमारे] (इन्दुभिः सं) सोमोंसे भी अच्छी तरह आनन्दित होवो ॥ १६ ॥

[३२१] (यदि वा) जैसे (परावति) दूर देशमें (समुद्रे अधिमन्दसे) बहनेवाले सोममें आनन्दित होते हो, वैसे (अस्माकं सुते इत्) हमारे सोमयागमें भी (इन्दुभिः सं रण) सोमरस द्वारा अच्छी तरह आनन्दित होवो ॥ १७ ॥

[३२२] हे (सत्पते) सज्जनोंके पालन करनेवाले इन्द्र ! (यद् यस्य उक्थे) जब जिसके यज्ञमें तुम (इन्दुभिः वा) सोमरसोंसे (सं रण्यसि) अच्छी प्रकार आनन्दित होते हो, उस समय (सुन्वतः यजमानस्य) सोम याग करनेवाले यजमानको (वृधः असि) बढाते हो ॥ १८ ॥

भावार्थ— अखण्डनीय स्तोताने स्वराजके उद्देश्यसे अपने संरक्षणके लिये प्रशंसनीय स्तोत्र बनाये। जिससे स्वराज्यकी शक्ति बढगी और सबका संरक्षण हो जायगा ॥ १४ ॥

संरक्षणके लिये तथा प्रशंसाके लिये स्तुति करते हैं। स्तुतिमें जो गुण वर्णन किये जाते हैं, उनको अपनानेसे अपना संरक्षण होता है और अपनी प्रशंसा जनतामें भी होती है ॥ १५ ॥

हे इन्द्र ! तुम अन्य यज्ञकर्ताओंके यज्ञमें जिस प्रकार सोम पीकर आनन्दित होते हो, उसी तरह हमारे यज्ञमें भी सोम पीकर आनन्दित होओ ॥ १६ ॥

हे इन्द्र ! जिस प्रकार तुम दूरके देशोंमें सोमरस पीकर आनन्दित होते हो, उसी प्रकार हमारे यज्ञमें सोम पीकर आनन्दित होओ ॥ १७ ॥

जिस यज्ञकर्ताके यज्ञमें वह इन्द्र सोम पीकर आनन्दित होता है, उसी तरह वह हमारे यज्ञमें भी सोम पीकर आनन्दित हो ॥ १८ ॥

३२३ देवंदेवं वोऽवसे इन्द्रमिन्द्रं गृणीषणि । अधा यज्ञाय तुर्वणे व्यानशुः ॥१९॥
३२४ यज्ञेभिर्यज्ञवाहसं सोमेभिः सोमपातमम् । होत्राभिरिन्द्रं वावृधुर्व्यानशुः ॥२०॥
३२५ महीरस्य प्रणीतयः पूर्वीरुत प्रशस्तयः । विश्वा वसूनि दाशुषे व्यानशुः ॥२१॥
३२६ इन्द्रं वृत्राय हन्तवे देवासो दधिरे पुरः । इन्द्रं वाणीरनूषता समोजसे ॥२२॥
३२७ महान्तं महिना वयं स्तोमेभिर्हवनश्रुतम् । अर्कैरभि प्र णोनुमः समोजसे ॥२३॥
३२८ न यं विविक्तो रोदसी नान्तरिक्षाणि वज्रिणम् । अमादिदस्य तित्विषे समोजसः ॥२४॥

अर्थ— [३२३] (वः अवसे) तुम सबके रक्षणके लिए (देवं देवं इन्द्रं इन्द्रं) देव देव इन्द्रकी (गृणीषणि) स्तुति करता हूँ, वे स्तुतियां (अधा) पश्चात् (तुर्वणे) शत्रुको मारनेके लिए तथा (यज्ञाय) यज्ञके लिए [इन्द्रको] (वि- आनशुः) पहुंचे ॥ १९ ॥

[३२४] (यज्ञवाहसं सोमपातमं इन्द्रं) यज्ञमें बुलाने योग्य तथा सबसे अधिक सोम पीनेवाले इन्द्रको [याजक] (यज्ञेभिः, सोमेभिः, होत्राभिः) यज्ञोंसे, सोमोंसे तथा स्तुतियोंसे (वावृधुः) बढाते हैं, तथा [इन्द्रको] (व्यानशुः) प्राप्त करते हैं ॥ २० ॥

[३२५] (अस्य प्रणीतयः महीः) इसकी नीतियां बहुत हैं, (उतः) और इसकी (प्रशस्तयः) प्रशंसाएं भी (पूर्वीः) पूर्वकालसे आयी हैं, इसके (विश्वावसूनि) सम्पूर्ण धन (दाशुषे) दाताको (वि-आनशुः) प्राप्त होते हैं ॥ २१ ॥

१ विश्वा वसूनि दाशुषे वि आनशुः- इन्द्रके सम्पूर्ण धन दान देनेवालेको प्राप्त होते हैं।

[३२६] (देवासः) देवोंने (वृत्राय हन्तवे) वृत्रको मारनेके लिए (इन्द्रं पुरः दधिरे) इन्द्रको आगे किया, अतः [इसके] (ओजसे) बलके लिए (वाणीः सं अनूषत) वाणियां इसीकी स्तुति करती हैं ॥ २२ ॥

[३२७] (महिना महान्तं) अपने बल तथा यशसे बडे (हवनश्रुतं) प्रार्थनाको सुननेवाले इन्द्रका (ओजसे) इसके बलके लिए (वयं स्तोमेभिः अर्कैः) हम यज्ञोंसे तथा स्तोत्रोंसे (अभि प्र णोनुमः) सत्कार करते हैं ॥ २३ ॥

[३२८] (यं वज्रिणं) जिस वज्रधारी इन्द्रको (रोदसी न विविक्तः) द्यावा पृथिवी अपनेसे पृथक् नहीं कर सकते, (अन्तरिक्षाणि न) अन्तरिक्ष लोक भी पृथक् नहीं कर सकते। ऐसे (अस्य अमात् ओजसः इत्) इस इन्द्रके बल तथा ओजसेही [सब जगत्] (तित्विषे) प्रकाशित हो रहा है ॥ २४ ॥

भावार्थ— मेरी स्तुतियां शत्रुको मारनेके लिए और यज्ञके लिए इन्द्रको प्राप्त हों, अर्थात् मेरी स्तुतियां शत्रुको मारनेके लिए तथा यज्ञमें आनेके लिए इन्द्रको प्रेरित करें। संरक्षणके लिये मैं ईश्वरकी स्तुति करता हूं। देवताकी स्तुतिके साथ अपने संरक्षण होनेका बडा संबंध है। स्तुतिमें वर्णित गुण अपनेमें बढानेसे अपना संरक्षण होता है ॥ १९ ॥

देवोंमें सबसे अधिक सोम इन्द्र ही पीता है, इसीलिए वह सब यज्ञोंमें सोमपानके लिए बुलाया जाता है ॥ २० ॥

इन्द्रकी नीतियां बहुत हैं। वह बहुत चतुर है। इसीलिए बहुत प्राचीनकालसे इसकी प्रशंसा होती आ रही है। जो दान देता है, उसीको इसके धन प्राप्त होते हैं ॥ २१ ॥

देवोंने वृत्रको मारनेके लिए इन्द्रको नेता बनाया, इन्द्र इतना बलवान् है। बलके लिये हमारी वाणियां उस इन्द्रकी मिलकर स्तुति करती हैं ॥ २२ ॥

वह अपने बलसे बडा है, उसे बडे होनेके लिए किसी दूसरेसे सहायता लेनेकी आवश्यकता नहीं। वह हवनमें, यज्ञमें प्रसिद्ध है। हम बलके लिये उस वीरका सत्कार करते हैं। बलके कारण सत्कार होता है ॥ २३ ॥

इन्द्रके सब जगह व्याप्त होनेसे, द्यावा पृथ्वी तथा अन्तरिक्ष अपनेसे उसको पृथक् नहीं कर सकते। इसके बल तथा ओजसेही सारा संसार प्रकाशित हो रहा है ॥ २४ ॥

×

३२९ यदिन्द्र पृतनाज्ये देवास्त्वा दधिरे पुरः । आदित् ते हर्यता हरी ववक्षतुः ॥२५॥
३३० यदा वृत्रं नदीवृतं शवसा वज्रिन्नवधीः । आदित् ते हर्यता हरी ववक्षतुः ॥२६॥
३३१ यदा ते विष्णुरोजसा त्रीणि पदा विचक्रमे । आदित् ते हर्यता हरी ववक्षतुः ॥२७॥
३३२ यदा ते हर्यता हरी वावृधाते दिवेदिवे । आदित् ते विश्वा भुवनानि येमिरे ॥२८॥
३३३ यदा ते मारुतीर्विशस्तुभ्यमिन्द्र नियेमिरे । आदित् ते विश्वा भुवनानि येमिरे ॥२९॥
३३४ यदा सूर्यममुं दिवि शुक्रं ज्योतिरधारयः । आदित् ते विश्वा भुवनानि येमिरे ॥३०॥

अर्थ— [३२९] हे (इन्द्र) इन्द्र ! (देवाः) देवोंने (पृतनाज्ये) संग्राममें (त्वा) तुझे (यत्) जब (पुरः दधिरे) आगे किया (आत् इत्) इसके अनन्तर ही (हर्यता हरी) दो तेजस्वी घोडे (ते ववक्षतुः) ले तुझे गये ॥ २५ ॥

[३३०] हे (वज्रिन्) वज्रधारी इन्द्र ! (यदा) जब तुमने (नदी वृतं वृत्रं) नदीके पानीको रोकनेवाले वृत्रको (शवसा अवधीः) बलसे मारा, (आत् इत्) उसी समय (हर्यता हरी) दो तेजस्वी घोडे (ते ववक्षतुः) तुम्हें ले चले ॥ २६ ॥

[३३१] हे इन्द्र ! (यदा ते विष्णुः) जब तुम्हारे विष्णुने (ओजसा) बलसे (त्रीणि पदा) तीन पांवोंसे (विचक्रमे) विक्रम किया (आत् इत्) तबही (हर्यता हरी) दो तेजस्वी घोडे (ते)[1] तुम्हें (ववक्षतुः) ढोकर ले गए ॥ २७ ॥

१ विष्णु उपेन्द्र है। इन्द्र देवेन्द्र है। विष्णु सूर्य है।

[३३२] हे इन्द्र ! (यदा ते हर्यता हरी) जब तेरे तेजस्वी घोडे (दिवे दिवे वावृधाते) प्रतिदिन वृद्धिको प्राप्त हुए, (आत् इत्) तभी (त) तूने (विश्वा भुवनानि) सम्पूर्ण लोकोंको (येमिरे) नियमोंमें रखा ॥ २८ ॥

१ ते विश्वा भुवनानि येमिरे– तूने सब भुवनोंको नियमोंमें रखा है।

[३३३] हे (इन्द्र) इन्द्र ! (यदा) जब (ते मारुतिः विशः) तुम्हारी मरुद् रूपी प्रजायें (तुभ्यं) तेरे लिए [सारे प्राणियोंको] (नि येमिरे) नियंत्रित करती हैं, (आत् इत्) तभी (ते) तुम (विश्वा भुवनानि येमिरे) सम्पूर्णलोकोंका नियमन करते हो ॥ २९ ॥

[३३४] हे इन्द्र ! (यदा) जब तुमने (अमुं शुक्रं, ज्योतिः सूर्यं) इस तेजस्वी तथा प्रकाशमान् सूर्यको (दिवि अधारयः) द्युलोकमें स्थापित किया, (आत् इत्) तभी (ते) तुमने (विश्वा भुवनानि येमिरे) सम्पूर्ण भुवनोंको नियमित किया ॥ ३० ॥

शुक्रं ज्योतिः सूर्यं दिवि अधारयः– शुद्ध प्रकाशमान सूर्यको तुमने द्युलोकमें स्थापित किया है।

भावार्थ— देवोंने सेनासे हमला होनेपर इन्द्रको आगे धर दिया, युद्धका नेता बनाया। इसी प्रकार वीर शत्रुओंके साथ होनेवाले युद्धमें सबसे आगे रहे ॥ २५ ॥

इन्द्रने नदीके पानीको रोकनेवाले वृत्रको अपने बलसे मारा। नदीके जलका बर्फ करनेवाले वृत्रको इन्द्रने मारा। बर्फको पिघलाया ॥ २६ ॥

सूर्यने अपने बलसे तीन पांवोंसे आक्रमण किया। सूर्य मध्याह्न समयमें ऊपर चढ गया ॥ २७ ॥

इन्द्र जब सामर्थ्यशाली होता है, तब उसने सब भुवनोंको अपने शासनमें रखा। जब मनुष्य सामर्थ्यशाली होता है, तब वह लोगोंको शासनमें रखता है ॥ २८ ॥

संपूर्ण लोकोंको नियंत्रित करनेके कार्यमें इन्द्रकी सहायता मरुत् करते हैं। उसी तरह सब प्रजाओंको शासनमें रखनेके कार्यमें वीर राजाकी सहायता उसके सैनिक करें ॥ २९ ॥

जब इन्द्रने द्युलोकमें प्रकाशमान् सूर्यको स्थापित किया तभी सारा विश्व प्रकाशित हुआ और उस पर इन्द्रका शासन हुआ ॥ ३० ॥

३३५ इमां त इन्द्र सुष्टुतिं विप्र इयर्ति धीतिभिः । जामिं पदेव पिप्रतीं प्राध्वरे ॥३१॥
३३६ यदस्य धामनि प्रिये समीचीनासो अस्वरन् । नाभा यज्ञस्य दोहना प्राध्वरे ॥३२॥
३३७ सुवीर्यं स्वश्व्यं सुगव्यमिन्द्र दद्धि नः । होतेव पूर्वचित्तये प्राध्वरे ॥३३॥

[१३]

(ऋषिः- नारदः काण्वः । देवता- इन्द्रः । छन्दः- उष्णिक् ।)

३३८ इन्द्रः सुतेषु सोमेषु क्रतुं पुनीत उक्थ्यम् । विदे वृधस्य दक्षसो महान् हि षः ॥१॥
३३९ स प्रथमे व्योमनि देवानां सदने वृधः । सुपारः सुश्रवस्तमः समप्सुजित् ॥२॥

अर्थ— [३३५] हे (इन्द्र) इन्द्र ! (जामिं पदा इव) जैसे कोई अपने बन्धुको उत्कृष्ट स्थान पर ले जाता है, उसी प्रकार (विप्रः) ज्ञानी (इमां पिप्रतिं) इस प्रसन्नता वर्धक (सु-स्तुतिं) उत्तम स्तुतिको (धीतिभिः) यज्ञोंके कर्मोंके साथ (अध्वरे इयर्ति) यज्ञमें ले जाता है ॥ ३१ ॥

[३३६] (यज्ञस्य नाभा दोहना) यज्ञके केन्द्रमें [सोमका] रस निकालने पर (अस्य प्रिये धामनि अध्वरे) इस [इन्द्र] के प्रिय यज्ञस्थानमें [स्तोता] (समीचीनासः) संघटित होकर (अस्वरन्) स्तुति करते हैं ॥ ३२ ॥

[३३७] हे (इन्द्र) इन्द्र ! (नः) हमें (सु-वीर्यं, सु-अश्व्यं, सु-गव्यं) उत्तम बल, उत्तम घोडे और उत्तम गायोंवाला धन (दद्धि) दो, मैं (अध्वरे) यज्ञमें (होता इव) होताके समान (पूर्व चित्तये) सबसे प्रथम ज्ञानवान्, होनेके लिए तुम्हारी (प्र) उत्तम स्तुति करता हूँ ॥ ३३ ॥

१ नः सुवीर्यं स्वश्व्यं सुगव्यं दद्धि- हमें उत्तम पराक्रम करनेकी शक्ति, उत्तम घोडे और उत्तम गायें दे दो ।

[१३]

[३३८] (इन्द्रः) इन्द्र (सोमेषु सुतेषु) सोमका रस निकालने पर (वृधस्य दक्षसः विदे) बढानेवाले बलको प्राप्त करनेके लिए (क्रतुं उक्थ्यं पुनीते) यज्ञ तथा स्तोत्रको पवित्र करता है (हि) क्योंकि (सः महान्) वह महान् है ॥ १ ॥

१ दक्षः- बल " दक्ष इति बल नाम " (निघं. २।९)

२ विदे- प्राप्त करनेके लिए " विद्लृ लाभे "

[३३९] (सु-पारः) उत्तमतासे [दुःखोंसे] पार करानेवाला, (सु-श्रव-स्तमः) उत्तम यशवाला तथा (सं-अप्सुजित्) अन्तरिक्षमें शत्रुओंको जीतनेवाला (सः) वह इन्द्र (देवानां सदने) देवोंके स्थान (प्रथमे व्योमनि) विस्तृत आकाशमें [रहकर सबका] (वृधः) बढानेवाला है ॥ २ ॥

१ अप्सु- अन्तरिक्ष लोकोंमें ' आप इति अन्तरिक्षनाम ' (निघं १।३)

भावार्थ —जिस तरह कोई मनुष्य ऊंचे स्थान पर पहुंचकर अपने भाईको भी ऊंचे स्थान पर पहुंचाता है, उसी तरह ज्ञानी स्वयं उन्नत होकर इस इन्द्रको भी अपनी स्तुतियोंसे ऊंचा उठाते हैं ॥ ३१ ॥

जब यज्ञ शुरु होते हैं, तब इन्द्रके प्रिय स्थान इन यज्ञोंमें इन्द्रको सोमरस देनेके लिए सब लोग संघटित होकर स्तुति करते हैं ॥ ३२ ॥

हे इन्द्र ! हमें तू उत्तम बल, उत्तम घोडे तथा उत्तम गायोंवाला धन दे । हे देव ! मैं यज्ञमें ज्ञान प्राप्त करनेके लिए तुम्हारी स्तुति करता हूँ ॥ ३३ ॥

इन्द्र बल बढानेके लिये यज्ञ या पवित्र कर्म करता है । पवित्र कर्मसे बल बढता है ॥ १ ॥

वह इन्द्र उत्तम यशवाला तथा अन्तरिक्षमें रहनेवाले शत्रुओंको जीतनेवाला है । दुःखोंसे पार करनेवाला और शत्रुओंको जीतनेवाला बडा होता है ॥ २ ॥

३४० तमह्वे वाजसातय इन्द्रं भराय शुष्मिणम् । भवा नः सुम्ने अन्तमः सखा वृधे ॥३॥
३४१ इयं त इन्द्र गिर्वणो रातिः क्षरति सुन्वतः । मन्दानो अस्य बर्हिषो वि राजसि ॥४॥
३४२ नूनं तदिन्द्र दद्धि नो यत् त्वा सुन्वन्त ईमहे । रयिं नश्चित्रमा भरा स्वर्विदम् ॥५॥
३४३ स्तोता यत् ते विचर्षणिरतिप्रशर्धयद् गिरः । वया इवानु रोहते जुषन्त यत् ॥६॥
३४४ प्रत्नवज्जनया गिरः शृणुधी जरितुर्हवम् । मदेमदे ववक्षिथा सुकृत्वने ॥७॥
३४५ क्रीळन्त्यस्य सूनृता आपो न प्रवता यतीः । अया धिया य उच्यते पतिर्दिवः ॥८॥

अर्थ— [३४०] मैं (तं शुष्मिणं इन्द्रं) इस बलवान् इन्द्रको (वाजसातये भराय) अन्न प्राप्त होनेवाले संग्रामके लिए (अह्वे) बुलाता हूँ। हे इन्द्र ! तुम (सुम्ने) सुखके लिए (नः अन्तमः भव) हमारे समीप आ जाओ, तथा (वृधे) हमें बढानेके लिए (सखा) हमारे मित्र बन जाओ ॥ ३ ॥

[३४१] हे (गिर्वणः इन्द्र) प्रशंसनीय इन्द्र ! (सुन्वतः इयं रातिः) सोम यागमें दी हुई यह सोमाहुति (ते) तुम्हारे लिए (क्षरति) बह रही है। तुम (मन्दानः) आनन्दित होते हुए (अस्य बर्हिषः वि राजसि) इस आसन पर विराजमान हो ॥ ४ ॥

[३४२] हे (इन्द्र) इन्द्र ! (यत् त्वा) जिस धनको तुमसे (सुन्वन्तः ईमहे) सोम याग करते हुए हम मांगते हैं, (तत् नः नूनं दद्धि) उस धनको हमें अवश्य दो। तथा (स्वः विदं चित्रं) सुखको प्राप्त करानेवाले अनेक प्रकारके (रयिं नः आ भर) ऐश्वर्यको हमें दो ॥ ५ ॥

स्वर्विदं चित्रं रयिं नः आभर– सुख देनेवाला अनेक प्रकारका धन हमें भरपूर दो। धन सुख देनेवाला चाहिये।

[३४३] हे इन्द्र ! (यत् विचर्षणिः स्तोता) जब बुद्धिमान् स्तोता (ते गिरः) तेरी स्तुति (अति प्रशर्धयत्) शत्रुके पराजय करनेके लिए करता है, और (यत् जुषन्त) जब [वे स्तुतियां तेरे पास] पहुंचती हैं, तब [तुझमें सारे गुण] (वयाः इव) शाखाओंके समान (अनु रोहते) अनुकूलतासे बढते हैं ॥ ६ ॥

[३४४] (प्रत्नवत्) पहलेके समान (गिरः अनय) स्तुतियाँ करो (जरितुः हवं शृणुधी) स्तोताकी प्रार्थना सुनो। (मदे मदे) आनन्दित होने पर (सु-कृत्वने) अच्छे कर्म करनेवालेको धन (ववक्षिथ) दे दो ॥ ७ ॥

सुकृत्वने ववक्षिथ– अच्छे कर्म जो करता है उसे धन दे दो।

[३४५] (अस्य) इस इन्द्रकी (सूनृताः) स्तुतियां [इसकी ओर] (प्रवता यतीः आपः न) नीचेकी ओर बहनेवाले जलप्रवाहोंकी तरह (क्रीळन्ति) जाती हैं, (यः दिवः पतिः) जो द्युलोकका स्वामी (अया धिया उच्यते) इस स्तुति द्वारा प्रशंसित होता है ॥ ८ ॥

भावार्थ— इस बलवान् इन्द्रको अन्न प्राप्त होनेवाले संग्रामके लिए सहायार्थ बुलाता हूँ। सुखके लिए हमारे पास आ जाओ। परमात्माके समीप होनेसे आनन्द मिलता है ॥ ३ ॥

हे स्तुतिके योग्य इन्द्र ! यज्ञमें दी गई यह सोमाहुति तेरे लिए बह रही है। तू इस रसको पीकर आनन्दित हो ॥४॥

हे इन्द्र ! हम तुझे सोम देते हैं, और यही तुझसे मांगते हैं कि हमें वही धन दे कि जो हमें सुख प्राप्त करानेवाला है। धन सदा सुख देनेवाला ही होना चाहिए ॥ ५ ॥

जब इन्द्र शत्रुका पराजय करनेके लिए जाता है, तब स्तोता उसकी स्तुति करते हैं, उन स्तुतियोंसे इन्द्रका बल पेडोंकी शाखाओंकी तरह बढता है। इसी तरह राष्ट्रका राजा जब शत्रुओंसे युद्ध करने जाए, तब कवि गण अपनी कविताओंसे राजा और सैनिकोंका सामर्थ्य और उत्साह बढायें ॥ ६ ॥

हे इन्द्र ! तुम हमारी उत्तम स्तुतियां सुनो और हमारे बीचमें जो उत्तम कर्म करनेवाला हो, उसे ही धन दो ॥ ७ ॥

जब द्युलोकके स्वामी इन्द्रकी स्तुति की जाती है, तब ये स्तुतियां उसकी तरफ उसी तरह बहती हैं कि जिस तरह नीचे स्थानकी तरफ नदियां ॥ ८ ॥

३४६ उतो पतिर्य उच्यते कृष्टीनामेक इद् वशी । नमोवृधैरवस्युभिः सुते रण ॥९॥
३४७ स्तुहि श्रुतं विपश्चितं हरी यस्य प्रसक्षिणा । गन्तारा दाशुषो गृहं नमस्विनः ॥१०॥
३४८ तूतुजानो महेमते ऽश्वेभिः प्रुषितप्सुभिः । आ याहि यज्ञमाशुभिः शमिद्धि ते ॥११॥
३४९ इन्द्र शविष्ठ सत्पते रयिं गृणत्सु धारय । श्रवः सूरिभ्यो अमृतं वसुत्वनम् ॥१२॥
३५० हवे त्वा सूर उदिते हवे मध्यंदिने दिवः । जुषाण इन्द्र सप्तिभिर्न आ गहि ॥१३॥

अर्थ—[३४६] (यः) जो इन्द्र (नमोवृधैः) गुणवर्णनसे बढानेवालों तथा (अवस्युभिः) संरक्षणकी इच्छा करनेवालोंके द्वारा (वशी) सबको वशमें करनेवाला (उत) और (कृष्टीनां एक इत् पतिः उच्यते) मनुष्योंका एक ही राजा कहलाता है, वह तू (सुते रण) सोमयागमें आनन्दित हो ॥ ९ ॥

[३४७] हे मनुष्य ! (विपश्चितं श्रुतं स्तुहि) विद्वान् तथा प्रसिद्ध इन्द्रका गुणवर्णन करो, (यस्य प्रसक्षिणा हरी) जिसके शत्रुको पराजित करनेवाले घोडे (नमस्विनः दाशुषः गृहं) स्तुति करनेवाले तथा दान देनेवाले यजमानके घरको (गन्तारा) जाते हैं ॥ १० ॥

[३४८] हे (महे मते) महान् बुद्धिवाले इन्द्र ! (तूतुजानः) शीघ्रता करते हुए तुम (प्रुषितप्सुभिः आशुभिः अश्वेभिः) तेजस्वी रूपवाले तथा तेज दौडनेवाले घोडोंसे (यज्ञं आ याहि) हमारे यज्ञमें आओ (हि) क्योंकि (ते शं इत्) तुम्हारा आना कल्याणकारक है ॥ ११ ॥

१ महामतिः— इन्द्र महान् विद्वान् है । मतिमान है ।

२ ते शं इत्— तुम्हारा आना कल्याणकारक है ।

३ प्रुषित-प्सुः— तेजस्वी रूप " प्सुरिति रूप नाम (निघं. ३।७)

[३४९] हे (शविष्ठ सत्पते इन्द्र) बलवान् तथा सज्जनोंके पालन करनेवाले इन्द्र ! (गृणत्सु रयिं धारय) स्तोताओंको धन दे दो । तथा (सूरिभ्यः) विद्वानोंको (अ-मृतं वसु-वनं श्रवः) नष्ट न होनेवाले धनके साथ अन्न दो ॥ १२ ॥

१ सूरिभ्यः अमृतं वसुत्वनं श्रवः— विद्वानोंको नष्ट न होनेवाला धनसे युक्त यशवाला अन्न दे दो ।

२ गृणत्सु रयिं धारय— उपासकोंको धन दे दो ।

३ सत्पतिः शविष्ठः— उत्तम पालन करनेवाला बलवान होता है ।

[३५०] हे इन्द्र ! मैं (त्वा) तुझे (सूरे उदिते) सूर्यके उदय होने पर (हवे) बुलाता हूँ और (दिवः मध्यन्दिने हवे) दिनके मध्यभागमें भी बुलाता हूँ, हे (इन्द्र) इन्द्र ! (जुषाणः) [हमारी प्रार्थनाओंको] सुनते हुए (सप्तिभिः न आगहि) घोडोंसे हमारे पास आओ ॥ १३ ॥

भावार्थ— वह इन्द्र सबको वशमें करनेवाला तथा मनुष्योंका एक ही राजा है । अपने इन्द्रिय आदिको वशमें रखनेवाला मानवोंका उत्तम राजा होता है ॥ ९ ॥

शत्रुको पराजित करनेवाला अपने भक्तके घर जाता है । राजाको भी अपने अनुयायियोंके घर आकर समय समय पर उनकी पूछताछ करनी चाहिए ॥ १० ॥

हे उत्तम बुद्धिवाले इन्द्र ! तुम अपने तेजस्वी घोडोंसे हमारे यज्ञमें आओ, क्योंकि तुम्हारा आना कल्याणकारक है । महापुरुषोंका किसीके घर जाना सदा कल्याणकारक ही होता है ॥ ११ ॥

हे बलवान् तथा सज्जनोंके पालक इन्द्र ! तुम स्तोताओंको तथा विद्वानोंको धन दो । राजा बलवान् और सज्जनोंका पालक हो, तथा वह ज्ञानियोंको धन देकर उनका पालन पोषण करे ॥ १२ ॥

मैं प्रातःकाल, मध्याह्न अर्थात् सब समय इन्द्रको बुलाता हूं । वह मेरे पास आवे सबेरे और मध्य दिनमें प्रार्थना करनी चाहिये ॥ १३ ॥

३५१ आ तू गहि प्र तु द्रव मत्स्वा सुतस्य गोमतः । तन्तुं तनुष्व पूर्व्यं यथा विदे ॥१४॥
३५२ यच्छक्रासि परावति यदर्वावति वृत्रहन् । यद् वा समुद्रे अन्धसोऽवितेदसि ॥१५॥
३५३ इन्द्रं वर्धन्तु नो गिर इन्द्रं सुतास इन्दवः । इन्द्रे हविष्मतीर्विशो अराणिषुः ॥१६॥
३५४ तमिद् विप्रा अवस्यवः प्रवत्वतीभिरूतिभिः । इन्द्रं क्षोणीरवर्धयन् वया इव ॥१७॥
३५५ त्रिकद्रुकेषु चेतनं देवासो यज्ञमत्नत । तमिद् वर्धन्तु नो गिरः सदावृधम् ॥१८॥
३५६ स्तोता यत् ते अनुव्रत उक्थान्यृतुथा दधे । शुचिः पावक उच्यते सो अद्भुतः ॥१९॥
३५७ तदिद् रुद्रस्य चेतति यह्वं प्रत्नेषु धामसु । मनो यत्रा वि तद् दधुर्विचेतसः ॥२०॥

अर्थ— [३५१] हे इन्द्र ! (तु आ गहि) तू आ और (प्रतु द्रव) दौडकर आ, फिर (गोमतः सुतस्य मत्स्व) गोदुग्ध मिश्रित सोम रससे आनन्दित हो, फिर (यथा पूर्व्यं) पहलेके समान (विदे) धनकी प्राप्तिके लिए (तन्तुं तनुष्व) यज्ञका प्रसार कर ॥ १४ ॥

[३५२] हे (शक्र) सामर्थ्यवान् इन्द्र ! (यत् परावति असि) जो तुम दूर देशमें हो, हे (वृत्रहन्) वृत्रको मारनेवाले इन्द्र ! (यत् अर्वावति) जो पासके देशमें हो (वा) अथवा (यत् समुद्रे) जो अन्तरिक्षमें हो, वहांसे (अन्धसः) सोम पीकर हमारा (अविता इत् असि) संरक्षण करनेवाले बनो ॥ १५ ॥

[३५३] (नः गिरः इन्द्रं वर्धन्तु) हमारी स्तुतियां इन्द्रका वर्णन करें, तथा (सुतासः इन्दवः इन्द्रं) सोम निकाले हुए रस इन्द्रको बढावें । (हविष्मतीः विशः) यज्ञ करनेवाली प्रजायें (इन्द्रे अराणिषुः) इन्द्रमें आनन्दित होती हैं ॥१६॥

[३५४] (अवस्यवः विप्राः) संरक्षणकी इच्छा करनेवाले ज्ञानी जन (प्रवत्वतीभिः ऊतिभिः) शीघ्रकार्य करनेवाले संरक्षणके साधनोंके साथ रहनेवाले (तं इत्) उस इन्द्रका (अवर्धयन्) वर्णन करते हैं । तथा (क्षोणीः) पृथिवी पर रहनेवाले लोक भी (वयाः इव) वृक्षकी शाखाओंके समान (इन्द्रं) इन्द्रका ही वर्णन करते हैं ॥ १७ ॥

[३५५] (त्रिकद्रुकेषु) यज्ञोंमें (देवासः) याजकोंने (यज्ञं चेतनं) पूजनीय तथा ज्ञानवान् इन्द्रका (अत्नतः) वर्णन किया (तं सदावृधं इत्) उस सदा बढनेवाले इन्द्रका ही (नः गिरः वर्धन्तु) हमारी स्तुतियां वर्णन करें ॥१८॥

[३५६] (ते अनुव्रतः स्तोता) तेरे नियमके अनुसार चलनेवाला स्तोता (ऋतुथा) ऋतुओंमें (यत् उक्थानि दधे) जब स्तोत्रोंसे तेरा गुणवर्णन करता है तब (सः) वह (अद्भुतः शुचिः पावकः उच्यते) अद्भुत शुद्ध तथा पवित्र करनेवाला कहा जाता है ॥ १९ ॥

[३५७] (यत्र) जिसमें (विचेतसः) ज्ञानी जन (तत् मनः विदधुः) उस मनको लगाते हैं, (रुद्रस्य तत् इत् यह्वं) रुद्रका वह ही महान् बल (प्रत्नेषु धामसु) प्राचीन स्थानोंमें (चेतति) प्रसिद्ध होता है ॥ २० ॥

भावार्थ— हे इन्द्र ! तू हमारे पास आ और सोमपान करके हमारे यज्ञको विस्तृत कर ॥ १४ ॥

हे इन्द्र ! दूरसे, पाससे अथवा अन्तरिक्षसे अर्थात् सब ओरसे हमारा संरक्षण करो ॥ १५ ॥

यज्ञ करनेवाली प्रजायें इन्द्रमें रमती हैं । यज्ञ करनेवाले इन्द्रमें प्रेम रखते हैं और यज्ञसे इन्द्रको बढाते हैं ॥ १६ ॥

अपने संरक्षणकी इच्छा करनेवाले ज्ञानी उत्तम रक्षणके साधनोंके साथ रहनेवाले इन्द्रका उत्तम वर्णन करते हैं । जैसे वृक्षकी शाखायें वृक्षके आश्रयसे रहती हैं, उसी तरह सभी लोक इसी इन्द्रके आश्रयसे रहते हैं ॥ १७ ॥

यज्ञोंमें इस इन्द्रकी स्तुति देवोंने की थी, उसी इन्द्रको हमारी स्तुतियां भी बढायें ॥ १८ ॥

इन्द्रके नियमके अनुसार चलनेवाला तथा ऋतुके अनुसार आचरण करनेवाला मनुष्य अद्भुत, शुद्ध और पवित्र होता है ॥ १९ ॥

ज्ञानी जहां मन लगाते हैं, रुद्रका वह ही महान् बल लोकोंमें प्रसिद्ध हो रहा है ॥ २० ॥

३५८ यदि मे सख्यमावर इमस्य पाह्यन्धसः । येन विश्वा अति द्विषो अतारिम ॥२१॥
३५९ कदा त इन्द्र गिर्वणः स्तोता भवाति शंतमः । कदा नो गव्ये अश्व्ये वसौ दधः ॥२२॥
३६० उत ते सुष्टुता हरी वृषणा वहतो रथम् । अजुर्यस्य मदिन्तमं यमीमहे ॥२३॥
३६१ तमीमहे पुरुष्टुतं यह्वं प्रत्नाभिरूतिभिः । नि बर्हिषि प्रिये सदद्ध द्विता ॥२४॥
३६२ वर्धस्वा सु पुरुष्टुत ऋषिष्टुताभिरूतिभिः । धुक्षस्व पिप्युषीमिषमवा च नः ॥२५॥
३६३ इन्द्र त्वमवितेदसीत्था स्तुवतो अद्रिवः । ऋतादियर्मि ते धियं मनोयुजम् ॥२६॥

अर्थ - [३५८] हे इन्द्र ! (यदि) यदि तुम (मे सख्यं आवर) मेरी मित्रता स्वीकारते हो तो (इमस्य अन्धसः पाहि) इस सोमको पिओ (येन) जिससे हम (विश्वा द्विषः) सम्पूर्ण शत्रुओंको (अति अतारिम) पराजित कर सके ॥ २१ ॥

१ विश्वा द्विषः अति अतारिम— हम सम्पूर्ण शत्रुओंको जीते ।

[३५९] हे (गिर्वणः इन्द्र) प्रशंसनीय इन्द्र ! (ते स्तोता कदा शंतमः भवाति) तेरा स्तोता कब अत्यन्त सुखी होगा ? तथा (नः) हमें (गव्ये अश्व्ये वसौ) गायों, घोडों और ऐश्वर्यमें (कदा दधः) कब रखेगा ॥ २२ ॥

१ नः गव्ये अश्व्ये वसौ कदा दधः ? – हमें गौवें, घोडे और धन कब देगा ? इनकी प्राप्तिसे स्तोता सुखी होगा ।

[३६०] (उत) और (मदिन्तमं यं ईमहे) अधिक आनंद युक्त ऐसे जिस इन्द्रकी हम प्रशंसा करते हैं, उस (अजुर्यस्य ते) जरारहित तुझ इन्द्रको (रथं) रथको (सु-स्तुता वृषणा हरी) अच्छी प्रकार प्रशंसित तथा बलवान् घोडे (वहत) ले आवें ॥ २३ ॥

१ अ-जुर्य— बुढापा रहित । वह इन्द्र सदा तरुण रहता है ।

[३६१] (पुरु-स्तुतं यह्वं तं) बहुत प्रशंसित उस महान् इन्द्रकी (प्रत्नाभिः ऊतिभिः) प्राचीन संरक्षणके साधनोंके साथ (ईमहे) हम उपासना करना चाहते है । वह हमारे (प्रिये बर्हिषि) प्रिय यज्ञमें (द्विता अध नि सदद्) दो बार आकर बैठे ॥ २४ ॥

[३६२] हे (सु-पुरु-स्तुत) अत्यधिक प्रशंसित इन्द्र ! (ऋषिस्तुताभिः ऊतिभिः) ऋषियों द्वारा प्रशंसित संरक्षणके साधनोंसे हमें (वर्धस्व) बढाओ (च) और (पिप्युषीं इषं) पोषक अन्नको (नः अवधुक्षस्व) हमें दो ॥ २५ ॥

१ ऊतिभिः वर्धस्व— संरक्षक साधनोंसे हमें बढावो !

२ पिप्युषीं इषं नः अवधुक्ष्व— पुष्ट करनेवाला अन्न हमें दो ।

[३६३] हे (अद्रि-वः इन्द्र) वज्रको हाथमें धारण करनेवाले इन्द्र ! (त्वं) तुम (इत्था स्तुवतः) इस प्रकार स्तुति करनेवाले यजमानके (अविता इत् असि) संरक्षण करनेवाले हो, अतः मैं भी (ते मनोयुजं धियं) तुम्हारे मनको प्रसन्न करनेवाला स्तुति (इयर्मि) करता हूँ ॥ २६ ॥

त्वं अविता असि – तू रक्षण करनेवाला है ।

भावार्थ— इन्द्रसे मैत्री करने वाला सब शत्रुओंका जीत लेता है ॥ २१ ॥

हे इन्द्र ! तू अपने स्तोताको गाय, घोडे, आदि पशु प्रदान करके उसे शीघ्र सुखी कर ॥ २२ ॥

इन्द्र सदा तरुण रहता है, वह कभी वृद्ध नहीं होता । ऐसे इन्द्रको सभी उत्साहित करते हैं ॥ २३ ॥

बहुतोंके द्वारा प्रशंसित उस इन्द्रकी हम स्तुति करना चाहते हैं, वह आकर हमारे पास बैठे ॥ २४ ॥

हे इन्द्र ! अपने संरक्षणके साधनोंसे हमें बढाओ और पोषण अन्न हमें दो । अन्न वही है, जो पोषण करता है ॥ २५ ॥

यह इन्द्र देव उसकी स्तुति करनेवाले यज्ञ कर्ताओंका संरक्षण करनेवाला है, उसके संरक्षणको प्राप्त करनेकी इच्छासे मैं भी उसकी स्तुति करता हूँ ॥ २६ ॥

३६४ इह त्या सधमाद्या युजानः सोमपीतये । हरी इन्द्र प्रतद्वसू अभि स्वर ॥२७॥
३६५ अभि स्वरन्तु ये तव रुद्रासः सक्षत श्रियम् । उतो मरुत्वतीर्विशो अभि प्रयः ॥२८॥
३६६ इमा अस्य प्रतूर्तयः पदं जुषन्त यद् दिवि । नाभा यज्ञस्य सं दधुर्यथा विदे ॥२९॥
३६७ अयं दीर्घाय चक्षसे प्राचि प्रयत्यध्वरे । मिमीते यज्ञमानुषग्विचक्ष्य ॥३०॥
३६८ वृषायमिन्द्र ते रथ उतो ते वृषणा हरी । वृषा त्वं शतक्रतो वृषा हवः ॥३१॥
३६९ वृषा ग्रावा वृषा मदो वृषा सोमो अयं सुतः । वृषा यज्ञो यमिन्वसि वृषा हवः ॥३२॥

अर्थ— [३६४] हे (इन्द्र) इन्द्र ! (त्या सधमाद्या प्रतद्वसू) उन साथ-साथ आनन्दित होनेवाले तथा विशेष धनयतावाले (हरी) घोडोंको [अपने रथमें] (युजानः) जोडकर (सोमपीतये) सोमपानके लिए (इह अभि स्वर) यज्ञकी ओर आओ ॥ २७ ॥

[३६५] हे इन्द्र ! (ये तव रुद्रासः) जो तुम्हारे रुद्रवीर हैं, वे (अभि स्वरन्तु) हमारी ओर आवें और (श्रियं सक्षतः) शोभाको प्राप्त हों । (उत) और (मरुत्वतीः विशः) मरुतोंसे युक्त प्रजायें (प्रयः अभि) अन्नकी ओर आवें ॥ २८ ॥

[३६६] (अस्य) इस इन्द्रकी (इमाः प्रतूर्तयः) ये शत्रुका पराभव करनेवाली प्रजायें (दिवि यत् पदं) द्युलोकमें जो स्थान है, उसको (जुषन्त) प्राप्त करती हैं और (यथा विदे) जिससे धन प्राप्त हो, उसके लिए (यज्ञस्य नाभौ संदधुः) यज्ञके केन्द्रमें संघटित होकर रहती हैं ॥ २९ ॥

[३६७] (अयं) यह विद्वान् (प्राचि अध्वरे प्रयति) पूर्व दिशामें यज्ञके प्रारम्भ होने पर (दीर्घाय चक्षसे) दूर दृष्टिके लिए (यज्ञं आनुषक् विचक्ष्य) यज्ञको निरन्तर देख कर (मिमीते) इन्द्रका गुणवर्णन करता है ॥ ३० ॥

[३६८] हे (इन्द्र) इन्द्र (अयं ते रथः) यह तुम्हारा रथ (वृषा) बलवान् है, (उत) और (ते हरी वृषणा) तुम्हारे घोडे भी बलवान हैं, हे (शतक्रतो) अनेकों उत्तम कर्म करनेवाले इन्द्र ! (त्वं वृषा) तुम स्वयं भी बलवान् हो तथा (हवः वृषा) तुम्हारी प्रार्थना कामनाओंको पूर्ण करनेवाली है ॥ ३१ ॥

हवः वृषा— इन्द्रकी प्रार्थना बल बढानेवाली है ।

[३६९] (ग्रावा वृषा) [सोम पीसनेके] पत्थर मजबूत हैं, (अयं सुतः सोमः वृषा) यह निकाला हुआ सोमरस बलवान् है, तथा (मदः वृषा) [सोमपानसे उत्पन्न] आनन्द भी उत्तम है, (यं यज्ञं इन्वसि) जिस यज्ञमें तुम जाते हो वह भी (वृषा) कामनाओंको पूर्णकरनेवाला है, (हवः वृषा) तुम्हारी प्रार्थना भी कामनाको पूर्ण करनेवाली है ॥ ३२ ॥

भावार्थ— हे इन्द्र ! एक साथ रहकर आनन्दित होनेवाले तथा हर तरहसे तुम्हारी सहायता करनेवाले घोडोंसे हमारे पास आओ । घोडे ऐसे हों कि जो सदा आनन्दमें रहें और अपने स्वामीकी सहायता करनेवाले हों ॥ २७ ॥

हे इन्द्र ! जो तुम्हारे वीर सहायक हैं, वे शत्रुओंको रुलानेवाले हैं और शोभासे युक्त हैं । प्रजायें भी इन मरुतोंकी सहायता प्राप्त करें । राजाके भी जो सहायक हों, वे वीर और शत्रुओंको रुलानेवाले हों तथा हमेशा सजे धजे रहें, वे सभी प्रजाकी सहायता करनेवाले हों ॥ २८ ॥

शत्रुओंको पराजित करनेवाले वीर सैनिक द्युलोकको प्राप्त करते हैं, अर्थात् उनका यश द्युलोक तक जा पहुंचता है । इन वीरोंसे रक्षित होकर प्रजाएं यज्ञके शुभ कार्यको संघटित होकर करती हैं ॥ २९ ॥

प्राची दिशामें सूर्यके उदय होते ही विद्वान् जन यज्ञका प्रारंभ करते हैं, इन यज्ञोंमें दूर दृष्टीवाले ज्ञानी इन्द्रकी स्तुति करते हैं ॥ ३० ॥

हे इन्द्र ! तुम्हारा रथ और घोडे सभी बलवान् हैं, तथा तुम स्वयं भी बलवान् हो, अतः तुम्हारी स्तुति स्तोताके कामनाओंको पूर्ण करनेवाली है । वीरोंके सभी साधन बलवान् हों और वे स्वयं भी बलवान् हों ॥ ३१ ॥

इन्द्रके लिए सोम पीसनेके साधन, सोमरस, उसे पीनेसे उत्पन्न होनेवाला आनंद, यज्ञ और यज्ञमें की जानेवाली स्तुती सभी बलदायक हैं ॥ ३२ ॥

३७० वृषा त्वा वृषणं हुवे वज्रिञ्चित्राभिरूतिभिः । वावन्थ हि प्रतिष्टुतिं वृषा हवः ॥३३॥

[१४]

(ऋषिः- गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ काण्वायनौ। देवता- इन्द्रः । छन्दः- गायत्री ।)

३७१ यदिन्द्राहं यथा त्वमीशीय वस्व एक इत् । स्तोता मे गोषखा स्यात् ॥१॥
३७२ शिक्षेयमस्मै दित्सेयं शचीपते मनीषिणे । यदहं गोपतिः स्याम् ॥ २ ॥
३७३ धेनुष्ट इन्द्र सूनृता यजमानाय सुन्वते । गामश्वं पिप्युषी दुहे ॥ ३ ॥
३७४ न ते वर्तास्ति राधस इन्द्र देवो न मर्त्यः । यद् दित्ससि स्तुतो मघम् ॥ ४ ॥

अर्थ— [३७०] हे (वज्रिन्) वज्रधारी इन्द्र ! (वृषा) बलवाला मैं (वृषणं) बलवाले (चित्राभिः ऊतिभिः) अनेक प्रकारके संरक्षण साधनोंके साथ रहनेवाले (त्वा) तुमको (हुवे) बुलाता हूँ। (हि) क्योंकि (प्रति स्तुतिं) तुम्हारे प्रति की गई स्तुतिको तुम (वावन्थ) सुनते हो (हवः वृषा) तुम्हारी प्रार्थना कामनाओंको पूर्ण करनेवाली है ॥ ३३ ॥

[१४]

[३७१] हे (इन्द्र) इन्द्र ! (यथा त्वं) जैसे तुम (वस्वः एक इत्) धनके अकेले ही स्वामी हो उसी प्रकार (यत् अहं ईशीय) जब मैं स्वामी हो जाऊं तो (मे स्तोता) मेरा स्तोता (गो सखा स्यात्) गायोंसे युक्त हो जावे ॥ १ ॥

[३७२] हे (शचीपते) इन्द्र ! शक्तियोंके स्वामी (यत् अहं गोपतिः स्यां) यदि मैं गायोंका स्वामी हो जाऊं, तो मैं (अस्मै मनीषिणे) इस बुद्धिमान्‌के लिए (दित्सेयं) धन देनेकी इच्छा करूं और (शिक्षेयं) उसकी सहायता करूं ॥ २ ॥

१ शिक्ष्- समर्थ होनेकी इच्छा, चेष्टा करना सीखना, सहायता करना, सिखाना ।

[३७३] हे (इन्द्र) इन्द्र ! (ते पिप्युषी सूनृता धेनुः) तेरी बढनेवाली वाणी रूपी गाय (सुन्वते यजमानाय) सोम याग करनेवाले यजमानके लिए (गां अश्वं दुहे) गाय, घोडे आदि [ऐश्वर्यों] को देती है ॥ ३ ॥

[३७४] (यत् स्तुतः) जब प्रशंसित हो कर (मघं दित्ससि) ऐश्वर्य देनेकी इच्छा करते हो, तब हे (इन्द्र) इन्द्र ! (ते राधसः) तुम्हारे धनको (न देवः वर्ता अस्ति) न देव रोक सकता है, (न मर्त्यः) न मनुष्य ॥ ४ ॥

भावार्थ— हे इन्द्र ! चूं कि तुम अपने भक्तोंकी प्रार्थनाओंको ध्यानपूर्वक सुनते हो, और उसकी हर कामनाओंको पूर्ण करते हो, अतः मैं बलशाली होते हुए भी तुम्हारी प्रार्थना करता हूँ ॥ ३३ ॥

यह इन्द्र सब धनोंका अकेला ही स्वामी है, अतः उसकी उपासना करके मैं भी धनका अकेला ही स्वामी बन जाऊं, तब मेरी स्तुति करनेवाला भी धनसम्पन्न हो जाए। धन किसी एक ही के पास न रहे अपितु सबके पास बहता रहे ॥ १ ॥

यदि मैं गायोंका स्वामी बनूं तो इस विद्वान्‌को धन दे दूं। मुझे धन मिलेगा तो मैं उसका दान सत्पुरुषोंको करूंगा ॥ २ ॥

इन्द्रकी स्तुति करनेसे सभी तरहके पशु आदि धन मिलते हैं। स्तुति करनेसे वाणी शुद्ध होती है और वाणीके शुद्ध होनेसे हरतरहका ऐश्वर्य मिलता है ॥ ३ ॥

हे इन्द्र ! जब प्रशंसित होकर तुम यजमानको धन देना चाहते हो, तब तुम्हारे धन दानको न देव रोक सकता है, न मनुष्य, अर्थात् कोई भी नहीं रोक सकता ॥ ४ ॥

×

३७५ यज्ञ इन्द्रमवर्धयद् यद् भूमिं व्यवर्तयत् । चक्राण ओपशं दिवि ॥ ५ ॥
३७६ वावृधानस्य ते वयं विश्वा धनानि जिग्युषः । ऊतिमिन्द्रा वृणीमहे ॥ ६ ॥
३७७ व्य१न्तरिक्षमतिरन्मदे सोमस्य रोचना । इन्द्रो यदभिनद् वलम् ॥ ७ ॥
३७८ उद् गा आजदङ्गिरोभ्य आविष्कृण्वन् गुहा सतीः । अर्वाञ्चं नुनुदे वलम् ॥ ८ ॥
३७९ इन्द्रेण रोचना दिवो दृळ्हानि दृंहितानि च । स्थिराणि न पराणुदे ॥ ९ ॥

अर्थ— [३७५] इन्द्रने (दिवि ओपशं चक्राणः) द्युलोकमें विश्राम स्थान बनाकर (यत्) जब (भूमिं व्यवर्तयत्) भूमिको फैलाया, तब (यज्ञः इन्द्रं अवर्धयत्) यज्ञने इन्द्रके यशको बढाया ॥ ५ ॥

१ यज्ञः इन्द्रं अवर्धयत्- यज्ञने इन्द्रको बढाया। " इन्द्र इदं हविरजुषतावीवृधत महो ज्यायोऽकृत "
(तै. ब्रा. ३।५।१०।३)

२ ओपश- विश्राम स्थान, गद्दी, तकिया, सहारा, खम्भा।

[३७६] हे (इन्द्र) इन्द्र ! (वावृधानस्य विश्वा धनानि जिग्युषः) वृद्धिको प्राप्त होनेवाले तथा सम्पूर्ण [शत्रुओंके] धनोंको जीतनेवाले (ते) तुम्हारे (ऊतिं) संरक्षणको (वयं वृणीमहे) हम वरना चाहते हैं ॥ ६ ॥

ते ऊतिं वयं वृणीमहे- तेरे संरक्षणको हम वरना चाहते हैं।

[३७७] (इन्द्रः) इन्द्रने (सोमस्य मदे) सोमके उत्साहमें (यत् वलं अभिनद्) जब बलको मारा, तब (रोचना अन्तरिक्षं) प्रकाशमान् अन्तरिक्षको (वि अतिरत्) विस्तृत किया ॥ ७ ॥

[३७८] इन्द्रने (गुहा सतीः गाः) गुफामें रखी हुई गायोंको (आविष्कृण्वन्) प्रकाशित करते हुए (अंगिरोभ्यः) अंगिरा ऋषियोंके लिए उन्हें (उद् आजद्) बाहर निकाला, और (वलं अर्वाञ्चं नुनुदे) बलको नीचे मुखवाला किया ॥ ८ ॥

१ गुहा सतीः गाः अंगिरोभ्यः उद् आजद्- इन्द्रने गुहामें छिपाई हुई गायोंको अंगिरा ऋषियोंके लिए बाहर निकाला।

[३७९] (इन्द्रेण) इन्द्रने (दिवः) द्युलोकके सभी (रोचना) प्रकाशमान नक्षत्रोंको (दृळ्हानि दृंहितानि च) दृढ किया और बढाया, इन (स्थिराणि) स्थिर नक्षत्रोंको कोई (न पराणुदे) गिरा नहीं सकता ॥ ९ ॥

१ इन्द्रेण दिवः रोचना दृळ्हानि दृंहितानि च- इन्द्रने द्युलोकके प्रकाशमान नक्षत्रोंको दृढ किया और बढाया।

दृंहितानि- बढाया ' दृह दृहि वृहि वृद्धौ '

भावार्थ— सर्वशक्तिमान् प्रभुने जब द्युलोक और पृथ्वीलोकका विस्तार किया, तब पृथ्वी पर यज्ञ होने लगे और उन यज्ञोंमें प्रभुकी स्तुति गाई जाने लगी ॥ ५ ॥

इन्द्रके संरक्षण भक्तकी सम्पन्नता बढानेवाले, उसे भौतिक ऐश्वर्यसे युक्त करनेवाले हैं। ऐसे संरक्षणकी सभी कामना करें ॥ ६ ॥

इन्द्रने सोमके उत्साहमें बलको मारा। प्रकाशमान् अन्तरिक्षको उसने फैलाया ॥ ७ ॥

इन्द्रने गुहामें छिपाकर रखी हुई गायोंको बाहर निकाला तथा बलको नीचे मुंहवाला किया। विद्युत्ने काले मेघ रूपी गुहाओंमें छिपी हुई प्रकाश किरणोंको बाहर निकाला और मेघको नीचेकी तरफ मुंहवाला करके उसे निर्वीर्य कर दिया ॥ ८ ॥

प्रभुकी शक्ति इतनी बडी है कि उसने बहुत पहले द्युलोक और उसमें नक्षत्रोंको इस प्रकार दृढतासे स्थिर कर दिया कि आजतक भी कोई उन्हें गिरा नहीं सका है ॥ ९ ॥

३८० अपामूर्मिर्मदन्निव स्तोम इन्द्राजिरायते । वि ते मदा अराजिषुः ॥ १० ॥
३८१ त्वं हि स्तोमवर्धन इन्द्रास्युक्थवर्धनः । स्तोतॄणामुत भद्रकृत् ॥ ११ ॥
३८२ इन्द्रमित् केशिना हरी सोमपेयाय वक्षतः । उप यज्ञं सुराधसम् ॥ १२ ॥
३८३ अपां फेनेन नमुचेः शिर इन्द्रोदवर्तयः । विश्वा यदजयः स्पृधः ॥ १३ ॥
३८४ मायाभिरुत्सिसृप्सत इन्द्र द्यामारुरुक्षतः । अव दस्यूँरधूनुथाः ॥ १४ ॥
३८५ असुन्वामिन्द्र संसदं विषूचीं व्यनाशयः । सोमपा उत्तरो भवन् ॥ १५ ॥

अर्थ— [३८०] हे (इन्द्र) इन्द्र (अपां ऊर्मिः मदन् इव) जैसे समुद्रकी लहर उत्तेजित होकर जाती है, उसी प्रकार (स्तोमः) तेरा स्तोत्रभी तेरे पास (अजिरायते) शीघ्र जाता है और (ते मदाः अराजिषुः) तेरे उत्साह उत्पन्न होते हैं ॥ १० ॥

[३८१] हे (इन्द्र) इन्द्र ! (त्वं हि) तुम ही (स्तोमवर्धनः) स्तोत्रको बढानेवाले (उक्थवर्धनः) तथा स्तुतिको बढानेवाले (उत) और (स्तोतॄणां भद्रकृत्) स्तोताओंका कल्याण करनेवाले (असि) हो ॥ ११ ॥

[३८२] (केशिना हरी) बालोंवाले घोडे (सु-राधसं इन्द्रं इत्) उत्तम धनवाले इन्द्रको (सोमपेयाय) सोमपानके लिए (यज्ञं उपवक्षतः) यज्ञके पास ले जावें ॥ १२ ॥

[३८३] (इन्द्र) हे इन्द्र ! (यत्) जब (विश्वा स्पृधः) सम्पूर्ण शत्रुसेनाको तुमने (अजयः) जीत लिया, तब (अपां फेनेन) जलके झागसे (नमुचेः शिरः उत् अवर्तयः) नमुचिका सिर काट दिया ॥ १३ ॥

[३८४] हे (इन्द्र) इन्द्र ! तुमने (मायाभिः उत् सिसृप्सतः) कुशलतासे सर्वत्र फैलनेकी इच्छा करनेवाले और (द्यां आरुरुक्षतः) द्युलोक पर चढनेकी इच्छावाले (दस्यून्) राक्षसोंको (अव अधूनुथाः) अच्छी तरह कंपाया ॥ १४ ॥

अधूनुथाः- कंपाया " धूञ् कंपने "

दस्यून् अव अधूनुथाः- दुष्टोंका नाश किया ।

[३८५] हे (इन्द्र) इन्द्र ! (सोम-पाः उत्-तरः भवन्) सोम पीनेवाले तथा उत्तम होते हुए तुमने (अ-सुन्वां वि-षूचीं संसदं) सोमयाग न करनेवालोंके परस्पर विरोध करनेवालोंके संघटनको (वि अनाशयः) नष्ट किया ॥ १५ ॥

भावार्थ— जिस प्रकार समुद्रकी लहरें सदा उत्तेजित होकर उछलती रहती हैं, उसी तरह वीरोंके हृदयोंमें उत्साह सदा उछलता रहे ॥ १० ॥

हे इन्द्र ! तुम स्तोत्रको बढानेवाले और स्तोताओंका कल्याण करनेवाले हो । वीर राजा सदा अपने अनुयायियोंका कल्याण करे ॥ ११ ॥

उत्तम और सुन्दर रूपवाले घोडे इस इन्द्रको सोमपीनेके लिए यज्ञके पास ले जाते हैं ॥ १२ ॥

इन्द्रने समुद्रके झागसे नमुचिका सिर काट डाला । नमुचिका अर्थ है जल्दी न जानेवाला ऐसा रोग । रोग समुद्री झागके अनुपानसे नष्ट हो जाता है ॥ १३ ॥

इन्द्रने अपनी मायाके बलसे द्युलोक पर चढनेकी इच्छा करनेवाले राक्षसोंको अच्छी तरह नष्ट किया । मेघ असुर हैं, जो नानारूप धारण करके सारे आकाशमें छा जानेकी कोशिश करते हैं । बिजली इन मेघोंको कंपा कर नीचे गिरा देती और उन्हें नष्ट कर देती है ॥ १४ ॥

हे इन्द्र ! तुमने सोमयाग न करनेवालोंके और परस्पर विरोधसे भिन्न-भिन्न मार्गोंसे जानेवालोंके संघटनको नष्ट किया । यज्ञ न करनेसे समाजका संगठन नहीं होता और संगठन अथवा अखण्डताके न होनेसे समाज नष्ट हो जाता है ॥ १५ ॥

[१५]

(ऋषिः- गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ काण्वायनौ । देवताः- इन्द्रः । छन्दः- उष्णिक् ।)

३८६ तम्वभि प्र गायत पुरुहूतं पुरुष्टुतं । इन्द्रं गीर्भिस्तविषमा विवासत ॥ १ ॥
३८७ यस्य द्विबर्हसो बृहत् सहो दाधार रोदसी । गिरींरज्राँ अपः स्वर्वृषत्वना ॥ २ ॥
३८८ स राजसि पुरुष्टुतँ एको वृत्राणि जिघ्नसे । इन्द्र जैत्रा श्रवस्या च यन्तवे ॥ ३ ॥
३८९ तं ते मदं गृणीमसि वृषणं पृत्सु सासहिम् । उ लोककृत्नुमद्रिवो हरिश्रियम् ॥ ४ ॥
३९० येन ज्योतींष्यायवे मनवे च विवेदिथ । मन्दानो अस्य बर्हिषो वि राजसि ॥ ५ ॥

---

[१५]

अर्थ— [३८६] हे स्तोताओ ! (पुरु-हूतं पुरु-स्तुतं तं उ) बहुतोंके द्वारा बुलाये गए तथा बहुतों द्वारा प्रशंसित उस इन्द्रकेही [गुणोंको] (अभि प्र गायत) गाओ (तविषं इन्द्रं) महान् इन्द्रको (गीर्भिः आ विवासत) स्तुतियोंसे सेवा करो ॥ १ ॥

[३८७] (द्विबर्हसः यस्य) दोनों स्थानोंमें बढनेवाले इन्द्रके (बृहत् सहः) बडे बलको (रोदसी दाधार) द्यावा पृथिवी धारण करते हैं, वह इन्द्र (वृषत्वना) अपने बलसे (अज्रान् गिरीन्) शीघ्र चलनेवाले मेघोंको तथा (स्वः अपः) रहनेवाले जलोंको [धारण करता है] ॥ २ ॥

[३८८] हे (पुरु-स्तुत इन्द्र) बहुतोंसे प्रशंसित इन्द्र ! (सः) वह तुम (राजसि) प्रकाशित होते हो, और (जैत्रा श्रवस्या च यन्तवे) जीतने योग्य धन और यशको प्राप्त करनेके लिए (एकः वृत्राणि जिघ्नसे) अकेलेही वृत्रोंको मारते हो ॥ ३ ॥

[३८९] हे (अद्रि-वः) पर्वतोंके किलोंमें रहनेवाले इन्द्र ! हम (ते तं) तेरे उस (वृषणं, पृत्सु सासहिम्) बलवान्, युद्धोंमें शत्रुओंके जीतनेवाले (लोक-कृत्नुं) लोकोंको उत्पन्न करनेवाले और (हरि-श्रियं) घोडोंके आश्रयसे रहनेवाले (मदं) उत्साहका (गृणीमसि) वर्णन करते हैं । ॥ ४ ॥

१ अद्रि-वः ते तं मदं गृणीमसि- हे पर्वतोंके किलोंमें रहनेवाले इन्द्र ! हम तेरे उस उत्साहका वर्णन करते हैं ।

२ अद्रि-वः- वज्रधारी, किलेमें रहनेवाला

३ पृत्सु सासहिः- युद्धोंमें विजयी

[३९०] हे इन्द्र ! (येन) जिस सामर्थ्यसे तुमने (आयवे मनवे च) आयु और मनुके लिए (ज्योतींषि विवेदिथ) सूर्यादिकोंको प्रकाशित किया, (मन्दानः) उस सामर्थ्यसे आनंदित होकर (अस्य बर्हिषः) इस आसनपर (वि राजसि) विराजमान होओ ॥ ५ ॥

भावार्थ— हे मनुष्यो ! बहुतों द्वारा अपनी रक्षाके लिए बुलाये जानेवाले तथा अत्यंत प्रशंसित इन्द्रकी स्तुति तुम गाओ, स्तुतियोंसे तुम उसकी सेवा करो ॥ १ ॥

वह इन्द्र अपने सामर्थ्यसे शीघ्र चलनेवाले मेघोंको और बहनेवाले जलोंको धारण करता है । ऐसे इन्द्रके बलको द्युलोक और पृथ्वीलोक धारण करते हैं ॥ २ ॥

वह इन्द्र जीतने योग्य धन और यशको प्राप्त करनेके लिए अकेलेही वृत्रोंको मारता है, इसीलिए वह तेजस्वी होता है । शत्रुओंको मारकरही तेज प्राप्त किया जाता है ॥ ३ ॥

हे इन्द्र ! पर्वतोंके किलोंमें रहनेवाले, बलवान्, युद्धोंमें शत्रुओंको जीतनेवाले और घोडोंकी सहायतासे शत्रुओंपर आक्रमण करनेवाले इन्द्रके उत्साहका हम वर्णन करते हैं ॥ ४ ॥

हे इन्द्र ! जिस बलसे तुमने सूर्यादिको चमकाया, उस बलके साथ तुम इस आसन पर विराजमान होओ ॥ ५ ॥

३९१ तवेदु ता चित् त उक्थिनो ऽनु ष्टुवन्ति पूर्वथा । वृषपत्नीरपो जया दिवेदिवे ॥ ६ ॥
३९२ तव त्यदिन्द्रियं बृहत् तव शुष्ममुत क्रतुम् । वज्रं शिशाति धिषणा वरेण्यम् ॥ ७ ॥
३९३ तव द्यौरिन्द्र पौंस्यं पृथिवी वर्धति श्रवः । त्वामापः पर्वतासश्च हिन्विरे ॥ ८ ॥
३९४ त्वां विष्णुर्बृहन् क्षयो मित्रो गृणाति वरुणः । त्वां शर्धो मदत्यनु मारुतम् ॥ ९ ॥
३९५ त्वं वृषा जनानां मंहिष्ठ इन्द्र जज्ञिषे । सत्रा विश्वा स्वपत्यानि दधिषे ॥ १० ॥
३९६ सत्रा त्वं पुरुष्टुत एको वृत्राणि तोशसे । नान्य इन्द्रात् करणं भूय इन्वति ॥ ११ ॥

अर्थ— [३९१] हे इन्द्र ! (ते तत्) तेरे उस बलकी (पूर्वथा अद्य चित्) पहलेके समान आज भी (उक्थिनः अनुष्टुवन्ति) स्तोतागण प्रशंसा करते हैं। तुम (वृष पत्नीः अपः) बरसनेवाले मेघोंकी पत्निरूप जलोंको (दिवे दिवे) प्रतिदिन (जय) जीतो ॥ ६ ॥

[३९२] हे इन्द्र ! (तव त्यद् बृहत् इन्द्रियं) उस तेरे महान् पराक्रम, (शुष्मं) बल (उत) और (क्रतुं) कर्म तथा (वरेण्यं वज्रं) स्वीकारने योग्य वज्रका (धिषणा शिशाति) स्तुति गुण वर्णन करती है ॥ ७ ॥

[३९३] हे इन्द्र ! (द्यौः) द्युलोक (तव पौंस्यं) तुम्हारे बलको तथा (पृथिवी) पृथिवी (श्रवः) तुम्हारे यशको (वर्धति) बढाती है। (त्वां) तुम्हें (आपः पर्वतासः च) जल तथा मेघ (हिन्विरे) प्रसन्न करते हैं ॥ ८ ॥

द्यौः तव पौंस्यं श्रवः वर्धति– द्युलोक तेरे पौरुषका और यशका वर्णन करता है।

[३९४] हे इन्द्र ! (बृहन् क्षयः) महान् निवासका हेतु (विष्णुः मित्रः, वरुणः) विष्णु, मित्र और वरुण (त्वां गृणाति) तेरी स्तुति करते हैं (मारुतं शर्धः) मरुतोंका बल भी (अनु मदति) तुझे उत्साहित करता है ॥ ९ ॥

[३९५] हे इन्द्र ! (त्वं वृषा) तुम बलवान् हो, और (जनानां) जनोंके बीचमें (मंहिष्ठः जज्ञिषे) सबसे महान् समझे जाते हो, तुम (सु-अपत्यानि सत्रा) सुन्दर पुत्रादिके सहित (विश्वा) सम्पूर्ण धनोंको (दधिषे) धारण करते हो ॥ १० ॥

[३९६] हे (पुरु-स्तुत) बहुतोंसे प्रशंसित इन्द्र ! (त्वं) तुम (एकः) अकेलेही (वृत्राणि सत्रा) शत्रुओंको एक साथ (तोशसे) मारते हो, (इन्द्रात् अन्यः) इन्द्रसे भिन्न कोई दूसरा ऐसा (करणं) कर्म (भूयः न इन्वति) वारंवार नहीं कर सकता ॥ ११ ॥

सत्रा– एक साथ, महान् ' महन्नामैतत् इति सायणः '

भावार्थ— हे इन्द्र ! तेरे उस बलकी पहलेके समान आज भी स्तोतागण प्रशंसा करते हैं। अतः तुम बरसनेवाले मेघोंके जलोंको प्रतिदिन बरसाओ ॥ ६ ॥

हे इन्द्र ! तेरा पराक्रम, बल, कर्मशक्ति और श्रेष्ठ वज्र इनकी हमारी बुद्धि प्रशंसा करती है ॥ ७ ॥

द्युलोक इस इन्द्र बलका तथा पृथिवी इन्द्रके यशका वर्णन करके उसका यश बढाती है, तब जल तथा मेघ भी उस इन्द्रको प्रसन्न करते हैं ॥ ८ ॥

जो सब प्राणियोंके निवासको सहज बनानेवाले हैं, ऐसे विष्णु, मित्र और वरुण भी इस इन्द्रकी स्तुति करते हैं और मरुतोंका बल भी इसउस इन्द्रको उत्साहित करता है ॥ ९ ॥

हे इन्द्र ! तुम जनोंको बीचमें सबसे महान् हो। उत्तम पुत्रोंके साथ सब धनोंको धारण करते हो। सभी प्राणी इन्द्रके पुत्र हैं, पर उत्तम कर्म करनेवाले पर इन्द्रका स्नेह अधिक रहता है ॥ १० ॥

हे इन्द्र ! तुम अकेलेही वृत्रोंको एक साथ मार देते हो। ऐसे कार्यको इन्द्रसे भिन्न दूसरा कोई नहीं कर सकता ॥ ११ ॥

३९७ यदिन्द्र मन्मशस्त्वा नाना हवन्त ऊतये । अस्माकेभिर्नृभिरत्रा स्वर्जय ॥ १२ ॥
३९८ अरं क्षयाय नो महे विश्वा रूपाण्याविशन् । इन्द्रं जैत्राय हर्षया शचीपतिम् ॥ १३ ॥

[१६]

(ऋषिः- इरिम्बिठिः काण्वः । देवताः- इन्द्रः । छन्दः- गायत्री ।)

३९९ प्र सम्राजं चर्षणीनामिन्द्रं स्तोता नव्यं गीर्भिः । नरं नृषाहं मंहिष्ठम् ॥ १ ॥
४०० यस्मिन्नुक्थानि रण्यन्ति विश्वानि च श्रवस्या । अपामवो न समुद्रे ॥ २ ॥
४०१ तं सुष्टुत्या विवासे ज्येष्ठराजं भरे कृत्नुम् । महो वाजिनं सनिभ्यः ॥ ३ ॥
४०२ यस्यानूना गभीरा मदा उरवस्तरुत्राः । हर्षुमन्तः शूरसातौ ॥ ४ ॥

अर्थ— [३९७] हे (इन्द्र) इन्द्र ! (यत्) जिस समय (ऊतये) संरक्षणके लिए (त्वा) तुम्हें लोग (मन्मशः) स्तोत्रसे (नाना हवन्ते) अनेक प्रकारसे बुलाते हैं, (अत्र) उसी समय (अस्माकेभिः नृभिः) हमारे नेताओंके साथ रहकर (स्वः जय) धनोंको जीतो ॥ १२ ॥

[३९८] हे स्तोता ! (नः महे क्षयाय) हमारे बडे निवासके लिए तथा (जैत्राय) जयके लिए (विश्वा रूपाणि आ विशन्) सम्पूर्ण रूपोंमें रहकर तुम (अरं शचीपतिं इन्द्रं हर्षय) सामर्थ्यवान्, शक्तियोंके स्वामी इन्द्रको प्रसन्न करो ॥ १३ ॥

[१६]

[३९९] हे स्तोता ! (चर्षणीनां सम्राजं) मनुष्योंके सम्राट् (गीर्भिः नव्यं) स्तुतियोंसे प्रशंसनीय (नरं) नेता (नृ-षाह) शत्रुको पराजित करनेवाले (मंहिष्ठं) सबसे महान् (इन्द्रं प्र स्तोत) इन्द्रकी प्रशंसा करो ॥ १ ॥

[४००] (यस्मिन्) जिस इन्द्रमें (विश्वानि उक्थानि श्रवस्या च) सम्पूर्ण स्तोत्र और धन (समुद्रे अपां अवः न) समुद्रमें जल तरङ्गके समान (रण्यन्ति) शोभित होते हैं ॥ २ ॥

[४०१] मैं (ज्येष्ठराजं) महान् राजा, (भरे महः कृत्नुं) संग्राममें महान् कर्म करनेवाले (वाजिनं) बलवान् (तं) उस इन्द्रकी (सनिभ्यः) धन प्राप्तिके लिए (सु-स्तुत्या) उत्तम वाणीसे (आ विवासे) प्रशंसा करता हूं ॥ ३ ॥

[४०२] (यस्य मदाः) जिसके पराक्रम (अ-नूनाः) महान्, (गभीराः) गम्भीर, (उरवः) विस्तृत (तरुत्राः) त्वरासे शत्रुको मारनेवाले (शूरसातौ हर्षुमन्तः) युद्धमें अधिक उत्तेजित होनेवाले हैं [ऐसे इन्द्रकी स्तुति करता हूँ ॥ ४ ॥

भावार्थ— हे इन्द्र ! जिस समय तुझे लोग संरक्षणके लिए बुलाते हैं, उस समय तू उनके पास जा और शत्रुओंको जीतनेमें उनकी सहायता कर ॥ १२ ॥

सब रूपोंमें प्रविष्ट होकर सामर्थ्यवान् इन्द्रको प्रसन्न करो। सब रूपोंमें निरीक्षण करके सर्व व्यापक इन्द्रको वहां देखकर उसे प्रसन्न करो। महान् निवास तथा विजयके लिए इन्द्रको प्रसन्न करो ॥ १३ ॥

हे मनुष्यो ! मानवोंके सम्राट् नेता, शत्रुसेनाका पराभव करनेवाले बडे इन्द्रकी स्तुति करो ॥ १ ॥

जिस तरह समुद्रमें उठनेवाली लहरें समुद्रमेंसेही उठती हैं, और उसीमें लीन भी हो जाती हैं, उसी तरह सभी स्तोत्र उस इन्द्रमेंसे उठते हैं और उसीमें विलीन भी हो जाते हैं ॥ २ ॥

श्रेष्ठ राजा, युद्धमें महान् कर्म करनेवाले बलवान् उस वीरकी प्रशंसा करता हूं ॥ ३ ॥

इन्द्रका उत्साह कभी क्षीण नहीं होता, वह सदा गंभीर रहता है। उसी उत्साहसे प्रेरित होकर इन्द्र सदा शत्रुको मारता है ॥ ४ ॥

भार भारतीय साहित्यके मनीषी विद्वानोंने संभाला। यह अपने अपने क्षेत्रमें वेद और पुराणोंके पूर्ण पंडित थे। इन पौराणिकों का साहित्य सृजनमें पूर्ण अधिकार था। यह वेद विषयोंके पूर्णज्ञाता थे। इन्हींको दक्षिणमें पौराणिक और उत्तरी भारतमें वेद व्यासनामसे सबोधित किया जाता था। मौलिक रूपसे पुराणोंका रचनाकाल वैदिक युगसे ही प्रारंभ होता है। लेखक शिवपूजनसिंह कुशवाहाथ

सदसद्विवेकिनो हंसा नूनं नालीकवल्लभाः।
गुणं गृह्णन्ति नो दोषं क्षीरनीरविवेकिनः ॥१॥
गुणदोषौ बुधो गृह्णन्निन्दुक्ष्वेडाविवेश्वरः।
शिरसा श्लाघते पूर्वं परं कंठे नियच्छति ॥२॥
विद्याविवादाय धनं मदाय बलं परेषां परिपीडनाय।
खलस्य साधोश्च विपरीतमेतत् ज्ञानाय दानाय च
रक्षणाय ॥ ३ ॥
खलः सर्षपमात्राणि परदोषान् पश्यति।
आत्मनो बिल्वमात्राणि पश्यन्नपि न पश्यति ॥ ४ ॥

शिवपूजनसिंह और भागवत अशुद्धियां

(१) जन्माद्यस्य यतोऽन्वयात् – इसमें यतः, अशुद्ध कहा? इससे ज्ञात होता है आपने ब्रह्मसूत्रका पाठ नहीं किया। अथातो ब्रह्मजिज्ञासा जन्माद्यस्य यतः तत्तु समन्वयात्' यहां ब्रह्मशब्दकी अनुवृत्ति है अतः शुद्ध है।

(२) निगमतरोर्गलितम्' में गलित अशुद्ध कहा– पतित शुद्ध कहा। परन्तु गलितका अर्थ है कण्ठतक गया हुआ, मिष्टादि रसका ज्ञापक है 'पतित' शब्द केवल होठोंमें लगकर भी गिर जाता है। अतः पतित अशुद्ध 'पिबत'को अशुद्ध कहा– सुनोऽको शुद्ध 'शुकमुखादमृतद्रव-संयुतम्' अमृत पान किया जाता है, न कि सुना जाता है। इत्यादि –

(७८५) प्रज्ञां राजन्यो दधिमेखलाम्, इसमें राजन्यो-दधि, संधि अशुद्ध बताई इसे 'राजन्यः दधिमेखलाम्' राजा दधिसमुद्रमें खलातक राज्य करता है।

(७८६) स्तुन्वन्ति को अशुद्ध कहा– ष्टुन औनु धातु दोनोंका प्रयोग– स्तुति करते है और प्रणाम करते है।

(७७४,७७६) में छन्दोभंग दोष दिया, इससे ज्ञात होता है आपने पिंगलसूत्र कभी नहीं देखा–

यह उत्तर स्थालीपुलाकन्यायसे लिखा है।

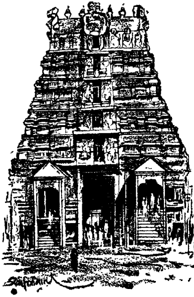
मुद्रक और प्रकाशक- व. श्री. सातवलेकर, भारत मुद्रणालय, पोस्ट- 'स्वाध्याय मण्डल, पारडी' [जि. बलसार]

वैदिकधर्म

अक्टूबर १९७४

१ रु.

★



रामेश्वर मंदिर
पश्चिम द्वारका गोपूर



वैदिक धर्म

वर्ष ५५ : अंक १० : आश्विन : २०३१

स्वामी— स्वाध्याय-मंडल, पारडी [जि. बलसाड]

संस्थापक एवं आद्यसंपादक
श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

संपादक
वसंत श्रीपाद सातवलेकर

विषयानुक्रमणिका

卐

'वैदिक धर्म' वार्षिक मूल्य म. आ. से १०) रु.

वी. पी. से रु. १२) विदेशके लिए रु. १४), डाक व्यय अलग रहेगा।

इस अंकमें प्रसिद्ध किये गये लेखकोंके लेखोंमेंके मतों और विचारोंसे संपादक सहमत है ऐसा नहीं है। उन लेखोंमेंके विचारोंके लिये केवल लेखकही व्यक्तिशः उत्तरदायी हैं।

मंत्री— स्वाध्याय-मण्डल, पो.- 'स्वाध्याय-मण्डल (पारडी)' पारडी [जि. बलसाड]



वैदिक धर्म

गुह्य - अध्यात्म - विद्या

वेनस्तत्पश्यत्परमं गुहा
यद्यत्र विश्वं भवत्येकरूपम् ।
इदं पृश्निरदुहज्जायमानाः
स्वर्विदो अभ्यनूषत व्राः ॥

(अथर्व. २-१-१)



(वेनः तत् परमं पश्यत्) भक्तही उस परमश्रेष्ठ परमात्माको देखता है, (यत् गुहा) जो हृदयकी गुफामें है और (यत्र विश्वं एक-रूपं भवति) जिसमें सम्पूर्ण जगत् एकरूप हो जाता है । (इदं पृश्निः जायमानाः अदुहत्) इसीका प्रकृतिने दोहन करके जन्म लेनेवाले पदार्थ बनाये हैं और इसलिये (स्वर्विदः व्राः) प्रकाशको जानकर व्रत पालन करनेवाले मनुष्यही इसकी (अभ्यनूषत) उत्तम प्रकारसे स्तुति करते हैं ।

जिसमें जगत्‌की विविधता भेदका त्यागकर एकरूपताको प्राप्त होती है और जिसका निवास हृदयमें है, उस परमात्माको भक्त ही अपने हृदयमें साक्षात् देखता है । इस प्रकृतिने उसी एक आत्माकी विविध शक्तियोंको निचोडकर उत्पन्न होनेवाले इस विविध जगत्‌का निर्माण किया है, इसलिये आत्मज्ञानी मनुष्य सदा उसी एक आत्माका गुणगान करते हैं ।

लेखक : श्री पं. वीरसेन वेदश्रमी

यजुर्वेदका प्रथम मंत्र

चारों वेदोंका क्रम महत्वपूर्ण है

वेद चार हैं। उनका क्रम भी नियत है एवं उनके मन्त्रोंका भी क्रम नियत है। इनका विपर्यय करना भी ऋषियोंको इष्ट नहीं था। अतः सृष्टिके प्रारम्भसे ही जब परब्रह्म परमात्मासे ऋषियोंको वेदमन्त्र एवं उनका ज्ञान प्राप्त हुआ तभीसे उनने उन वेदसंहिताओंका संरक्षण उसी क्रमसे, उसी आनुपूर्वीमें करनेका प्रयत्न किया। वे यह अच्छी प्रकार जानते थे कि वेद अपौरुषेय हैं- परमात्माद्वारा प्रदत्त महार्घ ज्ञान-निधि हैं तथा मानवजातिको सदाके लिये पथ-प्रदर्शक भी हैं।

वेदमन्त्रों और उनके पदोंका क्रम भी महत्त्वपूर्ण है

वेदके नाम जब क्रमपूर्वक स्मरण किये जाते हैं तो- ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद- इसी रूपसे स्मरण किये जाते हैं। इस नामक्रममें भी परिवर्तन करना अभीष्ट नहीं है। मन्त्रोंमें क्रमविपर्यय अर्थात् प्रथम मन्त्रके स्थानमें कोई भी मन्त्र करदेना और उनके शब्दोंके क्रममें भी परिवर्तन करना अभीष्ट नहीं। अग्निमीळे पुरोहितं के स्थानपर ईळे अग्नि पुरोहितं- या इषेत्वोर्जेत्वा के स्थानपर -उर्जेत्वाइषे ऐसा भी शब्दक्रमोंका परिवर्तन साध्य नहीं। यदि हम मन्त्रोंके क्रमोंमें परिवर्तन करने लगेंगे तो मन्त्र विकृत हो जावेंगे और उनके क्रममें जो संचित एवं ज्ञान भरा हुआ है उससे हम वंचित हो जावेंगे।

मन्त्रोंमें पद और अक्षरोंका भी क्रम परिवर्तित नहीं करना चाहिये

वेद क्रममें ऋग्वेद प्रथम है। इसका प्रथम मन्त्र अग्निमीळे है। उच्चारण, ध्वनि या भाषाकी दृष्टिसे सर्वप्रथम अ- की ही ध्वनीका ज्ञान आवश्यक है। अतः प्रथम वेद ऋग्वेदके प्रथम मन्त्रका -अ- से प्रारम्भ होना सर्वाधिक स्वाभाविक, उचित एवं वैज्ञानिक तथ्य ही है। इस दृष्टिकोणको ध्यानमें रखते हुए हम यह कहनेको भी उद्यत हैं कि- अग्निमीळे के स्थानमें ईळेअग्निम् ऐसा परिवर्तन करना भी हमें कदापि स्वीकार नहीं है और न ऐसा परिवर्तन स्वीकार होना ही चाहिये। जब इतना भी परिवर्तन मन्त्रमें स्वीकार नहीं है तो अग्निके स्थानपर उसके पर्यायवाची शब्द वह्निमीळे- कैसे स्वीकार हो सकता है? अर्थ और विज्ञानमें ऐसे परिवर्तनोंसे बहुत भेद होजाता है।

परिवर्तनसे हानि

यजुर्वेदका वेदक्रममें द्वितीय स्थान है। प्रथमवेदका प्रथम मन्त्र -अ- से प्रारम्भ हुआ तो द्वितीय वेदका मन्त्र -इ- से (इषेत्वा से) प्रारम्भ होना परम स्वाभाविक, युक्तियुक्त और वैज्ञानिक आधारपर है। यदि इस वेदका प्रथम मन्त्र -इ- से प्रारम्भ न होकर उसके दूसरे पद -ऊर्जेत्वा- से प्रारम्भ होता या दूसरे मन्त्र -वसोः पवित्रमसि०- से प्रारम्भ होता तो इस वेदको द्वितीय क्रममें माननेका एक वैज्ञानिक आधार नष्ट होजाता। अतः ऋषियोंने वेदोंकी यथावत् रक्षा की है और हमें भी तदनुकूल रक्षा करनी चाहिये।

मन्त्रोंकी आनुपूर्वी अक्षुण्ण रखें

यजुर्वेदके इस प्रथम मन्त्रमें -इषेत्वा और ऊर्जेत्वा- ये दो प्रारम्भके वाक्य है और उनके बाद -वायवस्थ- यह तीसरा वाक्य है। ये वाक्य क्रमशः इ और उ स्वरोंका ज्ञान कराते है। प्रथम वेदने अ, इ, उ, ए, ओ का क्रमशः बोध प्रथम मन्त्रमें कराया था तो यह दूसरा वेद दूसरे स्वर -इ- से प्रारम्भ होकर -इ, उ, ए, ओ का बोध कराता है। -इषेत्वोर्जेत्वा- इसमें वा+ऊ की सन्धि से ओ- का बोध कराया है। ऋग्वेदके प्रथम मन्त्रमें हमने -अपने वेदका प्रथम मन्त्र-

लेखमें अ + उ से –ओ– का प्रतिपादन किया था। इस द्वितीयवेदके मन्त्रमें आ + ऊ से –ओ– की उत्पत्ति स्पष्ट हो है। इ और उ इन स्वरोंके पूर्व अ से ए और ओ की उत्पत्ति ऋग्वेदके प्रथम मन्त्रमें बताई थी। इस मन्त्रमें इ और उ के बाद अ स्वरके आनेसे य और व की उत्पत्ति होती है यह बताया है। मन्त्रके तीसरे पदमें व और य से बा पद -वायवः– ही विद्यमान होना कितना अधिक भाषा-विज्ञानके अनुकूल प्रतीत होता है। इसलिये वेदोंकी, मन्त्रोंकी, पदोंकी, अक्षरों और स्वरोंकी आनुपूर्वी अक्षुण्ण, अपरिवर्तनीय रखना परम आवश्यक है।

यजुर्वेद कर्म प्रतिपादक है

यजुर्वेदके ४०वें अध्यायके द्वितीय मन्त्रमें –कुर्वन्नेवेहकर्माणि जिजीविषेच्छत समाः– के द्वारा शत संवत्सर पर्यन्त या यावज्जीवन पर्यन्त हमें इस संसारमें कर्म करते हुए ही जीवन यापन करनेका उपदेश दिया गया है।

यजुर्वेद जीवन व्यवहारकी शिक्षाका प्रतिपादक है। जीवन कर्म करनेके लिये है। जीवनके कालरूपी कार्ण्डोमें विविध स्थितियोंमें कौनसे कर्म करने चाहिये इसका प्रतिपादक यजुर्वेद, कर्मकाण्डमय है ऐसा प्राचीन कालसे अद्यावधिपर्यन्त स्वीकार किया गया है। यजुर्वेदका प्रथम मन्त्र मनुष्योंके लिये कर्मोंका संक्षेप रूपसे श्रेष्ठतम उद्घोष करता है। वेही कर्म हमारे जीवनके लिये प्रमुख है।

पांच कर्म होते है

कर्म कौनसे करने चाहिये यदि इसका विधान वेद न करे तो कर्त्तव्याकर्त्तव्यका बोध एवं निर्णय कठिन होजावे। वैशेषिक दर्शनसे कर्मको ५ प्रकारका माना है। वह तो कर्मकी दार्शनिकता और कार्यमूलत्वका विज्ञान है। जीवनके कर्तव्य पथका वह प्रदर्शक नहीं है। परन्तु मानवको अपने कर्तव्योंका सुगमतासे सर्व प्रथम ज्ञान करानेके लिये यजुर्वेदके प्रथम मन्त्रमें परमात्माने बोध कराया। इसमें भी पांच प्रकारके कर्मोंका उपदेश निम्न प्रकार दृष्टि गोचर हो रहा है—

यजुर्वेदके प्रथम मन्त्रमें पांच कर्मोंका उपदेश

(१) इषेत्वा = तुझको अन्नके लिये कर्म करनेको प्रेरित करता हूं।

(२) ऊर्ज्जेत्वा = बल, पराक्रम सम्पन्न करनेके लिये प्रेरित करता हूं।

(३) वायवस्थ = शरीरमें प्राणादि हैं तथा कर्म करनेके साधन इन्द्रियादि हैं उनको शक्ति सम्पन्न करके जीवन आयुकी वृद्धिका प्रयत्न करो।

(४) देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे = सवितादेव तुम सबको श्रेष्ठतम कर्म–यज्ञके लिये प्रेरित करते है। अर्थात् यज्ञ करो।

(५) आप्यायध्वम् = उपरोक्त कर्म करते हुए तुम सब उन्नतिको प्राप्त होओ।

यजुर्वेदके प्रथम मन्त्रमें प्रारम्भसे इन पांच कर्मोंका क्रमशः प्रतिपादन किया है। इनका हमारे जीवनमें अत्यन्त महत्व है।

प्रथम कर्तव्य इषेत्वा– (१) अन्न उत्पत्ति

जीवनके लिये प्रथम कर्तव्य अन्नके लिये सभी करते हैं। अन्नके बिना जीवन क्षीण हो जाता है। अतः अन्नकी उत्पत्ति, प्राप्ति, वृद्धि, संग्रह, उपयोग, उपभोगके लिये प्रयत्न करना और अन्नको अन्योंको भी उपभोग–जीवनके लिये प्रदान करना यह हमारा प्रधान एवं प्रथम कर्त्तव्य है। व्यक्ति, समाज एवं राष्ट्रकी यही प्रथम समस्या है। अतः अन्नं बहुकुर्वीततद्व्रतम्– इस व्रतका अवश्यमेव पालन करना चाहिये। इस अन्नको कहते हैं। इस अन्नके लिये कर्म करनेके लिये परमात्माने हमें शरीर दिया है। कर्मके साधन दिये हैं। हमको अकर्मण्य होकर अन्नके लिये पराश्रित हों ? अपने परिश्रमके बहुत अन्न उत्पन्न करें।

द्वितीय कर्तव्य– ऊर्ज्जेत्वा– (२) बल प्राप्ति

जीवनके लिये दूसरा कर्तव्य ऊर्ज अर्थात् बल, पराक्रमके लिये करना चाहिये। व्यक्ति, समाज एवं राष्ट्रको –मानव मात्रको बल–पराक्रमसे सम्पन्न एवं उन्नत होते रहना चाहिये। बलहीन व्यक्ति, समाज या राष्ट्र अवनत अवस्थामें जीवन व्यतीत कर दुख दारिद्रय एवं परतन्त्रके पाशोंसे सदा पीड़ित रहता है। अतः प्रथम मन्त्रमें अन्नके साथ बल–पराक्रमयुक्त होनेके लिये आदेश दिया है। विद्या, बुद्धि, नीति,, अर्थ भौतिक साधन अस्त्र–शस्त्र, मैत्री आदि भी बलके अनेक प्रकार हैं। इन सब बलोंसे युक्त होना चाहिये।

तृतीय कर्त्तव्य – वायवस्थ – (३) आयुवृद्धि

शरीरमें प्राणादि वायु हैं और अन्तरिक्षमें भी वायु प्राणरूपसे है। – अन्न और जलमें भी वायु अर्थात् प्राण हैं। वायुसे आयु बन रही है। यही प्रमुख जीवनाधार है। प्राणादि वायुओंमें स्व– स्थित होना– प्राणायामादि द्वारा प्राणको बलवान् बनाकर जीवन– आयुकी वृद्धि करनेका प्रयत्न अवश्य करना चाहिये। – अन्यथा पूर्वके दोनों कर्म व्यर्थ हो जाते हैं।

वायवःका अर्थ कर्म साधक इन्द्रियां, मन- अन्तः करणादि भी है। इनको भी बलवान् बनाना चाहिये। इनको प्राणायामादिके द्वारा दोष रहित, पवित्र बनाना चाहिये। निर्मल अन्तः करण एवं इन्द्रियोंकी पवित्रतासे मनुष्यके कर्म भी निर्मल- निष्पाप ही होंगे। अतः पूर्वोक्त दोनों कर्मोंके साथ यह तीसरा भी कर्त्तव्य प्रतिदिन करना चाहिये।

चतुर्थ कर्त्तव्य – श्रेष्ठतमाय कर्मणे – (४) यज्ञ करो

मनुष्यका अन्न, बल और आयुके प्रयत्नोंमें संलग्न होना स्वाभाविक ही है। वह इनके लिये प्रयत्न करता ही है। परन्तु इनके लिये प्रयत्न करते हुए मनुष्य कर्त्तव्याकर्त्तव्यको समझ कर प्रवृत्त हो और अकर्त्तव्योंका त्याग करे, इसके लिये परमात्माके प्रेरणाकी आवश्यकता है। वह प्रभु हमें श्रेष्ठ कर्मोंको करनेकी प्रेरणा दें और श्रेष्ठतम कर्मोंके ज्ञानकी भी प्रेरणा प्रदान करें। श्रेष्ठतम कर्मोंके करनेसे मनुष्य सर्वोच्च उन्नति प्राप्त कर सकता है। यह प्रेरणा हमें मनुष्य नहीं दे सकता है। सविता देव, परब्रह्म परमात्मा, सर्वेश्वर ही जो सर्वान्तर्यामी है तथा जो हमारे सखा, पिता और गुरु भी हैं, वही यथार्थ रूपमें दे सकते है। अतः मन्त्रका चतुर्थ वाक्य- देवोवः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे है। अर्थात् हम तुम सबको सकलेश्वर्यके उत्पादक, प्रकाशक एवं दाता, विद्या-विज्ञानादि ऐश्वर्योंके प्रेरक सविता देव, जीवोंको सर्वोच्च श्रेष्ठ कर्मोंकी ओर प्रेरित करते रहें अर्थात् उन कर्मोंमें हमें नियुक्त करते रहें।

इस निमित्त हमें सवितादेवके सावित्रीमन्त्र- गुढमन्त्रसे- धियोयो नः प्रचोदयात् की प्राप्तिके लिये प्रभुकी आराधना, उपासना अवश्य करनी चाहिये। ऐसा करनेपर प्रभु, श्रेष्ठतम कर्म-यज्ञकी प्रेरणा देकर जीवनको यज्ञमय बनादेते हैं। प्रभुके प्रेरित श्रेष्ठतम कर्मको यज्ञही माना गया है। क्योंकि प्रभु श्रेष्ठतम है। अतः उनके प्रेरित कर्म भी श्रेष्ठतम है। यह जीवनकी आध्यात्मिक उन्नतिका क्षेत्र है। इसके अन्तरिक्ष जो बाह्य कर्मकाण्ड रूप यज्ञ है वह भी उसीकी प्रेरणासे- देवसावितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय (यजु. ९।१) यज्ञ और यज्ञपति दोनोंका ही प्रसव दे करनेवाले हैं- अतः बाह्य कर्मकाण्डमय यज्ञादि भी श्रेष्ठतम कर्म हैं- प्रभुकी प्रेरणासे हम उसके करनेवाले बनें ऐसी हमें सामर्थ्य प्रदान हो।

पंचम कर्त्तव्य – आप्यायध्वम् –
(५) सर्वप्रकारकी सबकी उन्नति –

वास्तवमें देखा जावे तो पूर्वोक्त प्रकारके चार कर्मोंका यह फल भी है और पृथक रूपसे भी उन्नतिके लिये स्मरण दिलानेका बोधक है। अन्नकी उन्नतिके लिये बलकी उन्नतिके लिये, आयुकी उन्नतिके लिये, यज्ञकी उन्नतिके लिये और सर्वप्रकारकी सबकी उन्नतिके लिये प्रयत्न करो। सर्वप्रकारकी सबकी उन्नति यज्ञके बिना होही नहीं सकती। जिस कर्मोंसे सबकी उन्नति होती है। वही धर्म है वही यज्ञ है धर्म ही जीवनमें धारण करने योग्य है। धर्मका धारण आचरण- व्यवहारसे ही होता है। अतः यजुर्वेदका प्रथम मन्त्र धर्म-कर्मका प्रतिपादक है। जीवनको यज्ञमय बनाता है।

धर्म–कर्म यज्ञादिका आधार गौ सेवा

मन्त्रमें जीवनके लिये प्रधान रूपसे प्रारम्भके ५ वाक्योंमें धर्म-कर्मका उपदेश स्पष्ट रूपसे प्राप्त होता है। परन्तु मन्त्र अभी पूरा नहीं होता। अभी तो उसका एक तृतीयांश भाग पूर्ण हुआ है। इसमें कर्मोंका उपदेश है परन्तु अवशिष्ट भागोमें इनके सहायक कर्मोंका उल्लेख है। द्वितीय भागमें गौके लिये ही पांच कर्मोंको पूर्वोक्त पांच कर्मोंका पूरक मानकर पांच प्रकारसे गौ सेवाका विधान किया गया है।

गौकी पंच–प्रकारकी सेवा

(१) अघ्न्याः = गौ अहिंसनीय है- यह बढाने योग्य है अर्थात् गोरक्षा करनी चाहिये।

(२) इन्द्रायभागम् = परमेश्वर्यकी प्राप्तिके लिये इसकी सेवा प्रीतिपूर्वक करनी चाहिये।

(३) प्रजावतीः = गोवंशकी वृद्धि करनी चाहिये।

(४) अनमीवाः = इनकी रोगादिसे रक्षाका पूर्ण प्रयत्न करना चाहिये।

(५) अयक्ष्माः = इनका शरीर दुर्बल न हो अपितु हृष्टपुष्ट, तेजस्वी हो, ऐसा प्रयत्न करना चाहियें।

पूर्वोक्त पांच कर्मोंसे क्रमशः गौकी पंच सेवाका सम्बन्ध

(१) गोरक्षा–अघ्न्या

' इषेत्वा ' प्रथम आदेश है। इस निमित्त अर्थात् अन्नकी उत्पत्ति और पृथिवीकी उत्पादन सामर्थ्य बढानेके लिये गौही परम सहायक है। इस मन्त्रमें सर्वप्रथम अघ्न्याः

गौको अहिंसनीय घोषित किया । इसकी रक्षा करो । भूमि जोतनेके लिये बैल मिलेंगे । इनसे भूमिको गोबर व गोमूत्र प्राप्त होगा । उससे भूमिमें उत्पादन शक्ति बढेगी । उस भूमिसे उत्पन्न अन्नमें विशेष रस, स्वाद और बल-सामर्थ्य होता है । और सात्विकता भी होती है । बुद्धि निर्मल होती है । अतः इषेत्वा इस प्रथम कर्तव्यके लिये *अघ्न्याः* गोरक्षा अहिंसनीयताके प्रयत्नका उपदेश है ।

(२) गोसेवा-इन्द्रायभागम्

ऊर्ज्जेत्वा इस दूसरे कर्म अर्थात् बल प्राप्तिके लिये इन्द्रायभागम् परमैश्वर्य पराक्रमके लिये भागम् भजनीय, सेवा करने योग्य गौको बताया है । इन्द्रका सम्बन्ध बलसे है । इन्द्रको वेदमें गोपति माना गया है । अतः परमेश्वर्य, बल-पराक्रम आदिकी प्राप्तिके लिये गौकी सेवा करना चाहिये । गौके दूध, दही, तक्र, नवनीत और घृतादिसे, उसकी पयस्या और आमिक्षा (पनीर) आदिके सेवनसे शारीरिक और बौद्धिक बल बढते हैं तथा आरोग्यता प्राप्त होती है । यदि गौकी सेवा करके गोमाताकी प्रसन्नतासे उसका दोहन किया जाता है । तो गौ उस सेवकको अपना वत्स सदृश मानकर अपने दूधमें प्रेम, स्नेह, प्रसन्नता और आशीर्वाद आदिके साथ अमृतका संचार कर देती है । बिना गौसेवाके प्राप्त दूधमें स्नेह हीनता, आशीर्वादका अभावही रहता है । अमृत रहित वह दूध-मृत दूध सेपरेटा तुल्य होजाता है । अतः ऊर्जेत्वा बल पराक्रमके लिये गोसेवा अत्यन्त आवश्यक है ।

(३) गोवंशवृद्धि प्रजावती

वायवस्थ तीसरा कर्म है हमारे शरीरमें १० प्राण एवं १० इन्द्रियां हैं । इन प्राणोंके और इन्द्रियोंके बल-जीवनकी वृद्धि, प्राणोंकी पुष्टि और वृद्धिके लिये गोवंशकी वृद्धि आवश्यक है जिससे सदैवही हमारे प्राण एवं इन्द्रियां पुष्ट होती रहें । वेदमें कहा है- इह गाव, प्रजायध्वम् हमारे घरोंमें गायें बहुत हों- बहुत उत्पत्ति करें- बहुत वत्सवाली हों । अधिक गायोंसे गोष्ठही अपना घर बन जाता है । गोष्ठ बननेसे घरका वातावरण पवित्र हो जाता है । वह पवित्र तीर्थस्थल बन जाता है । उन गोष्ठोंमें बैठकर वायवः विविध प्रकारके जो प्राण है और उनके अभ्याससे अर्थात् प्राणायाम करनेसे प्राण पुष्ट होते है और दीर्घजीवन प्राप्त होते हैं । इन्द्रियोंका बल, तेज भी बढता है । अन्तः करण चतुष्टय निर्मल होता है । यदि इन गोष्ठोंमें प्राणायामके साथ उपासना, सन्ध्या ध्यान, गायत्री प्रणवादिका जाप किया जावे तो समाधिकी भी सिद्धि शीघ्र होती है । शरीरका नवीन काया कल्प भी होता है । चरकने कायाकल्प प्रयोगके लिये गवांमध्ये वसंत् सवासावित्री चाप्यधीयीत- प्रयोग बताया है । अतः वायवस्थः के साथ प्रजावतीःका सम्बन्ध है ।

(४) गौकोरोग रहित रखना अनमीवाः

श्रेष्ठ तमाय कर्मणे- यह चौथा कर्म वेदने बताया है । श्रेष्ठतम कर्म यज्ञ होमही है । यज्ञ होमादिके लिये गौके घृत, दूध, दही, पायस, पयस्या, आमिक्षा आदिकी आवश्यकता होती है । यदि गौवें अमीवा अर्थात् रोगयुक्त होंगी तो दुग्धादि कम मात्रामें मिलेगा और जो मिलेगा भी वह भी रोगयुक्त होनेसे हवि योग्य नहीं होगा न सेवन योग्यही होगा । उससे हवि कर्म करनेसे श्रेष्ठतम कर्म यज्ञकी श्रेष्ठतमता नष्ट होगी और लाभके स्थान पर हानि होनेकी संभावना होगी और कर्ममें द्रव्याभावसे अवरोध होगा । अतः श्रेष्ठ तमाय कर्मणेकी पूर्तिके लिये गौओंको अनमीवाः रोग रहित बनानेका प्रयत्न अत्यन्त आवश्यक है ।

(५) गौओंकी पुष्टि- अयक्ष्मा

पांचवा मुख्य कर्म- आप्यायध्वम्- वृद्धि-उन्नतिको प्राप्त होनेका वेदने उपदिष्ट किया है इसके लिये सहायक कर्म गौकी सेवा-अयक्ष्मा यक्ष्मादि रोग रहित रखनेका बताया है । यक्ष्मा रोगमें शरीरकी धातुओंकी क्षीणता, बलादिकी क्षीणता, प्राणोंका ह्रास होता है । क्षीणता, शोष सूखना आदि वृद्धिमे विपरीत स्थितियां हैं अतः आप्यायध्वम्- वृद्धि, उन्नति आदिके लिये- अयक्ष्माः को स्थिति गौओंमें रहे ऐसा प्रयत्न मनुष्यको सदा अपनी उन्नतिके लिये करना चाहिये ।

गौकी पांच सेवाके लिये पांच सहायककर्म

इस प्रकार पांच प्रमुख कर्मोके लिये गौकी पांच प्रकारकी सेवाका उपदेश प्रथम मन्त्रमें दिया गया है । परन्तु अभी मन्त्र पूरा नहीं हुआ क्योंकि अभी कुछ सहायक कर्म हमारे लिये और ज्ञातव्य हैं और वे भी पांच हैं । उनका भी उल्लेख क्रमशः है । अतः गौसेवाके लिये पांच कर्मोके लिये पांच और भी कर्तव्य निम्न प्रकार करनेका मन्त्रके अन्तिम भागमें उपदेश है-

(१) माव स्तेन ईशत = गौ घाती एवं गौ चोर समर्थ न बनें ।

(२) मा अघशंसः = पापी एवं पाप प्रशंसक या पाप कर्म समर्थक समर्थ न बने ।

(३) ध्रुवा अस्मिन् गोपतौ स्यात बह्वीः = गोपतिके पास बहुतसी गौवें सदा रहें । अर्थात् बिना गौओंके नहीं रहना चाहिये ।

(४) यजमानस्य = गोपति बनकर यज्ञ करें । यजमान बनकर यज्ञ रचाने चाहिये ।

(५) पशून्पाहि = गौके अतिरिक्त अन्य पशुओंकी भी रक्षा प्रजाकी भी रक्षा पालन करना चाहिये।

(१) गौके लिये प्रथम सहायक कर्म– गौघाती समर्थ न बनें

मावस्तेन ईशत– का अर्थ है कि तुम्हारी गौवोंको कोई तस्कर, चोर, गोघाती व गो-भक्षक प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपसे, धनादिके माध्यमसे भी ले जानेमें समर्थ न बने। यदि ये समर्थ हो गये तो तुम्हारे पास गौवे रह नहीं सकेंगी और इषेत्वाका– का अन्नका प्रयत्न विफल होगा और उन तस्करों गोघातियोंके पास वे गौवें अघ्न्या अहिंसनीय नहीं रहेंगी– अपितु उनकी हिंसा हो जायगी। अतः अन्न अधिक उत्पन्न करनेके लिये और पृथिवीको उर्वरा बनानेके लिये गौको अघ्न्याः– अहिंसनीय बनानेके साथ– मावस्तेन ईशत– इस प्रयत्नका भी करना आवश्यक है।

(२) गोघाती और उनके समर्थक समर्थ न बनें

माघशंसः– अघशंस– पापकी प्रशंसा या समर्थन करनेवाले भी समर्थ न हो। अर्थात् जन मतमें गो रक्षकोंका ही बल हो यदि गोघातियों या पापके समर्थकोंका जन बल बढ जायगा तो गोहत्यादि पाप कर्मोंकी वृद्धिही होगी और– इन्द्राय भागके अनुसार उसकी सेवा करनेवालोंकी न्यूनता होनेसे– उर्जेत्वा– बल– पराक्रम वृद्धिका लक्ष्य पूरा नहीं होगा। गौके दुग्धके अभावमें बौद्धिक शक्तिका ह्रास और तामसिक कर्मोंकी वृद्धि होगी।

गौओंकी कमीसे पृथिवीसे उत्पन्न अन्न, फलादिमें शुष्कता, रसहीनता, बल, तेजकी न्यूनताही होगी। अतः उर्जेत्वाके साथ– इन्द्राय भागं और माघशंसःका प्रयत्न आवश्यक है।

(३) सदा बहुत गौवें हो-हम गोपति बनें

तीसरा सहायक प्रयत्न गोपति बननेकी भावना है और बहुतसी गौवोंकी रक्षा एवं पालन करके गोपति– गोपाल यथार्थमें बनता है। प्रत्येक व्यक्ति गोपाल हो– उसके पास निश्चयसे निश्चल– ध्रुव रूपसे बहुत गौवें होनी चाहिये और यह गोपतिभ्यां (ऋ. ८।१४।२) यह भावना उचित रहनी चाहिये। इसका सम्बन्ध गौकी सेवाके तीसरे कर्म– प्रजावती–से है ही और– प्रजावतीः रूपसे गोसेवाका सम्बन्ध बाधवस्य–से पूर्व बतायाही है।

(४) यजमान बनना

चतुर्थ मुख्य कर्तव्य श्रेष्ठतम कर्म– यज्ञोंका करना बताया गया है। उसका सहायक भी सेवाकर्म– अममीवाः– गौवोंको रोग रहित रखना है। रोग रहित रखकर गौवोंके घृतादिसे यज्ञ करनेके लिये यजमान बने बिना यज्ञ हो ही नहीं सकता अतः सहायक कर्म यजमान बननेकी भावनासे ही पूर्ण हो सकेगा– अन्यथा नहीं। गोपति बन कर तो गौ दूध व घृतादिका अपने ही उपयोगमें लेनेका कर्म प्रचलित हो जाता है। गोपतिके साथ यज्ञ करने और यजमान बननेकी भावनासे प्राणिमात्रके कल्याणकी भावना जागृत होती है और जीवन यज्ञमय– पुण्यमय बन जाता है।

(५) पशुओं और प्रजाका पालन

पंचम मुख्य कर्तव्य आप्यायध्वम्– कहा गया है। पशुओंके रक्षण तथा प्रजाके पालनसे सबकी वृद्धि ही होगी। यजमानके पशु और प्रजाके रक्षणसे यज्ञका वंश परम्परानुगत प्रचलन होता है और– यजमानस्य पशून् पाहि– एकही वाक्य बन जाता है।

इस प्रकार यजुर्वेदका प्रथम मन्त्र जीवनके महान् कर्तव्यका बोध कराता है। ॐ ॐ ॐ

वाचकोंका पत्रव्यवहार

श्रीमन्नमस्ते,

मैंने वैदिकधर्म अगस्त, १९७४, पढा—

उसमें ' अदृश्य सोमरसकी प्राप्तिका समाचार पढा। विद्वान् लेखकका लेख बहुत अच्छा है।

स्वर्गीय वैदिक ऋषि श्री पंडित श्रीपाद दामोदरजी सातवलेकरने लिखा की सोमलता हिमालय पर्वतपर (मौजवान)– जहां बर्फानी पीपल होता है, उसके नीचे सोमलता उगती है– उसमें शुक्लपक्षमें एक एक पत्ता लगता है और कृष्ण पक्षमें एक एक गिरता है– मैंने उसपर पंडितजीको लिखा कि यह पर्वत विशिष्टसे उपर कुल्लू में है और इसका नाम मौशवन है– वहां बर्फेली पीपल फलश या भुर्ज पत्र हो सकता है– मैंने वहां जाकर बहुत जडी बूटियों तथा वेलोंके पत्ते इकट्ठा किये और रातको बाहर रखकर देखा कि कोई पत्ता चमकता है या नहीं · परन्तु कोई ना चमका– यदि सोमलताका होता तो चमकता—

जहांतक मुझे याद है पंडितजीने कभी नहीं लिखा सोम गायका मुत्र है– सोम गिलो भी हो सकता है—

गिलोकी बेल होती है– इसमें अलग अलग एक एक पत्ता लगता है परन्तु गिलोके पत्ते शुक्लपक्ष तथा कृष्ण पक्षमें तिथीवार लगते और गिरते नहीं– गिलोके गुण वैद्य लोग जानते हैं।

मैंने वैदिक धर्ममें पहला लेख अदृश्य सोमरसकी प्राप्तिका शुभ समाचार पढा परन्तु खोदया पहाड तो निकला चूहा—

कृपा करके " वैदिकधर्म " का standard ऊंचा रखें।

—श्री धर्मजीत घोष, कुल्लू

महाभारतकी समालोचना

(भाग दूसरा)

महाभारत कालीन देशव्यवस्था ।

महाभारतका काल कौरव पांडवोंका समय समझना चाहिये । महाभारत ग्रंथकी रचनाका समय इससे बहुत ही आधुनिक है । महाभारत कालमें अर्थात् कौरव पांडवोंके समय तथा उससे पूर्वके समय इस भूपृष्ठपर विविध देशोंकी व्यवस्था किस प्रकार थी, यह बात विचार पूर्वक जानना आवश्यक है । उस समयके भूगोलका ठीक ठीक ज्ञान होने पर ही संपूर्ण पौराणिक कथाओंका इतिहास समझमें आना संभव है, अन्यथा नहीं । इसलिये इस लेखमें इस प्राचीन भूगोलिक देशव्यवस्थाका विचार करनेका संकल्प किया है । देशोंका विचार करनेके समय सबसे प्रथम 'देवलोक' का विचार करना आवश्यक है; क्योंकि देवलोकका निश्चय होते ही उसके संबंधसे अन्यान्य देशोंका निश्चय सुगमताके साथ हो सकता है । इसलिये सबसे प्रथम देवलोकका हम निश्चय करते हैं । —

देवलोक ।

कोशोंमें देवलोकके नाम ये हैं- स्वर्गलोक, अमरलोक, स्वर्लोक, सुवर्लोक, सुरलोक, द्युलोक, वृन्दारकलोक, त्रिदिव, त्रिदशालय, त्रिविष्टप किंवा विष्टप । इन नामोंमें विष्टप अथवा त्रिविष्टप शब्द विशेष विचारणीय है—

त्रिविष्टप ।

'त्रिविष्टप' शब्दका अपभ्रंशरूप आजकल 'तिब्बत' है । यह प्रदेश हिमाचलकी उत्तर दिशामें है । संस्कृतमें विष्टप और त्रिविष्टप शब्द एकही अर्थमें आता है । 'विष्टप' शब्द 'विश्' धातुसे बना है, विश् धातुका अर्थ अन्दर घुसना, प्रवेश करना, अर्थमें सुप्रसिद्ध है, अतः इसका धात्वर्थ यह होता है कि प्रवेश करने योग्य प्रदेश । 'त्रि-विष्टप' शब्दका अर्थ तीन मार्गोंसे प्रवेश करने योग्य प्रदेश । तिब्बतके दृश्योंकी सुन्दरता और मनोहारिताके कारण हरएक मनुष्य वहां प्रवेश पानेकी चेष्टा करता है और उस देशको पहुंचनेके तीन मार्ग हैं यह पता इन शब्दोंके विचारसे लगता है । त्रिविष्टपमें जानेके संभवतः अनेक मार्ग होंगे, परन्तु सब मार्ग सुगम नहीं हैं, केवल तीनही सुगम मार्ग हैं, इतनाही इसका तात्पर्य समझना योग्य है । आजकल भी तिब्बतमें पहुंचनेके लिये सुगम मार्ग तीन ही हैं, परन्तु दुर्गम मार्ग कई हैं । सब लोग जिनसे जा सकते हैं ऐसे केवल तीन ही हैं । मनुष्य प्रयत्नसे आजकल अधिक बन सकेंगे परन्तु जिस समयका विचार हम कर रहे हैं, उस समय केवल तीन ही थे, इतना भाव इस 'त्रि-विष्टप' शब्दसे ध्वनित होता है ।

इस त्रिविष्टपमें अर्थात् स्वर्गलोकमें देव रहते थे । प्रायः संस्कृतमें 'लोक' शब्द 'देश' किंवा 'राष्ट्र' वाचक है, इससे यह अर्थ बनता है, कि 'देवलोक' शब्द 'देवोंका देश' अथवा 'देवोंका राष्ट्र' इस अर्थमें ही प्रयुक्त होता है । 'देवराष्ट्र'

शब्द संस्कृतमें भी है। तथा महाराष्ट्रमें 'देवराष्ट्र' नामकी एक जाती भी है और इस नामका ग्राम भी है। जिला सातारामें देवराष्ट्र डाकखाना भी है। यह ग्राम प्रथमतः उन लोगोंने बसाया जोकि पूर्वोक्त देवोंके राष्ट्रसे वीर यहां आकर बसे थे। हम आगे जाकर बतायेंगे कि इस तिब्बतकी देव जातीके लोगोंने भारत वर्षमें आकर कई ग्राम और नगर बसाये हैं, उनमेंसे यह भी एक नगर है। तिब्बतमें इस प्राचीन कालमें जो मनुष्य रहते थे वे अपने आपको 'देव' नामसे संबोधित करते थे। यह एक बात यदि ठीक प्रकार समझमें आवेगी, तो बहुत सारी पुराणकी कथाएं समझमें आ सकती हैं।

जिस प्रकार बंगालके लोग अपने आपको बंगाली कहते हैं और चीन देशके लोगोंको चीनी कहते हैं उसी प्रकार इस देवराष्ट्र किंवा देवलोकके वासियोंका नाम 'देव' था। अर्थात् ये भी मनुष्य ही थे। इतनी सीधी बात बहुत लोग भूलते हैं, इस कारण महाभारतकी कई कथाएं उनके समझमें नहीं आतीं और किसी समय कई लोग अर्थका अनर्थ भी करते हैं। जिस समय पाठक लोग असुर दानव तथा राक्षस आदि लोगोंका वर्णन इस लेखमें पढ़ेंगे, उस समय उनका निश्चय हो जायगा कि वे भी मनुष्य ही थे, परंतु विभिन्न देशोंमें रहनेके कारण उन विभिन्न जातीयोंके ही ये विभिन्न नाम उस समय प्रसिद्ध थे।

पुराणों और इतिहासोंकी कथाओंका मनन करनेके समय यौगिक अर्थको बीचमें मरोडकर लाकर भी कई लोक इनका इतिहासिक सत्य नष्ट भ्रष्ट करनेका निंदनीय यत्न करते हैं। उनके प्रयत्नका निकृष्ट रूप भी इस लेखमें व्यक्त हो जायगा। हम यह कदापि नहीं कहते, कि इन देव आदि शब्दोंका यौगिक भाव नहीं है। हमारा भी पक्ष है कि इन शब्दोंका यौगिक अर्थ भी है, परन्तु वह अर्थ आध्यात्मिक— तत्त्वज्ञानविषयका विचार करनेके समय उपयोगी है। इतिहासिक खोजके लिये वह अर्थ लेना योग्य भी नहीं है।

निरुक्तकार आध्यात्मिक अर्थकी सूचना यौगिक अर्थके द्वारा बताते हुए इतिहासिक तात्पर्य भी साथ साथ बताते हैं, इसका कारण भी यही है। नैरुक्त यौगिक अर्थ लेनेपर भी उन शब्दोंका अन्य स्थानमें प्रगट होनेवाला इतिहासिक आदि अर्थ खोया नहीं जा सकता। अस्तु तात्पर्य इतनाही है, कि इतिहासिक प्रसंगमें देवजातीके मानवोंकी खोज हम प्राचीन तिब्बतमें कर सकते हैं। अर्थात् ये तिब्बतमें रहनेवाले देवजातीके लोग थे। देव शब्दका आध्यात्मिक तथा यौगिक अर्थ भिन्न है और उस अर्थके होते हुए भी देवजातीके लोगोंका प्राचीन समयमें अस्तित्व मारा नहीं जा सकता।

ये 'देव' नामक जातीके लोग त्रिविष्टप अर्थात तिब्बतमें रहते हुए भारत वर्षमें समय समयपर आते थे और यहांके वीरोंसे लडते थे, किसी समय यहांके राजाओंसे मित्रता भी करते थे, यहांकी स्त्रियोंसे शरीर सम्बन्ध करके सन्तान भी उत्पन्न करते थे, और कभी कभी आर्यावर्तके वीरोंद्वारा पराभूत भी होते थे। तात्पर्य दो विभिन्न मानव जातियोंमें जो जो सामाजिक और राजकीय सम्बन्ध होना सम्भव है, वे सब सम्बन्ध इन भारतवर्षीय आर्य लोगों और त्रिविष्टप देशीय देवलोगोंके प्राचीन समयमें होते थे; इसके कुछ उदाहरण हम विस्तार रूपसे आगे देंगे परन्तु सूचनार्थ यहां भी दिये जाते हैं—

१ देवोंके राजा इन्द्रका कुन्तीसे शरीर सम्बन्ध होकर अर्जुनकी उत्पत्ति होना,
(म० आदि० अ० १२३ श्लो० २२-२५)

२ अर्जुनका इंद्रसे युद्ध होकर इंद्रका पराभव होनेका वृत्तांत खाण्डवदाह पर्वमें पाठक देख सकते हैं। (म० भा० आदि० अ० २२९)

३ दशरथ राजा देवराज इन्द्रकी सहायता करनेके लिये स्वर्गमें गया था और असुरोंके साथके युद्धमें उसने देवोंके पक्षमें रह कर युद्ध किया था। (रामायण अयोध्या० सर्ग १२ श्लोक० १८-१९)

४ अर्जुन शस्त्रास्त्र विद्या सीखनेके लिये स्वर्गमें इंद्रके पास जाकर रहा था।
(म० भा० वन. अ. ४४-४५)

इस प्रकारकी सैकडों कथाएँ इतिहासमें और पुराणग्रंथोंमें हैं और वह न्यूनाधिक भेदसे सब लोग

जानते भी हैं इनसे सिद्ध है, कि 'देव' भी एक प्रकार के मनुष्यही थे और वे तिब्बतमें रहते थे। भारत भूमिमें जो मनुष्य रहते थे, वे आर्य कहलाते थे और मनुष्य आदि भी उनके नाम थे। और इनसे असुरादिकोंकी भिन्न जाती थी। इस देवजातीके मनुष्य रूप होनेकी सिद्धता करनेके लिये 'देवयोनि' के लोगोंका भी विचार करना चाहिये—

देवयोनिः।

इस शब्दका अर्थ यह है– 'देवाः योनिः उत्पत्तिस्थानं येषां देवयोनयः।' (अमरव्याख्या भट्टोजी दीक्षित) अर्थात् 'देवही जिनकी उत्पत्तिके कारण हैं।' इस अर्थका अंतर्गत भाव यह है कि देवोंके पितृसंबंधसे इन देवयोनियोंकी उत्पत्ति हुई। यह उत्पत्ति यद्यपि देवोंसेही अर्थात् पूर्वोक्त देवजातीके पुरुषोंसे हुई है, तथापि देवजातीसे भिन्न अन्य जातीकी स्त्रियोंसे हुई है। इतनी विशेष बात यहां स्मरण रखना चाहिये।

जिस प्रकार अपने हिंद देशमें युरोपीयन पुरुषोंके संबंधमें हिंदी स्त्रियोंमें संतति आजकल होती है और उस संततीका नाम 'युरेशियन' अर्थात (युर् + एशियन् =) युरोपीयन और एशियनसे उत्पन्न संतती कहते हैं; ठीक उस प्रकार देव जातीका पुरुष और अन्य जातीकी स्त्री इनसे उत्पन्न संतति 'देवयोनि' नामसे उस समय प्रसिद्ध थी। स्वजातीकी विवाहित स्त्रीके अंदर संतान उत्पन्न करना धर्मकी बात है, परंतु इस प्रकार कामेच्छासे प्रेरित होकर पराजित देशकी नारियोंमें संतति उत्पन्न करना कोई विशेष प्रशंसनीय बात नहीं है। यह 'देवयोनी' नामकी संतति इस बातका स्पष्ट विज्ञापन दे रही है, कि देवजातीके पुरुषोंमें ब्रह्मचर्यका उतना तीव्र तप नहीं था, जितनाकी लोग वर्णन करते हैं। ये देवयोनीके लोग मिश्रित संततिके लोग थे। तिब्बतके देवजातीके पुरुषोंका वीर्य और तिब्बतके आसपासकी पहाडियोंकी स्त्रियोंका रज इनके मिश्रणसे 'देवयोनी' जातियोंकी उत्पत्ति हुई थी। ये देवयोनी नामकी जातियां दस गिनी हुई हैं। देखिये—

> विद्याधराप्सरोयक्षरक्षोगन्धर्वकिन्नराः।
> पिशाचो गुह्यकः सिद्धो भूतोऽमी देवयोनयः॥
> (अमरकोश १।११)

'विद्याधर, अप्सरस्, यक्ष, रक्षस्, गंधर्व, किन्नर, पिशाच, गुह्यक, सिद्ध और भूत ये दस देवयोनी जातियोंके लोग हैं।' अर्थात् देवयोनीके अंदर दस जातियोंके लोग हैं। पाठक पूछ सकते हैं कि देवयोनीके अंदर दस जातीयां क्यों उत्पन्न हुई? इसका वास्तविक तत्त्व देखनेके लिये यहां आजकलकी अवस्थाकाही विचार करेंगे। युरोपीयनोंका साम्राज्य प्रायः सब देशोंमें है। हिंदुस्थान, इजिप्त, अफ्रीका, अरबस्थान, अमरिका आदि स्थानोंमें इनका राज्य है। और प्रायः जहां जहां ये युरोपीयन लोक विजय पाते हुए पहुंचे हैं, वहांकी निकृष्ट जातियोंकी स्त्रियोंसे संबंध करके इन्होंने मिश्र संतान भी उत्पन्न किये हैं। हरजातीके स्त्रियोंके देश और उनकी जाति विभिन्न होनेके कारण उनसे उत्पन्न मिश्र संतान भी उतनी विभिन्न जातियोंवाली होना स्वाभाविकही है। हिंदी मिश्र संतान और हबशी मिश्र संतान इनकी एक जाती नहीं हो सकती। इसी प्रकार दस विभिन्न जातियोंकी स्त्रियोंके साथ देवजातीके पुरुषोंका शरीर संबंध होनेके कारण पूर्वोक्त दस 'देवयोनी' नामक संकीर्ण जातियां उत्पन्न हो गई थीं। अब इसका विचार देखिये—

भूत जाती।

भूतस्थान जिसको आजकल 'भूतान' कहते हैं उसमें भूत जातीका निवास था। यह भूतान नेपालकी पूर्व दिशामें और बंगालकी उत्तर दिशामें तथा तिब्बतकी दक्षिण दिशामें हिमालयकी पहाडीमें है। त्रिविष्टपके देवों द्वारा यह भूत स्थान पराजित हो चुका था और यहां देवजातीके वीरोंका राज्य हुआ था। इस समय देवजातीके पुरुषों द्वारा भूत जातीकी स्त्रियोंमें जो मिश्र संतति हुई वह भूत नामसे प्रसिद्ध हुई। संभव है, कि इस देशके मूल रहिवासियोंका उस समयका नाम कोई भिन्नही होगा, परंतु इस समय उस नामका पता नहीं चलता। कदाचित संभव होगा कि यदि पुराणोंका

अधिक खोज की जाय तो भूतजातीका प्राचीन नाम उपलब्ध होगा।

आज भी यह भूत जाती विद्यमान है और उनके देशका नाम ' भूतान ' है। यह बात स्पष्ट है कि यह जाती देवयोनी अर्थात् देवजातीके पुरुषोंसे उत्पन्न हुई थी। अतः हम कह कहते हैं कि भूत जातीके पितृरूप देवजातीके पुरुष भी भूतजातीके समानही मनुष्य सदश होना स्वाभाविक है। भूत जातीके लोगोंका इस समय भी अस्तित्व इस प्रकारकी इतिहासिक खोजके लिये बडा भारी सहायक है, वह बात पाठकोंके ध्यानमें इतने विवेचनसे आचुकी होगी। पूर्वोक्त देवयोनीकी मिश्र जातियोंमें भूत जातीका थोडासा विचार हुआ, अब उसके साथवाली पिशाच जातीका विचार करेंगे—

पिशाच जाति।

कश्मीर और अफगाणिस्थानके आसपास पिशाच जातीका स्थान था। पिशाच जातीके लोगोंका अस्तित्व इस समय यद्यपि दिखाई नहीं देता, तथापि पिशाच भाषा अस्तित्व अर्थात् पिशाच भाषाके ग्रंथ विद्यमान हैं। सुप्रसिद्ध कथासरित्सागर ग्रंथ मूलमें पैशाच भाषामेंही लिखा था। तथा दूसरे बहुतसे ग्रंथ पैशाच भाषामें लिखे उपलब्ध हैं। नाटकोंमें प्राकृत भाषा स्त्रीशूद्रोंके बोलनेमें प्रयुक्त होती है। उस प्राकृत भाषाके कई भेद हैं, शौरसेनी, महाराष्ट्री, अपभ्रंश, तथा पैशाची ये चार भेद उनमें मुख्य हैं, इन चार प्राकृत भाषाओंमें पैशाची सबसे निकृष्ट प्रकारकी है, अर्थात् यह अति हीन जातीके लोगोंकी अपभ्रष्ट बोली है। इस कारण नाटकोंमें भी प्रतिष्ठित पुरुषोंके मुखमें यह बोली नहीं लिखते हैं, परंतु अति निकृष्ट मनुष्योंके लियेही यह प्रयुक्त होती है।

इससे सिद्ध होता है कि पिशाच जाती एक अति हीन जाती थी जिसकी बोली नाटकोंमें भी उच्च वर्णके लोग बोलते नहीं, प्रत्युत हीन जातीके लोग बोलते हैं। ये हीन और निकृष्ट पिशाच जातीके लोग ' देवयोनी ' जातीके लोग हैं, अर्थात् इनके पिता देवजातीके पुरुष और माता किसी अन्य जातीकी स्त्री, इस प्रकारकी मिश्र संतति यह है।

' पिशितं मांसं अश्नाति पिशाचः। '

अर्थात् ' मांस खानेवाला पिशाच ' कहलाता है। मांस भोजी गोश्तखोर इस अर्थका पिशाच शब्द है। यह शब्द स्पष्टतासे बता रहा है कि जिन्ने लोगोंने इस जातिको यह नाम दिया वे अवश्य निर्मांस भोजी थे। अस्तु।

त्रिविष्टपसे पश्चिम और दक्षिण दिशाके मध्यमें नैर्ऋत्य दिशामें पिशाच जातीका अस्तित्व था। इसीलिये निर्ऋति दिशाका यह नाम भी ' विनाश ' का ही सूचक है। निर्ऋति शब्दका अर्थ संस्कृत भाषामें ' विनाश, दुःख, मृत्यु ' आदिप्रकारका है। पिशाचों, मांसभोजियों तथा क्रूर हिंसक मनुष्योंका अस्तित्व इस दिशामें होनेसे संभवतः इस दिशाका भी नाम विनाशका सूचक हुआ होगा इस विचारसे भी विदित होता है, कि पिशाच जातीके लोग बडे क्रूर कर्म करनेवाले थे। और इस कारण इनसे लोग डरते थे।

आजकल भी ऐसी कई क्रूर जातियां हैं जिनसे ग्राममें रहनेवाले लोग डरते रहते हैं, उन जातियोंका यहां नामनिर्देश करनेकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि उनका अनुभव सबको है। उसी प्रकार प्राचीन कालके पिशाच लोग बडे क्रूरकर्मी थे और इनसे सब लोग दुःखी थे। इस जातिकी उत्पत्ति देवोंके वीर्यसे हुई थी, इससे सिद्ध है कि देव जाती भी मनुष्योंके समान ही मानव जाती थी और वह तिब्बतमें राज्य करती थी।

इस पिशाचके समान गुणधर्मवाली जातीका वाचक ' सिद्ध ' शब्द है और यह जाती भी ' देव योनी ' जाती ही है। सिद्ध शब्द हिंसार्थक ' सिध् ' धातुसे बना है, जो योगादि सिद्धियोंसे सिद्ध पुरुष बनते हैं वह सिद्ध शब्द इससे भिन्न है। यह देवयोनी सिद्ध जाती बडी क्रूर और हिंसक थी। आजकल यह जाती प्रायः नामशेष हुई है।

गन्धर्व जाती।

विद्याधर, अप्सरा, यक्ष, गंधर्व, किंनर, गुह्यक ये पहाडी जातियां हैं और तिब्बतके दक्षिण भागमें, तथा भारत वर्षके उत्तर भागमें हिमालयकी पहाडियोंमें इन सब जातियोंका स्थान था। इसमें

जो 'गंधर्व' शब्द है वह संभवतः 'गां-घर्व' अर्थात् (गां) पृथ्वीका (घर्व) धारण करनेवाला इस शब्दका रूप दीखता है। जिस प्रकार 'भू-धर' शब्द पहाड या पर्वतका वाचक है, उसी प्रकार 'गां-घर' अथवा गांधर्व, गंधर्व ये शब्द भी पहाडके वाचक प्रतीत होते हैं।

भू-धर (भूमिका धारण करनेवाला)
गां-घर (घर्व) ,, ,, ,,
गं-घर्व ,, ,, ,,

इस सादृश्यसे उक्त बातकी सूचना अवश्य मिलती है। अप्सराओंका रहनेका स्थान तिब्बत और भारतवर्षके बीचमें था अर्थात् हिमालयकी पहाडीयोंमें था यह बात सुप्रसिद्ध है। इन पहाडियोंसे अप्सराएं देव लोगोंके देशमें जाती थीं और इधर आर्योंके देशमें भी आती थीं। पुरूरवा उर्वशी आदिकी कथाओंमें इनके आने जानेके जो वर्णन हैं इससे उक्त बात स्पष्ट हो जाती है।

यक्ष जाती।

उक्त देवयोनी जातियोंके नामोंमें 'यक्ष' भी एक नाम है। इस नामकी उत्पत्ति निम्न प्रकारकी जाती है—

इः इव अक्षिणी यस्य।
इः ह्यक्षिषु यस्य।

अर्थात् (१) कामदेवके समान आंख वाला अथवा (२) काम जिसके आंखोंमें है। 'इ' शब्दका अर्थ- 'कामदेव, काम विकार, क्रोधादि भाव, धुंदी' आदि हैं। कामक्रोध आदि भी धुंदीके ही भेद हैं। जिनके आंखोंमें अस्वाभाविक धुंदी होती है। अन्योंके जैसे आंख इनके नहीं होते यह इसका तात्पर्य है। पहाडी लोगोंके आंख थोडे तिरछे, छोटे और किंचित् टेढे जैसे होते हैं। चीनी जापानी आदि मंगोलियन लोगोंके समान आंखवाले ही ये हिमालयकी पहाडीके लोग होते हैं। यह आंखोंका भेद उक्त उत्पत्ति द्वारा बताया है।

यह लक्षण भी हिमालयकी पहाडियोंपर रहनेवालोंमें ही घटता है और यह जाती 'देव योनी' होनेके कारण त्रिविष्टपके वीरोंके साथ संबंध रखती है।

देव योनी लोगोंमें 'किन्नर' नामके लोग थे उनका देश 'किनौर' नामसे प्रसिद्ध है, यह देश इस समयमें भी हिमालयका एक भाग है।

इस प्रकार ये देवयोनी जातियां बता रही हैं कि देवजाती भी उनके समान ही मनुष्य जाती थी और उनका नामही केवल 'देव' था। जगत्की रचना आदि करनेवाले देवोंके साथ उनका कोई संबंध नहीं है।

गणदेव।

देवोंके नामोंमें एक नाम 'वृंदारक' है। इसमें 'वृंद' शब्द समूह वाचक है। समूह, संघ, व्यूह आदि भाव इस वृंद शब्दमें हैं। प्रशस्त संघशक्तिसे युक्त जो होते हैं, उनका नाम वृंदारक होता है। अथात् देवोंमें अनेक संघ थे और हरएक संघ विलक्षण शक्ति रखता था। एकताकी शक्ति जिस प्रकार इन देवोंके संघोंमें दिखाई देती थी इस प्रकार इस समय किसी अन्य जातियोंमें नहीं दीखती थी।

ये सब देव गणशः रहते थे, अर्थात् संघशः रहते थे इसलियेही इनको गणदेव कहते थे। हरएक गणोंके मुखियेको 'गणपति' नाम होता था। गणशः अथवा संघशः रहनेका तात्पर्य खानपान, उपभोग, रहना सहना, स्त्री करना आदि सब बातें इन गण देवोंकी संघशः ही होती थीं। आजकल यह बात किसी भी स्थानपर प्रचलित नहीं है, इसलिये पाठकोंको प्रत्यक्ष नहीं हो सकती; परंतु कल्पनासे प्रत्यक्ष की जा सकती है। इसकी ठीक कल्पना होनेके लिये उनकी सांघिक स्त्रियोंकी कल्पना प्रथम देखनी चाहिये।

गणोंकी स्त्री गणिका।

गणोंमें जितने लोग होते हैं, उन सबके लिये जो स्त्रियां रखी होती हैं, उनके नाम 'गणिका, यूथी, यूथिका, गणस्त्री' संस्कृतमें हैं। यह बात यहां स्मरणमें रखनी चाहिये कि गणोंमें रहनेवाले पुरुषोंके लिये अलग अलग स्त्री नहीं होती है, गणोंमें रहनेवाले सब लोगोंके लिये मिलकर कुछ स्त्रियां रखी होती हैं, उनका नाम गणिका होता है। गणोंकी स्त्री होनेसे उसको गणिका, संघकी (यूथकी) स्त्री होनेसे यूथी

अथवा यूथिकाः ये नाम उस समयकी देवजातिके लोगोंकी सामाजिक अवस्था बता रहे हैं। ये देव जातिके मनुष्य अलग अलग परिवार बनानेकी अवस्थामें नहीं थे, प्रत्युत अपने सब भोग संघशः ही भोग रहे थे। देवोंके वर्णनोंमें बहुतही थोडे देव हैं, कि जिनकी शादि आदि होकर पुत्र दिपरिवार बने है। प्रायः ये देव मुखिया होते हैं जैसे अग्नि, इंद्र, विष्णु, महादेव आदि। गणदेव इनसे भिन्न हैं, यह देवोंके दो भेद पाठकोंको अवश्य ध्यानमें धरना चाहिये। गणदेवोंका वर्णन पाठक निम्न श्लोकमें देख सकते हैं-

आदित्यविश्ववसवस्तुषिताभास्वरानिलाः।
महाराजिकसाध्याश्च रुद्राश्च गणदेवताः॥
(अमर १।१०)

आदित्य, विश्व, वसु, तुषित, आभास्वर, अनिल, महाराजिक, साध्य, रुद्र ये नौ गणदेव हैं। इनसे भिन्न जो देव हैं वे गणदेव नहीं। अर्थात् वे धर्मपत्नी आदि अलग बनाकर रहते थे। परंतु गणदेवोंकी रहने सहनेकी रीति संघशः होती थी। इतना भेद पाठक अवश्य स्मरण रखें। जहां स्त्रियोंपर भी संघशः ही अधिकार होता है, वहां अपनी मलकियत का मकान आदि बनना भी कठिन है। क्योंकि स्त्री का एक पतिके साथ संबंध निश्चित होनेसे ही अलग अलग कुटुंब बननेकी संभावना हो सकती है। जिस अवस्थामें सामुदायिक जीवनही व्यतीत करना होता है, उस अवस्थामें भिन्न कुटुंबकी कल्पना करना कठिन है। इसलिये यह गण-संस्था कौटुंबिक संस्थाके पूर्वकालीन मानना उचित है।

गणदेवोंके भेद

निम्न लिखित श्लोकोंमें गणदेवोंके अंदरके भेदोंका वर्णन भी पाठक यहां देख सकते हैं।

आदित्या द्वादश प्रोक्ता विश्वेदेवा दश स्मृताः।
वसवश्चाऽष्ट संख्याताः षट्त्रिंशत्तुषिता मताः॥
आभास्वराश्चतुः षष्टिर्वाताः पंचाशदूनकाः।
महाराजिकनामानो द्वे शते विंशतिस्तथा।
साध्या द्वादश विख्याता रुद्राश्चैकादश स्मृताः।

इन श्लोकोंमें गणदेवोंके अंतर्गत भेदोंका वर्णन किया है। बारह आदित्य, दश विश्वेदेव, आठ वसु, छत्तीस तुषित, चौसठ आभास्वर, उनचास अनिल (मरुत्,) दो सौ बीस महाराजिक, बारह साध्य, तथा ग्यारह रुद्र इतने गणदेवोंके अंदर भेद हैं।

जिस प्रकार आजकल भी ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्रोंमें सहस्रों जातिभेद हुए हैं, जिनका उपजातीके नामोंसे वर्णन होता है; उसी प्रकारके ये भेद हैं। पाठक यहां पूछ सकते हैं कि वैदिक देवोंके ये भेद कहे जाते हैं और यहां उन शब्दोंसे देवजातीके तिब्बतनिवासी मनुष्योंका वर्णन किस प्रकार समझा जा सकता है? इस शंकाके उत्तरमें कहना उतनाही है कि देवजातीके मनुष्य जो प्राचीन कालमें तिब्बतमें हिमालयकी उत्तरकी ओर रहते थे, वे अपने नामधेय वैदिक शब्दों द्वाराही करते थे इस विषयमें मनुमहाराजकी भी साक्षी है—

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक्पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे॥
मनुस्मृति. १।२१

'उसने सबके नाम तथा भिन्न भिन्न कर्म वेदके शब्दोंसेही बनाये, और उसीने संस्थाएं भी पृथक् पृथक् बनायीं।'

देव जातीका अपने आपको देव मानना और अपने अंदरके अधिकारियोंके नाम इंद्र, बृहस्पति आदि रखना, तथा ऐंद्री, मारुती, गणराज, आदि संस्थाएं बनाना सब वेदके शब्दोंको देख करही हुआ था। यही आशय मनुने उक्त श्लोकोंमें वर्णन किया है। इसका तात्पर्य देखने और समझनेसे पूर्वोक्त देवजातीकी व्यवस्था ठीक प्रकार ध्यानमें आसकती है। अस्तु। तात्पर्य यह है कि देव जातीके राज्याधिकारियोंके इंद्र आदि नाम देखकर घबरानेकी कोई आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार शब्दोंकी समानता होना अत्यंत स्वाभाविकही है। अस्तु। इन गणदेवोंमें महाराजिक गणोंके दो सौ बीस भेद हैं। ये महाराजिकही आगे जा कर 'महाराष्ट्रिक' नामसे आर्योंके इतिहासमें सुप्रसिद्ध हैं। येही महाराष्ट्रिक आजकलके 'मराठे' हैं।

महाराजिक महाराष्ट्रिक, महारट्टे, मरहट्टे, मराठे, मराठा, इस प्रकार रूप और रूपांतरित शब्द बनकर आजकलका 'मराठा' शब्द बना है। तिब्बतकी देवजातीकी कई जातियाँ उत्तर भारतमें आगईं और

वहांसे दक्षिण भारतमें उतरीं, यह बात इतिहाससे सुप्रसिद्ध है। इस प्रकार स्थानपरिवर्तन कई कारणोंसे जातियां करती हैं। इंग्लैंड आदि देशोंसे अमरिकामें कई जातियां गई और उन्होंने वहां अपनी वस्ती बनाई, इस समय उन्होंने अपने ग्रामोंके, पहाडियोंके और तालोंके नाम अमरिकामें वैसेही दिये जैसे पहिले इंग्लैंड आदि देशोंमें थे। जैसा—

इंग्लैंडके नाम	अमरिकामें नाम
यॉर्क	न्यू-यॉर्क
इंग्लैंड	न्यू-इंग्लैंड
साऊथ वेल्स	न्यू-साऊथ वेल्स

इसी प्रकार कई नाम हैं, जो यूरोपके निवासियोंने अमरिकामें अपने नये स्थानोंको दिये हैं। भारतवर्षसे ग्रीसमें इसी प्रकार कई जातियां गई और वहां रहीं, वहां भी ग्रामों और स्थानोंको इसी प्रकार भारतवर्षके ग्रामों और स्थानोंके नाम प्राप्त हुए हैं।

भारत वर्षमें मेरु सुमेरु आदि पर्वतोंके नाम तथा कुरु देशका नाम त्रिविष्टपसे आकर यहां रहे लोगोंने ही दिया है। उत्तर कुरु देश तिब्बतके ऊपर है और कुरु देश भारत वर्षमें है। ये नाम बता रहे हैं, कि इनमें एक स्थानका दूसरे स्थानक साथ वैसाही संबंध है जैसा कि हमने पूर्व स्थानमें अन्य देशवासियोंके व्यवहारमें देखा है, क्योंकि मनुष्यस्वभाव प्रायः सर्वत्र समानही है।

महाराष्ट्रमें इतने ग्राम हैं और इतने जातिवाचक नाम हैं जो देवादि प्राचीन जातियोंके साथ अपना संबंध बता रहे हैं। इसका वर्णन आगे यथा योग्य अवसरपर आजायगा यहां इतनाही बताना है, कि गणदेवोंके अंदर जो महाराजिक गण था, उनमेंसे कई लोग महाराष्ट्रमें आ वसे थे अथवा यों कहना अनुचित नहीं होगा कि आज कलके मराठे देवजातीके महाराजिकही हैं। अर्थात् गणदेवोंके महाराजिक आजकल मराठोंके रूपमें दिखाई देते हैं, यह बात सिद्ध कर रही है कि देवजाती मनुष्य जातीही थी, परंतु वे अपने आपको 'देव' कहलाते थे।

गण देवोंके अंदर मरुत् हैं, मरुत् शब्दके साथ संबंध रखनेवाले शब्द मर्त, मर्य, मर्त्य आदि हैं, ये मनुष्यवाचकही हैं। तथा वेद भाष्य करते हुए श्री० सायणाचार्यजीने भी लिखा है कि ये मरुत् पहिले मनुष्य थे और वे पश्चात् देव बने; देखिये—

मर्यासो मारका मनुष्यरूपा वा मरुतः।
पूर्वं मनुष्याः सन्तः पश्चात् सुकृतविशेषेण ह्यमरा आसन्॥ ऋग्वेद सायनभाष्य १०।७७।२

'मरुत् पहिले मनुष्यरूपही थे, परंतु सुकृत विशेष करनेमें वे देव बने' इस श्री० सायनाचार्यजीके कथनसे पता लगता है कि मनुष्योंमेंसेही कई लोग मरुत् नामक गणदेवोंमें समाविष्ट किये गये थे। मरनेतक लडनेवाले मरुत् (मर + उत्) कहलाते हैं। अर्थात् यह 'मरुत्' नाम बडे शूरवीरोंका है। और इस जातीकी विशेष शूरवीरताके कारणही इनको देवजातीने अपनाया होगा। अर्थात् ये पहिले भारत वर्षके रहनेवाले होनेसे 'मनुष्य' कहलाते थे, परंतु पीछे त्रिविष्टप (तिब्बत) में प्रविष्ट होनेके कारण इनका समावेश 'देव-जाती' में होने लगा और देवोंके अधिकार इनको प्राप्त हुए। देवत्व प्राप्त करनेके कारण विशेष अधिकार प्राप्त होते थे,यह बात स्पष्टही है। इस समय भी यह भेद दिखाई देता है। जैसा किसी एक हिंदी मनुष्यको दो पुत्र पैदा हुए और उसमें एकका भारतवर्षमें और दूसरेका जन्म इंग्लैंदमें हुआ, तो जिसका जन्म इंग्लैंदमें हुआ है उसको केवल वहां जन्म लेनेके कारण ही कई अधिकार अंग्रेजोंके साम्राज्यमें विशेष रीतिसे प्राप्त होते हैं। परंतु हिंदुस्थानमें जन्म लेनेवाले लडकेको वे अधिकार प्राप्त नहीं होते। इसी प्रकार जब यह मनुष्य जातीके वीर देवोंकी सेनामें भरती हुए, देव राज इंद्रके साथ रहनेवाली फौजमें सदा रहने लगे, देवजातीके हितके लिये राक्षसोंके साथ युद्ध करने लगे, तथा देवस्थान अर्थात् तिब्बतमें रहने लगे और वहां ही इनको बालबच्चे पैदा होने लगे अर्थात् देवराज्यसे इनका हितसंबंध दृढ हो चुका, तब इनको 'देव' नाम प्राप्त हुआ।

इस समय भी भारतवर्षियोंका दर्जा राष्ट्रसंघ परिषद्में संमिलित होने योग्य समझा गया है, इसका कारण इतना ही है कि यूरोपके गत युद्धमें भारतवर्षीय लोग यूरोपमें गये और अंग्रेजोंके पक्षमें

लड़े। इसी प्रकार देवोंके पक्षके साथ रहने और देवोंके शत्रुओंके साथ लड़नेके कारण बहुत प्राचीन समयमें जो भारतीय मनुष्य देव जातीमें प्रविष्ट होचुके थे, उनका नाम मरुत् है और ये गणदेव हैं अर्थात् ये संघशः रहा करते थे।

गणस्त्रियां।

गणदेवोंका परिवार अर्थात् स्त्री आदिके साथ रहना सहना और संतति आदि उत्पन्न करना, कुटुंबकी रीतिपर नहीं था। अर्थात् जिस प्रकार हमारे आजके व्यवहारमें एक मनुष्य अपने स्वतंत्र घरमें रहता है, अपनी स्वतंत्र स्त्रीके साथ रहता है, अपने पुत्र उस अपनी स्त्रीमें उत्पन्न करता है तात्पर्य अपना अलग कुटुम्ब है, ऐसा मान कर उसकी भलाई करनेका भार अपने सिरपर धरके सब व्यवहार करता है, उस प्रकार इन गणदेवोंका नहीं था। गण संस्थाके अनुसार रहनेका तात्पर्य यही है कि—

(१) न इनका कोई निजू घर होता है,
(२) न कोई अपनी अलग स्त्री होती है,
(३) न अलग संतान जिससे अपना कुल चल सके,
(४) न कोई खानदानी जायदाद होती है जिसका इसको अहंकार हो सके,
(५) ये सभी समान अधिकार रखनेवाले होते हैं, न किसीका अधिकार अधिक होता है न किसीका कम,
(६) इनका भोजन रहना और सहना सब इकट्ठा और सबका सांजा होता है,
(७) जो कोई जायदाद होगी उस पर सबका समान अधिकार होता है,
(८) जो कार्य करना हो वह सब मिलकर करते हैं, अर्थात पूर्णतया सांधिक जीवन (Social or communal life) व्यतीत करनेकी प्रथा इन गणदेवोंमें थी।

अपने आजकलके जीवन व्यवहारमें और इनके जीवन व्यवहारमें यह भेद है, यह बात सबसे प्रथम पाठकोंको ध्यानमें धारण करनी चाहिये। हमारा इस समयका जीवन 'कौटुंबिक' (Family life) जीवन है, और इनका 'संघरूप' (Communal life) जीवन था। यदि इनके रीतिरिवाज पाठकोंके ध्यानमें ठीक प्रकार नहीं आवेंगे, तो उनके इतिहासकी कई बातें समझमें आना कठिन होगा, इसलिये देव जातीका रहना सहना तथा गण देवोंका रहना सहना ठीक प्रकार ध्यानमें आनेके लिये उक्त सब बातोंको ठीक प्रकार समझना अत्यंत आवश्यक है। गण देवोंके संघमय जीवनका विचार करनेके लिये उनकी गणस्त्रियोंका विचार करना आवश्यक है, क्योंकि इससे उनके स्त्री संबंधका ठीक ठीक ज्ञान होगा। यद्यपि थोडेसे लोग आजन्म ब्रह्मचारी रह सकते हैं, तथापि समाजके संपूर्ण लोग पूर्ण ब्रह्मचर्यसे नहीं रह सकते। इस कारण समाजकी सुस्थितिके लिये पुरुषोंके साथ स्त्रियोंकी योजना की जाती है।

पांच पद्धतियां।

यह स्त्रियोंकी योजना कई प्रकारोंसे की जाती है-

(१) गण-स्त्री-पद्धति,
(२) सहोदर-स्त्री-पद्धति,
(३) नियोग-पद्धति,
(४) अस्थिर विवाह-पद्धति और
(५) स्थिर विवाह-पद्धति।

इस समय हमारे भारतवासियोंमें अर्थात् हिंदुओंकी उच्च जातियोंमें 'स्थिरविवाह पद्धति' प्रचलित है। स्थिर विवाह पद्धति वह होती है कि जिसमें एकवार विवाह होनेपर आजन्म वह विवाह बंधन स्थिर रहता है अर्थात् दोनोंमेंसे एकका मृत्यु होनेतक वह विवाह बंधन रहता है और किसी भी कारण उसमें किसी प्रकार भी शिथिलता नहीं हो सकती।

'अस्थिर-विवाह-पद्धति' युरोप अमरिका आदि देशोंमें तथा मुसलमान राष्ट्रोंमें प्रचलित है। इस पद्धतिकी विशेषता यह है, कि पतिपत्नीके संबंधका नाता किसी समय टूट भी जाता है। राजाके अधिकारियोंके सन्मुख जाकर हम अपना विवाह-बंधन आजसे तोडना चाहते हैं ऐसा कहनेसे वे

४८६ वीळुपविभिर्मरुत ऋभुक्षण आ रुद्रासः सुदीतिभिः ।
इषा नो अद्या गता पुरुस्पृहो यज्ञमा सोभरीयवः ॥ २ ॥

४८७ विद्मा हि रुद्रियाणां शुष्ममुग्रं मरुतां शिमीवताम् । विष्णोरेषस्य मीळ्हुषाम् ॥ ३ ॥

४८८ वि द्वीपानि पापतन् तिष्ठद् दुच्छुनोभे युजन्त रोदसी ।
प्र धन्वान्यैरत शुभ्रखादयो यदेजथ स्वभानवः ॥ ४ ॥

४८९ अच्युता चिद् वो अज्मन्ना नानदति पर्वतासो वनस्पतिः । भूमिर्यामेषु रेजते ॥ ५ ॥

अर्थ [४८६] (हे ऋभुक्षणः) वज्रधारी (रुद्रासः) शत्रु संघको रुलानेवाले (मरुतः) वीर मरुतो ! (सुदीतिभिः) अत्यन्त तेजस्वी (वीळुपविभिः) सुदृढ वज्रोंसे युक्त होकर (आ गत) इधर आओ । हे (पुरुस्पृहः) बहुतों द्वारा अभिलषित तथा (सोभरीयवः) सोभरी ऋषि पर अनुग्रह करनेकी इच्छा करनेवाले वीरो ! (नः यज्ञं) हमारे यज्ञोंमें (अद्य इषा आ गत) आज अन्नके साथ आओ ॥ २ ॥

[४८७] (विष्णोः एषस्य) व्यापक आकांक्षाओंकी पूर्ति करनेवाले (मीळ्हुषां) वृष्टि करनेवाले (शिमीवतां) उद्योगशील (रुद्रियाणां) रुद्रके पुत्र ऐसे (मरुतां) मरुतोंके (उग्रं) वीर भाव पैदा करनेवाले (शुष्मं) बलको (विद्महि) हम जानतेही हैं ॥ ३ ॥

[४८८] हे (शुभ्र-खादयः) सुफेद हस्तभूषण धारण करनेवाले (स्व-भानवः !) स्वयं तेजस्वी वीरो ! (यत्) जब तुम (एजथ) जाते हो, शत्रुदल पर धावा बोलनेके लिए हलचल करते हो, तब (द्वीपानि वि पापतन्) टापू तक नीचे गिर जाते हैं । (तिष्ठत्) सभी स्थावर चीजें (दुच्छुना) विपत्तिसे युक्त बन जाते हैं; (उभे रोदसी) दोनों द्युलोक तथा भूलोक कांपने (युजन्त) लगते हैं । (धन्वानि) मरुभूमिको बालू (प्र ऐरत) अधिक वेगसे उडने लगती है ॥ ४ ॥

[४८९] (वः अज्मन्) तुम्हारी चढाईके मौके पर (अच्युता चित्) न हिलनेवाले बडे बडे (पर्वतासः) पहाड तथा (वनस्पतिः) पेड भी (आ नानदति) दहाडने लगते हैं, वैसेही तुम (यामेषु) जब शत्रुदलपर आक्रमणार्थ यात्रा करना शुरु करते हो, तब (भूमिः रेजते) पृथ्वी विकंपित हो उठती है ॥ ५ ॥

भावार्थ— वज्र धारण करनेवाले तथा समूची जनताके प्यारे ये वीर मरुत् अपने तेजस्वी एवं प्रभावशाली हथियारोंके साथ इधर चले आवें और वे इस यज्ञमें यथेष्ट अन्न लावें ताकि यह यज्ञ उचित ढंगसे पूर्ण हो ॥ २ ॥

मरुत् वर्षा करनेवाले वीर उद्योगमें निरत तथा पराक्रमी हैं । उनका बल अनूठा है ॥ ३ ॥

साफसुथरे गहने पहन कर ये तेजःपूर्ण वीर जब शत्रुदल पर चढाई करनेके लिए अति वेगसे प्रस्थान करना शुरू करते हैं, तब भूमिके ऊपरी भाग नीचे गिर पडते हैं, वृक्ष जैसे स्थावर भी टूट गिरते हैं, आकाश एवं पृथ्वीमें कँपकँपी पैदा हो जाती है और रेगिस्तानकी बालुका तक वेगसे ऊपर उडने लगती है । इतनी भारी हलचल विश्वमें मचा देनेकी क्षमता वीरोंके आन्दोलनमें रहती है ॥ ४ ॥

(आधिदैविक क्षेत्रमें) वायु जोरसे बहने लग जाए, आँधी या तूफान प्रवर्तित हो जाए, तो पर्वतोंपरके वृक्ष तक डावाँडोल हो जाते हैं, तथा ऊँची पहाडी चोटियों पर पवनकी गति अतीव तीव्र प्रतीत होती है । वृक्षोंके परस्पर एक दूसरेसे घिस जानेसे भीषण ध्वनि प्रादुर्भूत होती है, तथा भूमि भी चलायमान प्रतीत होती है । (आधिभौतिक क्षेत्रमें) शत्रुओं पर जब वीर सैनिक धावा बोलते हैं, तब दृढमूल होने पर भी शत्रु विचलित हो जडमूलसे उखड जाता है ॥ ५ ॥

४९० अमाय वो मरुतो यातवे द्यौर्जिहीत उत्तरा बृहत् ।
यत्रा नरो देदिशते तनूष्वा त्वक्षांसि बाह्वोजसः ॥ ६ ॥
४९१ स्वधामनु श्रियं नरो महि त्वेषा अमवन्तो वृषप्सवः । वहन्ते अह्रुतप्सवः ॥ ७ ॥
४९२ गोभिर्वाणो अज्यते सोभरीणां रथे कोशे हिरण्यये ।
गोबन्धवः सुजातास इषे भुजे महान्तो नः स्परसे नु ॥ ८ ॥
४९३ तं वो वृषदञ्जयो वृष्णे शर्धाय मारुताय भरध्वम् । हव्या वृषप्रयाव्णे ॥ ९ ॥
४९४ वृषणश्वेन मरुतो वृषप्सुना रथेन वृषनाभिना ।
आ श्येनासो न पक्षिणो वृथा नरो हव्या नो वीतये गत ॥ १० ॥

अर्थ— [४९०] हे (मरुतः !) वीर मरुतो ! (वः अमाय) तुम्हारी सेनाको (यातवे) जानेके लिए (यत्र) जिस ओर (बाहु-ओजसः) बाहु बलसे युक्त (नरः) तथा नेताके पद पर अधिष्ठित तुम वीर (त्वक्षांसि) सभी शक्तियोंको अपने (तनूषु) शरीरोंमें एकत्रित कर (आ देदिशते) प्रहार करते हो उधर (द्यौः) आकाश भी (उत्तरा) ऊपर ऊपर (बृहत्) विस्तृत एवं बृहदाकार बनते बनते (जिहीते) जा रहा है, ऐसा प्रतीत होता है ॥ ६ ॥

[४९१] (त्वेषाः) तेजस्वी, (अमवन्तः) बलवान्, (वृषप्सवः) बैलके जैसे हृष्टपुष्ट तथा (अ-ह्रुत-प्सवः) सरल स्वभाववाले (नरः) नेताके नाते वीर (स्व धां अनु) अपनी धारकशक्तिके अनुकूल अपनी (श्रियं महि) शोभा एवं आभाको अत्यधिक मात्रामें (वहन्ति) बढाते हैं ॥ ७ ॥

[४९२] (सोभरीणां हिरण्यये रथे) ऋषि सोभरिके सुवर्णमय रथके (कोशे) आसनपर (गोभिः) स्वरोंके साथ अर्थात् गानोंसहित (वाणः अज्यते) बाण नामक बाजा बजाया जाता है, (गो-बन्धवः) गौके बंधु याने गौको अपनी बहनके समान आदरकी दृष्टिसे देखनेवाले (सु-जातासः) अच्छे कुलमें उत्पन्न (महान्तः) और बडे प्रभावशाली ये वीर (नः इषे) हमारे अन्नके लिए (भुजे) भोगोंके लिए तथा (स्परसे) फलोंके लिए (नु) तुरन्त ही हमारे सहायक बनें ॥ ८ ॥

[४९३] (वृषत्-अञ्जयः !) सोमको सम्मानपूर्वक अर्पण करनेवाले हे याजको ! तुम (वः) तुम्हारे समीप आनेवाले (वृष्णे) बलवान् तथा (वृष-प्रयाव्णे) बैलके समान इठलाते हुए जानेवाले (मारुताय) मरुतोंके समुदायके (शर्धाय) बल बढानेके लिए (हव्या प्रति भरध्वं) हविष्यान्न प्रत्येकको पर्याप्त मात्रामें प्रदान करो ॥ ९ ॥

[४९४] हे (नरः मरुतः !) नेतृत्वगुणसे संपन्न वीर मरुतो ! (वृषन्-अश्वेन) बलिष्ठ घोडोंसे युक्त, (वृष-प्सुना) बैलके समान सुदृढ दिखाई देनेवाले (वृष-नाभिना) और प्रबल नाभिसे युक्त (रथेन) रथसे (नः हव्या) हमारे हविर्द्रव्योंके (वीतये) सेवनार्थ (श्येनासः पक्षिणः न) बाज पंछियोंकी नाईं वेगसे (वृथा आ गत) बिना किसी कष्टके आओ ॥ १० ॥

भावार्थ— इन वीरोंकी सेना जिस ओर मुड कर जाने लगती है और जिस दिशामें ये वीर शत्रु पर चढाई करते हैं, उसी ओर मानों स्वयं आकाशही विस्तृत एवं चौडा मार्ग बना दे रहा है, ऐसा प्रतीत होता है ॥ ६ ॥

तेजयुक्त बलिष्ठ जीवनका बलिदान करनेवाले और सरल प्रकृतिवाले वीर अपनी शक्तिके अनुसार निज शोभा बढाते हैं ॥ ७ ॥

सोभरी नामसे विख्यात ऋषियोंके सुवर्णविभूषित रथमें आसनपर बैठकर रमणीय गायनके स्वरोंसे बाण, बाजा बजाया जा रहा है, उस गानको सुनकर गोसेवामें निरत एवं उच्च परिवारमें उत्पन्न महान् वीर हमें अन्न, उपभोग तथा उत्साह दे दें ॥ ८ ॥

शक्तिमान् तथा प्रतापी मरुतोंको याजक बडे सम्मान एवं आदरसे हविसे परिपूर्ण अन्नकूट पर्याप्त रूपसे दें ॥ ९ ॥

बलवान् घोडोंसे युक्त एवं सुदृढ रथ पर बैठकर हविष्यान्नके सेवनार्थ वीर पुरुष बहुत अन्न एवं बडे वेगसे हमारे समीप आ जायँ ॥ १० ॥

४९५ समानमञ्ज्येषां वि भ्राजन्ते रुक्मासो अधि बाहुषु । दविद्युतत्यृष्टयः ॥ ११ ॥
४९६ त उग्रासो वृषण उग्रबाहवो नकिष्टनूषु येतिरे ।
स्थिरा धन्वान्यायुधा रथेषु वो ऽनीकेष्वधि श्रियः ॥ १२ ॥
४९७ येषामर्णो न सप्रथो नाम त्वेषं शश्वतामेकमिद् भुजे । वयो न पित्र्यं सहः ॥ १३ ॥
४९८ तान् वन्दस्व मरुतस्ताँ उप स्तुहि तेषां हि धुनीनाम् ।
अराणां न चरमस्तदेषां दाना मह्ना तदेषाम् ॥ १४ ॥

अर्थ— [४९५] (एषां) इन सभी वीरोंका (अञ्जि) गणवेश (समानं) एकरूप है, इनके गलेमें (रुक्मासः) सुवर्णके बने हुए सुन्दर हार (वि भ्राजन्ते) चमकते हैं और (बाहुषु अधि) भुजाओंपर (ऋष्टयः) हथियार (दविद्युतति) प्रकाशमान हो रहे हैं ॥ ११ ॥

[४९६] (उग्रासः) मनमें किंचित् भयका संचार करानेवाले, (वृषणः) बलिष्ठ (उग्र-बाहवः) तथा सामर्थ्ययुक्त बाहुओंसे युक्त (ते) वे वीर मरुत् (तनूषु) अपने शरीरोंकी रक्षा करनेके कार्यमें (नकिः येतिरे) जरासा प्रयत्न नहीं करते हैं। हे वीरो ! (वः रथेषु) तुम्हारे रथोंमें (स्थिरा) अनेक अटल एवं दृढ (धन्वानि) धनुष्य तथा (आयुधा) कई हथियार हैं, अतएव (अनीकेषु अधि) सेनाके अग्रभागोंमें तुम्हें (श्रियः) विजयजन्य शोभा अलंकृत करती है ॥ १२ ॥

[४९७] (अर्णः न) हलचलसे युक्त जलप्रवाहकी नाईं (सप्रथः) चतुर्दिक् फैलनेवाले (त्वेषं) तेजःपूर्ण ढंगका जो (शश्वतां येषां) इन शाश्वत वीरोंका (नाम) यशोवर्णन है, (एकं इत्) यही एकमात्र (सहः) सामर्थ्य देनेवाला है और (पित्र्यं वयः न) पितासे प्राप्त अन्नके समान (भुजे) उपभोगके लिए सर्वथैव योग्य है ॥ १३ ॥

[४९८] (तान् मरुतः) उन मरुतोंका (वन्दस्व) अभिवादन करो, (तान् उपस्तुहि) उनकी सराहना करो, (हि) क्योंकि (धुनीनां तेषां) शत्रुओंको हिलानेवाले उन वीरोंमें (अराणां चरमः न) श्रेष्ठ एवं कनिष्ठ यह भेदभाव नहीं के बराबर है, अर्थात् सभी समान हैं और किसी भी प्रकारकी विषमताके लिए जगह नहीं है, (तत् एषां तत् एषां) इनके (दाना मह्ना) दान बडे महत्त्वपूर्ण होते हैं ॥ १४ ॥

भावार्थ— इन सभी वीरोंकी वेशभूषोंमें कहीं भी विभिन्नताका नाम तक नहीं पाया जाता है। इनके गणवेषकी एकरूपता या समानता प्रेक्षणीय है। सबके गलेमें समान रूपके हार पडे हुए हैं और सभीके हाथोंमें सदृश हथियार झिलमिल कर रहे हैं ॥ ११ ॥

ये वीर बडे ही बलिष्ठ तथा उग्र हैं और इनकी भुजाओंमें असीम बल एवं शक्ति विद्यमान है। शत्रुदलसे जूझते समय अपने प्राणोंकी भी पर्वाह ये नहीं करते हैं। इनके रथोंमें सुदृढ धनुष्य रखे जाते हैं, तथा हथियार भी पर्याप्त मात्रामें रखे जाते हैं। यही कारण है कि, युद्धभूमिमें ये ही हमेशा विजयी ठहरते हैं ॥ १२ ॥

जिसमें वीरोंके तेजस्वी तथा शाश्वत यशका बखान किया हो, वही काव्य शक्ति बढानेमें सहायक होता है। वह जलके समान सभी जगह फैलनेवाला तथा बपौतीके जैसे भोग्य और स्फूर्तिदायक है ॥ १३ ॥

मरुतोंका अभिवादन करके उनकी सराहना करनी चाहिए। सभी प्रकारके शत्रुओंको विकंपित तथा विचलित करनेकी क्षमता इन वीरोंमें है। इनमें किसी प्रकारकी विषमता नहीं है, अतः कोई भी ऊँचा या नीचा मरुतोंके संघमें नहीं रखा जाता है। सभी साम्यावस्थाकी अनुभूति पाते हैं। इनके दान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होते हैं ॥ १४ ॥

४९९ सुभगः स वं ऊतिष्वास पूर्वासु मरुतो व्युष्टिषु । यो वां नूनमुतासति ॥ १५ ॥
५०० यस्य वा यूयं प्रति वाजिनो नर आ हव्या वीतये गथ ।
अभि ष द्युम्नैरुत वाजसातिभिः सुम्ना वो धूतयो नशत् ॥ १६ ॥
५०१ यथा रुद्रस्य सूनवो दिवो वशन्त्यसुरस्य वेधसः । युवानस्तथेदसत् ॥ १७ ॥
५०२ ये चार्हन्ति मरुतः सुदानवः स्मन्मीळ्हुषश्चरन्ति ये ।
अतश्चिदा न उप वस्यसा हृदा युवान आ ववृध्वम् ॥ १८ ॥
५०३ यून ऊ षु नविष्ठया वृष्णः पावकाँ अभि सोभरे गिरा । गाय गा इव चर्कृषत् ॥ १९ ॥

अर्थ— [४९९] हे (मरुतः !) मरुतो ! (उत पूर्वासु व्युष्टिषु) पहलेके दिनोंमें (यः) जो (वा नूनं असति) तुम्हारा ही बनकर रहा, (सः) वह (वः ऊतिषु) तुम्हारी सरक्षणकी आयोजनाओंसे सुरक्षित होकर सचमुच (सु- भगः आस) भाग्यशाली बन गया ॥ १५ ॥

[५००] हे (धूतयः नरः !) शत्रुओंको विकम्पित कर देनेवाले वीर नेतागण ! (यूयं) तुम (यस्य वा वाजिनः) जिस अन्नयुक्त पुरुषके समीप विद्यमान (हव्या) हविर्द्रव्योंके (वीतये) सेवनार्थ (आ गथ) जाते हो, (सः) वह (द्युम्नैः) रत्नोंके (उत) तथा (वाज-सातिभिः) अन्न-दानोंके फलस्वरूप (वः सुम्ना) तुम्हारे सुखोंको (अभि नशत्) पूर्ण रूपसे भोगता है ॥ १६ ॥

[५०१] (असु-रस्य वेधसः) जीवन देनेवाले ज्ञानी (रुद्रस्य युवानः सूनवः) वीरभद्रके पुत्र तथा युवा वीर मरुत् (दिवः) स्वर्गसे आकर (यथा) जैसे (वशन्ति) इच्छा करेंगे, (तथा इत्) उसी प्रकार हमारा बर्ताव (असत्) रहे ॥ १७ ॥

[५०२] (ये) जो (सु-दानवः मरुतः) भली भाँति दान देनेवाले मरुतोंका (अर्हन्ति) सत्कार करते हैं (ये च) और जो (मीळ्हुषः) धन दयासे पिघलनेवाले वीरोंके अनुकूल (स्मत् चरन्ति) आचरण रखते हैं, हम भी ठीक उन्हींके समान बर्ताव रखते हैं, (अतः चित्) इसीलिए हे (युवानः !) नवयुवक वीरो ! (वस्यसा हृदा) उदार अन्तःकरणपूर्वक (नः) हमारी ओर (उप आ आ ववृध्वं) आगमन करके हमारी समृद्धि करो ॥ १८ ॥

[५०३] हे (सोभरे !) ऋषि सोभरि ! (यूनः) युवक (वृष्णः) बलवान् तथा (पावकान्) पवित्रता करनेवाले वीरोंको लक्ष्यमें रखकर (नविष्ठया गिरा) अभिनव वाणीसे, स्वरसे, (चर्कृषत्) खेत जोतनेवाला किसान (गाः इव) जिस प्रकार बैलोंके लिए गाने या तराने कहता है, वैसे ही (सु अभि गाय) भली भाँति काव्य गायन करो ॥ १९ ॥

भावार्थ— यदि कोई एक बार इन वीरोंका अनुयायी बन जाए, तो सचमुच उसे भाग्यवान् समझनेमें कोई आपत्ति नहीं । उसके भाग्य खुल जायेंगे, इसमें क्या संशय ? ॥ १५ ॥

ये वीर जिसके अन्नका सेवन करते हैं, वह रत्न, अन्न तथा सुखोंसे युक्त होता है ॥ १६ ॥

दूसरोंकी रक्षाके लिए अपना जीवन देनेवाले नवयुवक वीर स्वर्गीय स्थानमेंसे हमारे निकट आ जायँ और हमारा आचरण भी उनकी निगाहमें अनुकूल एवं प्रिय बने ॥ १७ ॥

वीर मरुत् दानी हैं और करुणाभरी निगाहसे सहायता करते हैं । चूँकि हम उनका सत्कार करते हैं, अतः ये वीर हमारे समीप आ जायँ और हम पर अनुग्रह करें ॥ १८ ॥

हल चलाते समय जैसे काश्तकार बैलोंको रिझानेके लिए गाना गाता रहता है, वैसे ही युवक, बलिष्ठ एवं पवित्र वीरोंके वर्णनोंसे युक्त वीरगीतोंका गायन तुम करते रहो ॥ १९ ॥

५०४ साह्वा ये सन्ति मुष्टिहेव हव्यो विश्वासु पृत्सु होतृषु ।
वृष्णश्चन्द्रान्न सुश्रवस्तमान् गिरा वन्दस्व मरुतो अह ॥ २० ॥
५०५ गावश्चिद् घा समन्यवः सजात्येन मरुतः सबन्धवः । रिहते ककुभो मिथः ॥ २१ ॥
५०६ मर्तश्चिद् वो नृतवो रुक्मवक्षस उप भ्रातृत्वमायति ।
अधि नो गात मरुतः सदा हि व आपित्वमस्ति निध्रुवि ॥ २२ ॥
५०७ मरुतो मारुतस्य न आ भेषजस्य वहता सुदानवः । यूयं सखायः सप्तयः ॥ २३ ॥
५०८ याभिः सिन्धुमवथ याभिस्तूर्वथ याभिर्दशस्यथा क्रिविम् ।
मयो नो भूतोतिभिर्मयोभुवः शिवाभिरसचद्विषः ॥ २४ ॥

अर्थ— [५०४] (होतृषु) शत्रुको चुनौती देनेवाले (विश्वासु पृत्सु) सभी सैनिकोंमें (हव्यः मुष्टि-हा इव) चुनौती देनेवाले मुष्टियोद्धा मल्लकी नाईं (सह्वाः सन्ति) जो शत्रुदलके भीषण आक्रमणको सहन करनेकी क्षमता रखते हैं, उन (वृष्णः) बलिष्ठ (चन्द्रान् न) चन्द्रमाके समान आनन्ददायक (सु-श्रवस्तमान्) निर्मल यशसे युक्त (मरुतः अह) मरुत् वीरोंको ही (गिरा वन्दस्व) सराहना अपनी वाणीसे करो ॥ २० ॥

[५०५] हे (स-मन्यवः मरुतः !) उत्साही वीर मरुतो ! (गावः चित्) तुम्हारी माताएँ गौएँ (स-जात्येन) एकही जातिकी होनेके कारण (स-बन्धवः) अपनेही ज्ञातिबान्धवोंको, बैलोंको (ककुभः) विभिन्न दिशाओंमें जाने पर भी (मिथः रिहते घ) एक दूसरेको प्रेमपूर्वकही चाटती रहती हैं ॥ २१ ॥

[५०६] हे (नृतवः) नृत्य करनेवाले तथा (रुक्म-वक्षसः मरुतः !) सुवर्णके हार छाती पर धारण करनेवाले वीर मरुत् गण ! (मर्तः चित्) मानव भी (वः भ्रातृत्वं) तुम्हारे भाईपनको (उप आ अयति) पानेके लिए योग्य ठहरता है, इसीलिए (नः अधि गात) हमारे साथ रहकर गायन करो, (हि) क्योंकि (वः आपित्वं) तुम्हारी मित्रता (सदा) हमेशा (नि-ध्रुवि अस्ति) न टलनेवाली है ॥ २२ ॥

[५०७] (सु-दानवः) दानी, (सखायः) मित्रवत् बर्ताव रखनेवाले तथा (सप्तयः) सात सात पुरुषोंकी एक पंक्ति बनाकर यात्रा करनेवाले (मरुतः !) वीर मरुतो ! (यूयं) तुम (नः) हमारे लिए (मारुतस्य भेषजस्य) वायुमें विद्यमान औषधि द्रव्यको (आ वहत) ले आओ ॥ २३ ॥

[५०८] हे (मयो-भुवः) सुख देनेवाले (अ-सच-द्विषः) एवं अजातशत्रु वीरो ! (याभिः ऊतिभिः) जिन संरक्षक शक्तियोंसे तुम (सिन्धुं अवथ) समुद्रकी रक्षा करते हो (याभिः तूर्वथ) जिन शक्तियोंके सहारे शत्रुका विनाश करते हो, (याभिः) जिनकी सहायतासे (क्रिविं दशस्यथ) जलकुंड तैयार कर देते हो, उन्हीं (शिवाभिः) कल्याणप्रद शक्तियोंके आधार पर (नः मयः भूत) हमें सुख देनेवाले बनो ॥ २४ ॥

भावार्थ—शत्रुओंपर धावा करनेवाले सभी सैनिकोंमें जिस भाँति मुष्टियोद्धा पहलवान अधिक बलवान् होता है, उसी प्रकार सभी वीर शत्रुदलका आक्रमण बरदाश्त कर सकें ऐसे बलिष्ठ, आनन्द बढानेवाले तथा कीर्तिमान् वीरोंकी प्रशंसा करो ॥ २० ॥

मरुतोंकी माताएँ-गौएँ भले ही किसी भी दिशामें चली जायँ, तो भी प्यारसे एक दूसरेको चाटने लगती हैं। (अभिभूतमें) वीरोंकी दयालु माताएँ अपने भाइयों, बहनों एवं वीर पुत्रों और सभी वीरोंको प्यारसे गले लगाती हैं ॥ २१ ॥

वीर सैनिक हर्षपूर्वक नृत्य करनेवाले तथा कई अलंकार अपने वक्षःस्थल पर धारण करनेवाले हैं। मानवको भी उनकी मित्रता पाना सुगम है, योग्यता बढने पर वह मरुतोंका साथी बन जाता है और वह मित्रतापूर्ण सम्बन्ध एक बार प्रस्थापित होने पर अटूट बना रहता है ॥ २२ ॥

ये वीर एक एक पंक्तिमें सात सात इस तरह मिलकर चलनेवाले हैं और अच्छे ढंगके उदारचेता मित्र भी हैं। हमारी इच्छा है कि ये हमारे लिए वायुमंडलमें विद्यमान औषधिको ले आयँ ॥ २३ ॥

ये वीर अपनी शक्तियोंसे समुद्र एवं नदियोंकी रक्षा करते हैं, शत्रुदलको मटियामेट कर देते हैं, जनताको पानी पीनेको मिले, इसलिए सुविधाएँ पैदा कर देते हैं और सभी लोगोंकी सुविधाका प्रबन्ध कर डालते हैं ॥ २४ ॥

५०९ यत् सिन्धौ यदसिक्न्यां यत् समुद्रेषु मरुतः सुबर्हिषः । यत् पर्वतेषु भेषजम् ॥ २५ ॥
५१० विश्वं पश्यन्तो बिभृथा तनूष्वा तेना नो अधि वोचत ।
क्षमा रपो मरुत आतुरस्य न इष्कर्ता विह्रुतं पुनः ॥ २६ ॥

[२१]

ऋषिः-१८ सोभरिः काण्वः। देवता- इन्द्र १७-१८ चित्रः। छन्द्-प्रगाथः-(विषमा ककुप्, समा सतो बृहती)।
५११ वयमु त्वामपूर्व्य स्थूरं न कच्चिद् भरन्तोऽवस्यवः । वाजे चित्रं हवामहे ॥ १ ॥
५१२ उप त्वा कर्मन्नूतये स नो युवोग्रश्चक्राम यो धृषत् ।
त्वामिद्ध्यवितारं ववृमहे सखाय इन्द्र सानसिम् ॥ २ ॥
५१३ आ याहीम इन्दवोऽश्वपते गोपत उर्वरापते । सोमं सोमपते पिब ॥ ३ ॥

अर्थ— [५०९] हे (सु-बर्हिषः मरुतः !) उत्तम तेजस्वी वीर मरुतो ! (यत्) जो (सिन्धौ भेषजं) सिन्धुनदीमें औषधिद्रव्य है, (यत् असिक्न्यां) जो असिक्नीके प्रवाहमें है, (यत् समुद्रेषु) जो समुद्रमें है और (यत् पर्वतेषु) जो पर्वतों पर है, वह सभी औषधिद्रव्य तुम्हें विदित है ॥ २५ ॥

[५१०] हे (मरुतः !) वीर मरुतो ! (विश्वं पश्यन्तः) सब कुछ देखनेवाले तुम (तनूषु) हमारे शरीरोंमें (आ बिभृथ) पुष्टि उत्पन्न करो और (तेन) उस ज्ञानसे (नः अधि वोचत) हमसे बोलो; इसी प्रकार (नः आतुरस्य) हममें जो बीमार हो, उसके (रपः क्षमा) दोषकी शांति करके (विह्रुतं) टूटे हुए अवयवको (पुनः इष्कर्त) फिरसे ठीक बिठाओ ॥ २६ ॥

[२१]

[५११] हे (अ-पूर्व्य) अपूर्व इन्द्र ! (भरन्तः अवस्यवः वयं) अन्न देनेवाले, तथा रक्षाकी इच्छा करनेवाले हम (चित्रं त्वां) विलक्षण शक्तिवाले तुमको (कच्चिद् स्थूरं न) जैसे लोग किसी विद्वान्‌को बुलाते हैं, उसी तरह (वाजे) संग्राममें (हवामहे) बुलाते हैं ॥ १ ॥

[५१२] हे इन्द्र ! हम (कर्मन्) संग्रामादि कामोंमें (ऊतये) संरक्षणके लिए (त्वा उप) तुमकोही पास [बुलाते हैं], (यः धृषत्) जो शत्रुओंको मारता है, (स उग्रः युवा) वह वीर तथा तरुण इन्द्र (नः चक्राम) हमारे पास आवें। हे (इन्द्र) इन्द्र ! (सखायः) हम सब मित्रगण (सानसिं) दान देनेवाले और (अवितारं) संरक्षण करनेवाले (त्वां इत् ववृमहे) तुम्हें ही वरण करते हैं ॥ २ ॥

[५१३] हे (अश्व-पते, गो-पते, उर्वरा-पते) घोडे, गाय और भूमिके स्वामिन् इन्द्र ! (इमे इन्दवः) ये सोम [तुम्हारे लिए हैं] अतः (आ याहि) आओ और हे (सोम-पते) सोमके पालक इन्द्र ! (सोमं पिब) सोम पियो ॥ ३ ॥

भावार्थ— सिन्धु, असिक्नी, समुद्र तथा पर्वतों पर जो रोगनिवारक औषधि हों, उन्हें जानना वीरोंके लिए अनिवार्य है ॥ २५ ॥

ये वीर चिकित्सा करनेवाले कविराज या वैद्य हैं और विविध औषधियोंसे भली भाँति परिचित हैं। वे हमें पुष्टिकारक औषध प्रदान कर हृष्टपुष्ट बना दें। जो कोई रोगग्रस्त हो, उसके शरीरमें पाये जानेवाले दोषको हटाकर और छिन्नविच्छिन्न अंगको फिर ठीक प्रकारसे जोडकर पहले जैसे कार्यक्षम बना दें ॥ २६ ॥

हे अपूर्व शक्तिशाली इन्द्र ! संरक्षणकी इच्छा करनेवाले हम तुम्हें संग्राममें सहायार्थ बुलाते हैं ॥ १ ॥

वह वीर और तरुण इन्द्र हमारे समीप आवे, हम सब मित्रगण संरक्षण करनेवाले तुम इन्द्रका ही वरण करते हैं ॥ २ ॥

हे पशुओंके स्वामिन् इन्द्र ! तुम्हारे लिए ये सोमरस निचोडकर रखे हुए हैं, अतः तुम इन्हें पीओ ॥ ३ ॥

५१४ वयं हि त्वा बन्धुमन्तमबन्धवो विप्रास इन्द्र येमिम ।—
या ते धामानि वृषभ तेभिरा गहि विश्वेभिः सोमपीतये ॥ ४ ॥
५१५ सीदन्तस्ते वयो यथा गोश्रीते मधौ मदिरे विवक्षणे । अभि त्वामिन्द्र नोनुमः ॥ ५ ॥
५१६ अच्छा च त्वैना नमसा वदामसि किं मुहुश्चिद् वि दीधयः ।
सन्ति कामासो हरिवो ददिष्ट्वं स्मो वयं सन्ति नो धियः ॥ ६ ॥
५१७ नूत्ना इदिन्द्र ते वयमूती अभूम नहि नू ते अद्रिवः । विद्मा पुरा परीणसः ॥ ७ ॥
५१८ विद्मा सखित्वमुत शूर भोज्यमा ते ता वज्रिन्नीमहे ।
उतो समस्मिन्ना शिशीहि नो वसो वाजे सुशिप्र गोमति ॥ ८ ॥

अर्थ— [५१४] हे (इन्द्र) इन्द्र ! (अ-बन्धवः वयं) बन्धु- बान्धव रहित हम (विप्रासः) ज्ञानी (बन्धुमन्तं त्वा हि) भाइयोंवाले तुमकोही [भाईके रूपमें] (येमिम) मानते हैं, हे (वृषभः) कामनाओंके पूर्ण करनेवाले इन्द्र ! (ते या धामानि) तुम्हारे जो तेज हैं, (तेभिः विश्वेभिः) उन समस्त तेजोंके साथ (सोम पीतये) सोम- पानके लिए (आ गहि) आओ ॥ ४ ॥

[५१५] हे (इन्द्र) इन्द्र! (गो-श्रीते) गौके दूध, दहीसे मिश्रित हुए, (मदिरे) उत्साहको देनेवाले, (विवक्षणे) अत्यन्त प्रिय (ते मधौ) तेरे इस सोमके यज्ञमें (वयः यथा) पक्षियोंके समान (सीदन्तः) बैठे हुए हम (त्वां अभि नोनुमः) तुम्हारी ही स्तुति करते हैं ॥ ५ ॥

[५१६] हे इन्द्र हम (एना नमसा) इस स्तुतिके द्वारा (त्वा च अच्छ वदामसि) तुम्हारी उत्तम प्रशंसा करते हैं, तुम (मुहुः किंचिद् वि दीधयः) बार बार क्या सोचते हो ? हे (हरिवः) घोडोंवाले इन्द्र ! हमारी (कामासः सन्ति) अभिलाषायें हैं, (त्वं ददिः) तुम [उनको] देनेवाले हो (वयं स्मः) हम हैं, तथा (नः धियः सन्ति) हमारी स्तुतियां भी हैं ॥ ६ ॥

[५१७] हे (इन्द्र) इन्द्र ! (ते ऊती) तुम्हारे संरक्षणमें (वयं नूत्नाः इत् अभूम) हम [सर्वदा] नये ही होते हैं। हे (अद्रि-वः) वज्र धारण करनेवाले इन्द्र ! (पुरा) पहले तुमको (परीणसः न हि विद्म) सर्वत्र व्याप्त नहीं जानते थे, (नु) पर अब (ते) तुमको वैसा जानते हैं ॥ ७ ॥

[५१८] हे (शूर वज्रिन्) शूरवीर तथा वज्रधारी इन्द्र ! हम (सखित्वं उत भोज्यं विद्म) तुम्हारी मित्रता और भोग्य पदार्थोंको जानते हैं, अतः (ते ता आ ईमहे) तुमसे उनको मांगते हैं, (उत) और हे (वसो शिप्रिन्) सबको बसानेवाले तथा शिरस्त्राण धारण करनेवाले इन्द्र ! (गो-मति अस्मिन् वाजे) गौवोंवाले इस अन्नमें (नः सं आ शिशीहि) हमें रख ॥ ८ ॥

भावार्थ— भाइयोंसे रहित हम, हे इन्द्र ! तुम्हें ही भाईके रूपमें स्वीकार करते हैं, अतः तुम्हारे जो तेज हैं, उन समस्त तेजोंके साथ आओ ॥ ४ ॥

सोमरसमें गायका दूध और दही मिलाया जाता है, तब वे रस पीनेके योग्य स्वादिष्ट होते हैं। उन सोमरसोंको तैय्यार करनेके साथ ही साथ स्तोत्र भी बोले जाते हैं ॥ ५ ॥

हे इन्द्र ! हम कबसे तुम्हारी प्रार्थना कर रहे हैं, तुम फिर सोच विचार क्या करते हो, तुम शीघ्र आकर हमारी अभिलाषायें पूर्ण करो ॥ ६ ॥

हे इन्द्र ! तेरे संरक्षणमें हम सदा नये ही रहते हैं। अतः सर्वत्र व्याप्त तुमको हम पूरी तरह नहीं जान सकते। भगवान्‌को पूर्ण रीतिसे जानना सर्वथा असंभव है ॥ ७ ॥

हे शूरवीर इन्द्र ! हम तुमसे मित्रता और भोग्य पदार्थोंको मांगते हैं। हे निवासक तथा शिरस्त्राण धारण करनेवाले इन्द्र ! गौओंसे मिलनेवाले इस अन्नमें हमें सम्यक् रीतिसे रख। हमें ऐसा अन्न मिले ऐसा कर ॥ ८ ॥

५१९ यो न इदमिदं पुरा प्र वस्य आनिनाय तमु वः स्तुषे । सखाय इन्द्रमूतये ॥ ९ ॥
५२० हर्यश्वं सत्पतिं चर्षणीसहं स हि ष्मा यो अमन्दत ।
आ तु नः स वयति गव्यमश्व्यं स्तोतृभ्यो मघवा शतम् ॥ १० ॥
५२१ त्वया ह स्विद् युजा वयं प्रति श्वसन्तं वृषभ ब्रुवीमहि । संस्थे जनस्य गोमतः ॥ ११ ॥
५२२ जयेम कारे पुरुहूत कारिणो ऽभि तिष्ठेम दूढ्यः ।
नृभिर्वृत्रं हन्याम शूशुयाम चा ऽवेरिन्द्र प्र णो धियः ॥ १२ ॥
५२३ अभ्रातृव्यो अना त्वमनापिरिन्द्र जनुषा सनादसि । युधेदापित्वमिच्छसे ॥ १३ ॥
५२४ नकी रेवन्तं सख्याय विन्दसे पीयन्ति ते सुराश्वः ।
यदा कृणोषि नदनुं समूहस्या ऽदित् पितेव हूयसे ॥ १४ ॥

अर्थ— [५१९] हे (सखायः) मित्रो ! (यः) जो इन्द्र (पुरा) पहले (इदं इदं वस्याः) इस धनको (नः) हमारे लिए (प्र आ निनाय) लाया था, (तं इन्द्रं उ) उसी इन्द्रको (वः उतये) तुम्हारे संरक्षणके लिए (स्तुषे) मैं स्तुति करता हूँ ॥ ९ ॥

[५२०] (यः अमन्दत) जो आनन्दित होता है, (सः हि) वह ही (हर्यश्वं सत्पतिं चर्षणीसहं) हरित वर्णके घोडेवाले, सज्जनोंके पालक, शत्रुओंका पराजय करनेवाले इन्द्रकी (ष्म) स्तुति करता है (सः) वह (मघवा) ऐश्वर्यवान् इन्द्र (नः स्तोतृभ्यः) हम स्तोताओंके लिए (शतं गव्यं अश्व्यं) सैकडों गायों और घोडोंसे युक्त धन (तु आ वयति) देता है ॥ १० ॥

[५२१] हे (वृषभ) बलवान् इन्द्र ! (त्वया युजा स्वित्) तुम्हारी सहायतासे ही (वयं) हम (गो-मतः जनस्य संस्थे) गायोंवाले मनुष्योंकी संस्थामें रहकर (श्वसन्तं) लम्बी सांसें लेनेवाले थके शत्रुको (प्रति ब्रुवीमहि) योग्य उत्तर दें ॥ ११ ॥

[५२२] हे (पुरु-हूत) बहुतों द्वारा प्रशंसित इन्द्र ! हम (कारे) युद्धमें (कारिणः) हिंसा कर्म करनेवाले शत्रुओंको (जयेम) जीतें, तथा (दु-ढ्यः) दुष्ट बुद्धिवालों पर भी (अभि तिष्ठेम) शासन करें । (नृभिः) मरुतोंकी सहायतासे (वृत्रं हन्याम) वृत्रको मारें, फिर तुम्हारा (शूशुयाम) यश बढावें । हे (इन्द्र) इन्द्र ! (नः धियः प्र अव) हमारी बुद्धियोंकी रक्षा करो ॥ १२ ॥

[५२३] हे (इन्द्र) इन्द्र ! (त्वं जनुषा अ-भ्रातृव्यः) तुम जन्मसे ही शत्रुरहित हो , तथा (सनात्) चिरकालसे (अना अनापिः असि) बन्धुरहित हो, तुम (आपित्वं) बन्धुत्वको (युधा इत् इच्छसे) युद्धसे ही चाहते हो ॥ १३ ॥

[५२४] हे इन्द्र तुम (रेवन्तं) धनवान्को ही (सख्याय न किः विन्दसे) मित्रताके लिए प्राप्त नहीं करते हो, क्योंकि (सुरा-श्वः) शराब पीकर धनकी वृद्धिको प्राप्त हुए वे लोग (ते पीयन्ति) तुम्हारी हिंसा करना चाहते हैं, (यदा) जब (नदनुं) स्तुति करनेवालेको (कृणोषि) धनवाला करते हो, (सं ऊहासि) और उसका पोषण करते हो, (आत् इत्) तब (पिता इव हूयसे) पिताके समान बुलाये जाते हो ॥ १४ ॥

भावार्थ— जो इन्द्र हमें धन प्रदान करता है, उसी इन्द्रकी हम स्तुति करते हैं, ताकि वह हमारी रक्षा करे ॥ ९ ॥

सज्जनोंके पालन करनेवाले इन्द्रकी सदा हर्षयुक्त चित्तसे प्रार्थना करनी चाहिए । तब वह प्रसन्न होकर हमें ऐश्वर्य प्रदान करेगा । दूसरोंकी प्रशंसा सदा निर्मल चित्तसे ही करनी चाहिए ॥ १० ॥

हे इन्द्र ! तुमसे अच्छी तरह सुरक्षित होकर हम युद्धोंमें शत्रुओंका पराभव करें ॥ ११ ॥

युद्धमें शत्रुता करनेवाले शत्रुओंको हम जीतें । दुष्टबुद्धिवालोंपर शासन करें । वीरोंके साथ रहकर शत्रुको मारें, यश बढायें । अतः हे इन्द्र ! हमारी बुद्धियोंकी सुरक्षा कर ॥ १२ ॥

हे इन्द्र ! तुम जन्मसे ही शत्रुरहित हो । तुम सदा बन्धुरहित-शत्रुरहित हो । तुम बन्धुपन युद्धसे चाहते हो ॥ १३ ॥

यज्ञ न करनेवाले धनवान्को तुम मित्र नहीं बनाते हो, क्योंकि वे शराबसे मस्त होकर तुम्हारी हिंसा करना चाहते हैं । इन्द्र अहंकारियोंका सहायक कभी नहीं होता ॥ १४ ॥

५२५ मा ते अमाजुरो यथा मूरास इन्द्र सख्ये त्वावतः । नि षदाम सचा सुते ॥ १५ ॥

५२६ मा ते गोदत्र निरराम राधस इन्द्र मा ते गृहामहि ।
दृळ्हा चिदर्यः प्र मृशाभ्या भर न ते दामान आदभे ॥ १६ ॥

५२७ इन्द्रो वा घेदियन्मघं सरस्वती वा सुभगा ददिर्वसु । त्वं वा चित्र दाशुषे ॥ १७ ॥

५२८ चित्र इद् राजा राजका इदन्यके यके सरस्वतीमनु ।
पर्जन्य इव ततनद्धि वृष्टया सहस्रमयुता ददत् ॥ १८ ॥

[२२]

(ऋषि- १८ सोभरिः काण्वः । देवता- अश्विनौ १-६ प्रगाथ = (विषमा बृहती, समा सतोबृहती),
छन्द- ७ बृहती, ८ अनुष्टुप्, ११ ककुप्, १२ मध्येज्योतिः प्रगाथः= (९, १३, १५, १७
ककुप्; १०, १४, १६, १८ सतोबृहती) ।

५२९ ओ त्यमह्व आ रथमद्या दंसिष्ठमूतये ।
यमश्विना सुहवा रुद्रवर्तनी आ सूर्यायै तस्थथुः ॥ १ ॥

अर्थ— [५२५] हे (इन्द्र) इन्द्र ! (ते) तुम्हारे हम (त्वावतः सख्ये) तुम्हारी मित्रतामें (मूरासः यथा) मूर्खोंके समान (अमाजुरः मा) घरमेंही वृद्ध न हों, हम (सुते) सोमयागमें (सचा निषदाम) संघटित होकर बैठेंगे ॥ १५ ॥

[५२६] हे (गो-दत्र) गाय आदिको देनेवाले इन्द्र ! (ते राधसः मा निरराम) तेरे धनसे हम पृथक् न हों । हे (इन्द्र) इन्द्र ! हम (ते) तुझसे भिन्न मनुष्यसे धन (मा गृहामहि) न लें । हे (अर्यः) स्वामिन् ! तू (दृळ्हा चिद् प्रमृश) बलशाली धनोंको हमें दे; (आ भर) अच्छी तरह भर दे, (ते दामानः न आ दभे) तेरे दानको कोई दबा नहीं सकता ॥ १६ ॥

[५२७] (दाशुषे) दान देनेवाले मुझे (इयत् मघं) इतना सारा ऐश्वर्य (इन्द्रः वा घ इत्) या तो इन्द्रने दिया, (वा) अथवा (वसुः) इतना धन (सुभगा सरस्वती ददिः) उत्तम ऐश्वर्यशालिनी सरस्वतीने दिया (वा) या फिर हे (चित्र) वरणीय राजन् ! (त्वं) तूने दिया ॥ १७ ॥

[५२८] (सरस्वतीं अनु) सरस्वतीके पास रहनेवाले (अन्यके राजकाः यके इत्) दूसरे राजा तो छोटे ही हैं, केवल (चित्रः इत् राजा) चित्र ही बडा राजा है, क्योंकि उसने (पर्जन्यः वृष्टया ततनत् इव) जिस तरह मेघ वृष्टिके द्वारा जलको चारों ओर फैलाता है, उसी तरह (सहस्रं अयुता ददत्) हजारों और लाखों धन दिए ॥ १८ ॥

[२२]

[५२९] (ओ) आह, (अद्य) आज (त्यं) उस (दंसिष्ठं रथं) अत्यन्त दर्शनीय रथको, (यं) जिसपर (सुहवा) सुखपूर्वक बुलानेयोग्य (रुद्रवर्तनी) दुःखको दूर करनेके मार्गसे जानेहारे अश्विदेव (सूर्यायै आ तस्थथुः) सूर्याके लिए चढ चुके थे, (ऊतये आ अह्वे) संरक्षणके लिए मैं उनको बुलाता हूँ ॥ १ ॥

भावार्थ— हे इन्द्र ! तुम्हारी मित्रतामें रहकर हम घरमें ही निष्क्रिय बैठकर वृद्ध न हों, अपितु सदा याग करते हुए संघटित होकर बैठेंगे ॥ १५ ॥

हे इन्द्र ! तेरा जो ऐश्वर्य है, उस ऐश्वर्यसे हम कभी दूर न हों । अतः तू हमें सदा बलसे युक्त धन दे । हम उस धनकी रक्षा करनेमें समर्थ हों और उसे कोई शत्रु छीन न सके ॥ १६ ॥

दान देनेवाले दाताको सभी देव तो ऐश्वर्य प्रदान करते ही हैं, पर मनुष्य भी उसकी धन द्वारा सहायता करते हैं ॥ १७ ॥

जो राजा या ऐश्वर्यशाली ज्ञानसे युक्त होकर भी अच्छी तरह दान नहीं देते, वे बडे होते हुए भी छोटे ही है । पर जो मेघकी तरह दानकी वर्षा करते हैं, वेही सच्चे राजा और सबके द्वारा वरणीय होते हैं ॥ १८ ॥

अश्विदेव उषाके प्रकाशक हैं । इन्हींके कारण सर्वत्र प्रकाश होता है, इसीलिए ये बुलानेयोग्य हैं ॥ १ ॥

५३० पूर्वापुषं सुहवं पुरुस्पृहं भुज्युं वाजेषु पूर्व्यम् ।
सचनावन्तं सुमतिभिः सोभरे विद्वेषसमनेहसम् ॥ २ ॥
५३१ इह त्या पुरुभूतमा देवा नमोभिरश्विना ।
अर्वाचीना स्ववसे करामहे गन्तारा दाशुषो गृहम् ॥ ३ ॥
५३२ युवो रथस्य परि चक्रमीयत ईर्मान्यद् वामिषण्यति ।
अस्माँ अच्छा सुमतिर्वां शुभस्पती आ धेनुरिव धावतु ॥ ४ ॥
५३३ रथो यो वां त्रिवन्धुरो हिरण्याभीशुरश्विना ।
परि द्यावापृथिवी भूषति श्रुतस्तेन नासत्या गतम् ॥ ५ ॥

अर्थ—[५३०] हे (सोभरे) सोभरी ऋषि ! (पूर्वा-पुषं) पहले आनेवाले स्तोताओंके पोषणकर्ता, (सुहवं) सुगमतापूर्वक बुलानेयोग्य, (पुरु-स्पृहं) बहुतसे लोग जिसकी इच्छा करते हैं ऐसे, (भुज्युं) भुज्युको, भोजन देनेवाले, (वाजेषु पूर्व्यं) युद्धोंमें सबसे पहले जाकर खडे होनेवाले, (सचनावन्तं) साथी लोगोंसे युक्त, (वि द्वेषसं) शत्रुओंका विशेष रूपसे द्वेष करनेवाले एवं (अनेहसं) त्रुटिरहित अश्विदेवोंके रथको तू (सुमतिभिः) अच्छी मननीय स्तुतियोंसे प्रशंसित कर ॥ २ ॥

[५३१] (त्या) वे दोनों (दाशुषः गृहं गन्तारा) दानी पुरुषके घर जानेवाले, (देवा) तेजस्वी और (पुरु-भूतमा) बहुत अधिक मात्रामें उपस्थित होनेवाले अश्विदेवोंको (इह) इधर (नमोभिः) नमनपूर्वक (स्ववसे) भलीभाँति रक्षा करनेके लिए (अर्वाचीना करामहे) हमारे अभिमुख करते हैं ॥ ३ ॥

[५३२] (युवोः रथस्य चक्रं) तुम्हारे रथका चक्र (परि ईयते) चारों ओर चला जाता है और (अन्यत्) दूसरा पहिया (ईर्मा वां इषण्यति) प्रेरणकर्ता तुम्हें प्राप्त होता है इसलिए हे (शुभस्पती) शुभके अधिपति ! (वां सुमतिः) तुम्हारी अच्छी बुद्धि, (धेनुः इव) गायके तुल्य जोकि अपने बछडेके समीप दौडी चली जाती है, (अस्मान् अच्छ आ धावतु) हमारे समीप जल्द दौडती आजाय ॥ ४ ॥

[५३३] हे (नासत्या अश्विना) सत्यमय अश्विदेवों ! (वां यः) तुम दोनोंको जो (त्रिवन्धुरः हिरण्य-अभीशुः) तीन स्थानोंमें सुन्दर प्रतीत होनेवाला और सुवर्णमय चाबूकसे युक्त रथ (श्रुतः) विख्यात है तथा (द्यावा-पृथिवी परि भूषति) द्युलोक एवं भूलोकको अलंकृत करता है (तेन आ गतं) उससे इधर पधारो ॥ ५ ॥

भावार्थ— अश्विनोंने भुज्युकी रक्षा की, अतः हे ऋषि ! तू इन देवोंकी रक्षा कर, जो अपने भोजन देनेवालेकी रक्षा करता है, उसकी रक्षा ज्ञानी करते हैं ॥ २ ॥

दोनों देव तेजस्वी और सर्वत्र संचार करनेवाले हैं और वे दानी पुरुषोंके घर ही जानेवाले हैं । अतः हम भी दानी होकर उन्हें अपने घर बुलावें ॥ ३ ॥

हे देवो ! तुम्हारा रथ सर्वत्र जानेवाला है, ये सब जगह जाकर कल्याणका विस्तार करते हैं । अतः उनकी अच्छी बुद्धि हमें भी प्राप्त हो और हम भी सबका कल्याण करें ॥ ४ ॥

चारों ओर दृढतासे बंधा हुआ अश्वि देवोंका रथ सब जगह बिना किसी रुकावटके जाता है, इनके रथके कारण द्यु और पृथ्वी दोनों लोक सुशोभित होते हैं । इसी तरह मनुष्योंके रथ भी सर्वत्र जानेवाले हों तथा जहां वे जाएं वहां वे सुशोभित हों ॥ ५ ॥

५३४ दशस्यन्ता मनवे पूर्व्यं दिवि यवं वृकेण कर्षथः ।
ता वामद्य सुमतिभिः शुभस्पती अश्विना प्र स्तुवीमहि ॥ ६ ॥
५३५ उप नो वाजिनीवसू यातमृतस्य पथिभिः ।
येभिस्तृक्षिं वृषणा त्रासदस्यवं महे क्षत्राय जिन्वथः ॥ ७ ॥
५३६ अयं वामद्रिभिः सुतः सोमो नरा वृषण्वसू ।
आ यातं सोमपीतये पिबतं दाशुषो गृहे ॥ ८ ॥
५३७ आ हि रुहतमश्विना रथे कोशे हिरण्यये वृषण्वसू । युञ्जाथां पीवरीरिषः ॥ ९ ॥
५३८ याभिः पक्थमवथो याभिरध्रिगुं याभिर्बभ्रुं विजोषसम् ।
ताभिर्नो मक्षू तूयमश्विना गतं भिषज्यतं यदातुरम् ॥ १० ॥

अर्थ— [५३४] हे (शुभस्पती) शुभके पालनकर्ता अश्विदेवों ! (मनवे पूर्व्यं) मनुको पहले विद्यमान धन आदि (दिवि दशस्यन्ता) द्युलोकमें देते हुए तुम (वृकेण यवं कर्षथः) हलसे जौको भूमिपर खींचते हो अर्थात् कृषिकर्म करते हो (अद्य) आज (ता वां) ऐसे विख्यात तुम दोनोंको (सुमतिभिः) अच्छी प्रसन्न बुद्धियोंसे (प्र स्तुवीमहि) खूब प्रशंसित करते हैं ॥ ६ ॥

[५३५] हे (वाजिनी-वसू) अन्न या सेनारूपी धनवाले और (वृषणा) बलिष्ठ अश्विदेवों ! (येभिः ऋतस्य पथिभिः) जिन ऋतके मार्गोंसे त्रसदस्युके पुत्र तृक्षिको (महे क्षत्राय) बडेभारी क्षत्रियोचित वीरताके लिए (जिन्वथः) प्रेरित करने जाते हो इन्हीं मार्गोंसे (नः उप यातं) हमारे समीप आओ ॥ ७ ॥

[५३६] हे (नरा) नेता एवं (वृषण्वसू) धनकी वर्षा करनेहारे अश्विदेवों ! (अयं सोमः) यह सोमरस (वां) तुम दोनोंके लिए (अद्रिभिः सुतः) पत्थरोंसे कूटकर निचोडा गया है; (सोमपीतये आ यातं) सोमपानके लिए आजाओ और (दाशुषः गृहे पिबतं) दानीके घर उसका पान करो ॥ ८ ॥

[५३७] हे (वृषण्वसू) धनकी वर्षा करनेहारे अश्विदेवों ! (हिरण्यये कोशे रथे) सुवर्णमय भांडारवत् रथपर (आ रुहतं हि) चढकर बैठो और (पीवरीः इषः युञ्जाथां) पुष्ट करनेवाली सुसमृद्ध अन्नसामग्रियोंका संयोग करदो ॥ ९ ॥

[५३८] हे अश्विदेवों ! (याभिः) जिन शक्तियोंसे (पक्थं अवथः) पक्थ नरेशकी रक्षा करते हो, (याभिः अध्रिगुं) जिनसे ऐसे नरेशको बचाते कि जिसकी गतिमें कोई रुकावट न डाल सकता हो और (याभिः वि-जोषसं बभ्रुं) जिनकी मददसे विशेष सेवा करनेवाले बभ्रु नरेशकी सेवा करते हो, (ताभिः) उनसे युक्त होकर (नः तूयं) हमारे समीप शीघ्र (मक्षु आ गतं) तुरन्त आओ तथा (यत् आतुरं) जो कोई बीमार दीख पडे उसकी (भिषज्यतं) औषधादिद्वारा चिकित्सा करो ॥ १० ॥

भावार्थ— ये दोनों कल्याणका पालन करनेवाले हैं। ये दोनों देव होकर खेतीका काम करते हैं। खेतीका काम सर्व श्रेष्ठ काम है, जिसे देव भी करते हैं ॥ ६ ॥

अश्विदेव लोगोंको उत्तममार्गसे चलकर वीरता प्राप्त करनेके लिए प्रेरणा देते हैं। मनुष्य वीरता प्राप्त करें, पर अधर्म मार्गसे नहीं, अपितु सत्यके मार्ग पर चलकर ही वीर बनें ॥ ७ ॥

ये दोनों देव धनकी वर्षा करनेवाले हैं, पर ये धनकी वर्षा उसी पर करते है, जिसके घर सोम पीते हैं, और ये सोम उसीके घर पीते हैं, जो दानी होता है ॥ ८ ॥

इनका रथ स्वर्णके भांडारसे समृद्ध है, तथा पोषण करनेवाले अन्नसे भी युक्त है ॥ ९ ॥

अश्विदेवोंने पवित्र मार्गसे चलनेवालेकी, लोगोंका भरण पोषण करनेवालेकी, तथा ऐसे क्षत्रिय वीरकी कि जिसकी गति कहीं रुकती नहीं, रक्षा की थी। सब एक दूसरेका भरण पोषण करें, स्वयं पवित्र मार्गसे चलें ॥ १० ॥

५३९ यदध्रिगावो अध्रिगू इदा चिदह्नो अश्विना हवामहे । वयं गीर्भिर्विपन्यवः ॥ ११ ॥
५४० ताभिरा यातं वृषणोप मे हवं विश्वप्सुं विश्ववार्यम् ।
इषा मंहिष्ठा पुरुभूतमा नरा याभिः क्रिविं वावृधुस्ताभिरा गतम् ॥ १२ ॥
५४१ ताविदा चिदहानां तावश्विना वन्दमान उप ब्रुवे । ता ऊ नमोभिरीमहे ॥ १३ ॥
५४२ ताविद् दोषा ता उषसि शुभस्पती ता यामन् रुद्रवर्तनी ।
मा नो मर्ताय रिपवे वाजिनीवसू परो रुद्रावति ख्यतम् ॥ १४ ॥
५४३ आ सुग्म्याय सुग्म्यं प्राता रथेनाश्विना वा सक्षणी । हुवे पितेव सोभरी ॥ १५ ॥

अर्थ— [५३९] (यत्) जबकि (विपन्यवः) बुद्धिमान् (अध्रिगावः वयं) रुकावटका अनुभव न करते हुए हम (गीर्भिः) भाषणोंसे (अह्नः इदा चित्) दिनके इस समय भी (अध्रिगू अश्विना) अप्रतिहत गतिवाले अश्विदेवोंको (हवामहे) बुलाते हैं तो वे अवश्यही आयेंगे ॥ ११ ॥

[५४०] हे (वृषणा) बलवानो ! (मे) मेरी (विश्वप्सुं) सभी रूप धारण करनेवाली एवं (विश्ववार्यं हवं) सबने स्वीकरणीय पुकारको सुनकर (आ) हमारे अभिमुख होकर (ताभिः उप यातं) उन शक्ति या युक्तियोंसे सज्ज हो या समीप आओ, हे (पुरु-भूतमा) अधिकतया उपस्थित होनेवाले ! (मंहिष्ठा नरा) अतिशय दान देनेवाले एवं नेता अश्विदेवों ! (याभिः क्रिविं वावृधुः) जिन शक्तियोंसे तुमने कुएँको जलपूर्ण कर दिया (ताभिः इषा आ गतम्) उनसे और अन्नसे युक्त हो इधर आओ ॥ १२ ॥

[५४१] (अहानां इदा चित्) दिनोंके इस अवसरपरही (तौ) उन दोनों अश्विदेवोंको (वन्दमानः) नमन करता हुआ, (तौ उप ब्रुवे) उनके समीप जाकर मैं अपना वक्तव्य कहता हूँ, (नमोभिः) नमनपूर्वक (तौ उ ईमहे) उन्हींको हम चाहते हैं ॥ १३ ॥

[५४२] (तौ शुभस्पती) उन दो अच्छोंके पालक अश्विदेवोंको (दोषा इत्) रात्रीके मौकेपर भी, (तौ उषसि) उन्हें प्रातःकाल भी, (ता रुद्रवर्तनी) उन दो वीरभद्रके पथपर चलनेवाले अश्विदेवोंको (यामन्) यात्रा करते समय हम बुलाते हैं । हे (वाजिनी-वसू रुद्रौ) बलरूपी धनवाले ! शत्रुको रुलानेवाले ! (नः) हमें (रिपवे मर्ताय) शत्रुभूत मानवके लिए (मा परः अति ख्यतं) न कभी आगे कह दो । शत्रुको हमारा पता न लगे ॥ १४ ॥

[५४३] मैं सोभरी (पिता इव हुवे) पिता जिस तरह पुत्रोंको बुलाता है वैसेही बुलाता हूँ; (सक्षणी) सेवनीय अश्विदेवों (सुग्म्याय) सुख पानेकी योग्यता रखनेवालेको (प्रातः) सुबह (रथेन वा) चाहे तो रथपरसे (सुग्म्यं आ) सुख पहुँचानेके लिए आओ ॥ १५ ॥

भावार्थ— यदि बुद्धिमान् मनुष्य हृदयसे अश्विदेवोंको बुलाये तो वे उसकी प्रार्थना अवश्य सुनते हैं और वे अवश्यही आते हैं ॥ ११ ॥

हे बलवान् देवो ! हमारी प्रार्थनाको सुनकर तुम सभी शक्तियोंसे सज्ज होकर आओ । जिस प्रकार कुंआ जलसे पूर्ण होता है, उसी तरह तुम अन्नसे पूर्ण होकर हमारे पास आओ ॥ १२ ॥

प्रतिदिन मैं अश्विदेवोंको नमन करता हूँ, नम्रतापूर्वक उनकी वंदना करता हूँ ॥ १३ ॥

शुभका पालन करो, वीरोंके मार्गसे गमन करो, बलको धन मानो, शत्रुको अपना पता न दो, अपना स्थान सुरक्षित रखो ॥ १४ ॥

पिता जैसे अपने पुत्रोंका पालन करता है, उसी तरह अश्विदेव हमारा पालन करें ॥ १५ ॥

५४४ मनोजवसा वृषणा मदच्युता मक्षुंगमाभिरूतिभिः ।
आरात्ताच्चिद् भूतमस्मे अवसे पूर्वीभिः पुरुभोजसा ॥ १६ ॥
५४५ आ नो अश्वावदश्विना वर्तिर्यासिष्टं मधुपातमा नरा । गोमद् दस्रा हिरण्यवत् ॥ १७ ॥
५४६ सुप्रावर्गं सुवीर्यं सुष्ठु वार्यमनाधृष्टं रक्षस्विना ।
अस्मिन्ना वामायाने वाजिनीवसू विश्वा वामानि धीमहि ॥ १८ ॥

[२३]

(ऋषि- ३० विश्वमना वैयश्वः । देवता- अग्निः । छन्द- उष्णिक् ।)

५४७ ईळिष्वा हि प्रतीव्यं यजस्व जातवेदसम् । चरिष्णुधूममगृभीतशोचिषम् ॥ १ ॥
५४८ दामानं विश्वचर्षणेऽग्निं विश्वमनो गिरा । उत स्तुषे विष्पर्धसो रथानाम् ॥ २ ॥

अर्थ— [५४४] हे (मनो-जवसा) मनवत् वेगसे आनेवाले ! (वृषणा) बलवान् ! (पुरु-भोजसा) बहुत लोगोंको भोगके साधन देनेवाले ! (मदच्युता) शत्रुके मदको हटानेवाले ! अश्विदेवों ! (अस्मे अवसे) हमारी रक्षाके लिए (पूर्वीभिः) बहुतसी तथा (मक्षुं-गमाभिः ऊतिभिः) शीघ्र गतिवाली रक्षणकी शक्तिसे युक्त होकर (आरात्तात् चित्) समीपही (भूतं) तुम रहने लगो ॥ १६ ॥

[५४५] हे (मधु-पातमा) अत्यन्त मधुर सोमरस पीनेहारे ! (दस्रा) शत्रुविनाशक ! (नरा) नेता अश्विदेवों ! (नः गोमत् अश्वावत्) हमारे गोधन एवं वाजिधनसे पूर्ण (हिरण्यवत् वर्तिः आ यासिष्टं) सुवर्णयुक्त निवासस्थलमें आओ ॥ १७ ॥

[५४६] हे (वाजिनी-वसू) बलरूपी धनवाले ! (रक्षस्विना अन्‌आधृष्टं) रक्षणशक्तिसे युक्त पुरुषके द्वारा भी जिसपर हमला करना असंभव हुआ हो, (सुप्रावर्गं) सुगमतासे प्रदान करनेयोग्य और (सुवीर्यं सुष्ठु वार्यं) अच्छी वीरतासे युक्त अतः भलीभाँति स्वीकरणीय ऐसे गुणोंसे युक्त (विश्वा वामानि) सभी धनोंको (वां अस्मिन् आयाने) तुम दोनोंके इस आगमनसे (आ धीमहि) हम धारण करते हैं ॥ १८ ॥

[२३]

[५४७] हे स्तोताओ ! तुम सब (प्रतीव्यं ईळिष्व) शत्रुओंपर आक्रमण करनेवाले अग्निकी स्तुति करो । और (चरिष्णुधूमं, अगृभीतशोचिषं जातवेदसं हि यजस्व) जिसका धूम सब ओर फैलता है, जिसकी ज्वाला पकडनेमें कोई समर्थ नहीं ऐसे संसारके सब पदार्थोंके जाननेवाले अग्निकी स्तुति और पूजा करो ॥ १ ॥

[५४८] हे (विश्वचर्षणे विश्वमनः) संसारके सब पदार्थोंको देखनेवाले तथा सबपर मनन करनेवाले मनुष्य तुम (विस्पर्धसः, रथानां दामानं अग्निं) विविध प्रकारकी स्पर्धा करनेवाले मनुष्योंको रथादियोंके देनेवाले अग्निकी (उत गिरा स्तुषे) स्तोत्रोंद्वारा स्तुति करो ॥ २ ॥

१ विस्पर्धसः रथानां दामानः— यह अग्नि स्पर्धा करनेवाले मनुष्योंको रथ प्रदान करता है ।

भावार्थ— ये दोनों देव मनके समान वेगवाले, बलवान्, लोगोंको सुखके साधन देनेवाले और शत्रुके अभिमानको चूर चूर करनेवाले हैं । वे हमारे पास रक्षण शक्तिसे युक्त होकर आवें ॥ १६ ॥

हे सोमपान करनेवाले देवो ! तुम शत्रुविनाशक हो, अतः तुम स्वर्ण आदि धनसे युक्त होकर हमारे पास आओ ॥ १७ ॥

धन ऐसा हो कि जिसे शत्रु हमला करके छीन न सकें, जो आसानीसे दूसरोंको दिया जा सके, अच्छी वीरतासे युक्त हो और उत्तम गुणोंसे युक्त हो ॥ १८ ॥

यह अग्नि संसारमें उत्पन्न हुए हुए सब पदार्थोंको जानने और देखनेवाला है । इसकी ज्वालाको कोई पकड नहीं सकता । ऐसा यह अग्नि उन्हीं लोगोंको धन प्रदान करता है, जो संसारमें स्पर्धा करते हुए आगे बढते हैं । इसके विपरीत जो सदा सुस्त होकर बैठे रहते हैं, कुछ भी परिश्रम नहीं करते, उन्हें यह किसी प्रकारकी सहायता नहीं देता ॥ १-२ ॥

५४९ येषामाबाध ऋग्मिय इषः पृक्षश्च निग्रभे । उपविदा वह्निर्विन्दते वसु ॥ ३ ॥
५५० उदस्य शोचिरस्थाद् दीदियुषो व्यजरम् । तपुर्जम्भस्य सुद्युतो गणश्रियः ॥ ४ ॥
५५१ उदु तिष्ठ स्वध्वर स्तवानो देव्या कृपा । अभिख्या भासा बृहता शुशुक्वनिः ॥५॥
५५२ अग्ने याहि सुशस्तिभिर्हव्या जुह्वान आनुषक् । यथा दूतो बभूथ हव्यवाहनः ॥ ६ ॥
५५३ अग्निं वः पूर्व्यं हुवे होतारं चर्षणीनाम् । तमया वाचा गृणे तमु वः स्तुषे ॥ ७ ॥

अर्थ—[५४९] (आबाधः ऋग्मियः वह्निः) दुष्टोंको सब ओरसे पीडित करनेवाला, ऋचाओंसे स्तुति करने योग्य अग्नि (येषां इषः च पृक्षः निग्रभे) जिनके अन्न और सोमरसको ग्रहण करता है वे (उपविदा वसु विन्दते) विवेकपूर्वक हवि प्रदान द्वारा धन प्राप्त करते हैं ॥ ३ ॥

१ आबाधः येषां इषः निग्रभे वसु विन्दते— दुष्टोंको सब ओरसे पीडित करनेवाला यह अग्नि जिस मनुष्यकी हवि स्वीकार करता है, वह धन प्राप्त करता है।

[५५०] (दीदियुषः तपुः जम्भस्य सुद्युतः, गणश्रियः) देदीप्यमान, शत्रुओंको संताप देनेवाले दाढोंसे युक्त, शोभनकान्तियुक्त, दर्शनीय शोभासे व्याप्त, (अस्य वि अजरं शोचिः उत् अस्थात्) इस अग्निका अविनाशी तेज ऊपर प्रदीप्त होता है ॥ ४ ॥

१ दीदियुषः गणश्रियः तपुः जम्भस्य शोचिः उत् अस्थात्— जो मनुष्य तेजस्वी दलके अन्दर रहकर शत्रुओंको पीडित करता है, उसका तेज सबसे श्रेष्ठ हो जाता है।

[५५१] हे (सु अध्वर) सुन्दर यज्ञ करनेवाले मनुष्य ! तू (अभिख्या, भासा बृहता, शुशुक्वनिः स्तवानः) कीर्ति, तेज और महानतासे युक्त होकर निरन्तर तेजस्वी रहते हुए एवं अग्निकी स्तुति करते हुए (देव्या कृपा उत्तिष्ठ उ) इस अग्नि देवकी कृपासे उन्नत हो ॥ ५ ॥

१ देव्या कृपा अभिख्या, भासा बृहता उत्तिष्ठ— मनुष्य अग्नि देवकी कृपासे कीर्ति, तेज, महानतासे युक्त होकर उन्नत होता है।

[५५२] हे (अग्ने) अग्ने ! (यथा हव्यवाहनः दूतो बभूथ) चूंकि तू देवोंके लिए हव्य ले जानेवाला दूत बना है, अतः (सुशस्तिभिः हव्या आनुषक् जुह्वानः याहि) शोभन स्तोत्रोंके साथ, उत्तम हव्योंको निरन्तर ग्रहण करते हुये देवोंको हव्य प्रदान करनेके लिये जा ॥ ६ ॥

[५५३] मैं (चर्षणीनां होतारं पूर्व्यं अग्निं हुवे) मनुष्योंके होता अत्यन्त प्राचीन अग्निको बुलाता हूँ। और (तं अया वाचा वः गृणे) उस अग्निको बुला करके इस पवित्र वाणीसे तुम सबके लिये स्तुति करता हूँ। तथा (तं उ वः स्तुषे) उसका ही तुम सब मनुष्योंको स्तुति करनेके लिये उपदेश देता हूँ ॥ ७ ॥

१ तं उ वः स्तुषे— उस अग्निकी स्तुति करनेके लिए तुम्हें उपदेश देता हूँ।

भावार्थ—इस अग्निकी प्रसन्नता वरदान रूप होती है। यह जिस मनुष्यकी हवि स्वीकार करता है, वह हर तरहके ऐश्वर्यसे युक्त होता है। उसी तरह जिस मनुष्यके द्वारा खाया हुआ भोजन जाठराग्नि स्वीकार कर लेती है, अर्थात् पचा डालती है, वह मनुष्य उत्तम स्वास्थ्यरूपी ऐश्वर्यको प्राप्त करता है ॥ ३ ॥

जो समाजमें या अपने दलके सदस्योंके साथ हिलमिल कर रहता है, और समाजके शत्रुओंको पीडित करता है, उसका तेज उसके अन्य साथियोंकी अपेक्षा बढ जाता है और वह उस समाजका अग्नि- अग्रणी बन जाता है ॥ ४ ॥

तेजस्वी और श्रेष्ठतम होनेके लिए अग्निकी उपासना एकमात्र उपाय है। जो इस अग्निकी मनसे बुद्धिपूर्वक उपासना करता है, उसपर इस अग्निदेवकी कृपा बरसती है और वह उस कृपासे तेज, महानता, कीर्ति और शोभासे युक्त होकर हर तरहसे उन्नत होता है ॥ ५ ॥

यह अग्नि प्राचीनकालसे देवोंका दूत बना हुआ है। यह अग्नि देवोंका मुखरूप है। अतः इसमें डाली गई हवि देवोंतक पहुंचती है। जिस प्रकार कोई दूत प्रजाका संदेश राजातक और राजाका संदेश प्रजातक पहुंचाता है, उसी तरह यह अग्नि मनुष्योंकी हवि देवोंतक और देवोंकी कृपा मनुष्योंतक पहुंचाता है। इसीलिए यह पूज्य है ॥ ३-७ ॥

५५४ यज्ञेभिरद्भुतक्रतुं यं कृपा सूदयन्त इत् । मित्रं न जने सुधितमृतावनि ॥ ८ ॥
५५५ ऋतावानमृतायवो यज्ञस्य साधनं गिरा । उपो एनं जुजुषुर्नमसस्पदे ॥ ९ ॥
५५६ अच्छा नो अङ्गिरस्तमं यज्ञासो यन्तु संयतः । होता यो अस्ति विक्ष्वा यशस्तमः ॥ १० ॥
५५७ अग्ने तव त्ये अजरेन्धानासो बृहद् भाः । अश्वा इव वृषणस्तविषीयवः ॥ ११ ॥
५५८ स त्वं न ऊर्जां पते रयिं रास्व सुवीर्यम् । प्राव नस्तोके तनये समत्स्वा ॥ १२ ॥
५५९ यद् वा उ विश्पतिः शितः सुप्रीतो मनुषो विशि । विश्वेदग्निः प्रति रक्षांसि सेधति ॥ १३ ॥

अर्थ— [५५४] (अद्भुतक्रतुं, मित्रं न, सुधितं यं) अद्भुत ज्ञान और कर्मवाले, मित्रके समान हितकारी, उत्तम रीतिसे तर्पित जिस अग्निको, उपासक लोग (यज्ञेभिः सूदयन्ते) यज्ञोंके द्वारा घृत प्रदान करते हैं, उस (ऋतावनि जने) यज्ञ करनेवाले मनुष्य पर अग्नि (कृपा) अपनी कृपा बरसाता है ॥ ८ ॥

१ ऋतावनि जने कृपा— यज्ञ करनेवाले मनुष्य पर अग्निकी कृपा रहती है।

[५५५] (ऋतायवः) यज्ञकी कामना करनेवाले उपासको ! (ऋतावानं यज्ञस्य साधनं नमसः पदे) सत्य ज्ञानके दाता, यज्ञके साधनभूत, प्रतिष्ठाके पद पर स्थापित (एनं गिरा उपो जुजुषुः) इस अग्निकी स्तोत्रों द्वारा पूजा करो ॥ ९ ॥

१ ऋतावानः नमसः पदे— सत्यके मार्ग पर चलनेवाला मनुष्य प्रतिष्ठाके पद पर अधिष्ठित होता है।

[५५६] (यः विक्षु होता यशस्तमः अस्ति) जो अग्नि प्रजाओंमें होमका कर्ता और अत्यन्त यशस्वी है। उसी (अङ्गिरस्तमं अच्छ नः यज्ञासः आ संयतः यन्तु) सर्वश्रेष्ठ ज्ञानी अग्निके पास हमारे सब यज्ञ सब ओरसे पहुँचे ॥ १० ॥

[५५७] हे (अजर अग्ने) जरारहित अग्ने ! (तव त्ये इन्धानासः वृषणः बृहत् भाः) तेरा वह अत्यन्त देदीप्यमान, शुभ कामनाओंको पूर्ण करनेवाला रश्मियोंका महान् प्रकाश जाल (अश्वाः इव) अनेक अश्वोंकी तरह (तविषीयवः) अधिक शक्तिशाली है ॥ ११ ॥

[५५८] हे (ऊर्जां पते) अन्नोंके स्वामी अग्ने ! (सः त्वं नः सुवीर्यं रयिं रास्व) वह तू हमें उत्तम वीर्य युक्त ऐश्वर्य प्रदान कर। और (समत्सु नः तोके तनये प्राव) संग्रामोंमें हमारे पुत्र पौत्रोंकी अच्छी प्रकार रक्षा कर ॥ १२ ॥

[५५९] (यद् उ विश्पतिः शितः सुप्रीतः मनुषः विशि) जब भी प्रजाओंका पालक हवियोंसे तीक्ष्ण हुआ अग्नि अच्छी प्रकार प्रसन्न होकर गृहमें निवास करता है, उस समय वह (अग्निः विश्वेत् रक्षांसि प्रति सेधति) अग्नि समस्त वैरियोंका नाश कर देता है ॥ १३ ॥

भावार्थ— इस अग्निका काम बड़ा आश्चर्यकारक है। यह अपने ज्ञान द्वारा मनुष्योंका हित करता है। जो उपासक इसकी विशेष सेवा करता है, वह इस अग्निकी कृपासे हर तरहसे उन्नत एवं समृद्ध होता है ॥ ८ ॥

सत्यको प्राप्त करनेकी इच्छावाले जो मनुष्य सत्यके मार्ग पर चलते हैं, वे यज्ञको सिद्ध करके उत्तम पद पर प्रतिष्ठित होते हैं और अग्निके समान पूजित होते हैं ॥ ९ ॥

इस अग्रणीकी किरणें अश्वके समान बहुत अधिक शक्तिशाली हैं। इन्हीं किरणोंके कारण यह अत्यन्त तेजस्वी और जरारहित है। इसी कारण यह प्रजाओंमें सबसे अधिक यशस्वी है। सारे उत्तम कर्म इसीको लक्ष्य करके किए जाते हैं ॥ १०-११ ॥

घरमें जब यह यज्ञाग्नि उत्तम सामग्री आदि हवियोंसे अच्छी तरह प्रदीप्त होता है, तब उस अग्निके प्रभावसे घरके सारे कृमि-जन्तु आदि नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार रोगजन्तुओंके नष्ट हो जानेसे उस घरके स्वामी उसके पुत्र एवं पौत्र आदि सन्ततियां स्वास्थ्यरूपी ऐश्वर्य पाकर आनन्दसे उस घरमें रहते हैं। इस प्रकार यह यज्ञाग्नि प्रजाओंका पालन करती है ॥ १२-१३ ॥

५६० श्रुष्टयग्ने नवस्य मे स्तोमस्य वीर विश्पते । नि मायिनस्तपुषा रक्षसो दह ॥ १४ ॥
५६१ न तस्य मायया चन रिपुरीशीत मर्त्यः । यो अग्नये ददाश हव्यदातिभिः ॥ १५ ॥
५६२ व्यश्वस्त्वा वसुविदमुक्षण्युरप्रीणादृषिः । महो राये तमु त्वा समिधीमहि ॥ १६ ॥
५६३ उशना काव्यस्त्वा नि होतारमसादयत् । आयजिं त्वा मनवे जातवेदसम् ॥ १७ ॥
५६४ विश्वे हि त्वा सजोषसो देवासो दूतमक्रत । श्रुष्टी देव प्रथमो यज्ञियो भुवः ॥ १८ ॥
५६५ इमं घा वीरो अमृतं दूतं कृण्वीत मर्त्यः । पावकं कृष्णवर्तनिं विहायसम् ॥ १९ ॥

अर्थ— [५६०] हे (वीर विश्पते अग्ने) शूरवीर प्रजाओंके पालक अग्ने ! तू (मे स्तोमस्य श्रुष्टी) मेरे स्तोत्र वचनोंको श्रवण करके शीघ्र ही (मायिनः रक्षसः तपुषा नि दह) मायावी राक्षसोंको अपने सन्तापक तेजसे भस्म कर दे ॥ १४ ॥

[५६१] (यः हव्यदातिभिः अग्नये ददाश) जो उपासक ऋत्विजोंके द्वारा हविको अग्निके लिये प्रदान करता है (तस्य रिपुः मर्त्यः मायया चन) उस पर शत्रु मनुष्य भी अपनी कुटिल बुद्धिसे (ईशीत न) अपना अधिकार भी नहीं कर सकता है ॥ १५ ॥

१ यः अग्नये ददाश तस्य रिपुः मर्त्यः मायया चन न ईशीत— जो अग्निको प्रेमपूर्वक हवि देता है, उस पर शत्रु मनुष्य मायासे भी अधिकार नहीं जमा सकता है ।

[५६२] हे अग्ने ! (उक्षण्युः ऋषिः वि-अश्वः, वसुविदं त्वा अप्रीणात्) समस्त संसारको अपनी शक्तिसे सिंचित करनेवाले और सुखोंके वर्धक तुझको, चाहनेवाला ऋषि ऐश्वर्यके प्रदाता तुझको हव्योंसे तृप्त करता है । (तं उ महः राये त्वा समिधीमहि) उसी प्रकार हम भी बडे ऐश्वर्यकी प्राप्तिके लिये तुझको सम्यक् प्रकारसे प्रज्वलित करते हैं ॥ १६ ॥

[५६३] हे अग्ने ! (काव्यः उशना) स्तुति करनेवाले तथा कामना करनेवाले उपासकने (मनवे) मनुष्य-मात्रके कल्याणके लिये, (होतारं आयजिं, जातवेदसं त्वा नि असादयत्) होमनिष्पादक, यजन योग्य, संसारके सब पदार्थोंके ज्ञाता तुझको अपने गृहमें स्थापित किया ॥ १७ ॥

[५६४] हे (देव) प्रकाश स्वरूप अग्ने ! (सजोषसः विश्वे देवासः हि त्वा दूतं अक्रत) समान प्रीतिसे एक साथ रहनेवाले देवगणोंने तुझको अपना दूत बनाया । तू (श्रुष्टी प्रथमः यज्ञियः भुवः) शीघ्रतासे करनेके कारण यज्ञमें सबसे प्रथम पूज्य हुआ ॥ १८ ॥

[५६५] (वीरः मर्त्यः) कर्म करनेमें समर्थ पराक्रमशील हे मनुष्य ! तू (अमृतं, पावकं, कृष्णवर्तनिं, विहायसं) मरणधर्मरहित, पवित्र करनेवाले, जानेके पश्चात् अपने मार्गको काला करके छोडनेवाले और महान् शक्ति-वाले ऐसे (इमं घ दूतं कृण्वीत) इस अग्निकोही अपना दूत बना ॥ १९ ॥

भावार्थ— यह अग्नि अच्छी तरह प्रदीप्त होकर उपासकके सब शत्रुओंको नष्ट कर देता है । इसलिए अग्निके उपासक पर शत्रु मायासे भी अपना अधिकार नहीं कर सकते । इस प्रकार अग्नि अपने उपासककी हर तरहसे रक्षा करता है ॥ १४–१५ ॥

देवत्वकी प्राप्तिकी इच्छा करनेवाले ज्ञानी ऋषिने मनुष्य मात्रके कल्याणके लिए इस यज्ञाग्निका आविष्कार किया और गृह गृहमें यज्ञ करनेकी पद्धति शुरु की । उस ऋषिने इस यज्ञाग्निको हविसे तृप्त किया और स्वयं भी शक्तिमान् हो गया । अतः शक्तिको प्राप्त करनेकी इच्छावाले हर मनुष्यको चाहिए कि वह ऐसे अग्निको प्रदीप्त करे ॥ १६–१७ ॥

राष्ट्रका दूत अमर, पवित्र, समय आने पर भेद आदि कुटिल मार्गोंका भी अनुसरण करनेवाला, विशाल हृदयवाला तथा महान् शक्तिवाला हो । ऐसे मनुष्यकोही राजा अपना दूत बनावे । ऐसा राजा सर्वत्र पूजा जाता है तथा उसकी प्रजायें भी एक साथ संघटित होकर रहनेके कारण उत्तम गुणवाली होती हैं ॥ १८–१९ ॥

'संसारके पुस्तकालयमें ऋग्वेद प्राचीनतम ग्रंथ है'। संसारका ऐसा कोई ज्ञान नहीं, जो ऋग्वेदमें न हो। दार्शनिक, भौतिक, आध्यात्मिक, सामाजिक, सांसारिक आदि सभी विषयोंका समावेश ऋग्वेदमें है। अतः—

यदि आप जानना चाहते हैं

कि

(१) ऋग्वैदिक दार्शनिकता क्या है?

(२) ऋग्वैदिक समाजशास्त्र क्या है?

(३) ऋग्वैदिक भौतिकशास्त्र कैसा है?

(४) ऋग्वैदिक अध्यात्मविद्या क्या है?

(५) ऋग्वेदका सारांश क्या है?

तो अवश्य ग्राहक बनिये—

म. म. पं. श्री. दा. सातवलेकर कृत

ऋग्वेदका सुबोध भाष्य

(चार भागोंमें)

प्रकाशन कार्य आरंभ हो गया है। मंत्र, अर्थ, भावार्थ तथा हर मण्डलके अन्तमें उस मंडलका सारांश एवं कठिनस्थलोंका स्पष्टीकरण सभी कुछ पठनीय होगा। साइज- डबल क्राउन ८ पेजी सुन्दर कागज, पृष्ठ संख्या २५०० से ज्यादा, मूल्य मात्र ३०) रु. प्रत्येक भाग, पर—

(१) जो पेशगी धन भेज कर इस ग्रंथके ग्राहक होंगे, इन्हें केवल १००) में चारों भाग मिल सकेंगे।

(२) जो ग्राहक चारों भाग एक साथ खरीदेंगे, उन्हें इस ग्रंथके कुल मूल्य १००) रु. पर २०% कमीशन दिया जाएगा।

विशेष विवरणके लिए लिखें—

व्यवस्थापक—
स्वाध्याय-मण्डल पारडी,
पोस्ट- 'स्वाध्याय-मण्डल (पारडी),' पारडी [जि. वलसाड]

मुद्रक और प्रकाशक- व. श्री. सातवलेकर, भारत मुद्रणालय, पोस्ट- 'स्वाध्याय मण्डल, पारडी' [जि. वलसाड]

वैदिकधर्म

नवम्बर १९७४

१ रु.

★



पं. जवाहरलाल नेहरू



वै दि क ध र्म

वर्ष ५५ : अंक ११ : कार्तिक : २०३१

स्वामी— स्वाध्याय-मंडल, पारडी [जि. बलसाड]

संस्थापक एवं आद्यसंपादक

श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

संपादक

वसंत श्रीपाद सातवलेकर

वि ष या नु क्र म णि का

卐

' वैदिक धर्म ' वार्षिक मूल्य म. आ. से १०) रु.

वी. पी. से रु. १२) विदेशके लिए रु. १४), डाक व्यय अलग रहेगा।

इस अंकमें प्रसिद्ध किये गये लेखकोंके लेखोंमेंके मतों और विचारोंसे संपादक सहमत है ऐसा नहीं है। उन लेखोंमेंके विचारोंके लिये केवल लेखकही व्यक्तिशः उत्तरदायी हैं।

मंत्री— स्वाध्याय-मण्डल, पो.- 'स्वाध्याय-मण्डल (पारडी)' पारडी [जि. बलसाड]

वैदिक धर्म

राष्ट्रीय एकता

सं वो मनांसि सं व्रता समाकूतीर्नमामसि ।
अमी ये विव्रता स्थन तान्वः सं नमयामसि ॥
(अथर्व. ३-८-५)



(वः मनांसि सं) अपने मनोंको एक भावसे युक्त करो, (व्रता सं) अपने कर्मोंको एक भावसे युक्त करो, (आकूतिः सं नमामसि) संकल्पोंको एक भावसे झुकाते हैं । (अमी ये विव्रताः स्थन) यह जो तुम परस्पर विरुद्ध कर्म करनेवाले हो (तान् वः सं नमयामसि) उन सब तुमको एक विचारकी ओर झुकाते हैं ।

तुम्हारे मन एक हों, तुम्हारे कर्म एकताके लिए हों, तुम्हारे संकल्प एक हों जिससे तुम संघशक्तिसे युक्त हो जाओ । जो ये आपसमें विरोध करनेवाले हैं उन सबको हम एक विचारसे एकत्र झुका देते हैं ।

लेखक : श्री आचार्य मुंशीराम शर्मा

प्रथम पूजनीय

परम तत्व एक है, परन्तु विप्र उसका अनेक नामों द्वारा वर्णन करते है। ऐसा क्यों? ब्रह्मके लिए एकही नाम क्यों नहीं, अनेक क्यों हैं? इस प्रश्नका उत्तर ब्रह्मको अनन्त-गुण, अनन्त सामर्थ्य और अनंत शक्तिवाला कहकर दिया गया है। पर जहां उसे अनन्त गुण सम्पन्न कहा गया, वहीं उसे निर्गुण भी कहा गया है, ऐसा क्यों? जो गुणवान् है वह निर्गुण कैसे हो सकता है? इस प्रश्नका उत्तर दो रूपोंमें दिया गया है। एक उत्तर है ब्रह्मका प्राकृत गुणोंसे विहीन होना और अपने गुणोंसे समन्वित होना। हेय गुण प्रत्यनीक और अखिल गुण गणाधार ये दो शब्द ब्रह्मके लिये कतिपय आचार्यो द्वारा प्रयुक्त हुये हैं। ब्रह्म अपने गुणोंसे मण्डित है अतः वह सगुण है और विजातीय गुणोंसे पृथक है, इसलिए निर्गुण है। दूसरा उत्तर वैज्ञानिक एवं दार्शनिक दृष्टियोंको मिलाकर दिया जाता है। वैज्ञानिक दृष्टि यह है कि ब्रह्माण्डमें जो नियम काम कर रहे हैं, जो गति-समानता देखी जाती है, कारण-कार्यकी जो शृंखला चल रही है, प्राणियोंके जो विभिन्न स्तर हैं और उनमें कर्मका जो चक्र प्रचलित है, उन सबका नियामक, संचालक तथा अन्तिम कारण ब्रह्म है। इन दोनोंसे सम्बद्ध होनेके कारण ब्रह्मको सगुण कहा जाता है। वैज्ञानिक दृष्टिमें इस प्रकार ब्रह्मकी सगुणता प्रकृति और जीवके संबधसे है। जहां तक भौतिक जगत् है, उसके मूल, मध्य और अन्तमें ब्रह्मही परिव्याप्त है अर्थात् वह इसके जन्म, स्थिति और संहारका कारण है। इस लिए वह अपने गुणोंमें जगत्का कर्ता, धर्ता एवं संहर्ता है। जीवके नानास्तर उसके कर्मचक्रके परिणाम हैं। इन परिणामोंका संयोजक या नियामक ब्रह्म है, अतः उसे दृष्टा, कर्माध्यक्ष तथा कर्म फल-प्रदाता कहा जाता है। जीवकी दृष्टिसेही ब्रह्म दयालु और कृपालु भी कहलाता है। दुखी जीवों पर वही अपनी कृपा वृष्टि करता है और उन्हें दुखसे बचाता है। उसीकी करुणा जीवको बन्धनोंसे मुक्त करती है। उसीकी शरणागति मोक्ष-प्रदात्री है। अतः ब्रह्ममें ऐसे गुण भी हैं जिनका संबंध जीवात्माके साथ है। दार्शनिक दृष्टि ब्रह्मको इन दोनों प्रकारके सम्पर्कोंसे दूर ले जाती है, जहां ब्रह्मके साथ न प्रकृतिका कोई संबंध है और न जीवोंका। प्रकृति देश और कालमें आबद्ध है। जीवात्मा भी इन दोनोंसे मुक्त नहीं है। आकाशमें समग्र ब्रह्माण्ड है और वह भूत, वर्तमान तथा भविष्यके घेरेमें घिरा है। जीवात्मा भी हृदयाकाशमें निवास करता है। हृदयको अर्भक ओक या अगुष्ठ मात्र प्रदेश कहा गया है। यह आकाशकाही एक भाग है। अतः देशकी दृष्टिसे जीवात्मा अणु है। कालकी दृष्टिसे भी जीवात्मा न जाने कबसे विभिन्न योनियोंमें भ्रमण कर रहा है। कभी ऊंचे लोकोंमें जाता है तो कभी नीचे लोकोंमें गिरता है। कभी देवताकी कोटिमें पहुंच जाता है, तो कभी कृमि कीटोंकी जघन्य योनियोंको प्राप्त प्राप्त करता है। ब्रह्म इन दोनोंसे दूर अपने महान रूपमें प्रतिष्ठित रहता है। उसका स्वरूप सत् है, चित् है, आनन्द-मय है। वह है, अर्थात उसकी सत्ता है। यह सत्ता चिन्मय है, ज्ञानमय है और आनन्दमय है। परन्तु दार्शनिक दृष्टि यह भी कहती है कि ब्रह्म अनिर्देश्य है, अग्राह्य है, अनिर्वाच्य है। वह शान्त और परम अद्वैत है। कतिपय दार्शनिक अनिर्देश्यको शून्य भी कह देते हैं। निरंजन शब्द इसी शून्यावस्थाका द्योतक है। अज्ञान माया है। ब्रह्म निर्मायिकः है, मायासे रहित है, प्रपंचसे पृथक् है। दार्शनिक दृष्टियाँ भी कई रूपोंमें ब्रह्मका अनुवचन करती हैं। स्वंय अद्वैत तत्वही.कहीं शुद्धाद्वैत है, कहीं विशिष्टाद्वैत है, कहीं द्वैताद्वैत और कहीं द्वैत या त्रेत है। अनेक वाद प्रवर्तित हुये और ब्रह्मकी व्याख्यामें अपनी अपनी बात कह गये, परंतु वेदका यह कथन आज भी निर्विवाद रूपसे निर्णय माना जाता है एक सत् विप्रा बहुधा वदन्ति।

आर्य पद्धति इस ब्रह्मको ॐ, प्रणव या उद्गीथ कहती रही है। यही मूल नाम है, समस्त वाङ्मयका स्रोत है। वैयाकरण इसे मूल ध्वनि या स्फोट मानते रहे हैं। विज्ञानी

इसे वेदत्रयीका स्रोत समझते रहे हैं। भौतिकी दृष्टिवाले इसमें तीनों लोकोंके स्रोतको अनुभव करते हैं और मन्त्र शास्त्री इसमें ज्ञान, कर्म और भक्तिके त्रिकाण्डोंका दर्शन करते हैं। ॐ की व्याख्या माण्डूक्य उपनिषमें उपलब्ध है। उपनिषद छोटी है, परन्तु उसमें अपार ज्ञान राशि सन्निहित है। प्रश्नोपनिषदमें भी ॐ की व्याख्या है। सभी ऋषि चाहे वे उपनिषदोंके वक्ता हों, चाहे स्मृतियों और शास्त्रोंके, ॐ नामसे ब्रह्मको उपासनाका वर्णन करते रहे हैं। ॐ इति उपासीत। ओम् नाम लेकरही ब्रह्मकी उपासना करो। ब्रह्मके नाम तो अनेक थे, परन्तु उनमें प्रमुखता ॐ नामकोही प्राप्त हुई वेदसे लेकर आज तक हमारा सम्पूर्ण साहित्य ॐ के महिमा गानसे ओत प्रोत है। इसे न पौराणिक छोड पाये, न जैन एवं बौद्ध। शाक्तोंमें मंत्र तन्त्र विद्या बाहुल्यसे प्रचलित हुई, ॐ का परित्याग उन्होंने भी नहीं किया। भारतमें केवल रामानंदी सम्प्रदायवालोंने राम नामको महत्व देकर उसीका प्रचार और प्रसार किया। गोस्वामी तुलसीदासने अरण्यकाण्डमें नारदके द्वारा भगवानसे यह प्रार्थना की है कि आपके जितने नाम हैं, उनमें राम नामही सबसे अधिक मान्य हो।

वेदमें अग्नि, मित्र, इन्द्र, वरुण, यम, मातरिश्वा, बृहस्पति, आदि अनेक नामों द्वारा प्रभुको स्मरण किया गया है। इन सभी नामोंमें ब्रह्मके किसी न किसी गुणका समावेश है। इन्द्र ऐश्वर्य शाली है, तो वरुण धारक तथा वरणीय है। यम विश्वका नियन्ता है, तो बृहस्पति निखिल, ब्रह्माण्डोंका पालक है। अग्नि ज्ञान स्वरूप, प्रकाश स्वरूप एव गति दाता है, तो मित्र मृत्युसे त्राण करनेवाला है। इसी प्रकार प्रत्येक नाम ब्रह्मके किसी न किसी गुण या विशेषताका व्यापक है, परन्तु जिस नामको बार-बार जपने और अन्तमें स्मरण करनेके लिए कहा गया है वह ॐ नाम है। ॐ क्रतो स्मर शब्द ऐसी तथ्यको प्रकट करते हैं। गीता भी प्रत्येक कार्यके आरम्भमें और मृत्युकालके समय ॐ का स्मरण और जाप करनेकी आज्ञा देती है। ॐ एकाक्षर ब्रह्मकी उपासना सभी ऋषीयोंको मान्य रही है। अन्य नाम ब्रह्मके एक एक गुणके द्योतक हैं, परन्तु ॐ में समस्त गुणोंका समाहार है। राम रमनेवाला व्यापक तत्व है, सर्वव्यापी तत्व है, कृष्ण आकर्षित करनेवाला है, शिव कल्याणकारी है, तो ॐ सब कुछ एक साथ है। उसकी त्रिमात्राएं एक ओर ब्रह्मा, विष्णु और महेशकी विशेषताओंको प्रकट करती हैं, तो दूसरी ओर सबके आदि, उत्कर्ष और मितिको भी गर्भमें निहित किये हैं। वेद मंत्रोंका उच्चारण ॐ कहकरही किया जाता है। याज्ञिक कर्मकाण्डका प्रारंभ ॐ कहकर होता है। आशीर्वाद देनेके समय ॐ स्वस्तिका उच्चार किया जाता है। इस प्रकार ॐ नामकीही हमारे जीवनमें व्याप्ति रही है। ॐ का जाप वैसे भी हमारे प्राणके द्वारा अनवरत रूपसे होता रहता है। यह प्राण अपने श्वासो-च्छ्वासमें निरन्तर ॐ काही जाप करता रहता है। प्राणके साथ ॐ लगा है। अतः हमें भी ॐके साथ संलग्न रहना चाहिए। यदि हमने ॐ का परित्याग न किया, तो ॐ भी हमारा परित्याग नहीं करेगा। ॐ के साथ एक हो जानाही हम सबका ध्येय है। ब्रह्म निर्वाण इसी ॐ जापका परिणाम है। ॐ को जो प्रणव कहा गया है, उसका कारण भी यही है। प्रणवमें प्र उपसर्ग है और नव नु स्तुतो धातुसे निष्पन्न होता है, प्रकृष्टस्तुति यदि किसीको है, तो वह इसी प्रणवकी इसी ॐ की। इसे उद्गीथ कहा गया है, क्योंकि ॐ का गान साधकको उर्ध्व लोकोंमे ले जाता है। उसे ऊर्ध्वगति प्रदान करता है।

कर्मकाण्डमें गणेश पूजनका प्रारंभ कबसे हुआ? यह तो ज्ञात नहीं है, परन्तु गणेश ओंकारकेही रूप हैं, इसे गणेश पुराणमें स्पष्टतः स्वीकार किया गया है। ओंकार तंत्रोंमें जिन चिह्नों द्वारा अंकित हुआ, वह चिह्न ओम न रहकर ॐ बन गया। स्वस्तिकका चिह्न भी रेखाओंको गोलाकार मिला देनेसे यही रूप धारण कर लेता है। स्वस्तिकके चारों ओर यदि वृत्तको परिधिका परिवेश बना दें, तो वह ब्रह्माण्ड तथा उसके एक एक पिण्डका रूप धारण कर लेगा। गणेशकी मुखाकृतिमें गज-शुण्डकी स्थापना इसी स्वस्तिक या ब्रह्माण्डकी वृत्ताकार स्थितिकी सूचिका है। प्राणी सृष्टिका सबसे श्रेष्ठ रूप मनुष्य है। इसे यदि दोनों हाथ फैलाकर खडा कर दिया जाय, तो यह भी स्वस्तिकका आकार ग्रहण कर लेगा। तन्त्रोंमें वर्णमालाका एक एक वर्ण मातृका कहलाता है। इन वर्णोंके निर्माणमें भी थोडीसी हेर-फेरके साथ इसी रूपकी प्रधानता है। गणेश-पूजा इसी तन्त्र-पद्धतिका विकसित रूप जान पडती है। कर्मकाण्डमें गणेशपूजाके रूपमें या तो पीली मिट्टीकी ढेलो रखी जाती है, जिस पर कलावा चढा रहता है या सुपाडी रखी जाती है। प्रतीक रूपमें ये वस्तुयें भी ब्रह्माण्डके आकारको प्रकट करती हैं। तन्त्रोंका ॐ भी ऐसा ही है। गणेश पूजा इसी ओंकारकी पूजा है।

उपनिषदोंके अनुसार तस्माद् या एतस्मात् आत्मनः आकाश. सम्भूतः सर्व प्रथम आकाशकी सृष्टि हुई। आका-शका गुण शब्द है। आकाशकी उत्पत्तिके साथ ही ओंकार रूपी ध्वनि उत्पन्न हुई। ओंकार ब्रह्म वाचक है। ओंकार कहते ही इस सृष्टिका तो ज्ञान होता ही है, इससे पूर्व की

अव्यक्त था, उसका भी ज्ञान ओंकार शब्द द्वारा ही होता है। माडूक्य उपनिषद्ने इसीलिए इदम् सर्व के साथ यच्च अन्यत् त्रिकालातीतम् तदपि ओंकार एव- त्रिकालसे जो अतीत है उसको भी ओंकार कह दिया है। व्यवहार्य और अव्यवहार्य दोनों ब्रह्म रूप ओंकार ही हैं। व्यवहार्य त्रिमात्रिक है और अव्यवहार्य चतुर्थ अमात्र है। ओंकारकी इसी महिमाको ध्यानमें रखते हुये श्रीमद् भागवत कहता है—

एतन्नानावताराणां विधानं बीजमव्ययम्।
यस्यांशांशेन सृज्यन्ते देवातिर्यङ् नरादयः॥१३५॥

ॐ नाना अवतारोंका विधान और अव्यय बीज है। इसीके अशांशोंसे देव तिर्यक योनिके प्राणी और मनुष्यादि उत्पन्न होते हैं। आचार्य शंकरने गणेशकी स्तुतिमें इसी भावको निबद्ध करते हुये लिखा है—

यमेकाक्षर निर्मलम् निर्विकल्पं
गुणातीतमानन्दमाकारशून्यम्।
परम्पारमोंकारमाम्नायगर्भम्
वदन्तिप्रगल्भं पुराणम् तमीडे॥

जिसे एकाक्षर, निर्मल, निर्विकल्प, गुणातीत, आनन्दमय, आकार शून्य, परेसे परे ओंकार स्वरूप वेदगर्भ और प्रगल्भ पुराण पुरुष कहा जाता है, उन्हीं गणपतिका मैं स्तवन करता हू। ॐ की आकृति गणेशकी ही आकृति है। ॐ के ऊपर जो चद्र बिन्दु रहता है, वही गणेशके भालका चन्द्रमा है। उसके नीचे जो गोलाकार लिये हुए पूंछ रहती है, वह गणेशके दक्षिण हाथमें रखा मोदक है। उसका प्रथम रूप गज शुण्ड है। गणेश तापिनी उपनिषद इसको ओर स्पष्ट संकेत करती है। उसीके शब्दोंमें ततश्च ॐ इति ध्वनि अभूत् स वै गजाकारः। गणेश-पुराण तो गणेशको ओंकार रूप ही मानता है:-

ओंकार रूपी भगवान यो वेदादौ प्रतिष्ठितः।

ॐ अव्यय है और उसका अर्थ है रक्षा करनेवाला। गणेशको भी रक्षक कहा गया है। वे विघ्न-विनाशक हैं। मदोत्कट, मयरेश्वर, गजानन आदि अवतारोंमें उन्होंने अपने भक्तोंकी रक्षा की है। तांत्रिक ॐ के अतिरिक्त जो ओइम् है, उसमें अकार चरणरूप है, इकार उदर रूप है और मकार मस्तक रूप है। तीनों मिलकर मूल बीज ओंकार कहलाते हैं। गज- वदन गणेशकी आकृति इसीलिए ओंकारकी आकृति है। गणेश-पुराणका वचन है- ओंकार रूपी भगवान् उक्तस्तु गणनायकः। यथा सर्वेषु कर्मसु पूज्यते असौ विनायकः।

गणेशको ही ब्रह्मणस्पति और बृहस्पति भी कहा जाता है। वेदमें ज्येष्ठ राज शब्द भी इसी अर्थका द्योतक है। ॐ कार सबमें ज्येष्ठ है, श्रेष्ठ है, वह सबके मूलमें विराजमान है, अतः उसे ज्येष्ठराज कहना समीचीन है। वह ब्रह्म या ज्ञानका स्वामी है, अतः वह ब्रह्मणस्पति या बृहस्पति भी है। मुद्गल पुराण खण्ड ८ में गणेशको सिद्धिबुद्धि पति ब्रह्मणस्पति, मांगल्यस्वामी, सर्वपूज्य और विघ्नोंका नायक कहा गया है। नारद पुराण पूर्व भाग ५१।१० भी ओंकार श्चाथशब्दश्च द्वौ एतौ ब्रह्मणः पुरा। कण्ठं भित्वा विनिर्यातौ तस्मान्मांगलिकावुभौ। श्लोकमें ओंकार और अथ शब्द दोनोंको मगलवाची कहता है। रामचरितमानसमें जैसे रामको ब्रह्मा, विष्णु, महेश सबके ऊपर स्थान दिया है- जग पेरवनि तुम देखन हारे। विधि हरि शम्भु नचावन हारे, वैसे ही गणेश- स्तवमें अकारको वासुदेव (विष्णु) उकारको विधि (ब्रह्मा) और मकारको महादेव कह कर प्रणव रूप गणेशकी स्तुति की गई है। निम्नांकित श्लोक भी इसी कोटिका है-

यदाज्ञया सृष्टिकरो विधाता
यदाज्ञया पालक एव विष्णुः।
यदाज्ञया संहरको हरोऽपि
ओंकाररूपी सगणश्च हरितः॥

ऋ० १०।११२।९ में न ऋते त्वत् क्रियते किञ्चनारे शब्द सिद्ध करते हैं कि गणेश अर्थात गणाधिपतिको ओंकार रूपी ब्रह्मका स्मरण किये बिना कोई कार्य नहीं करना चाहिए। मंत्रकी अन्तिम पंक्ति माघवाको अर्चनीय चित्र ब्रह्मकी अर्चना करनेकी आज्ञा देती है। अतः मन्त्रमें जिस गणेशको गणोंके बीचमें बैठनेके लिए कहा गया है, वह गणतन्त्रका या सभाका अध्यक्ष माना जायेगा। अध्यक्षकी आज्ञासे सभाके समस्त कार्य सम्पन्न होते हैं, परन्तु उसे स्वयं मघवा अथवा ऐश्वर्य शाली होते हुए भी सर्व प्रथम सभाके पूर्व पूजनीय ब्रह्मकी पूजा करनी चाहिए।

तुलसीकी यह चौपाई इस प्रकरणमें ठीक बैठती है—

महिमा जासु जान गणराऊ।
प्रथम पूजियत नाम प्रभाऊ॥

गणेश इस लिए पूज्य हैं कि वे स्वयं ॐ नामके प्रभावको जानते हैं। इसका तात्पर्य यह भी हो सकता है कि ओंकार स्वयं प्रभुका नाम है, उसीसे प्रभुकी महत्ताका ज्ञान होता है। अतः कार्यके प्रारंभमें उसका जाप करना चाहिए। ॐ आकाशात्मने श्री महागणपतये नमः इस नाम- मंत्रमें महा गणपतिका उल्लेख है। यहाँ महागणपतिको ओंकार तथा

आकाश रूप माना गया है। महादेवको तो आशुतोष कहते ही है, गणेशको भी बुद्धि प्रिय तथा क्षिप्रप्रसादन कहा गया है। (गणेश पुराणके अन्तर्गत गणेश सहस्रनाम स्तोत्र)।

रामचरित मानसमें महादेव और पार्वती दोनों गणेशकी पूजा करते हैं। गणेशको वे अनादि देव समझते हैं। जो गणेश पार्वती- पुत्र हैं उनकी पूजा पार्वती करें, महादेव स्वय अपने पुत्रकी पूजा करें, यह सामान्य नरको आश्चर्य-कारक प्रतीत होगा, परन्तु योगमें स्थिति ऐसी ही हैं। कुण्डलिनी रूपी पार्वती जाग्रत होकर जब सुषुम्नाके मार्गसे चक्रोंका भेदन करती हुई ऊपर चढती है तब आज्ञा- चक्रमें शम्भु भवानीकी मिलन-ज्योति प्रकट होती है। आज्ञा चक्रको इसी हेतु द्विदलात्मक, संगमकी संज्ञा भी प्राप्त है। संगमसे उत्पन्न यह ज्योति प्रथम एक बिन्दुमें, बिन्दुसे बढकर रेखामें, रेखासे बढकर तीन खडी रेखाओंमें और तीन खडी रेखाओंसे बढकर तीन पडी रेखाओंमें परिणत हो जाती है।

ओंकारका यही रूप है। गणेशका भी यही रूप है। जो ओंकार रूपी गणेश मूलाधार चक्रमें कुंडली बांधे पडे थे, वे अब अउम वर्ण मातृकाकी ज्योति रूपमें कुंडली खोले पडे हैं। वे अब उत्पन्न या अभिव्यक्त हुए हैं। यह ओंकार रूपी गणेश आज्ञा चक्रके उपरान्त होते हैं। इसीलिए इन्हें शिव और पार्वतीका पुत्र कहा गया है। परन्तु कुण्डलिनी रूपी पार्वती स्वयं इनके आराधनमें मग्न होती हैं। पार्वती श्रद्धाका प्रतीक हैं और शिव विश्वासके प्रतीक हैं। श्रद्धा और विश्वास दोनों मिलकर ही साधकको ब्रह्म- परायण बनाते है। योगीयोंका कहना है कि यदि आज्ञा- चक्रमें स्थिति सुदृढ हो गई और उससे उत्पन्न ॐ ज्योतिमें चित्त स्थिर हो गया तो ललना चक्रको पार करते हुये साधक सहस्रार चक्रमें पहुच जाता है। शिव और पार्वतीका अखण्ड मिलन या एकरूपता इसी चक्रमें सिद्ध होती है। इस सिद्धिके लिए आज्ञा चक्रके उपरान्त उत्पन्न ओंकार रूपी ज्योतिके ध्यानमें स्थिर होना पडता है। ओंकारकी तीन मात्रायें गंगा-यमुना-सरस्वती, इडा-पिंगला-सुषुम्ना या चंद्र-सूर्य-अग्निके संगमकी भी प्रतीक हैं। ×

पौराणिक कथायें आध्यात्मिक तथ्योंका ही रूपान्तर हैं। पुराणकारोंने इन कथाओंके बहाने वैदिक रहस्योंका ही उद्घाटन किया है। परन्तु पौराणिक कथाओंको इदमित्थम् रूपमें ग्रहण करना आवश्यक नहीं है। पुराणोंमें इन कथाओंके रूप भी सर्वत्र समान नहीं हैं। कवि-कल्पना कहानीको एक रूपका रहने ही नहीं देती। वाल्मीकिकी राम कथा, पद्मपुराणकी राम कथा, भागवतकी रामकथा और तुलसीकी राम कथामें अनेक अन्तर हैं। तुलसी स्वयं राम कथाको अपने ही ग्रन्थोंमें एकरूप नहीं दे सके। गीतावलीमें सीता वाल्मीकि आश्रममें वनवासिनी बनकर लवकुशको उत्पन्न करती हैं, परन्तु रामचरित मानसमें वह अयोध्याके राजमहलमें ही राजरानीके रूपमें लवकुशको जन्म देती हैं। अतः पाठकको कहानीके बाह्य रूप पर नहीं उसमें सन्निहित अन्तः भाव पर विचार करना चाहिए। शरीर नहीं, आत्मा पर ध्यान केन्द्रित करनेसे तत्त्वकी उपलब्धि होती है। अष्टावक्र कुबडे पुरुष थे, शरीरसे विरूप, परन्तु भीतरसे वे अध्यात्मके अपूर्व ज्ञाता थे। महामुनि व्यास स्वय काले कलूटे थे, परन्तु उनका हृदय और मन उदात्त थे। वे कितने ज्ञानी थे, यह तो उनकी शिष्य-परम्परा ही सिद्ध हो कर रही है। हमें भी पौराणिक कहानियोंके बाह्य रूपसे हटकर उनके अन्तस्तत्त्वमें प्रवेश करना चाहिये। रहस्यका उद्घाटन तभी हो सकेगा। गणेश संबंधी कथाओंमें भी सत् तत्वकी खोज इसी प्रकार करनी होगी। गणेशके जिन अवतारोंका वर्णन गणेश पुराणमें है वे उसी प्रकारके हैं जैसे रामके अथवा कृष्णके अवतारकी बाल- लीलायें किञ्चित् रूपपरिवर्तन किये हुये गणेशजीकी ही बाल लीलायें जान पडती हैं। इन कथाओंके माध्यमसे पुराणकारने असत पर सत् की, अशुभ परकी और अमंगलकी विजय प्रदर्शित की है।

इस प्रकार गणेशकी जो पूजा मांगलिक कार्योंके प्रारम्भमें की जाती है, वह वस्तुत ओंकारकी ही पूजा है। दोनोंकी मूर्तियों, अकनों या चित्रोंमें समरूपता है। यह पूजा विश्वके अनेक देशोंमें आजतक प्रचलित है और उस प्राचीन मान्यता, परम्पराकी शृंखला मात्र है जिसमें ॐ का स्मरण प्रत्येक कार्यके प्रारम्भमें मंगल जनक समझा जाता था।

× गणेश शिव और पार्वतीके पुत्र कहे जाते हैं। शिव ब्रह्म हैं तो पार्वती माया हैं। श्वेताश्वतर उपनिषदने प्रकृतिको माया और महेश्वरको मायिन् (मायाधिपति) कहा है। सात्वतोंने इन्हींको नारायण और लक्ष्मी तथा राधा और कृष्ण कहा। अध्यात्म रामायणमें यही राम और सीता हैं। योग पद्धतिके आधार पर ऊपर जो ओंकार रूपी गणेशकी उत्पत्ति लिखि गई है, उसका निर्वाह यहां नहीं होता। कृष्णको त्रिभंगी मुद्रा तो अवश्य ओंकारका रूप धारण कर लेती है पर धनुर्धर रामकी मूर्तिमें यह आकार नहीं बन पाता। यदि खींचतान करके बना भी ले, क्यों कि सभी आकार ओंकारकी वर्ण मातृकाओंसे ही निकले हैं, तो भी ओंकारके जप और स्मरणका आदेश गीतामें भगवान् कृष्णने जितने स्पष्ट रूपमें दिया है, वह रामसाहित्यमें उपलब्ध नहीं होता।

परवर्ती उपनिषद साहित्यमें रामतापनीय तथा नृसिंह तापनीय उपनिषदोंमें, जिनके पूर्व, तथा उत्तर दो-दो भाग हैं और जिनमें माण्डूक्य उपनिषदकी शब्दावलि ग्रहण की गई है, राम, कृष्ण और नृसिंहको ओंकार रूप ही माना गया है।

लेखक : श्री शि. शं. आपटे

एक संक्षिप्त जीवन–परिचय :

परम पूज्य महामंडलेश्वर स्वामी गंगेश्वरानंदजी

परमपूज्य महामंडलेश्वर स्वामी गंगेश्वरानंदजी, प्रज्ञाचक्षु (देहदृष्टि हीन) संन्यासी अब ९४ वें वर्षके हो रहे हैं। ये महान् सन्यासी विख्यात उदासीन सम्प्रदायके हैं, जिसका प्रादुर्भाव जगत्के रचयिता ब्रह्माके चार पुत्रोंमें एक श्री सनत्कुमारसे हुआ माना जाता है।

पूज्य स्वामीजी दक्षिणपूर्व एशियाकी यात्रा पर जानेके हेतु बेंकोकके लिए विमानयात्रा कर रहे हैं जहां पर वे मानव इतिहासका अभीतक जाना हुआ प्राचीनतम साहित्यिक आलेख पवित्रतम वेद ग्रंथोंको उन बहुसख्यक मंदिरों, मठों और आश्रमोंको उपहार रूप देंगे जहां पर इस पवित्र ग्रंथका पूजन होता है। साथ ही उन विश्वविद्यालयों, पुस्तकालयों और ऐसी सस्थाओंको भी वेदग्रंथ देंगे, जहां पर संस्कृत एवं वेदोंका अध्ययन होता है। स्वामीजीने अभीतक भारतमें लगभग ६०० सस्थाओंको वेदभगवान् भेट रूप प्रदान किये हैं। इन प्रकार हिन्दुओंके चार प्रमुख तीर्थस्थलों, 'चतुर्धामों' और सभी आचार्य पीठों पर पवित्र वेद मदिर स्थापित किये गये हैं। अनेक स्थानों पर उन राज्योंके राज्यपालोंने वेदभगवान्के मंदिर स्थापन समारोहको स्वयं सम्पन्न किया। ११ अप्रेल १९७३ ई को प्रधान मंत्री श्रीमती इंदिरा गांधीने स्वयं अपने हाथों देहलीमें पवित्र वेद ग्रंथकी स्थापना की। इसी प्रकारके समारोह नेपालके हिन्दू राज्यके छः स्थानों (महाराजाके महल और भारतीय दूतावास सहित) पर सम्पन्न किये गये। अंतिम वेदग्रंथ उपहार सेंट जेवियर्स कालेज, बम्बईके सस्कृत विभागको प्रदान किया गया।

स्वामीजीकी अब इच्छा है कि मानवीय विद्या एवं ज्ञानको इस प्राचीनतम एवं पवित्रतम निधिको भारतके बाहरकी उन सभी संस्थाओंको दानरूपमें दी जाय जो इस भेंटका स्वागत करेंगे। स्वामीजी सबसे पहले फिजी तककी दक्षिण पूर्व एशियाकी यात्रा करेंगे और तब फिर पश्चिमी देशोंमें जाएंगे। यह सम्पूर्ण विदेश भ्रमण विश्व हिन्दू परिषद्के पूर्ण सहयोगसे नियोजित एवं संयोजित किया जा रहा है।

उदासीन सम्प्रदायके १८२ वें आचार्य हमारे स्वामीजीका जन्म २७ दिसम्बर १८८१ ई को पंजाबमे पं. रामदत्त और सरलादेवीके परिवारमें हुआ था। जब वे केवल पांच वर्षके बालक थे, नाम चंद्रेश्वर था, तब उनको वृंदावनमें भगवान् कृष्णके दर्शन करने उनके माता-पिता ले जा रहे थे। चंद्रेश्वर चेचककी भयानक लपेटमें आ गये जिसमें उनकी दोनों आंखोंकी दृष्टि चली गयी। फिर भी इस यात्राके पूर्व ही उन्हें भगवान् कृष्णके दर्शनका वरदान प्राप्त हो चुका था, यह कह सकते हैं, कि इस दर्शनके बाद, प्रभुके दिव्य हाथने उनकी आंखें पूरी तरह बंद कर दीं ताकि संसारके अन्य दृश्य न दिखायी दें। सात वर्षकी आयुमें, उदासीन सम्प्रदायके १८१ वें आचार्य, गुरु रामानंदजीने चंद्रेश्वरको अपने आशीषसे अनुग्रहीत किया और उन्हें विष्णु सहस्रनाम और भगवत्गीताके कंठपाठ करनेका निर्देश दिया। पांच देवोंकी 'पंचदेव उपासना' तथा बादमें बारह-बारह वर्षोंकी कठोर योगसाधना करनेका निर्देश भी चंद्रेश्वरको दिया गया।

३४ वर्षकी आयुमें गंगेश्वरानंदके नामसे चंद्रेश्वरको संन्यास धर्ममें प्रविष्ट कराया गया।

उनके गुरु रामानंदने अपने शिष्यको काशीमें जाने और धर्मग्रंथोंके अध्ययन करनेका निर्देश दिया। तीन वर्षोंमें ही, स्वामी गंगेश्वरानंदने व्याकरण, न्याय, मीमांसा, वेद,

उपनिषद् और अन्य धर्मग्रंथोंके ऐसे पाठ्यक्रमको पूरा कर लिया, जिसे पूरी दृष्टिवाला विद्यार्थी भी बीस वर्षोंमें कठिनाईसे पूरा कर सकेगा। जब स्वामीजीकी दृष्टि चली गयी थी, तब प्रभुकी कृपासे किसी भी 'ध्वनि' को ठीकसे याद रखनेकी ऐसी अपूर्व शक्ति उन्हें प्राप्त हो गयी थी, कि वह उनकी न मिटनेवाली स्मृतिमें उन्हें सुनायी पड़ती थी। जैसा कि उनके बड़े गुरुकी इच्छा थी, स्वामीजीने पढ़ाई की और पंजाब यूनीवर्सिटीसे शास्त्री (स्नातक) की उपाधि प्राप्त की।

यह निरपवाद रूपसे देखा गया है कि एक व्यक्ति जो जीवनके क्षेत्रमें अखिल भारतीय नेता बनना चाहता है और ऐसी रूपमें मान्यता चाहता है, उसे अपनी मातृभूमि भारतमाताको सिरसे पैर तक देखना और समझना चाहिए। स्वामीजी अनेक साधुओंके साथ भारतकी तीर्थयात्रा पर निकल पड़े और उसे पूरा किया। अपने जीवनके लक्ष्य पर बढ़नेसे पहले उन्होंने सभी पवित्र स्थलों नदियों और पर्वतोंकी यात्रा की।

स्वामीजीने उत्तर भारतके अनेक शैक्षणिक संस्थानोंका कार्यभार सम्हाला। उन्होंने लाहौरमें श्री सनातनधर्म विद्यालय, काशीमें श्री उदासीन संस्कृत विद्यालय तथा बिहारके निमानी गाँवमें श्री सरस्वती पाठशाला प्रारंभ की। फिर स्वामीजीने १८ लाख रुपयोंकी बड़ी लागतसे अमृतसरमें लक्ष्मीनारायण मंदिरका निर्माण करवाया और चमत्कारके रूपमें सारी अड़चनोंको पार करके दुर्गयाना झीलको भरनेके लिए एक लंबी नहर खुदवायी और यह भी ऐसे समयमें, जब कि दूसरा महायुद्ध पूरे जोरों पर था। उन्होंने १९४० में चार वेदों, श्रीमद्भागवत और भगवत्गीताके पाठके साथ इस मंदिरके उद्घाटनका समारोह मनाया। स्वामीजीने दससे अधिक आश्रमोंको खोलकर एक अनूठा कीर्तिमान स्थापित किया, जो सभी एक करोड़की संपत्ति हैं, उन्होंने सार्वजनिकन्यास (ट्रस्ट)को सौंप दिये हैं।

इन सभी वर्षोंमें, स्वामीजी जो कि महामंडलेश्वर हो गये थे, अपने शिविर कुंभमेलोंमें लगाते रहे जहाँ पर उन्होंने असंख्य लोगोंको कपड़े, भोजन और सभी प्रकारकी सुविधाएँ प्रदान कीं।

स्वामीजीकी उपलब्धियोंमें सर्वाधिक प्रशंसनीय कार्य उनका धार्मिक एवं दार्शनिक विषयोंपर दससे अधिक बड़े ग्रंथोंका रचयिता होना है। उनका साहित्यिक योगदान उल्लेखनीय है जिसमें 'श्रौत मुनि चरितामृत' 'उदासीन संप्रदायका इतिहास' तथा 'रामभाष्य' नामकी टीका आज भी बहुत ही प्रामाणिक और विद्वत्तापूर्ण कृतियाँ मानी जाती हैं। स्वामीजीने 'भक्ति' 'कर्म' और 'ज्ञान' तथा इसी प्रकारके अन्य अत्यंत कठिन विषयों पर सैकड़ों लेख लिखे हैं। जिन्हें विदित है, वे आज भी हिन्दू शास्त्रोंसे संबंधित विषयों पर शास्त्रार्थों एवं संविवादोंमें उनकी सफलताओंका स्मरण करते हैं।

इन सब कार्योंके अतिरिक्त स्वामीजीने समय-समय पर यज्ञ-समारोहों, भागवत सप्ताहों तथा अन्य ऐसे ही आयोजनोंको प्रोत्साहित किया तथा उनका उद्घाटन भी किया।

उनके जीवनका सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य, जो कि आनेवाली पीढ़ियाँ याद करेंगी चारों वेदोंका संकलन करना तथा एक ही ग्रंथमें उनको प्रकाशित करना है। १५" × २०" आकारके लगभग एक हजार पृष्ठोंके इस महाग्रंथ (जिसका वजन २२ किलोग्राम है) के प्रकाशनमें ढाई लाखसे अधिक रुपयोंकी लागत लगी है।

भारतमाताके प्रति अपार प्रेम और सनातनधर्म एवं संस्कृतिके प्रति निरीह आस्थासे अनुप्राणित, स्वामीजी मनुष्यकी एकता एवं भ्रातृत्वमें पूर्ण विश्वास रखते हैं। उनके इस असाधारण चरित्रके कारण ही, सभी संप्रदायों, धर्मों और मानववंशोंमें उनके श्रद्धालु प्रशंसक मिलते हैं तथा भारतके प्रधान मंत्रियोंसे लेकर सामान्य मनुष्यों तक समाजके सभी वर्गोंमें उनके असंख्य भक्त मिलते हैं। यह कहा जाता है कि एक अच्छा सन्यासी अपना नाम, कुटुम्ब, जन्मभूमि, विद्या, आयु, इतिहास, संकल्प, आचरण इत्यादिके बारेमे कुछ नहीं बताता है। जो कुछ थोड़ासा हमने उनके भक्तों एवं अनुयायियोंसे इकट्ठा किया है, ऊपरलिखित शब्दोंमें लिखा गया है।

इन महात्माने, हमें पता नहीं, कदाचित् कुछ ऐसा भी किया हो, जिसे संसार 'चमत्कार' कहता है, परंतु हमारे लिए तो वस्तुतः वे स्वयं ही एक चमत्कार हैं। उनको देखिए, उन महात्माको जानिए तथा उनका आशीष प्राप्त कीजिए।

लेखक : श्री शोभनाथ पाठक

लोक व्यापी लक्ष्मी पूजाका पर्व दीपावली

ल क्ष्मी पू जा

दीपावलीकी दिव्यतामें कितना निखार आ जाता है, जब दीपकी लौसे लक्ष्मीकी आरती होती है, जिसमें समाधी सुख समृद्धिकी कामना मानव मनको निहाल कर- कमलासना के कमलवत चरणों पर छलक पडनेको अधीर हो जाती है। भावनाओंका आवेग थामे नहीं थमता वरन अगणित दीपज्योतिके रूपमें उफन पडता है। समष्टि रूपसे यही कहा जाना उचित होगा कि दीपावली लक्ष्मी पूजनका पावन पर्व है जिसमें सम्पन्नताके सपने संजोये समाजका प्रत्येक प्राणी अपनी पावन श्रद्धाको, लक्ष्मीके प्रति उडेल, आशाके दीप चढा, आलोकसे अन्धकारको चीरनेका आह्वान करता है।

विश्व वैभवकी स्त्रोत लक्ष्मीका लोक व्यापी स्वरूप चिरकालसे ही समाज द्वारा पूज्य रहा है। इनकी महत्ताको आँकना आसान नहीं है। आदि कालसे ही लक्ष्मीकी लोक व्यापकता अक्षुण्ण रही है। विष्णु पत्नी लक्ष्मी देवीकी वरीयताको विश्वके प्राचीनतम ग्रंथ ऋग्वेदमें परखिये यथा:-

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो
यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्राः सर्वायः सख्यानि जानते,
भद्रैषां, 'लक्ष्मी' निहिताधि वाचि॥

ऋग्वेद १०।८१।२

लक्ष्मीकी कृपाके लिए लोग लालायित रहते हैं अत उनकी आकर्षक देवी लक्ष्मीको ऋग्वेदमें 'श्री' 'पुरन्धी' आदि नामोंसे सम्बोधित किया गया है। यहां केवल 'लक्ष्मी' की वरीयताको उजागर किया जा रहा है। अतः ऐश्वर्य व सम्पदाकी देवी 'लक्ष्मी' का यही रूप अथर्ववेदमें भी परखिये यथाः—

ऋतं सत्यं तपो राष्ट्रं,
श्रमो धर्मश्च कर्म च,
भूतं भविष्यदुच्छिष्टे वीर्यं,
लक्ष्मीबलं ... ... ॥

(अथर्ववेद ११।९।१७)

अर्थात् ऋत सत्य-बल, वीर्य, पुण्य सौभाग्य आदिसे समन्वित देवी लक्ष्मीकी कृपासे सब कुछ प्राप्त किया जा सकता है। श्री सम्पन्नताकी कामना प्रत्येक प्राणी करता है। 'श्री' और 'लक्ष्मी' सम्पदाके ही सूचक शब्द हैं। इसका विवेचन यजुर्वेद ३१।२२ में किया गया है। लक्ष्मी विष्णुकी प्रिया है जो समुद्रमंथनसे उन्हे प्राप्त हुई थी। १४ रत्नोंमें लक्ष्मी समृद्धिकी देवी यथा:-

श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ,
अहोरात्रे पार्श्वे नक्षत्राणि रूपं।
अश्विनौ व्यात्तम इष्णन्निषाणामुं,
इषाण सर्वलोक म इषाण॥

भारतीय संस्कृतिको संवारनेवाले वैदिक ग्रंथोंमें लक्ष्मी विविध रूपोंमें प्रकट हुई हैं। मार्कण्डेय पुराणमें उन्हें-

'इन्दिरा कमला लक्ष्मी: सा श्री रुक्माम्बु जासना' जबकि वाजसेनेयी संहितामें लक्ष्मीको आदित्यसे सम्बद्ध किया गया है। 'विष्णुपुराण' में सागर मन्थनका वृत्तान्त है, और उसीसे लक्ष्मीकी उत्पत्ति बताई गई है। संभवतः इसीलिए 'मत्स्यपुराण' में स्पष्ट निर्देश है कि जहां कहीं भी विष्णुकी प्रतिमा प्रतिष्ठित की जाए वहां लक्ष्मीकी भी

होनी चाहिए। 'विष्णुस्मृति' में तो लक्ष्मी स्वयं कहती है कि वे सदैव ही विष्णुके पास रहना चाहती हैं। 'विष्णु पुराण' में लक्ष्मीकी स्तुति ऐश्वर्य प्राप्तिके लिए की जाती है ऐसा बताया गया है, जब कि 'मत्स्यपुराण' में द्वादशी व्रतके वर्णन द्वारा विष्णु-लक्ष्मीकी पूजाको प्रधानता दी गई है। सम्पत्ति व ऐश्वर्य प्राप्तिके लिए 'पद्मपुराण' के उत्तराखंड और स्कन्दपुराणके कार्तिक मास माहात्म्यमें लक्ष्मी पूजाका विशद वर्णन है।

लक्ष्मीपूजा विषयक तथ्योंपर भी गंभीरतासे विचार करना चाहिए। वैसे लोग रात्रिमें पूजा करते है जब कि कमलासना लक्ष्मीका कमल रात्रिको बन्द हो जाता है अतः पूजाका समय तो 'प्रदोष समये लक्ष्मी पूजयित्वा यथाक्रमम्' केवल पूजासेही यदि लक्ष्मी प्राप्त हो जाएँ तब तो सभी लोग घंटे-दो घंटे पूजा करके धनवान् बन जाएँ, किन्तु वास्तविक धनवान बननेके लिए मनुष्यको चरित्र, स्वभाव, श्रम, शील, आदि गुणोसे निखरना चाहिए क्योंकि लक्ष्मी स्वयं उसे पसंद करती है जिसे उनकेही मुखसे सुनिये—

वसामि नित्यं सुभगे प्रगल्भे,
दक्षेनरेकर्मणि सवर्तमाने।
अक्रोधते देवपरे कृतज्ञे,
जितेंद्रियः नित्यमुदीर्णसत्वे।
स्वधर्मशीलेषु च धर्मवित्सु,
वृद्धोपसेवानिरते च दान्ते।
कृतात्मांने क्षान्तिप्रिये समर्थे,
क्षान्तासु दान्तासु तथाऽवलासु।
वसामि नारीषु पतिव्रतासु,
कल्याणशीलासु विभूषितासु॥

कहनेका तात्पर्य की सद्गुणोका समवायही लक्ष्मीका वासस्थल है अतः समृद्धिकी आकांक्षा रखनेवालेको सच्चरित्रताके साथ साथ श्रमशील भी होना चाहिए क्योंकि

'उद्योगिन पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी'

श्रम सीकरसे सिक्त समृद्धि स्थायी होती है तभी तो दीपावलीको पावनतामें श्रमसे जहाँ स्वच्छताका वातावरण सर्वत्र व्याप्त हो जाता है उसी प्रकार सच्चरित्रताका भी आह्वान किया गया है यथा—

सत्याधारस्तपस्तेज,
दयावर्ति क्षमा शिखा
अन्धकारे प्रवेष्टके
दीपो यत्नेन वार्यताम्॥

सत्य-शील-श्रम-दम-व्रत-संयम आदि ही तो भारतीय संस्कृतिकी थाती है जिसपर 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' का भव्य प्रासाद प्रतिष्ठित है इसी लिए तो—

भूमिः कीर्ति यशो लक्ष्मी
पुरुषं प्रार्थयन्ति ही।
सत्यं समनुवर्तन्ते,
सत्यं समनुवर्तन्ते॥

दीपावलीके आलोकमें दीप लौ कर आह्वान भी यही है कि हम सत्यपथपर सच्चरित्रताके सम्बलसे श्रमोपार्जित सुख प्राप्त करें। दीपावलीके प्रातः जो सूप बजाकर औरते समृद्धि (लक्ष्मी) को बुलाती व दारिद्र्यको भगाती है उसका तात्पर्य भी यही है कि प्रातःकाल उठकर अपने दैनिक कार्यको निरखारिये। ब्रह्ममुहूर्तका उठना सुख समृद्धि प्रदात है जब कि—

सूर्योदये चास्तमिते शयानम्।
विमुञ्चति श्रीपादि चक्रपाणि॥

अर्थात् सूर्योदयके बाद उठनेवालेसे लक्ष्मी छोड़ देती है भले ही वह विष्णुके समान ही क्यों न वैभववान् हो। अतः अपने बहुमुखी विकास तथा स्थायी समृद्धिके लिए चारित्रिक निखारके साथ श्रमशील बनकर दीपावलीकी दिव्यतामें समायी समष्टिगत विभूतियोंके आदर्शोंको अंतरमें उतार कर स्वयं व राष्ट्र व मानवताको संवारनेका संकल्प कीजिये। दीपावलीका तात्पर्य ही सुख समृद्धिका स्त्रोत उड़ेलना है—

अमावस्या यदा रात्रौ,
दिवाभागे चतुर्दशी।
पूजनीया तदा लक्ष्मी-
र्जिया सुखरात्रिका॥

साहित्य – सत्कार

विष– ऋषि–मृत्युका कारण

प्रकाशक– वैदिक परमार्थ आश्रम, गोपाल निवास, ५ वां रस्ता, सान्ताक्रूज (पूर्व) बम्बई ५५. मूल्य ४ रुपये.

आर्य समाज सान्ताक्रूज बम्बईमें ' वैदिक परमार्थ आश्रम ' द्वारा आयोजित ' क्या ऋषि दयानन्दको विष दिया गया था ? ' विषयपर संगोष्ठीका आयोजन किया गया था। संयोजक संस्कृतके प्रख्यात विद्वान् श्री महेशचन्द्रजी शास्त्री थे। इस कार्यक्रममें आर्य–जगत्के मूर्धन्य विचारकोंके देशके विभिन्न भागोंसे अनेक निबन्ध पढे गये।

प्रस्तुत पुस्तकमें सभी निबन्ध एवं भाषणांश प्रकाशित किये गये हैं।

' वैदिक परमार्थ आश्रम ' के संस्थापक श्रीमान् रामदासजी शर्मा स्वयं महर्षि स्वामी दयानन्दजीके एकनिष्ठ अनुयायि आर्य समाजका प्रखर प्रचारक और सत्यके उपासक हैं। इन्होंने आजतक अत्यंत अभ्यासपूर्ण विविध पुस्तकें लिखी हैं और वे विद्वानोंके प्रशंसापात्र हुए हैं। जब श्रीमान् रामदासजी शर्माने समाचार पत्रोंमें ' महर्षिको विष नहीं दिया गया, परंतु उनकी मृत्यु स्वाभाविक रीतिसे हुई थी ' ऐसे निंदनीय लेख प्रो श्री रामशर्मा एम. ए. से लिखे हुए देखें तब उनसे यह सहा नहीं जा सका, कारण यह कथन सत्यको कलंकित कर रहा था प्रो. शर्मा तो इतिहासको ताडनेका दुस्साहस कर रहे हैं। परंतु ऐतिहासिक सत्यको कभी भी दबाया नहीं जा सकता। महर्षि स्वामीजीके इतने महान् बलिदानकी उपेक्षा करके वे उसका महत्त्व घटा रहे हैं।

इसी लियेही कि भविष्यमें कोई सत्यको दबानेका खोटा प्रयत्न न करे श्रीमान् रामदासजी शर्माने ' वैदिक परमार्थ आश्रम ' द्वारा यह ' ज्ञान यज्ञ ' आयोजित किया था।

सभी लेखकोंने परिश्रम पूर्वक छान बीन करके लिखे हुए लेखोंमें महर्षि दयानन्द एक अत्यंत गाढे कपटपूर्ण आयोजनका शिकार बने थे, उन्हें विष दिया गया था और उसही कारण उनकी जीवनलीला समाप्त हुई, यह सत्य पुनः स्पष्ट रीतिसे दिखाया है।

इस पुस्तकमें जिन विद्वान् लेखकोंके लेख समाविष्ट किये गये हैं वे सभी आर्य जगत्के मानवन्त और प्रथितयश पंडित हैं। किसीने भी ऐतिहासिक सत्यके विरुद्ध लेखन नहीं किया है।

सत्य, केवल नैसर्गिक सत्यही कथन किया है।

हम इस श्रेष्ठ पुस्तकके प्रकाशनके लिये श्रीमान् रामदासजी शर्माके अत्यंत ऋणी है, क्योंकि उन्होंने इस पुस्तकको प्रकाशित करके प्रो. श्री रामशर्माके कुटिल उद्योगको नष्ट भ्रष्ट कर दिया है।

शेठ श्री केवल कृष्णजी गुप्तने इस पुस्तकके प्रकाशनके लिये अपने पूज्य पिताजी स्व. श्री मोकमचन्दजी गुप्तकी पावन स्मृतिमें श्रद्धांजलि रूप अनुदान दिया है। वह उनका कार्य अत्यंत स्पृहणीय और अनुकरणीय है। वैसे तो शेठ श्री केवल कृष्ण उदारतासे ऐसे पवित्र कार्योंको दान देतेही हैं। इनका यह सहज स्वभावही है। परम दयालु परमात्मा श्रीमान् रामदासजी शर्मा और शेठ श्री केवल कृष्णजी गुप्तको सदैव आर्य जगत्के पवित्र कार्योंमें यशस्वी करें और उनका जीवन समृद्ध एवं कांतिशाली बनावें ऐसी प्रार्थना करते हैं।

इस ' ज्ञानयज्ञ ' के संयोजक पंडित श्री महेशचन्द्रजी शास्त्रीके भी हम मनःपूर्वक आभारी हैं, इनके कारणही यह ज्ञानयज्ञ सफल हुआ और सत्यका परिचय हुआ।

आर्यजगत्के प्रेमी यह अनमोल पुस्तक खरीदकर ऋषि दयानन्दजीके प्रति अपनी श्रद्धा रखेंगे ऐसा हमें विश्वास है।

लेखक : श्री डॉ शिवपूजनसिंह कुशवाह, एम. ए.

मनुस्मृति - पर्यवेक्षण

स्मृतियोंमें 'मनुस्मृति' सर्वोत्तम मानी जाती है। महर्षि दयानन्दजी सरस्वतीने भी 'सत्यार्थ-प्रकाश' में मनुस्मृतिसे पर्याप्त प्रमाण दिया है। मनुस्मृतिके लेखक राजर्षिमनु कहे जाते हैं।

मनु कौन थे।

कुछ लोग वेदोंमें आए 'मनु' शब्दको देखकर मनुस्मृतिके लेखक 'मनु' की कल्पना करते हैं, पर वेदोंमें कोई रूढ शब्द नहीं है और न किसी व्यक्ति विशेषका इतिहास है।

'यामथर्वा मनुष्पिता दध्यङ् धियमत्नत'
(ऋ. मं. १ सू. ८० मंत्र १६)

'यच्छं च योश्च मनुरायेजे पिता तदश्याम तव रुद्र प्रणीतिषु' (ऋ. मं. १ सू. ११४ मंत्र २)

'यानि मनुरवृणीता पिता नस्ता शं च योश्च रुद्रस्य वश्मि।' (ऋ. मं. २ सू. ३३ मंत्र १३)

मा नः पथः पित्र्यान्मानवादधि दूरं नैष्ट परावतः।'
(ऋ. मं. ८ सू. ३०, मंत्र ३)

येभ्यो होत्रां प्रथमामायेजे मनुः समिद्धाग्निर्मनसा सप्त होतृभिः।' (ऋ. मं. १०, सू. ६३ मं ७)

वेदमंत्रों पर विचार:- ऋ. १।८०।१६ में 'मनु', पिता, और 'अथर्वा' तीनों शब्द आए हैं जिनमेंसे एक विशेष्य और अन्य विशेषण है। ऋ. १।११४।२ में 'अथर्वा' का न नाम है, न सम्बन्ध। ऋ २ ३३।१३ में 'मनुः' 'पिता' का 'भेषजाः' अर्थात् औषधियोंसे सम्बन्ध है। इस प्रकार 'अथर्वा' या 'मनु' का प्रजापति शब्दोंसे ऐतिहासिक पुरुषोंका सम्बन्ध जोडना केवल अटकल मात्र है।

महामहोपाध्याय डा. पाण्डुरंगवामन काणे एम. ए, एल. एल एम. ने ऋग्वेदके तीनों मन्त्रका तात्पर्य लिखा है— ऋग्वेदमें मनुको मानवजातिका पिता कहा गया है'[1]

ऋ. ८।३०।३ का अर्थ श्रीकाणे लिखते हैं:- 'एक वैदिक कविने स्तुति की है ताकि वह मनुके मार्गसे च्युत न हो जाय।'[2]

प्रा० गौतम पटेल:- 'मनुके पथका निर्देश है।'[3]

ऋ १०।६३।७ में 'येभ्यो होत्रां प्रथमामायेजे मनुः 'कुछ लोगोंके विचारसे किसी मनु विशेषकी चर्चा है जिसने सर्व प्रथम यज्ञ किया था।

मंत्रोंके वास्तविक अर्थ।

ऋ. १।८०।१६:—

महर्षिदयानन्दजी सरस्वती:- '(याम्) वक्ष्यमाणाम (अथर्वा) हिंसाविदोष रहितः (मनुः) विज्ञानवान् (पिता) अनूचानोऽध्यापकः (दध्यङ्) दधतियेस्ते दधयः सद्गुणास्ता-नञ्चति प्रापयति वा सः। अत्र कृतो बहुल मिति करणे क्विस्ततोऽञ्चतेः क्विप्। (धियम्) शुभ विद्यादिगुणक्रिया धारिका बुद्धिम् (अत्नत) प्रयतध्वम् (तस्मिन्) (ब्रह्माणि) प्रकृष्टान्यन्ना नि धनानि (पूर्वथा) पूर्वाणि)

१ 'धर्मशास्त्रका इतिहास' प्रथमभाग, पृष्ठ ४२ [हिन्दी समिति, सूचनाविभाग, उत्तर प्रदेश शासन, लखनऊ द्वारा प्रकाशित, प्रथम संस्करण]

२ वही, पृष्ठ ४२. तुलनाकरो श्री योगेन्द्रचन्द्र घोषकृत 'principles of Hindu law,' Vol. I. [प्रिंसिपल्स ऑफ हिन्दू लॉ, वाल्यूम १].

३ 'मासिक पत्रिका विश्व ज्योति' होशियारपुरका,' धर्मशास्त्र अङ्क' भाग २ वर्ष २३, जून + जुलाई १९७४ ई. संख्या ३ व ४ पृष्ठ १३१ 'धर्मशास्त्रके प्रणेता भगवान् मनु' शीर्षक लेख।

(इन्द्रे) सम्यक् सेवित । (उक्था) वक्तु योग्यानि (सम्) सम्यक् (अग्मत) प्राप्नुत अभ्यस्तवं पूर्ववत् (अर्चन्) (अनु) (स्वराज्यम्) '

'हे मनुष्यो ! तुम लोग जैसे (स्वराज्यम्) अपने राज्यकी उन्नतिसे सबका (अभ्यर्चन्) सत्कार करता हुआ (दध्यङ्) उत्तम गुणोंको प्राप्त होनेवाला (अथर्वा) हिंसा आदि दोष रहित (पिता) वेदका प्रवक्ता अध्यापक वा (मनुः) विज्ञानवाला मनुष्य ये (याम्) जिस (धियम्) शुभ विद्या आदि गुण क्रियाके धारण करनेवाली बुद्धिको प्राप्त होकर जिस व्यवहारमें सुखोंको (अत्नत्) विस्तार करते हैं वैसे इसको प्राप्त होकर (तस्मिन्) उस व्यवहारमें सुखोंका विस्तार करो और जिस (इन्द्रे) अच्छे प्रकारसे वित परमेश्वरमें (पूर्वथा) पूर्व पुरुषोंके तुल्य (ब्रह्माणि) उत्तम अन्न धन (उक्था) कहने योग्य वचन प्राप्त होते हैं (तस्मिन्) उसको सवित कर तुम भी उनको (समग्मत) प्राप्त होओ ।'

भावार्थ– इस मंत्रमें वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ।[४]

यह मंत्र निरुक्तमें भी आया है जहाँ इसका अर्थ श्री भास्कराचार्यजी करते हैं— 'यामथर्वा च मनुश्चपिता मानवानां दध्यङ् च धियमतनिषत, तस्मिन् ब्रह्माणि कर्माणि पूर्वेन्द्र उक्थानि च सङ्गच्छन्ताम् अर्चन् योऽनूपास्ते स्वाराज्यम् ' (निरुक्त १२।३३)

पं. चन्द्रमणिजी विद्यालंकार पालीरत्न– 'दध्यच, अथर्वन् और मनुसे तीनों पद आदित्यके वाचक हैं । मनु आदित्य रोगादिकोंका नाश करता है । अर्थ इस प्रकार है—

' (अथर्वा, पिता मनु, दध्यङ्) अचल, मानव जातिका रक्षक रोगनाशक, और सर्वप्रकाशक, इन तीनों स्वरूपोंवाला आदित्य (यां धियं अत्नत) अपने जिस कर्मका विस्तार करता है, उसी प्रकार अचलता दुष्टनाशकता तथा ज्ञान प्रकाशकताके कर्मको करनेसे (तस्मिन् इन्द्रे) उस राजामें (पूर्वथा ब्रह्माणि) सनातन वेदोक्त कर्म (उक्था) और वेदोक्त ज्ञान (समागत) सम्यक्तया प्राप्त हों (अर्चन् स्वराज्यं अनु) जिससे कि ईश्वरपूजा करता हुआ राजा स्वराज्यका अनुष्ठान करता है ।'[५]

स्वामी ब्रह्ममुनिजी 'विद्यामार्तण्ड '– ' मनुः ' द्युस्थानं देवतापदम् । मनुर्मननात् । ' मनु अवबोधने ' (तनादि०) ततः ' शृस्वृस्नि हित्रप्यसिवसिहनिक्लिदबन्धि मनिभ्यश्च ' (उणा० १।१०) त्रयोऽपि भिन्नभिन्नार्थ विधानाद् भिन्नभिन्नदृष्टयाऽऽदित्यस्य वाचकाः …… ।[६]

अर्थात् द्युस्थान देवता पद है । तीनों भिन्न भिन्न विधानसे भिन्न भिन्न दृष्टिसे आदित्य वाचक हैं ।'

पं. भगवद्दत्तजी बी. ए.– 'भाष्य अथर्वा, मनु और दध्यङ् पर स्कन्द स्वामीने लिखा है–' एतेत्रय आदित्य तेजोऽवस्था विशेषाः । आदित्यमण्डलमें अग्निय परमाणुओंके पृथक पृथक संयोग–विभागके कारण ये भौतिक पदार्थ अपना अस्तित्व बनाए हुए है । '[७]

आचार्य श्री पं. भगीरथ शास्त्री– ' मनु मननके कारण । यास्कने ' मन ' धातु वधार्थक भी मानी है । मनु आदित्य-वाचक है । मनु आदित्य रोगोंका हनन करता है ।

मंत्रार्थ– ' (अथर्वा) अचल आदित्य, (पिता) रक्षक (मनुः) रोगहर्ता आदित्य (दध्यङ्) सबको प्रकाशित करनेवाला आदित्य (याम् धियम्) जिस जिस कर्मको (अत्नत) करता है । (तस्मिन्) उस कर्ममें (ब्रह्माणि) हवि रूप अन्न (उक्थानि च) और स्तोत्र (पूर्वथा) पूर्ववत् (इन्द्रे) इन्द्रमें (समग्मत) संगत हों । जो इन्द्र (अर्चन्) पूजा करते हुएके लिए (स्वराज्यमनु) अपने आधिपत्यका ध्यान रखकर उपकारकरता है । '[८]

अतः ऋ० १।८०।१६ का जो अर्थ यास्कने किया है उससे भी ' मनु ' आदित्य माने गए हैं ।

अतः वेदमें मनुस्मृतिवाले ' मनु ' की चर्चा नहीं है ।

भावार्थ– इस अंशमें वाचक लुप्तोपमालङ्कार है ।

ऋ. १।११४।२:-

महर्षि दयानन्दजी सरस्वती:– (मनुः) मननशीलः = मननशील ।[९]

---

४ ' ऋग्वेद भाष्यम् [द्वितीय भागात्मकम्] पृष्ठ १४६–१४७ [संवत् २०१९ वि. वैदिक यन्त्रालय, अजमेर, तृतीयावृत्ति]

५ ' वेदार्थदीपक निरुक्त भाष्य, उत्तरार्ध, प्रथमावृत्ति, पृष्ठ ७४०.

६ ' निरुक्त सम्मर्शः ' पृष्ठ ८६४ [मार्च १९६६ ई., प्रथम संस्करण, अजमेर].

७ ' निरुक्तशास्त्रम् भाषार्थतथा भाषा भाष्य ' पृष्ठ ६४१.

८ ' निरुक्तम् ' पृष्ठ ५६९–५७०.

९ ऋग्वेद भाष्यम् (द्वितीय भागात्मकम् । पृष्ठ ४९७

ऋ. २।३३।१३:-

महर्षिदयानन्दजी सरस्वती:- ‘ (मनु:) वैद्यक विद्या-वित् = वैद्यकविद्या जाननेवाला । ’ [१०]

तीनों मंत्रोंमें महर्षि दयानन्दजी सरस्वतीने ‘ मनु ’ का यौगिक अर्थ =‘ विज्ञानवान्, मननशील व वैद्यक विद्यावित् ’ किया है जो समीचीन है ।

ऋ. ८।३०।३ पर महर्षि दयानन्दजी सरस्वतीका भाष्य नहीं है ।

यजुर्वेद भाष्यकार पं. जयदेव शर्मा ‘ विद्यालङ्कार, ’ मीमांसातीर्थ:- ‘ (पित्र्यात्) पालक पिताके (मानवात्) मनु, मननशील विद्वान्के बनाये (पथः) मार्गसे (दूर मा नैष्ट) दूर मत ले जाओ, उससे हमें पथ-भ्रष्ट मत करो । ’ [११]

पं. गङ्गा प्रसादजी उपाध्याय एम. ए: - ‘ हम (पित्र्यात् मानवात् पथ:) अपने पूर्वजोंके बुद्धिपूर्वक मार्गसे विचलित न हों । ’ [१२]

ऋ. १०।६३।७

इस पर भी महर्षि दयानन्दजी सरस्वतीका भाष्य नहीं है । इस मंत्रको उन्होंने ‘ संस्कारविधि ’ ‘ स्वस्तिवाचन ’ में प्रमाण दिया है पर अर्थ नहीं है ।

पं. जयदेव शर्मा विद्यालङ्कार, मीमांसातीर्थ:- ‘ (समिद्धाग्नि: मनु:) अग्निको प्रज्वलित कर लेनेवाला, अग्नि-परिचारक ब्रह्मचारी वा आहिताग्नि गृहपति भी ... । ’ [१३]

पं. भीमसेन शर्मा आगरा निवासी व पं. आत्मारामजी अमृतसरी बड़ोदा:- ‘ (येभ्य:) जिन आदित्य ब्रह्मचारियोंके लिए (समिद्धाग्नि:) अग्निहोत्री (मनु:) मननशील विद्वान् (मनसा) मनसे (सप्तहोतृभि:) सात होताओंसे (प्रथमाम्) मुख्य (होत्राम्) यज्ञको (आयेजे) करता है ... । ’ [१४]

पं. भीमसेनजी शर्मा आगरा व उनके सुपुत्र डा० हरिदत्तजी शास्त्री, एम् ए., पी. एच्. डी. त्र्योदशतीर्थ:- ‘ (मनु:) मननशील विद्वान् ... । ’ [१५]

पं. गङ्गाप्रसाद उपाध्याय एम. ए.:- ‘ विचारवान या ज्ञानवान पुरुष ’ [१६]

इस प्रकार वेदके संहिता भागमें जहां जहां ‘ मनु ’ शब्द आया है उसका अर्थ यौगिक ही है. व्यक्ति विशेषका नाम नहीं है जैसा कि महर्षि दयानन्दजी व अन्य आर्य विद्वानोंके भाष्योंसे स्पष्ट प्रकट हो रहा है । पौराणिक, ऐतिहासिक व पाश्चात्य विद्वानोंकी खींचातानी सर्वथा तत्त्वहीन है ।

‘ मनु ’ और ब्राह्मण ग्रन्थ:- ब्राह्मणग्रन्थ वेदोंके व्याख्या भाग हैं तथा ऋषियोंकी कृतियां हैं । अत: इनमें जो ‘ मनु ’ शब्द आए हैं उनमें यौगिक व व्यक्ति वाचक दोनों ही अर्थ हैं । यथा—

‘ आयुर्वैमनु: ’ – (कौषीतकि ब्रा. २६।१७)

आयुको मनु कहा गया है ।

‘ मनुर्हवाऽअग्ने यज्ञेनेजे तदनुकृत्येमा: प्रजा यजन्ते तस्मादाह मनुस्वदिति मनोर्यज्ञऽइत्यु वाऽ-आहुस्तस्माद्देवाह मनुष्वदिति ॥ ’

(शतपथ ब्रा. १।५।१।७)

[क्रमश:]

---

१० ऋग्वेद भाष्यम् (चतुर्थ भागात्मकम्), तृतीयावृत्ति:, पृष्ठ २९६.

११ ऋग्वेद संहिता भाषाभाष्य (पञ्चम खण्ड), प्रथमावृत्ति, पृष्ठ ४३३-४३४.

१२ मनुस्मृति, परिस्कृत संस्करण, भूमिका, पृष्ठ १९ [कलाप्रेस, प्रयाग द्वारा मुद्रित व प्रकाशितं].

१३ ऋग्वेद संहिता भाषाभाष्य (सप्तम खण्ड), प्रथमावृत्ति, पृष्ठ ८७.

१४ ‘संस्कार चन्द्रिका ’ (‘ संस्कार विधि ’ की विस्तृत व्याख्या), पृष्ठ ९ [संवत् १९८० वि. में जयदेव ब्रदर्स, आत्माराम पथ, बड़ोदा– १ द्वारा प्रकाशित, तृतीयावृत्ति]

१५ ‘ अभिनव संस्कार–चन्द्रिका ’ पृष्ठ ४३ [संवत् २०१८ वि. में वैदिक प्रेस, मथुरामें मुद्रित व डा. हरिदत्तजी शास्त्री द्वारा प्रकाशित तथा श्रीमद् दर्शनानन्द ग्रन्थागार २० कृष्णगंगा, मथुरा द्वारा प्राप्य]

१६ ‘ मनुस्मृति, परिस्कृत संस्करण, भूमिका पृष्ठ १९.

लेखक : श्री वशिष्ठ

भवसागरका नाविक

सौन्दर्य और बृहत्तर जन्मका आया एक आभास
और एक शुभ्र उज्ज्वल वायुमें स्वप्नोंकी किया गमन।

उसने देखी निज सत्ताकी विशालताएं अननुभूत,
की अभीप्सा उसने व बताया साथि-देव वर्धिष्णु।

मंद निष्प्रभ गुप्तस्थानोंमेंसे आत्मन्के
खुले स्थान अन्दर पधारा अन्वेषक गुह्य;
उसने सुना सुदूर अन्तराल, स्पर्श किया स्पर्शागोचर,
निरखा निर्निमेष उसने अनागत और अलख अम्बर;
कीं प्रयोग शक्तियां उसने धरा–यन्त्र नहीं करपाते प्रयोग,
अशक्य असम्भवका बनाया एक विनोद, विलास, विहार;
'सर्वज्ञाता' के विचारके बबोच लिए उसने खण्ड,
सर्व सामर्थ्यके छितरा डाले उसने सूत्र, नियम।

धरती-धूलसे निर्मित निज नन्हे निकेतनमें यों मनुज
वर्धमान यथा विचार व स्वप्नके अलख अम्बर ओर
निज मानसकी विशाल वीथियोंमें अनुसंधानशील
एक अल्प मण्डल पर बिठिया कर अनन्तताको।

अन्ते आरोहकर एक आयत और संकुचित सोपान
एकाकी वह खड़ा हुआ वस्तुओंकी एक उच्च पटल पर
और एक आध्यात्मिक आदित्यका देखा आलोक।

कर अभीप्सा वह करता अतिक्रान्त निज पार्थिव पुरुष;
नश्वर वस्तुओंके परिवेशसे होकर विमुक्त
निज अन्तरात्माकी विशालतामें नवजात वह होता स्थित
और एक शुद्ध स्वतन्त्र आध्यात्मिक जगत्में करता गमन
एक सामरिक नियोगके विरल प्रातमें यथा।

दिव्यताकी सुदूर पंक्तियोंका लुप्त पर्यन्त,
वह चढ़ता एक भंगुर तनु द्वारा निज उच्च उद्भव प्रति;
निज उरस पर अनश्वरताके वह होता उपस्थित,
निज नश्वर जीवनमें 'देवत्व' वह करता आहूत।

पृथिवी अवश्य करे निज रूपान्तर और बने 'स्वर्ग' समान
या धराकी नश्वर अवस्थामें अवतरण करे 'स्वर्ग'।

किन्तु ऐसे विशाल आध्यात्मिक परिवर्त होने हेतु,
मनुजके हृदयकी रहस्यमयी कन्दरामेंसे
दिव्य 'हृत्पुरुष' अवश्य उतार फेंके आवरणनिज
और सामान्य सर्गकी संकुल शालाओंमें बढ़ाये पग
एवं उस निसर्गके अग्रभागमें खड़ा हो अनावृत
तथा शासन करे जिसके विचार, देह व जीवनको वे पूर।

---

* श्री अरविन्दकृत अंगरेजी महाकाव्य 'सावित्री' से संकलित व अनूदित। —वशिष्ठ

विवाहित स्त्रीपुरुष विवाह बंधनसे रहित हो जाते हैं। परंतु पूर्वोक्त 'स्थिर विवाह संस्था' में यह आजादी नहीं है। सनातन वैदिक धर्मकी विशेषता इस स्थिर विवाह पद्धतिमें ही है। अस्तु। अस्थिर विवाह पद्धति और स्थिर विवाह पद्धति इनमें परस्पर भेद यहां है।

तीसरी नियोग पद्धति है। इसमें नियत समयके लिये ही विवाह संबंध होता है। प्रायः यह समय दो या तीन सालतक रह सकता होगा, क्योंकि संतान उत्पत्ति तकही उसकी मर्यादा होती है। यदि संतान उत्पत्ति प्रथम वर्ष हुई तो प्रथम वर्षमें अथवा अधिक देरतक यह विवाह संबंध रह सकता है। और नियत समय समाप्त होते ही यह संबंध स्वयं टूट जाता है। यह पद्धति प्राचीन समयमें आर्योंमें थी, परंतु अब यह किसी भी देशमें प्रचलित नहीं है। और प्राचीन समयमें यह आपत्कालके समय ही उपयोगमें लाई जाती थी और सार्वत्रिक नहीं थी।

'सहोदर-स्त्रीपद्धति' इसके पश्चात् देखने योग्य है। सगे भाई सहोदर कहलाते हैं। एक माताले उत्पन्न भाई सहोदर कहलाते हैं और एक पितासे उत्पन्न हुए भाई सवीर्य भाई कहलाते हैं। इन सबकी सांजी एक स्त्री इस विवाह पद्धतिमें की जाती है। जैसी पांच पांडवोंकी एक स्त्री द्रौपदी थी। इस प्रकारके विवाह इस समयमें भी हिमालयकी पहाडियोंकी कई जातियोंमें प्रचलित हैं। पांडवोंके समय भी हिमालयकी जातियोंमें ही प्रचलित थे और भारतवर्षमें कभी प्रचलित न थे। पांडवोंकी उत्पत्ति हिमालयकी पहाडियोंमें हुई थी और उनका बालपन वहां ही व्यतीत हुआ था; इसलिये पांडवोंको भी उस प्रकारका सांजा विवाह करनेकी बुद्धि हुई, अन्यथा स्थिर विवाह करनेवाले आर्योंमें इस प्रकारका सहोदर-स्त्री-पद्धतिका विवाह होना असंभव ही था।

पांडवोंके इस सहोदर-स्त्री पद्धतिके विवाहके विचारसे स्पष्ट ही प्रतीत होता है कि पांडव और कौरव पास पासके सापत्न भाई न थे। यदि इनमें किसी प्रकारका भाई पनका नाता होगा तो बहुतही दूरका होगा। यद्यपि महाभारतमें इनका सापत्न भाई होना लिखा है तथापि वह युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। क्योंकि भारतीय आर्योंमें इस प्रकारके सांजे विवाह करनेकी न प्राचीन कालमें प्रथा थी और न उनके पश्चात् प्रथा चली थी। भारतीय आर्योंमें केवल पांडवोंका ही यह एक ऐसा सांजा विवाह हुआ है। इसीसे सिद्ध है कि वे किसी भिन्न प्रांतकी भिन्न जातिके, विशेषकर हिमालयकी किसी पहाडी जातीके थे। अस्तु। इसका विशेष विचार हम आगे विवाह प्रकरणमें विशेष रीतिसे करेंगे। यहां केवल दिग्दर्शन मात्र किया है। अस्तु। इस प्रकार यह अनेक भाईयोंमें एक ही स्त्री करनेकी प्रथा हिमालयमें इस समयमें भी है।

इसके पश्चात् 'गणस्त्री पद्धति' का विचार मनमें आता है। यह गणोंके संपूर्ण पुरुषोंके लिये कुछ स्त्रियां रखी होती हैं। मान लें कि मरुद्गण, अथवा महाराजिक गणकी पुरुष संख्या पांचसौ या एक सहस्र है, तो उन सब पुरुषोंके लिये दो तीन सौ अथवा आवश्यकतानुसार न्यूनाधिक भी स्त्रियां रखी जाती थीं। इनका नाम गणस्त्री है। गणोंकी स्त्रियां, अर्थात् गणके सब पुरुषोंके लिये रखी हुई स्त्रियां। इनका ही नाम 'गणिका, वारस्त्री' है। गणिका गणकी स्त्री है और उसको 'वारस्त्री' कहते हैं, क्योंकि 'वार' शब्दका अर्थ भी 'गण, समूह' आदि होता है। ये शब्द 'समुदायकी स्त्री' यही भाव बताते हैं।

'वार' शब्दका अर्थ 'दिन, दिवस' ऐसा भी होता है, इस अर्थको लेनेसे यह अर्थ होगा कि यह स्त्री कुछ गिनतीके दिनोंके लियेही होती है। अर्थात् गणके एक एक पुरुषसे निश्चय होता है कि यह स्त्री इतने दिन इसके साथ रहेगी, पश्चात् दूसरेके पास रहेगी। जिस प्रकार द्रौपदी दो मास बारह दिन तक एक एक पतिकी उपासना क्रमपूर्वक करती थी। तथापि द्रौपदी गणस्त्री नहीं थी, परंतु एक कुटुंबमें उत्पन्न हुए सब भाईयोंकी स्त्री थी, केवल दिनोंकी गिनतीके लियेही यहां यह उदाहरण लिया है। अर्थात् गणिका, वारस्त्री, वारयोषिता, गणस्त्री आदि शब्द देवोंकी गण संस्थाकी रहने सहनेकी पद्धति बता रहे हैं।

इस समय 'गणिका' आदि शब्द व्यभिचारिणी स्त्रीके अर्थमें प्रयुक्त होते हैं, परंतु गणस्त्रियोंकी संस्था जिस समय देवोंके राष्ट्रमें प्रचलित थी उस समय उसमें व्यभिचारकी कल्पना भी नहीं थी।

ऋतुके समय मासमें नियत तिथियोंमेंही स्त्री संबंध करना, जिस स्त्रीके दिन किसी दूसरे गणके साथ नियत हो चुके हैं उस स्त्रीके साथ संबंध न करना, इत्यादि उनके ऐसे नियम थे कि जिनसे व्यभिचारका दोष उनमें उत्पन्न न होता था। परंतु आज कलकी गणिकाओंका व्यवहार उनसे बहुतही भिन्न हुआ है। इसलिये आज कलकी गणिकाएं व्यभिचारिणी हैं और उस समयकी गणस्त्रियां व्यभिचारिणी नहीं थीं। इसके अतिरिक्त कुटुंब-स्थिति प्रचारमें आनेके पश्चात् अर्थात् स्थिर विवाह प्रचलित होनेके पश्चात् जो व्यभिचारकी कल्पना कुटुंबवाले लोगोंमें होती है, वह व्यभिचारकी कल्पना ठीक उसी पैलूमें गणस्त्री व्यवहार, सहोदर स्त्री व्यवहार, नियोगव्यवहार, अस्थिर विवाह व्यवहार करनेवाले समाजोंमें उत्पन्न नहीं होती। देखिये हमारे अंदर ऐसा भाव होता है, कि यदि पराई स्त्री अपनेसे बडी हो तो उसे माता, अपने बराबर उमरवाली स्त्री अपनी बहिन और अपनेसे छोटी उमरवाली अपनी पुत्री मानना। यह भाव हमारे अंदर बडा उच्च और पवित्र समझा जाता है। परंतु यूरोपमें इसी उच्च भावपर सब लोग हंसी उडाते हैं। और कहते हैं कि यह विचार कैसा मलीन है!! ये यूरोपके लोग इस उच्च भावको इतना उपहास करनेयोग्य इस लिये मानते हैं, कि वहां गांधर्व विवाहकी पद्धति और अस्थिर विवाह पद्धति जारी है, इस कारण वे समझते हैं कि अपना प्रेमसंबंध हरएक स्त्रीके साथ होना संभव है। जो लोग हरएक स्त्रीके अपने प्रेम संबंधकी संभावनाको मानते होंगे, उनको पूर्वोक्त आर्य विचार क्योंकर उच्च प्रतीत होंगे? परंतु भारत वर्षमें स्थिर-विवाहपद्धति उच्चवर्णोंमें प्रचलित हुई है, भारतीयोंके विवाह बंधन मृत्युतक टूट नहीं सकते, एक बार विवाह होनेके पश्चात् दूसरे स्त्रीके साथ उसका संबंध होना कठीन है, इस प्रकारकी दृढ भावनावाले उच्च लोगोंमेंही अपनी स्त्रीसे भिन्न दूसरे स्त्रीके विषयमें भोगेच्छा विरहित पूर्वोक्त उच्च भाव जागृत रह सकते हैं।

इतनी बात विस्तारसे यहां बतानेकी आवश्यकता यह है कि पाठकोंके मनमें यह बात निश्चित हो जाय कि व्यभिचार विषयक घृणाकी कल्पना कौटुंबिक विवाहपद्धति शुरू होनेके पश्चात्ही उत्पन्न होना स्वाभाविक है, इससे पूर्व नहीं। गणस्त्री पद्धति जिस समय प्रचलित होगी, उस समय एक स्त्रीके साथ कुछ दिन संबंध हुआ, पश्चात् दूसरी स्त्रीसे संबंध होना ही है, आमरणान्त एक स्त्रीसे संतुष्ट रहनेकी उच्च कल्पना उनमें उत्पन्न होनाही असंभव है, अतः व्यभिचारके विषयमें जो घृणा जिस दर्जे तक हमारे अंदर इस समय है, वह गण स्त्री पद्धतिके दिनोंमें देवजातीके लोगोंमें उस समय उत्पन्न होना असंभवही था।

अब यहां यह कहना है कि यह गण देवोंकी गण-स्त्रीकी प्रथा उन गण देवोंके साथही भारतवर्षमें प्रचलित हुई और यहां आजकलकी गणिकाओंके विकृत रूपमें परिणत हुई। हमने इससे पूर्व बतायाही है कि 'महा-राजिक' नामके गणदेव मध्य भारतमें आकर बसे और उनके देशका नाम महाराष्ट्र अर्थात् मराठा देश इस समय है। इसी प्रकार अन्यान्य गण देव अन्यान्य देशोंमें बसे थे। तथा उनके साथ उनकी गणस्त्रियां भी यहां आगई थीं। तात्पर्य इस समयकी भारत वर्षकी गणिकाओंकी प्राचीन गण-देवोंकी प्रथा है। इससे न केवल गणदेव मनुष्य सिद्ध होते हैं प्रत्युत सब देव जाती भी मनुष्यरूपही सिद्ध होती है।

इतने विचारसे यह सिद्ध हुआ कि गणदेव मनुष्य ही थे और देवजाती भी मनुष्य जातीही थी और केवल उनका नामही 'देव' था। अब इन गणदेवोंके अंदरकी अप्सराओंका विचार करेंगे—

अप्सरा।

पूर्वस्थानमें देवयोनियोंका परिगणन किया है, उनमें 'अप्सरस्' शब्द आया है। ये ही अप्सराएं हैं। देवयोनी मिश्र जातीकी संतति थी इस विषयमें इससे पूर्व लिखा जा चुका है। देवजातीका पुरुष और अन्य जातीकी स्त्री इनसे उत्पन्न हुई देवयोनि

जातियें थीं। इनमें अप्सराएं भी एक हैं। देव जातीके पुरुषोंका संबंध किसी सुंदर स्त्रियोंसे हुआ और उस संबंधसे इन सुंदर स्त्रियोंकी उत्पत्ति हुई। इस जातीमें जो पुरुष हुए होंगे उनके नाम विद्याधर आदि अनेक हैं। और जो स्त्रियां थीं उनका नाम अप्सरा हुआ था। ये अप्सराएं गणदेवोंके विलासके लिये तथा अन्यान्य देवोंके विलासके लिये रखीं गई थीं। तथा नाचना, गाना, आदि व्यवसाय इनके सुपुर्द किया गया था। इंद्रादि देवोंके दर्बारोंमें अप्सराओंका नाच होता था, इस नाचके वर्णन पुराणों और इतिहासोंमें भी बहुत हैं। इंद्रकी सभामें पुरूरवा राजा गया था उसके सन्मानके लिये उर्वशीका नाच वहां किया गया था। इसी प्रकार विश्वामित्र भी किसी अप्सराके पीछे इंद्रसभा तक पहुंचा था। अर्जुन शस्त्रास्त्र सीखनेके लिये इंद्रके पास जाकर कई वर्ष रहा था उस समय उर्वशीका मन उस वीर अर्जुन पर मोहित हुआ, परंतु अर्जुनने पूर्ण ब्रह्मचर्यका पालन करनेका निश्चय किया था, इसलिये उर्वशीकी इच्छा सफल नहीं होसकी, इत्यादि अनेक कथाएं महाभारतादि ग्रंथोंमें हैं; उनसे पता लगता है कि ये सुंदर अप्सराएं स्वर्गकी कामिनियां थीं और इनका भोगसंबंध देवों और मानवोंके साथ समानतया रहता था।

यह बात महशूर है कि देवराष्ट्रमें – स्वर्गमें अर्थात् तिब्बतमें – जब सुकृत करनेवाले मनुष्य जाकर रहते थे तब उनको मनमानी अप्सराएं मिल जाती थीं। हम आगे जाकर बतायेंगे कि यज्ञसे स्वर्ग प्राप्ति होनेकी असलमें कल्पना क्या है और किस प्रकार उन यज्ञकर्ता मनुष्योंको स्वर्गमें स्थान मिलता था। पाठक जब वह वर्णन पढेंगे तब उनको उस समयकी वास्तविक अवस्थाकी कल्पना ठीक आजायगी। परंतु यहां अप्सराओंकी प्राप्तीकी कल्पनाही देखना है।

विशेष कर्म करनेपर भारत वर्षके मनुष्य तिब्बतमें रहने योग्य समझे जाते थे, अर्थात् उनको स्वर्गीय नागरिकत्वके अधिकार (Rights of citizenship) प्राप्त होते थे, और उन अधिकारोंमें स्वर्गीय अप्सराओंसे संबंध करना भी एक अधिकार था!!!

इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि देवोंके राष्ट्रमें स्त्री विषयक स्वातंत्र्य अधिक था। वारयोषिताओंका संबंध न करनेवाले पुरुष भारत वर्षमें पवित्र गिने जाते थे और अब भी शुद्ध गिने जाते हैं; परंतु देवलोगोंके देशमें गणिकाओंसे अर्थात् अप्सराओंसे संबंध रखना प्रतिष्ठाका और विशेष सभ्यताका संबंध समझा जाता था!! अप्सराओंसे संबंध न करनेवाला देवोंमें एक भी देव नहीं दिखाई देता, इतनाही नहीं प्रत्युत भारत वर्षीय लोग जो देवत्वके अधिकार पाकर देवोंके देशमें निवास करनेके लिये जाते थे, उनको भी देवोंकी सभ्यताके अनुकूल अप्सराओंसे विहार करने पडते थे और देवोंकी सभामें होनेवाले अप्सराओंके नाचके समय वहां उपस्थिति रखनी पडती थी। इस विषयमें देवसभाओंके वर्णन महाभारतमें देखिये। जिस प्रकार यूरोपमें मद्य न पीनेवालेको भी होटेलोंमें मद्यका मूल्य भोजनके साथ देनाही पडता है, उसी प्रकार देवोंके देशके प्रतिष्ठित निवासियोंको अप्सराओंसे संबध करना पडता था। कई लोग भारतवर्षमें यज्ञ इसीलिये करते थे, कि हमें देवोंके देशमें रहनेका स्थान मिले और हम स्वर्गीय अप्सराओंसे संबंध करें। इससे सिद्ध होता है, कि देवोंकी सभ्यताओंमें अप्सरादिकोंका संबंध हीन दृष्टिसे देखा नहीं जाता था।

राजकारणमें स्त्रियां।

भारत वर्षके सम्राट् स्वर्गका राज्य प्राप्त करने अर्थात् इंद्रपदको प्राप्त करनेका यत्न करते थे। उस समय इन अप्सराओंका प्रयोग इंद्र करता था। अर्थात् इन सुंदर अप्सराओंको भारतवर्षीय राजाओंके पास भेंट रूपमें भेजता था। ये स्वर्गीय कन्याएं यहां भारतीय राजाओंके पास आती थीं और उनको लुभाकर देवराज्य पादाक्रांत करनेके विचारसे उनको निवृत्त करती थीं। इस प्रकार विश्वामित्रादि भारतवर्षीय सम्राटोंपर स्वर्गकन्याओंका प्रयोग किया गया था। ये कथाएं सब लोग जानते हैं और इतिहासों और पुराणोंमें सुप्रसिद्ध हैं। स्वर्गकी स्त्रियोंका भारतवर्षमें आना, भारतवर्षीय राजाओंके पास रहना और स्वर्गराजके हितके लिये अपना सर्वस्व अर्पण करना, और इसप्रकार आत्म-

समर्पणके कार्यमें भारतीय राजाओंसे संतानोत्पत्ति करना, इत्यादि बातें सिद्ध करती हैं, कि स्वर्गलोक जिसका नाम है, वह आजकलका तिब्बत है, वहांके देव मानवोंकीही देवनाम धारण करनेवाली जाती थी, तथा उनकी अप्सराएं आदि भी मनुष्योंके समान ही रूपवती स्त्रियां थीं।

जिस प्रकार अप्सराएं सुंदर थीं उस प्रकार उस समय भारतवर्षमें भी सुरूप स्त्रियां नहीं थीं ऐसा माननेका कोई कारण नहीं है। क्योंकि जिस प्रकार देवराज्यकी अप्सराओंके रूपके लिये भारतीय लोग मोहित होते थे उसी प्रकार त्रिविष्टपके देव भी भारतीय आर्य स्त्रियोंके रूपसे मोहित होते थे। इंद्र स्वयं गौतम स्त्री अहल्यासे मोहित हुआ था, अश्विनी कुमार च्यवन स्त्री सुकन्याको देखकर मोहित हुए थे, दमयंतीका रूप देखकर मोहित हुए इंद्रादिदेव उस दमयंतीके स्वयंवरमें आगये थे और दमयंती नलराज के साथ शादी न करे इस विषयका प्रयत्न कर रहे थे, इत्यादि सब मनुष्यवत् चेष्टायें देखकर हरएक पाठकके मनमें यह बात स्थिर हो सकती है, कि तिब्बतमें प्राचीन कालमें जो मानव जाती रहती थी उसका नाम 'देव जाती' था। परंतु वे मनुष्य ही थे। यदि यह सत्य बात सबके मनमें इतिहासिक रूपमें ठीक ठीक बैठ जाय, तो देवताविषयक मोह सबसे पहिले उड जायगा। जो अनेक देवताओंकी कथाएं हैं और जो नामसादृश्यसे ही केवल जगद्रचना करनेवाली देवताओंकी समझी जाती हैं, और इस कारण देवजातीके मनुष्योंके पाप जगद्रचना करने वाले देवोंके सिरपर मढे जाते हैं। वास्तवमें देवजातीके मनुष्य और जगद्रचयिता देव इनमें केवल नाम सादृश्यके सिवाय और कुछ भी समानता नहीं है। यदि इतनीसी सीधी इतिहासिक बात पाठक समझ लेंगे, तो पौराणिक कथाओंके कई भ्रम दूर हो सकते हैं।

'इंद्र' शब्दके अर्थ परमात्मा, जीवात्मा, मन, जगद्रचना करनेवाले देवोंका अधिपति, तिब्बत निवासी देव जातीका सम्राट्, किसी जातीका मुखिया आदि होते हैं। इसी प्रकार कई अन्य देववाचक शब्दोंके अर्थ भी होते हैं। इसलिये किसी भी कथामें देव वाचक शब्द आ भी गया, तो वहां देखना चाहिये कि कथा प्रसंग किसका संबंध बता रहा है। इससे सब बातें ठीक प्रकार खुल सकती हैं। इस प्रकार देखनेसे देव जातीके मानवोंके पाप जगद्रचयिता देवोंके सिरपर कभी नहीं बैठ सकेंगे।

पुराण और इतिहासके लेखकोंने आख्यायिका लिखनेके समय विभागपूर्वक आख्यायिकाओंका लेखन नहीं किया है। इसलिये एक नामकी सब कथाएं इकट्ठी दिखाई देती हैं। सुबोधताके लिये इसी विषयको पुनः देखिये—

शिव कल्याणरूप होनेसे परब्रह्म का नाम।
शिव कल्याणरूप होनेसे परमेश्वर का नाम।
शिव कल्याणरूप होनेसे जीवात्मा का नाम।
शिव कल्याणरूप होनेसे शिवसंकल्प मनका नाम।
शिव मानस सरोवर तथा कैलासके तिब्बतके भागका राजा जो भूत नामक मानव जातीपर राज्य करता था।
शिव शिवाजी छत्रपति (महाराष्ट्रराज्यके संस्थापक)

ये सब नाम सदृश होनेपर भी एकके वाचक नहीं हैं और इस कारण इन सबकी कथाएं गोलमाल करके इकट्ठी रखनी नहीं चाहिए। छत्रपती शिवाजी महाराज बिलकुल आधुनिक राजा होनेके कारण पुराणोंसे अलग ही हैं, परंतु शिवाजीकी संपूर्ण कथाओंमें 'शिव' नामके कितने राजा और कितने मानवोंकी कथाएं संमिलित हुई हैं यह एक देखनेवाली ही बात है। अस्तु। यहां इससे इतना ही बताना है कि तिब्बतकी देव-नामधारी मानव जाती की कई कथाएं इतिहास होनेके कारण पुराणों और इतिहासमें संमिलित हुई हैं। ये सब बातें सिद्ध कर रहीं हैं, कि तिब्बत निवासी मानव जातीका नाम 'देव' था, परंतु वे मनुष्यही थे और इसी कारण भारतीय आर्योंका स्वर्गीय देव जातीके स्त्रियोंसे शरीर संबंध होता था और स्वर्गीय देवोंका भारतीय आर्य जातीके स्त्रियोंसे भी संबंध होता था।

तिब्बत शीत प्रधान देश होनेके कारण, विशेषतः हिमाचलकी पहाडियां सदा शीत प्रधान होनेके कारण वहांके स्त्री पुरुष गौर वर्ण और सुंदर होते थे और इस समयमें भी हैं। तिब्बतके लोग इतने

गौर वर्ण नहीं हैं जितने हिमालयकी पहाडियोंमें रहनेवाले हैं और इसीलिये हिमालयकी पहाडियोंमें संकीर्ण जातिमें उत्पन्न हुई अप्सराएं तिब्बतके देव-जातीके वीरोंको और भारतीय वीरोंको लुभानेके योग्य सुंदर थीं और इसी कारण उनका प्रवेश स्वर्गीय इंद्र सभामें तथा भारतीय राजाओंके अंतःपुरोंमें होता था।

असुर स्त्रियाँ।

जिस प्रकार देवांगनाएं तथा भारतीय आर्य स्त्रियां भी सौंदर्यमें एक दूसरेसे कम न थीं, उसी प्रकार असुर स्त्रियां तथा राक्षस स्त्रियां भी सौंदर्यमें कम न थीं। आजकल चित्रकार यद्यपि असुरोंकी शकलें बेढंगी बनाते हैं, तथापि इतिहासकी कथाएं देखनेसे पता लगता है कि असुरस्त्रियां भी अतिसुंदर थीं। पांडवोंके घरमें कुंतीपुत्र भीमसेनका विवाह हिडिंबा राक्षसीके साथ हुआ था। महाभारत देखनेसे पता चलता है, कि इस विवाहके लिये कुंती, धर्मराज, अर्जुन आदिकोंकी पूर्ण समति थी। यदि हिडिंबा राक्षसीकी शकल बिलकुल कुरूप और बेढंगी होती, तो कमसे कम कुंतीकी संमति मिलना संभव नहीं था। क्योंकि भीम उत्तम गौर वर्ण और सुंदर था। अपने सुंदर और गौर वर्ण पुत्रका विवाह कुरूप कृष्णवर्ण विजातीय स्त्रीके साथ करनेके लिये संमति कोई भी माता नहीं दे सकती। इससे सिद्ध है, कि हिडिंबा सुंदर थी। वास्तवमें "असुर" जाती आजकलकी पारसीयोंके समान ही गौरवर्ण और रूपादि गुणोंसे युक्त जाती थी। पारसीलोग "असुरोपासक" हैं, सब असुरोपासक जातियां पारसियोंके समान ही थीं। असुरोपासक लोक असुर नामसे ही प्रसिद्ध थे। आजकलकी "असीरिया" देशके आसपासकी जातीयां भी असुर नामवाली थीं।

बाणासुरकी कन्या यादवोंके घरमें ब्याही थी। इत्यादि सब कथाएं देखने और विचारनेसे पता चलता है कि असुर जातीकी स्त्रियां भी आर्योंके घरमें विवाह होने योग्य सुंदर थीं। यदि असुर जातीके स्त्री पुरुष आर्योंके समान ही सुंदर और मनुष्यवत् देहधारी थे तो देवोंके संबंधमें शंका ही क्या हो सकती है? इस दृष्टीसे विचार करने पर भी पता चलता है कि असुर और सुर ये सब हम रे जैसे मानव ही थे और उनका परस्पर शरीर संबंध भी होता था।

तीन जातियाँ।

महाभारत कालमें अर्थात् कौरव पांडवोंके कालमें इस भूमंडलपर तीन जातियां थीं। भारत वर्षमें आर्य जाती, त्रिविष्टप (तिब्बत) में देवजाती, और तिब्बतके पश्चिम भूभागमें असुर जाती थी। हरएक जातीमें अनेक उपजातियोंका समावेश होता था उसका विचार पीछेसे होगा। पूर्व स्थानमें देव-जातीकी उपजातियोंका विचार किया ही है। इसी प्रकार असुरजातियोंका भी विचार आगे किया जायगा। यहां इतनाही बताना है कि इन तीन जातियोंके परस्पर युद्ध होते थे, परस्पर शादियां होती थीं, परस्पर मित्रता और द्वेष आदि थे, इस लिये इन सबको मनुष्य ही मानना चाहिये। इस समय हिंदु, जापानी, रूसी, युरोपीयन ये जैसे देश विशेषोंके रहीवासी सब मनुष्यही हैं उसी प्रकार प्राचीन समयमें भारतमें आर्य, तिब्बतमें देव और ईरान आदि देशोंमें असुर नाम धारी मनुष्य ही रहते थे। इस कारण उनमें परस्पर विवाह, परस्पर द्वेष, परस्पर मित्रता आदि आजकलके समान ही होते थे। इससे भी सिद्ध होता है कि ये सब जातीके मनुष्य ही थे और किसी प्रकार दूसरे प्राणी न थे।

तीन जातियोंकी संस्कृति।

असुरोंको बडे भाई कहते हैं और देवोंको छोटे भाई कहते हैं इसका स्पष्ट तात्पर्य यह है कि तिब्बत-वासी देवोंके पहिलेही असुर जातीका उदय हुआ था। तिब्बतकी पश्चिम दिशामें छोटे मोटे अनेक देशोंमें असुर जातीका निवास था। और उस असुर जातीका उदय देवजातीके उदयके पूर्व हुआ था। असुर जातीके राज्य भूमंडलपर चारों दिशाओंमें हो चुके थे और सब भोग उनके अधिकार क्षेत्रमें आ चुके थे। इसके पश्चात् देवजातीका उदय शुरू हुआ था। इसी कारण कहा जाता है कि असुर बडे और सुर छोटे हैं।

आर्य जातीके उदयका समय तो देवजातीके उदयके पश्चात्का है। महाभारतका समय आर्य जातीके अभ्युदयकी पूर्णतावस्थाका है, क्योंकि भारतीय युद्धके पश्चात् आर्य जतीकी गिरावट शुरू हुई थी। इसलिये भारतीय युद्धके समय आर्य जाती अभ्युदयके परमोच्च शिखरपर विराजमान थी भारतीय युद्धका काल आजसे पांच सहस्र वर्ष पूर्व था और यह आर्योंके अभ्युदयका परमोच्च काल समझिये। इस समय भी देव जातीके अंदरका पराक्रमका बल वैसा नहीं दीखता है, जैसा पहिले दिखाई देता था। असुरोंके साथ भी देवोंके युद्ध करीब बंद ही हुए थे। निवात कवचादि राक्षसोंके साथ इन्द्र स्वयं युद्ध करने नहीं गया था, परंतु आर्य वीर अर्जुनने वह कार्य इंद्रके लिये किया था। भूत नाथ सम्राट् श्रीशंकर इनकी अर्जुनके साथ वाले युद्धमें करीब करीब बराबरी हुई थी। तथा खांडव वनके दाहके समय अर्जुनने इंद्रकी सेनाका पूर्ण पराभव ही किया था। इस प्रकार उस समयकी देवजातीकी अवस्था देखनेसे पता लगता है, कि तिब्बत निवासी देव जाती भी करीब अवनतिके मार्ग पर जाचुकी थी। असुर आदि जातियां इससे पूर्व गिर चुकी होंगी। हरएक जातीके अभ्युदय और अवनतीके लिये यदि चार पांच सहस्र वर्षोंका समय लगता होगा, तो इसमें संदेह नहीं हो सकता कि आर्य, देव और असुर जातियोंके उदयास्तका इतिहास कमसे कम पंद्रह वीस हजार वर्षोंका इतिहास है। असुरोंके पीछे देवजातीका विजयका समय था, क्योंकि देवजातीने प्रायः असुर जातीका पराभव करके उनको भगाया था, इससे भी सिद्ध है, कि असुर सभ्यताके पश्चात्की देव सभ्यता है और इससे पूर्व बतायाही है कि देवोंसे ज्ञान, शस्त्र अस्त्र आदि प्राप्त करके आर्य बढ रहे थे, इसलिये देवजातिके पश्चात् आर्योंके विजयका समय है। आर्योंके विजयका समय विक्रम संवतके पूर्व पांच सहस्र वर्ष था यह भारतीय युद्धके समयसे निश्चित् है, इससे पूर्व देवजातीके और उससे भी पूर्व असुर जातीके लोगोंका अभ्युदयका समय है। इससे अनुमानसे ज्ञात हो सकता है कि असुरोंके विजयका काल कौनसा होगा। अस्तु। इससे पता लग सकता है कि जिस कारण असुरोंपासक पारसी तथा ईराणके आसपासकी जातियां असुर शब्दसे ज्ञात होती हैं और उनका अंतर्भाव मानवजातीमें ही है, उसी कारण उनसे युद्ध करनेवाली और भारतीय आर्योंकी सहायता करनेवाली देवजातीके लोग भी मानवोंके समान ही समझने उचित हैं। देवोंके शत्रुओं और मित्रोंका विचार करनेसे हमें यहां पता लगा, कि देव भी उनके शत्रुओं और मित्रोंके समान ही मनुष्य देहधारी थे। अब पुनः गणदेवोंकी एक दो और बातोंका विचार करेंगे—

गणराज।

देवोंके गण थे और हरएक गणका एक एक महाजन होता था इसका नाम "गणराज" होता था। इस गणराज या गणपतिके आधीन सब गण रहते थे। इसकी आज्ञाके विना कोई गण कुछ कार्य कर नहीं सकता था। जो गण इसकी आज्ञामें यथा-योग्य रीतिसे रहते थे उनके सब कार्योंमें यह गणराज सहायता करता था और उनका जो विरोधी होता था उनके कार्यमें यह गणराज अनेक विघ्न उत्पन्न करता था। आजकल भी यही दिखाई देता है कि मुखियाके विरुद्ध होनेसे विघ्न होते और उसके अनुकूल होनेसे सब विघ्न हट जाते हैं। इसलिये इस गणराजका नाम विघ्न-कर्ता और विघ्न-हर्ता भी है।

हरएक कार्यमें इसका सत्कार प्रथम करना आवश्यक होता था, अन्यथा किसीका कार्य सफल होना कठिन हो जाता था। इसीलिये गणराजका सत्कार सबसे प्रथम होता था, आजकल भी महा-जनका सत्कार हरएक कार्यमें प्रथम करना और उसके लिये भी अग्रस्थान देना आवश्यक होता है वही बात उस समय होती थी।

जिस प्रकार गणका एक हरएक गणराज होता था उसी प्रकार अनेक गणोंका एक गणनाथ होता था। इसका नाम 'गणोंका गणपति' अर्थात् गणोंके समू-होंका पति होता था। इस मुख्य गणनायकके आधीन गणराज रहते थे और अपने अपने गणोंके द्वारा इष्ट कार्य करते थे। जिस प्रकार फौजमें छोटे और बडे अधिकारी होते हैं उसी प्रकार यह गणराज संस्था देवोंमें थी। फौजी व्यवस्था केवल फौजमेंही दिखाई

देती है, परंतु इस गणराज संस्थामें जो यह गणोंकी व्यवस्था है वह सब कार्योंके लिये होती थी और इस कारण गणोंके हिताहितके सब कार्य फौजी व्यवस्थाके समान उत्तम प्रकार होते और किसीको भी किसी प्रकार विशेष कष्ट नहीं होते थे।

आजकल यूरोपके फौजमें सेनाविभागोंके जो नियम दिखाई देते हैं और जो सुव्यवस्था दिखाई देती है उसका मूल इन देवोंकी गणराज संस्थामें पाठक देख सकते हैं।

इंद्रके मरुद्गण इतिहास पुराणोंमें सुप्रसिद्ध हैं। इसी प्रकार महादेवके भूतगण भी प्रसिद्ध हैं। प्रायः ये दोनों गण सेनाओंकेही गण थे। भूतगणोंका स्थान इस समयका 'भूतान' किंवा भूतस्थान है और मरुद्गणोंका स्थान तिब्बतमें किसी स्थानपर अनुमानित किया जा सकता है।

इस प्रकार गणराज संस्थाका विचार करनेसे पता लगता है कि ये देवगण हमारे जैसे मानवही थे, परंतु इनकी उत्पत्ति देवजातीसे होनेके कारण इनका नाम 'देव' हुआ था। इतने विचारसे सिद्ध हुआ कि देवजाती भी एक मनुष्यजातीही थी। अब अन्य जातियोंका विचार करनेके पूर्व नाग जातीका विचार करेंगे क्योंकि इसका विशेष संबंध आगे आनेवाला है।

नागलोक

(यह नाग विषयका लेख इतिहाससंशोधक श्री. वि. का. राजवाडेजी का लिखा है)

इस लेखमें 'नाग लोग' किस प्रदेशका नाम है इसका विचार करना है।

श्री हर्षकृत नागानंद नाटकमें निम्न लिखित आशयका वाक्य है— 'हिमालयके समीपके प्रांतमें राज्य करनेवाले जीमूतकेतु नामक विद्याधरका पुत्र जीमूतवाहन था। यह राजा मलयपर्वतके गोकर्ण-क्षेत्रके समीप रहनेवाले शंखपालकुलोत्पन्न शंखचूड नामक नागका संरक्षण करनेके लिये तैयार था।' (नागानंद अंक ४) अर्थात् गोकर्णक्षेत्र तथा मलय पर्वत पाताल देशमें अथवा पाताल देशके समीप पश्चिमसमुद्रके पास थे और पातालमें नाग लोग रहते थे। इसमें 'विद्याधर' नाम पूर्वोक्त देव योनी जातीका है वह देखने योग्य है। तथा और देखिये-

तदापाते च पाताले त्रासनिर्जीर्णराजिलम्।
कृत्स्नमेकपदे नष्टं नागलोकममन्यत ॥

कथासरित्सागर, तरंग २२

इसमें 'नागलोक नष्ट होनेके समान हुआ' यह वर्णन है। यह नाग लोक नागोंका प्रदेश ही है। इस प्रकार नाग लोकका नाश होते ही शंखचूड नाग रसातलमें गया; यह वर्णन निम्न पंक्तिमें देखने योग्य है—

विसृष्टस्तेन च ययौ शंखचूडो रसातलम्।

कथासरित्सागर, तरंग २२

अर्थात् रसातल भी एक प्रदेश था और वह पाताल देशके समीप था। और गोकर्ण तथा मलय पर्वत पातालमें, रसातलमें अथवा उनके समीप थे। यह बात नागानंद नाटक और कथासरित्सागर ग्रंथोंसे सिद्ध होती है। नागानंद नाटकका रचयिता श्रीहर्षकवि शक ५०० अर्थात् संवत् ६६५ में जीवित था, इसलिये हम कह सकते हैं कि इस संवत्में पाताल और रसातल शब्दोंसे उक्त प्रांतोंकाही ज्ञान होता था। इन पाताल और रसातलमें नागलोग रहते थे यह उक्त प्रमाणोंसे सिद्ध है।

नागानंद नाटकके पंचम अंकमें नायकके भाषणमें निम्न लिखित वाक्य है—

नायकः- फणिपते शंखचूड! किमेवमाविग्नोऽसि?
किमु स्थानमिदमागमनस्य? —
स्वशरीरेण शरीरं तार्क्ष्यात्परिरक्षितं त्वदीयमिदम्।
नेतुं युक्तं भवता पातालतलादपि तलं तत् ॥ १८ ॥

(नागानंद अं. ५)

अर्थ- हे शंखचूड! क्यों घबराते हो? यहां आगमनका प्रयोजन क्या है? तार्क्ष्य (गरुड) से मैंने तेरा संरक्षण किया है, अब तू पातालसे तलमें जा, यही तेरे लिये योग्य है।

इससे स्पष्ट हो रहा है, कि 'पाताल' देशके पास 'तल' नामक एक और प्रांत है। श्रीहर्षकविके इस

वचनसे स्पष्ट हो रहा है कि गोकर्णक्षेत्र, मलयपर्वत, पाताल और तल ये सब समीपके स्थान और प्रदेश थे। गोकर्णक्षेत्र इस समय भी विद्यमान है, इसलिये हम कह सकते हैं कि इसी क्षेत्रके पास ये सब प्रांत प्राचीन कालमें इन नामोंसे प्रसिद्ध थे।

नागलोगोंका राजा वासुकी था और उसकी राजधानी भोगवती थी। महाभारत उद्योग पर्व अ. १०९ में कहा है कि 'तक्षक और ऐरावत इन नागोंद्वारा रक्षित और वासुकी नागद्वारा पालित भोगवती नगरी ब्रह्मावर्तसे दूर दक्षिण दिशामें है' तथा इस भोगवती नगरीकी दिशासे ही आगे रावणका राज्य है।' तात्पर्य भोगवती, पाताल, तल, गोकर्ण, मलयपर्वत ये भूप्रदेश पश्चिम समुद्र (अरबी समुद्र) के समीपके भारतीय भूप्रदेशके ही नाम हैं, देखिये—

अत्र भोगवती नाम पुरी वासुकिपालिता।
तक्षकेण च नागेन तथैवैरावतेन च ॥

(म. भारत उद्योग १०९।१९-२०)

'इस (दक्षिण दिशामें) भोगवती नामक नगरी है जिसका पालन वासुकी करता है और तक्षक, ऐरावत ये नाग जिसका संरक्षण कर रहे हैं।'

अब विष्णु पुराणके निम्न लिखित श्लोक देखने योग्य हैं—

भारतस्यास्य वर्षस्य नव भेदान्निशामय।
इन्द्रद्वीपः कशेरुमांस्ताम्रपर्णो गभस्तिमान् ॥ ६ ॥
नागद्वीपस्तथा सौम्यो गान्धर्वस्त्वथ वारुणः।
अयं तु नवमस्तेषां द्वीपः सागरसंवृतः ॥ ७ ॥

विष्णु पुराण अंश. २ अ० ३

'भारत वर्षके नौ भाग हैं उनको सुनो- इंद्रद्वीप, कशेरुमान्, ताम्रपर्ण, गभस्तिमान्, नागद्वीप, सौम्य, गांधर्व, वारुण और यह समुद्रसे वेष्टित नौवां है।'

इससे स्पष्ट है कि नागद्वीप और वारुणद्वीप भारत वर्षके नौ विभागोंमेंसे दो विभाग हैं। इनमें नागद्वीप ही नागलोक है अर्थात् नाग नामक मनुष्योंका निवास स्थान है और जो ब्रह्मावर्तके बहुत दूर दक्षिण दिशामें है तथा जिसकी राजधानी भोगवती है और जो गोकर्ण, मलय, पाताल और तल प्रांतोंके मध्यमें किसी स्थानपर है। इसी रीतिसे वारुण द्वीपका पता चलाना चाहिये—

इयं दिग्दयिता राज्ञो वरुणस्य तु गोपतेः ॥ १ ॥
यादसामत्र राज्येन सलिलस्य च गुप्तये।
कश्यपो भगवान्देवो वरुणं स्माऽभ्यषेचयत् ॥ २ ॥

महाभारत उद्योग. अ. ११०

'यह (दक्षिण) दिशा गोपति वरुण राजाकी प्रिय है। जलचरोंका यह राज्य है और समुद्रकी रक्षाके लिये ये नियत हैं। भगवान् कश्यप ऋषिने वरुणको यहां राज्याभिषेक किया था।'

इससे सिद्ध होता है कि वरुणलोक भी समुद्रके पासके एक प्रांतका नाम था और वहांका राजा वरुण कहलाता था। महाभारत उद्योग पर्वमें कहा है कि नारद मातलिको वारुण द्वीपकी वारुण्य नगरीमेंसे गुजर कर नागलोकमें ले गये थे—

वरुणेनाऽभ्यनुज्ञातौ नागलोकं विचेरतुः।

महाभारत उद्योग. अ. ९८

'वरुणकी आज्ञा प्राप्त कर (नारद और मातली) नाग लोकमें विचरने लगे।' मातली अपने देशसे अपनी कन्याके लिये सुयोग्य वर ढूंढनेके लिये नाग लोक तक गया था। देखिये—

कन्यां शिरस्युपाघ्राय प्रविवेश महीतलम्।

महाभारत उद्योग अ. ९७

अहं ते सर्वमाख्यास्ये दर्शयन्वसुधातलम्।

महाभारत उद्योग अ. ९८

अर्थात् कन्याके लिये योग्य वर देखनेके लिये मातली वसुधातल, महीतल, रसातल, वरुण लोक, नागलोक आदि प्रांतोंमें भ्रमण कर रहा था। इसके भ्रमण वृत्तांतसे स्पष्ट हो रहा है कि वारुणद्वीपके पास ही नागलोक अर्थात् नागद्वीप किंवा नागलोगोंका प्रांत था। अर्थात् वारुण्य लोक और नाग लोक (किंवा वारुण प्रांत और नाग प्रांत) महीतल अथवा वसुधातल नामक भारतवर्षके भूभागमें ही प्राचीन कालमें समझे जाते थे। और उसमें वरुण लोक नागलोककी उत्तर दिशामें तथा नागलोक वरुण लोककी दक्षिण दिशामें था। तथा दोनों देशोंको पश्चिम समुद्र स्पर्श कर रहा था। अतः स्थानस्थानपर कहा है कि वरुण जलका अधिपति है। अर्थात् प्राचीन देवराज्यके शासनमें वरुण समुद्र विभागका अधीश था। इसीलिये उक्त श्लोकोंमें कहा है कि

५६६ तं हुवेम यतस्रुचः सुभासं शुक्रशोचिषम् । विशामग्निमजरं प्रत्नमीड्यम् ॥ २० ॥
५६७ यो अस्मै हव्यदातिभि-राहुतिं मर्तोऽविधत् । भूरि पोषं स धत्ते वीरवद् यशः ॥ २१ ॥
५६८ प्रथमं जातवेदस-मग्निं यज्ञेषु पूर्व्यम् । प्रति स्रुगेति नमसा हविष्मती ॥ २२ ॥
५६९ आभिर्विधेमाग्नये ज्येष्ठाभिर्व्यश्ववत् । मंहिष्ठाभिर्मतिभिः शुक्रशोचिषे ॥ २३ ॥
५७० नूनमर्च विहायसे स्तोमेभिः स्थूरयूपवत् । ऋषे वैयश्व दम्यायाग्नये ॥ २४ ॥
५७१ अतिथिं मानुषाणां सूनुं वनस्पतीनाम् । विप्रा अग्निमवसे प्रत्नमीळते ॥ २५ ॥

अर्थ— [५६६] (सुभासं, शुक्रशोचिषं विशां ईड्यं अजरं प्रत्नं तं अग्निं) उत्तम कान्तिमान्, सुन्दर दीप्तिसे युक्त, मनुष्योंके द्वारा स्तुति किए जानेके योग्य, जरारहित, पुरातन उस अग्निको हम (यतस्रुचः हुवेम) हाथमें स्रुचा उठाकर बुलाते हैं ॥ २० ॥

[५६७] (यः मर्तः हव्यदातिभिः अस्मै आहुतिं अविधत्) जो मनुष्य ऋत्विजोंके द्वारा इस अग्निके लिये आहुति प्रदान करता है (सः भूरिपोषं वीरवत् यशः धत्ते) वह बहुत पुष्टिकारक धन और वीर पुत्र पौत्रादिसे युक्त यश प्राप्त करता है ॥ २१ ॥

१ यः मर्तः अस्मै आहुतिं अविधत्, स भूरिपोषं यशः धत्ते— जो मनुष्य इस अग्निको आहुति देता है, वह अनेकोंकी पुष्टि करनेवाला अन्न प्राप्त करता है।

[५६८] (प्रथमं जातवेदसं पूर्व्यं अग्निं) देवोंमें प्रधान, सब उत्पन्न पदार्थोंके ज्ञाता, सबसे पुरातन अग्निको लक्ष्य करके (यज्ञेषु हविष्मती स्रुक् नमसा प्रति एति) यज्ञोंमें हविसे युक्त चमचा नमस्कारपूर्वक स्तोत्रोंसे अग्निके प्रति जाता है ॥ २२ ॥

१ जातवेदसं यज्ञेषु पूर्व्यम्— सब प्रकारके ज्ञानसे युक्त मनुष्य पूजनीय मनुष्योंमें सर्व प्रथम या सर्व श्रेष्ठ होता है।

[५६९] हम (शुक्रशोचिषे अग्नये) शुद्ध तेजवाले अग्निके लिये (व्यश्ववत् ज्येष्ठाभिः मंहिष्ठाभिः आभिः मतिभिः विधेम) अश्वके समान बलवान् होकर सर्वश्रेष्ठ ज्ञानप्रद इन वाणियों और बुद्धियोंसे उपासना करते हैं ॥ २३ ॥

[५७०] हे (वैयश्व ऋषे) जितेन्द्रिय ज्ञानदर्शिन् ऋषे ! तू (दम्याय विहायसे अग्नये) शत्रुओंके दमन करनेमें समर्थ महान् अग्निका (नूनं स्थूरयूपवत् स्तोमेभिः अर्च) इस समय ही स्थूलयूपके समान वेदमंत्रोंसे पूजन कर ॥ २४ ॥

[५७१] (मानुषाणां अतिथिं, वनस्पतीनां सूनुं प्रत्नं अग्निं) मनुष्योंके लिए अतिथिवत् पूज्य, वनस्पतियों द्वारा उत्पन्न, प्राचीन अग्निकी (विप्राः अवसे ईळते) विद्वान् पुरुष अपनी रक्षाके लिये स्तुति करते हैं ॥ २५ ॥

भावार्थ— यह अग्नि उत्तम कान्तिमान्, सुन्दर दीप्तिसे युक्त, जरारहित तथा सबसे प्राचीन है। ऐसे इस अग्निको जो आहुति देता है, वह पुष्टिकारक अन्न प्राप्त करता है ॥ २०-२१ ॥

जो मनुष्य हर तरहके ज्ञानसे युक्त होता है, वह सब मनुष्योंमें श्रेष्ठ होता है। इसी प्रकार जिस राष्ट्रमें सब प्रजायें शिक्षित होती हैं, वह राष्ट्र विश्वके सब राष्ट्रोंमें सर्वोत्तम और सर्वश्रेष्ठ होता है ॥ २२ ॥

यह अग्नि शत्रुओंका दमन करनेवाला महान् है। उसी प्रकार राष्ट्रका अग्रणी भी शत्रुओंका दमन करनेवाला, महान् और जितेन्द्रिय होना चाहिए। इस प्रकार जो जितेन्द्रिय नेता, अश्वके समान बलवान् होता है, वह सबके द्वारा पूजित होता है ॥ २३-२४ ॥

यह अग्नि मनुष्योंके लिए अतिथिके समान पूज्य, वनस्पतियोंका पुत्र अर्थात् लकडियों अरणियोंसे उत्पन्न और प्राचीन है। इसकी सब अपनी रक्षाके लिए स्तुति करते हैं ॥ २५ ॥

५७२ महो विश्वाँ अभि षतोऽभि हव्यानि मानुषा । अग्ने नि षत्सि नमसाधि बर्हिषि ॥२६॥
५७३ वंस्वा नो वार्या पुरु वंस्व रायः पुरुस्पृहः । सुवीर्यस्य प्रजावतो यशस्वतः ॥ २७॥
५७४ त्वं वरो सुषाम्णेऽग्ने जनाय चोदय । सदा वसो रातिं यविष्ठ शश्वते ॥२८॥
५७५ त्वं हि सुप्रतूरसि त्वं नो गोमतीरिषः । महो रायः सातिमग्ने अपा वृधि ॥२९॥
५७६ अग्ने त्वं यशा अस्या मित्रावरुणा वह । ऋतावाना सम्राजा पूतदक्षसा ॥३०॥

[२४]

(ऋषिः- विश्वमना वैयश्वः । देवता- इन्द्रः, २८-३० वरुः सौषाम्णिः । छन्दः- उष्णिक्, ३० अनुष्टुप् ।)

५७७ सखाय आ शिषामहि ब्रह्मेन्द्राय वज्रिणे । स्तुष ऊ षु वो नृतमाय धृष्णवे ॥ १ ॥

अर्थ— [५७२] हे (अग्ने) अग्ने ! तू (महः विश्वान् सतः अभिषत्सि) अपने सामर्थ्यसे सभी विद्यमान पदार्थोंको व्यापता है । तू (मानुषा हव्यानि अभि) मनुष्यसम्बन्धी हव्योंको स्वीकार करता है । तथा (अधि बर्हिषि नमसा नि सत्सि) इस यज्ञमें स्तुति द्वारा पूजित होकर विराजता है ॥ २६ ॥

[५७३] हे अग्ने ! (नः पुरु वार्या वंस्व) हमें बहुतोंसे वरणीय ऐसे उत्तम ऐश्वर्य प्रदान कर । तथा (पुरुस्पृहः प्रजावतः, सुवीर्यस्य यशस्वतः रायः वंस्व) अनेकोंसे स्पृहणीय, पुत्र पौत्रादि प्रजाओंका उत्पादक, शौर्य पराक्रमका देनेवाला, यशःकीर्ति, अन्नादिसे युक्त धन प्रदान कर ॥ २७ ॥

[५७४] हे (वरो वसो यविष्ठ अग्ने) वरण करने योग्य, निवासप्रद, अतिशय बलशाली अग्ने ! (त्वं शश्वते सुषाम्णे जनाय) तू बहुतस्तोतृजनोंके हितके लिये (सदा रातिं चोदय) हमेशा धनको प्रेरित कर ॥ २८ ॥

[५७५] हे (अग्ने) अग्ने ! (त्वं हि सु प्रतूः असि) तू ही उत्तम रीतिसे धन प्रदान करनेहारा दानी है । (त्वं नः गोमतीः इषः महः रायः सातिं अपा वृधि) तू हमें गायोंसे युक्त सुसम्पन्न अन्नादिसे युक्त अपने बडे ऐश्वर्यके भागको प्रदान कर ॥ २९ ॥

[५७६] हे (अग्ने) अग्ने ! (त्वं यशा असि) तू देवोंके मध्यमें यशस्वी है । तू (ऋतावाना, सम्राजा पूतदक्षसा मित्रावरुणा आ वह) सत्यनिष्ठ, अत्यन्त तेजस्वी, पवित्र बलवाले मित्र और वरुणको यहां ले आ ॥ ३० ॥

[२४]

[५७७] हे (सखायः) मित्रो ! (वज्रिणे इन्द्राय) वज्रधारी इन्द्रके लिए हम (ब्रह्म आ शिषीमहि) स्तोत्रका गान करें । (वः) तुम भी (धृष्णवे नृतमाय) शत्रुओंके संहारक तथा अत्यन्त श्रेष्ठ नेता इन्द्रके लिए (सु स्तुष) अच्छी तरह स्तुति करो ॥ १ ॥

भावार्थ— यह अग्नि अपनी महत्तासे सब पदार्थोंमें व्याप्त रहता है और मनुष्यों द्वारा दिए गए सब हव्योंको स्वीकार करता है और यज्ञमें बैठता है । उसी तरह राष्ट्रके नेताको चाहिए, कि वह अपनी महत्तासे सब प्रजाओंमें पूजा जाए और प्रजाओं द्वारा चलाये गए सब उत्तम कर्मोंमें सम्मिलित हो ॥ २६ ॥

हे सबके द्वारा वरणीय तथा सबको निवास करनेवाले बलशाली अग्ने ! तू स्तोत्र करनेवालोंके लिए उत्तम ऐश्वर्य, उत्तम प्रजायें और पराक्रम आदि सद्गुण प्रदान कर ॥ २७-२८ ॥

हे अग्ने ! तू सबको उत्तम धन प्रदान करता है, अतः हमें भी उत्तम उत्तम गायोंसे युक्त धन प्रदान कर तथा मित्रके समान हितकारी और वरण करने योग्य श्रेष्ठ जनोंको हमारे पास बुला ला ॥ २९-३० ॥

इन्द्र वज्रको धारण करनेवाला, शत्रुओंका संहारक तथा सर्व श्रेष्ठ नेता है, ऐसे वीरकी ज्ञानपूर्वक स्तुति करनी चाहिए ॥ १ ॥

५७८ शवसा ह्यसि श्रुतो वृत्रहत्येन वृत्रहा । मघैर्मघोनो अति शूर दाशसि ॥ २ ॥
५७९ स नः स्तवान आ भर रयिं चित्रश्रवस्तमम् । निरेके चिद् यो हरिवो वसुर्ददिः ॥ ३ ॥
५८० आ निरेकमुत प्रियमिन्द्र दर्षि जनानाम् । धृषता धृष्णो स्तवमान आ भर ॥ ४ ॥
५८१ न ते सव्यं न दक्षिणं हस्तं वरन्त आमुरः । न परिबाधो हरिवो गविष्टिषु ॥ ५ ॥
५८२ आ त्वा गोभिरिव व्रजं गीर्भिर्ऋणोम्यद्रिवः । आ स्मा कामं जरितुरा मनः पृण ॥ ६ ॥
५८३ विश्वानि विश्वमनसो धिया नो वृत्रहन्तम । उग्र प्रणेतरधि षू वसो गहि ॥ ७ ॥

अर्थ— [५७८] हे इन्द्र ! (वृत्रहा) वृत्रको मारनेवाला तू (वृत्रहत्येन शवसा) अपने वृत्रको मारनेरूप बलके कारण (श्रुतः असि) सर्वत्र प्रसिद्ध है। हे (शूर) शूरवीर इन्द्र ! तू (मघोनः) ऐश्वर्यशालीको (मघैः अति दाशसि) और अधिक ऐश्वर्य प्रदान करता है ॥ २ ॥

[५७९] हे इन्द्र ! (सः) वह तू (स्तवानः) हमारे द्वारा स्तुत होता हुआ (चित्र श्रवस्तमं रयिं) ग्रहण करने योग्य और अत्यन्त उत्तम यश देनेवाले ऐश्वर्यको (नः आ भर) हमें भरपूर दे। हे (हरिवः) उत्तम घोडोंसे युक्त इन्द्र ! (यः) जो तू (निरेकेचित् वसुः ददिः) ऐश्वर्यशालियोंको ही धन देता है ॥ ३ ॥

[५८०] हे (इन्द्र) इन्द्र ! तू हम (जनानां) जनोंको (प्रियं निरेकं) उस प्रिय धनको (आ दर्षि) भरपूर दे। हे (धृष्णो) शत्रुनाशक इन्द्र ! तू (स्तवमानः) हमसे स्तुत या प्रशंसित होता हुआ (धृषता) बलके साथ उस धनको हमें (आ भर) प्रदान कर ॥ ४ ॥

[५८१] हे (हरिवः) उत्तम घोडोंवाले इन्द्र ! (आमुरः) तुझसे युद्ध करनेवाले शत्रु (गविष्टिषु) युद्धोंमें (ते सव्यं न वरन्त) तेरे बायें हाथको नहीं रोक सकते (न दक्षिणं हस्तं) और न तेरे दायें हाथकोही हटा सकते हैं, तथा (परिबाधः न) तेरे कार्योंमें बाधा डालनेवाले भी तेरा कुछ नहीं बिगाड सकते ॥ ५ ॥

[५८२] हे (अद्रिवः) वज्रधारी इन्द्र ! (गोभिः व्रजं इव) जिस तरह कोई गोपाल गायोंके साथ गायोंके बाडेको जाता है, उसी तरह मैं (गीर्भिः त्वा आ ऋणोमि) स्तुतियोंसे युक्त होकर तेरे पास जाता हूँ। तू (जरितुः कामं आ) स्तोताकी इच्छाको पूरा कर और उसके (मनः आ पृण) मनको भी शान्तिसे पूर्ण कर दे ॥ ६ ॥

[५८३] हे (वृत्रहन्तम) शत्रुओंको बुरी तरह नष्ट करनेवाले (उग्र) वीर (प्रनेतः) उत्तम रीतिसे आगे ले जानेवाले और (वसो) सबको बसानेवाले इन्द्र ! (विश्वमनसः नः) सबसे मनःपूर्वक प्रेम करनेवाले हमारे (विश्वानि) सब कर्म (धिया) बुद्धिपूर्वक हों, उन्हें तू (सु अधि गच्छ) अच्छी तरह जान ॥ ७ ॥

भावार्थ— इन्द्र अपने शत्रुवधरूप बलके कारण ही सर्वत्र प्रसिद्ध हुआ। जो अपने शत्रुओंका विनाश करता है, उसका यश सर्वत्र फैलता है। जो ऐश्वर्यशाली होते हुए भी दान देते हैं, उनका ऐश्वर्य और अधिक बढता है ॥ २ ॥

धन ऐसा हो जो ग्रहण करने योग्य हो और उत्तम यशको देनेवाला हो। ऐसा धन मनुष्यको सच्चा ऐश्वर्यशाली बनाता है ॥ ३ ॥

धन प्रिय हो और बलसे युक्त हो। धन प्राप्त करके उसकी रक्षाके लिए सामर्थ्यकी भी आवश्यकता होती है, अतः धन सदा बलसे युक्त हो ॥ ४ ॥

इन्द्रके शत्रु युद्धोंमें इस इन्द्रको रोक नहीं सकते। ऐसी अप्रतिहत गतिवाला यह इन्द्र है ॥ ५ ॥

जिस तरह कोई ग्वाला अपनी गायोंपर पूर्ण प्रेम करता है, उसी तरह जो इन्द्र पर पूर्ण रूपसे प्रेम करता है, उसकी सब इच्छायें पूरी होती हैं और उसका मन शांतिसे पूर्ण होता है ॥ ६ ॥

जो सबको अपना समझकर व्यवहार करता है, उसके सभी कर्म बुद्धिपूर्वक होते हैं। उदारचेता मनुष्य बिना विचारे कोई कर्म नहीं करता। इसीकारण ऐसे मनुष्यके पास सभी देवगण आते हैं ॥ ७ ॥

५८४ वयं ते अस्य वृत्रहन् विद्याम शूर नव्यसः । वसोः स्पार्हस्य पुरुहूत राधसः ॥८॥
५८५ इन्द्र यथा ह्यस्ति ते ऽपरीतं नृतो शवः । अमृक्ता रातिः पुरुहूत दाशुषे ॥ ९ ॥
५८६ आ वृषस्व महामह महे नृतम राधसे । दृळ्हश्चिद् दृह्य मघवन् मघत्तये ॥१०॥
५८७ नू अन्यत्रा चिदद्रिवस्त्वन्नो जग्मुराशसः । मघवञ्छग्धि तव तन्न ऊतिभिः ॥११॥
५८८ नह्यङ्ग नृतो त्वदन्यं विन्दामि राधसे । राये द्युम्नाय शवसे च गिर्वणः ॥१२॥
५८९ एन्दुमिन्द्राय सिञ्चत पिबाति सोम्यं मधु । प्र राधसा चोदयाते महित्वना ॥१३॥

अर्थ— [५८४] हे (वृत्रहन् शूर पुरुहूत) वृत्रको मारनेवाले, शूरवीर तथा अनेकों द्वारा बुलाये जानेवाले इन्द्र ! (वयं) हम (ते) तेरे (अस्य) इस (नव्यसः) प्रशंसनीय (स्पार्हस्य) चाहने योग्य (राधसः वसोः) सब मनोरथोंकी सिद्धि करनेवाले धनको (विद्याम) प्राप्त करें ॥ ८ ॥

[५८५] हे (नृतः इन्द्र) उत्तम नेता इन्द्र ! (यथा ते शवः) जिस प्रकार तेरा बल (अपरीतं हि अस्ति) शत्रुओंके द्वारा नहीं मापा जा सकता, उसी तरह हे (पुरुहूत) बहुतों द्वारा बुलाये जाने योग्य इन्द्र ! (दाशुषे) दाताको दिए जानेवाले तेरे (रातिः अमृक्ता) दान भी अविनाशी हैं ॥ ९ ॥

[५८६] हे (महामह नृतम) बडोंके लिए भी पूज्य और उत्तम नेता इन्द्र ! (महे राधसे) महान् ऐश्वर्यकी प्राप्तिके लिए हमें (आ वृषस्व) बलयुक्त कर। हे (मघवन्) ऐश्वर्यशाली इन्द्र ! तू हमें (मघत्तये) ऐश्वर्य प्रदान करनेके लिए (दृळ्हश्चित् दृह्य) दृढसे दृढ शत्रुको भी नष्ट कर ॥ १० ॥

[५८७] हे (अद्रिवः) वज्रधारी इन्द्र ! (नः आशसः) हमारी अभिलाषायें (नु त्वत् अन्यत्र) तुझे छोडकर अन्यके पास (जग्मुः) गई पर अब हे (मघवन्) ऐश्वर्यशाली इन्द्र ! तू (तव ऊतिभिः) अपने संरक्षणके साधनोंसे युक्त होकर (तत् शग्धि) उस धनको हमें प्रदान कर ॥ ११ ॥

[५८८] हे (अंग नृत गिर्वणः) प्रिय, नेता और स्तुतिके योग्य इन्द्र ! (राधसे राये द्युम्नाय शवसे च) सिद्धि, ऐश्वर्य, तेज और बलकी प्राप्तिके लिए (त्वत् अन्यं नहि विन्दामि) तुझसे भिन्न और किसीको मैं नहीं पाता ॥ १२ ॥

[५८९] हे मनुष्यो ! (इन्द्राय इन्दुं सिंचत) इन्द्रके लिए सोमरस तैयार करो, वह (सोम्यं मधु पिबाति) शान्तिदायक सोमरसको पीता है और (महित्वना) अपने बलसे और (राधसा) ऐश्वर्यसे (प्र चोदयाते) लोगोंको उत्तम मार्गमें प्रेरित करता है ॥ १३ ॥

भावार्थ— धन प्रशंसाके योग्य है। धनका उपयोग जब लोकहितके लिए होगा, तभी लोग उस धनकी प्रशंसा करेंगे और वैसा धनही लोगोंके ऐश्वर्यको बढानेवाला होगा ॥ ८ ॥

इन्द्रका बल अपरिमित होनेसे शत्रु इसे किसी तरह नष्ट नहीं कर सकते, उसी तरह इन्द्रके दानको भी कोई नष्ट नहीं कर सकता ॥ ९ ॥

यह इन्द्र महान् है अतः जो महान् है, उनके लिए भी यह पूज्य है। यह इन्द्र अपने भक्तोंको बल प्रदान करता है, ताकि वे ऐश्वर्यको प्राप्त कर सकें। उनकी सहायताके लिए वह दृढसे दृढ शत्रुको भी नष्ट करता है ॥ १० ॥

जब मनुष्य इन्द्रको छोडकर किसी अन्यके पास अपनी इच्छाओंकी पूर्तिके लिए जाता है, तब उसकी इच्छायें अपूर्ण ही रह जाती हैं, क्योंकि उसकी इच्छाओंको केवल इन्द्र ही पूर्ण कर सकता है ॥ ११ ॥

इन्द्रसे भिन्न और कोई ऐसा नहीं है, जो स्तुतिकर्ताओंके मनोरथोंकी सिद्धि करके उन्हें ऐश्वर्य, तेज और बल आदि दे सके ॥ १२ ॥

इन्द्र जब शान्तिदायक सोम पीता है, तब वह प्रसन्न होकर अपने बल और ऐश्वर्यसे लोगोंको उत्तम मार्गमें प्रेरित करता है ॥ १३ ॥

५९० उपो हरीणां पतिं दक्षं पृञ्चन्तमब्रवम् । नूनं श्रुधि स्तुवतो अश्व्यस्य ॥१४॥
५९१ नह्यङ्ग पुरा चन जज्ञे वीरतरस्त्वत् । नकी राया नैवथा न भन्दना ॥१५॥
५९२ एदु मध्वो मदिन्तरं सिञ्च वाध्वर्यो अन्धसः । एवा हि वीरः स्तवते सदावृधः ॥१६॥
५९३ इन्द्र स्थातर्हरीणां नकिष्टे पूर्व्यस्तुतिम् । उदानंश शवसा न भन्दना ॥१७॥
५९४ तं वो वाजानां पतिमहूमहि श्रवस्यवः । अप्रायुभिर्यज्ञेभिर्वावृधेन्यम् ॥१८॥
५९५ एतो न्विन्द्रं स्तवाम सखायः स्तोम्यं नरम् । कृष्टीर्यो विश्वा अभ्यस्त्येक इत् ॥१९॥

अर्थ— (५९०) (हरीणां पतिं) घोडोंके स्वामी (दक्षं) चतुर, कार्यकुशल तथा (पृंचन्तं) सबसे हिलमिलकर रहनेवाले, हे इन्द्र, तेरा (उप अब्रवम्) वर्णन मैंने किया, तू भी (अश्व्यस्य) घोडे प्राप्त करनेकी इच्छा करनेवाले तथा (स्तुवतः) स्तुति करनेवाले मेरी प्रार्थनाको (नूनं श्रुधि) निश्चयसे सुनो ॥ १४ ॥

[५९१] हे (अंग) वीर इन्द्र ! (पुरा चन) पहले भी (त्वत् वीरतरः नहि जज्ञे) तुझसे अधिक वीर और कोई पैदा नहीं हुआ, (राया नकि) ऐश्वर्यमें तुझसे अधिक कोई नहीं हुआ (एवथा नकि) बलमें भी कोई नहीं हुआ और (न भन्दना) न तुझसे अधिक स्तुत्य स्तुतिके योग्य कोई हुआ ॥ १५ ॥

[५९२] हे (अध्वर्यो) अध्वर्यु ! (मध्वः अन्धसः) मीठे अन्नके (मदिन्तरं) आनन्ददायी रससे पूर्ण सोमरसको (आ इत् सिंच) निश्चयसे इन्द्रको प्रदान कर। (एवा हि) क्योंकि (सदावृधः वीरः स्तवते) सोम देनेवालेको सदा बढानेवाला वह वीर इन्द्र प्रशंसित होता है ॥ १६ ॥

[५९३] (हरीणां स्थातः इन्द्र) हे घोडोंके स्वामिन् इन्द्र ! (ते पूर्व्यस्तुतिं) तेरी पहले की गई स्तुतिको कोई भी दूसरा (शवसा न भन्दना) बलसे न योग्यतासे ही (उदानंश) आजतक प्राप्त कर सका ॥ १७ ॥

[५९४] (वः) तुम्हारे (तं वाजानां पतिं) उस बलोंके स्वामी तथा (वावृधेन्यं) वृद्धिके योग्य इन्द्रको (श्रवस्यवः) अन्न और यशको प्राप्त करनेकी इच्छा करनेवाले हम (अप्रायुभिः यज्ञेभिः) सम्मिलित होकर किए जानेवाले यज्ञोंके द्वारा (अहूमहि) बुलाते हैं ॥ १८ ॥

[५९५] हे (सखायः) मित्रो ! (एत) आओ, (यः एकः इत्) जो अकेला होते हुए भी (विश्वाः कृष्टीः अभि अस्ति) सम्पूर्ण प्राणियों पर शासन करता है, उस (स्तोम्यं इन्द्रं स्तवाम) स्तुतिके योग्य उत्तम नेता इन्द्रकी स्तुति करें ॥ १९ ॥

भावार्थ— यह इन्द्र अपने कार्य करनेमें बहुत ही कुशल तथा लोगोंसे हिलमिलकर रहनेवाला है। राजा भी इसी तरह अपने कार्यमें कुशल तथा अपनी प्रजासे मिलजुलकर रहनेवाला हो ॥ १४ ॥

इन्द्र सबसे श्रेष्ठ है। इसकी श्रेष्ठता प्राचीन कालसे चली आ रही है। बल, वीरता, धन और प्रशंसामें इससे अधिक आजतक कोई नहीं हुआ ॥ १५ ॥

सोमका रस मीठा और आनन्दको देनेवाला होता है। इसको प्राप्त करके इन्द्र यज्ञकर्ताको बढाता है ॥ १६ ॥

इस इन्द्र की स्तुति प्राचीन कालसे ऋषिमुनि करते आ रहे हैं, आज तक उस स्तुतिको और कोई दूसरा देव प्राप्त न कर सका, क्योंकि दूसरा कोई भी देव योग्यता और बलकी दृष्टिसे इन्द्रसे अधिक नहीं है ॥ १७ ॥

इन्द्र सब तरहके बलोंका स्वामी है और वृद्धिके योग्य है। उसकी स्तुतिसे हम यश और अन्नको प्राप्त करें ॥ १८ ॥

इस संसारमें करोडों अरबों प्राणी हैं, उन सब प्राणियों पर इन्द्र अकेला ही शासन करता है। इसी कारण वह स्तुतिके योग्य है ॥ १९ ॥

५९६ अगोरुधाय गविषे द्युक्षाय दस्म्यं वचः । घृतात् स्वादीयो मधुनश्च वोचत ॥२०॥
५९७ यस्यामितानि वीर्या३ न राधः पर्येतवे । ज्योतिर्न विश्वमभ्यस्ति दक्षिणा ॥२१॥
५९८ स्तुहीन्द्रं व्यश्ववदनूर्मिं वाजिनं यमम् । अर्यो गयं मंहमानं वि दाशुषे ॥२२॥
५९९ एवा नूनमुप स्तुहि वैयश्व दशमं नवम् । सुविद्वांसं चर्कृत्यं चरणीनाम् ॥२३॥
६०० वेत्था हि निर्ऋतीनां वज्रहस्त परिवृजम् । अहरहः शुन्ध्युः परिपदामिव ॥२४॥
६०१ तदिन्द्राव आ भर येना दंसिष्ठ कृत्वने । द्विता कुत्साय शिश्नथो नि चोदय ॥२५॥

अर्थ— [५९६] (अगोरुधाय) गायोंको नष्ट न करनेवाले अपितु (गाविषे) गायोंका रक्षा करनेवाले (द्युक्षाय) तेजस्वी इन्द्रके लिए (घृतात् मधुनश्च स्वादीयः) घी और शहदसे भी अधिक मधुर और स्वादिष्ट (वचः वोचत) स्तोत्रोंको गाओ ॥ २० ॥

[५९७] (यस्य वीर्या अमितानि) जिसके पराक्रम अपरिमित हैं, (राधः न परि एतवे) जिसके ऐश्वर्यके चारों ओर चक्कर नहीं लगाया जा सकता, तथा जिसका (दक्षिणा) दान (ज्योतिः न) प्रकाशके समान (विश्वं अभि अस्ति) सबको व्याप्त करता है ॥ २१ ॥

[५९८] (अनूर्मिं वाजिनं यमं) हिंसित न होनेवाले बलशाली तथा सब विश्वको नियंत्रणमें रखनेवाले (इन्द्रं) इन्द्रकी (व्यश्ववत्) व्यश्व ऋषिके समान (स्तुहि) स्तुति करो। वह (अर्यः) श्रेष्ठ इन्द्र (दाशुषे) दाताको (मंहमानं गयं) प्रशंसनीय धनको प्रदान करता है ॥ २२ ॥

[५९९] हे (वैयश्व) वैयश्व ऋषि ! (चरणीनां नवं दशं) मनुष्योंमें नौ प्राणोंके अलावा दसवें प्राणरूपसे रहनेवाले (सुविद्वांसं चर्कृत्यं) उत्तम ज्ञानी तथा पूजाके योग्य इस इन्द्रकी (एव नूनं उप स्तुहि) निश्चयसे तू उपासना कर ॥ २३ ॥

[६००] हे (वज्रहस्त) वज्रको हाथोंमें धारण करनेवाले इन्द्र ! जिस प्रकार (शुंध्युः) सबको शुद्ध करनेवाला सूर्य (अहरहः) प्रतिदिन (परिपदां इव) प्राणियोंके स्थानसे अपवित्रता दूर करता है, उसी तरह तू हे इन्द्र ! (निर्ऋतीनां परिवृजं वेत्थ) दरिद्रताके दूर करनेके उपायको जानता है ॥ २४ ॥

[६०१] हे (दंसिष्ठ इन्द्र) उत्तम कर्म करनेवालोंमें सर्वश्रेष्ठ इन्द्र ! (कृत्वने येन) उत्तम कर्म करनेवालोंकी जिससे तू रक्षा करता है, (तत् अवः) उस संरक्षणके साधनको (आ भर) हमें प्रदान कर। जिस साधनसे तूने (कुत्साय) कुत्सकी रक्षाके लिए (द्विता शिश्नथः) दो प्रकारसे शत्रुओंको मारा था, उस साधनको तू हमारी ओर (नि चोदय) प्रेरित कर ॥ २५ ॥

भावार्थ— यह इन्द्र गायोंको नष्ट नहीं करता, इसके विपरीत वह गायोंकी रक्षा ही करता है। ऐसे इन्द्रके लिए प्रेमसे ऐसे स्तोत्रोंको गाना चाहिए कि जो घी और शहदसे भी मीठे और स्वादिष्ट हों ॥ २० ॥

इस इन्द्रके बल अनन्त हैं, अतः इसकी सीमाका पता नहीं लगाया जा सकता, इसका ऐश्वर्य भी अनन्त होनेके कारण उसके चारों ओर जाकर उसका भी अन्त नहीं पाया जा सकता। जिस तरह प्रकाश सारे विश्वको व्याप्त करता है, उसी तरह इस इन्द्रके दान सभी विश्वमें व्याप्त हो रहे हैं ॥ २१ ॥

यह इन्द्र अहिंसित है, कोई भी इसका विनाश नहीं कर सकता, क्योंकि यह बलशाली है, इसीलिए वह सारे विश्व पर नियंत्रण करता हुआ उसे अपने शासनमें रखता है ॥ २२ ॥

मनुष्योंके शरीरमें नौ प्राणोंके अलावा जीवात्माके रूपमें यह इन्द्र दसवां प्राण है। यह जीवात्मा उत्तम ज्ञानी है, क्योंकि इसका स्वरूप ही ज्ञान है, अत एव यह पूजाके योग्य भी है। आत्माकी सदा पूजा करनी चाहिए ॥ २३ ॥

सूर्यके उदय होने पर उसकी किरणें जिस जगह जाकर गिरती हैं, उस जगहकी अपवित्रता दूर होकर वह स्थान पवित्र हो जाता है, उसी तरह मनुष्य इन्द्रकी उपासना करके अपने घरमें जहां जहां दरिद्रता हो, वहां वहांसे उस दरिद्रताको दूर करके अपने घरको सम्पन्न और समृद्ध बनावे ॥ २४ ॥

हे इन्द्र ! जिस संरक्षणके साधनसे तूने उत्तम कर्म करनेवालेकी रक्षा की थी, तथा कु–त्स अर्थात् बुराइयोंको दूर करनेवाले श्रेष्ठ जनकी रक्षा की थी, उसी साधनसे तू हमारी भी रक्षा कर ॥ २५ ॥

६०२ तमु त्वा नूनमीमहे नव्यं दंसिष्ठ सन्यसे । स त्वं नो विश्वा अभिमातीः सक्षणिः ॥२६॥
६०३ य ऋक्षादंहसो मुचद् यो वार्यात् सप्त सिन्धुषु । वधर्दासस्य तुविनृम्ण नीनमः ॥२७॥
६०४ यथा वरो सुषाम्णे सनिभ्य आवहो रयिम् । व्यश्वेभ्यः सुभगे वाजिनीवति ॥२८॥
६०५ आ नार्यस्य दक्षिणा व्यश्वाँ एतु सोमिनः । स्थूरं च राधः शतवत् सहस्रवत् ॥२९॥
६०६ यत् त्वा पृच्छादीजानः कुहया कुहयाकृते । एषो अपश्रितो वलो गोमतीमव तिष्ठति ॥३०॥

अर्थ— [६०२] हे (दंसिष्ठ) अत्यन्त श्रेष्ठ दानी इन्द्र ! (तं उ त्वा) उस तुझसे (नव्यं सन्यसे) स्तुत्य धन प्रदान करनेके लिए (नूनं ईमहे) निश्चयसे प्रार्थना करते हैं। (सः त्वं) वह तू (विश्वाः अभिमातीः सक्षणिः) संपूर्ण शत्रुओंको विनष्ट कर ॥ २६ ॥

[६०३] (यः) जिस इन्द्रने अपने उपासकोंको (ऋक्षात् अंहसः मुचत्) राक्षसों और पापोंसे छुडाया, तथा (यः) जिस इन्द्रने (सप्त सिन्धुषु) सातों नदियोंमें (आर्यात्) जलको प्रवाहित किया, तथा (दासस्य वधः) दास बनानेवाले दुष्टोंका वध किया, उस तुझे हे (तुविनृम्ण) अत्यधिक बलशाली इन्द्र ! हम (नीनमः) बार बार नमन करते हैं ॥ २७ ॥

[६०४] हे (वरो) श्रेष्ठ मनुष्य ! तू (सुषाम्णे सनिभ्यः) उत्तम और शांत मनुष्यको तथा मांगनेवाले (व्यश्वेभ्यः) उत्तम प्रगतिवाले मनुष्योंको (रयिं आ वह) धन प्रदान कर, तथा (सुभगे वाजिनीवति) उत्तम भाग्यवाली तथा समृद्धिसे युक्त स्त्री ! तू भी (यथा) यथा योग्य दान दे ॥ २८ ॥

व्यश्व- वि-विशेष रूपसे; अश-गति प्रगति करनेवाला।

[६०५] (नार्यस्य सोमिनः) नरों-मनुष्योंका हित करनेवाले तथा सोमयज्ञ करनेवाले मनुष्यके (दक्षिणा) दान (वि-अश्वान् आ एतु) उत्तम रीतिसे प्रगति करनेवाले मनुष्योंके पास पहुंचे, तथा (शतवत् सहस्रवत्) सैकडों और हजारोंकी संख्यामें (स्थूरं राधः च) स्थूल धन भी पहुंचे ॥ २९ ॥

[६०६] हे (कुहयाकृते) मायावीको नष्ट करनेवाली देवि ! (यः ईजानः) जो यज्ञ करता हुआ (कुहया त्वा पृच्छात्) मायासे तुझसे कुछ पूछना चाहे, तो (एषः) ऐसा (वलः) वल असुर (अपश्रितः) निराश्रित होकर (गोमतीं अव तिष्ठति) गायोंके प्रदेशमें जाकर रहे ॥ ३० ॥

कुह— माया, जादूभरी।

भावार्थ— हे इन्द्र ! हम तेरी उपासना करते हैं, अतः तू हमें प्रशंसनीय धन प्रदान कर और हमारे संपूर्ण शत्रुओंको मार ॥ २६ ॥

इस इन्द्रने अपने उपासकोंको पाप और राक्षसोंके डरसे मुक्त किया, इसी इन्द्रने नदियोंमें जलको प्रवाहित किया तथा लोगोंको अपना दास बनाकर उन्हें कष्ट देनेवाले दुष्टोंको नष्ट किया। दूसरोंको दास बनाना बहुत बडी दुष्टता है ॥२७॥

पति-पत्नी दोनोंही उत्तम रीतिसे दान देनेवाले हों, पर ये दान उन्नतिशील मनुष्योंकोही दें ॥ २८ ॥

जो मनुष्योंका हित करनेवाला है और यज्ञ करनेवाला है, ऐसे उत्तम मनुष्यका श्रेष्ठ धन उन्नतिशील आदमीकोही मिले, अधमको नहीं। ऐसे उन्नतिशीलकों रुपया आदि स्थूल धन भी प्राप्त हो, ताकि उससे मनुष्य समाजका हित हो सके ॥ २९ ॥

जो झूठमूठका यज्ञ करनेका ढोंग करके माया या धोखेबाजीसे लोगोंको ठगना चाहे, वह बल हीन और निराश्रित होकर जंगलमें चला जाए। ऐसे दुष्टको समाजमें न रहने दिया जाए ॥ ३० ॥

[२५]

(ऋषिः- विश्वमना वैयश्वः । देवता- मित्रावरुणौ, १०-१२ विश्वे देवाः । छन्दः- उष्णिक्, २२ उष्णिग्गर्भा ।)

६०७ ता वां विश्वस्य गोपा देवा देवेषु यज्ञिया । ऋतावाना यजसे पूतदक्षसा ॥ १ ॥
६०८ मित्रा तना न रथ्या वरुणो यश्च सुक्रतुः । सनात् सुजाता तनया धृतव्रता ॥ २ ॥
६०९ ता माता विश्ववेदसा ऽसुर्याय प्रमहसा । मही जजानादितिर्ऋतावरी ॥ ३ ॥
६१० महान्ता मित्रावरुणा सम्राजा देवावसुरा । ऋतावानावृतमा घोषतो बृहत् ॥ ४ ॥
६११ नपाता शवसो महः सूनू दक्षस्य सुक्रतू । सृप्रदानू इषो वास्त्वधि क्षितः ॥ ५ ॥

[२५]

अर्थ— [६०७] हे मित्रावरुण ! (वां) तुम दोनों (विश्वस्य गोपा) विश्वके रक्षक, (देवा) दिव्य तेजस्वी (देवेषु यज्ञिया) देवोंमें भी पूजनीय (ऋतावाना) सत्य तथा यज्ञके पालक तथा (पूतदक्षसा) पवित्र बलवाले हो। हे मनुष्य ! (ता यजसे) इन दोनों देवोंकी तू पूजा कर ॥ १ ॥

[६०८] (सुक्रतुः मित्रा वरुणः) उत्तम कर्म करनेवाला मित्र और वरुण दोनों (तना) अत्यन्त विशाल (रथ्या) रथसे सर्वत्र जानेवाले, (सनात् सुजाता) प्राचीन कालसे उत्तम रीतिसे उत्पन्न (तनया) अदिति देवीके पुत्र और (धृतव्रता) व्रतोंको धारण करनेवाले हैं ॥ २ ॥

[६०९] (ऋतावरी मही अदिति माता) सत्य मार्गपर चलनेवाली बडी अदिति माताने (असुर्याय) असुरोंके नाश करनेके लिए (विश्ववेदसा) सम्पूर्ण जगत्को जाननेवाले (प्रमहसा) अत्यन्त महान् और तेजस्वी मित्रा वरुणको (जजान) पैदा किया ॥ ३ ॥

[६१०] (महान्ता सम्राजा) महान्, अत्यन्त तेजस्वी (देवा) दिव्य गुणोंसे युक्त (असुरा) प्राणशक्ति देनेवाले और (ऋतावाना) यज्ञके रक्षक [मित्रावरुणा] (बृहत् ऋतं आ घोषतः) महान् यज्ञको और तेजस्वी बनाते हैं ॥ ४ ॥

[६११] (महः शवसः नपाता) महान् बलको नष्ट न करनेवाले, (दक्षस्य सूनू) बलसे उत्पन्न (सुक्रतू) उत्तम कर्म करनेवाले (सृप्रदानू) दानका विस्तार करनेवाले ये मित्रावरुण (इषः वास्तु अधि क्षितः) अन्नके स्थानमें रहते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ— हे मित्र और वरुण ! तुम दोनों संसारके रक्षक, उत्तम तेजस्वी, देव होते हुए भी देवोंमें सर्व श्रेष्ठ, सत्यके मार्गका अनुसरण करनेवाले हो। इसीलिए उपासक तुम्हारी पूजा करता है ॥ १ ॥

मित्र और वरुण ये दोनों देव उत्तम कर्म करनेवाले, अत्यन्त महान्, रथसे सर्वत्र संचार करनेवाले और व्रतोंको धारण करनेवाले हैं ॥ २ ॥

सत्यमार्गपर चलनेवाली, श्रेष्ठ अदिति माताने अपने तेजस्वी पुत्र मित्रावरुणको इसलिए उत्पन्न किया कि वे असुरोंका नाश करें। इसी तरह राष्ट्रभरकी मातायें सत्यमार्गपर चलनेवाली हों, और वे सब अपनी सन्तानोंको तेजस्वी बनाकर उन्हें दुष्टों और शत्रुओंके विनाश कार्यकी तरफ प्रेरित करें ॥ ३ ॥

मित्र और वरुण ये दोनों देव अत्यन्त तेजस्वी, दिव्य गुणोंसे युक्त, प्राण शक्तिको बलवान् बनाकर मानवजीवनरूपी यज्ञके रक्षक और उसे तेजस्वी बनानेवाले हैं ॥ ४ ॥

मित्र और वरुण दोनों देव महान् बलको उत्पन्न करके उसकी रक्षा करनेवाले हैं। दोनों ही उत्तम कर्म करनेवाले हैं तथा दान आदि सत्कर्मोंको फैलानेवाले हैं ॥ ५ ॥

मुद्रक और प्रकाशक- व. श्री. सातवलेकर, भारत मुद्रणालय, पोस्ट- 'स्वाध्याय मण्डल, पारडी' [जि. बलसाड]